प्रकाशक
स्वाधीन ग्रन्थमाला
९३ संतोष भवन, कटरा बाजार
सागर (म० प्र०)

प्रथम संस्करण
प्रतियाँ १०००
१९६९

मूल्य लागत मात्र
दस रुपये

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी–१
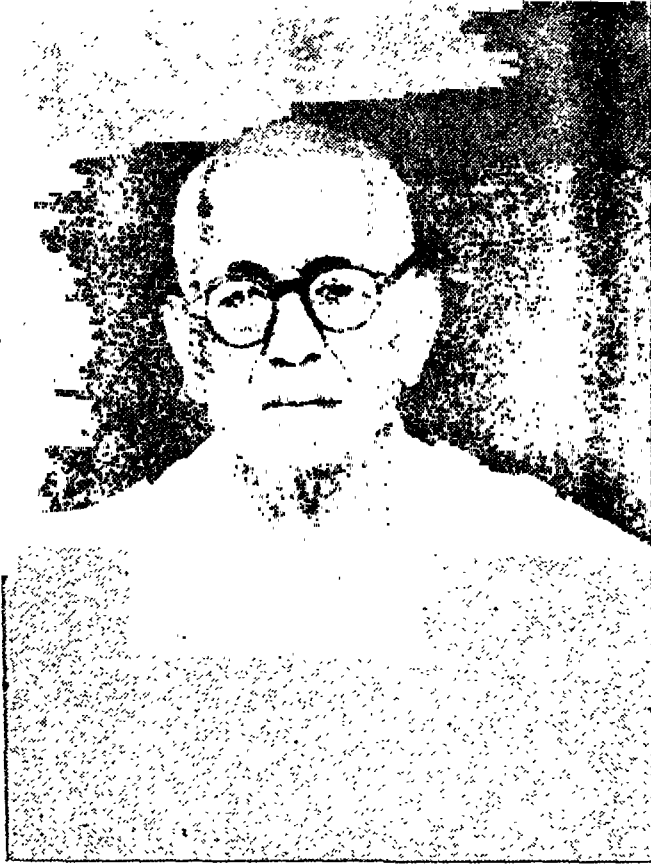
पं० मुन्नालाल रांधेलीय वर्णी, सागर म० प्र०
आयु ७६ वर्ष

आत्म-निवेदन

अपने मनोगतभावोंको स्वयं प्रकाशित करनेमें यद्यपि मुझे अत्यन्त संकोच हो रहा है; तथापि आधुनिक पद्धतिके अनुसार अनिच्छासे उसे कुछ लिख रहा हूँ। चूंकि मैं ७६ वर्षका एक साधारण व्यक्ति हूँ, शिक्षाके क्षेत्रमें न्याय, व्याकरण, धर्म, साहित्य, कोशका अध्ययन उच्चस्तरपर करके अनेक पदवियाँ प्राप्त की हैं तथापि पूर्ण अनुभव प्राप्ति होनेके बिना असंतोष है। जीवनमें संतोषकी अति आवश्यकता है, उसकी प्राप्ति हो जाने पर ही मनुष्य सुखी एवं शान्त होता है। यथार्थमें विचार या निर्धार किया जाय तो वह सुख शान्ति बाह्यसामग्रीमें नहीं है—वह आत्मामें ही है, लेकिन भूलसे प्राणी बाह्य सामग्री (परिग्रह-धन-धान्यादि, स्त्री-पुत्रादि, हेलमेलादि, पठन-पाठनादि, पदप्राप्ति आदि) में समझता है और इसीलिये वह येन केन प्रकारेण उसे संचित करता है। फलस्वरूप सामग्रीके प्राप्त हो जानेपर अपनेको सुखी व कृतकृत्य मान लेता है, जो कोरा भ्रम है।

इसके विपरीत कार्य करने पर ही सुख प्राप्त करनेवालोंके असंख्यात उदाहरण पड़े हुए हैं, उनकी ओर हमको ध्यान देना चाहिये, वही सुख शान्तिका उपाय या सुमार्ग है। इच्छाएं कभी पूर्ण नहीं होतीं और कदाचित् थोड़ी-बहुत पूर्ण हो जाने पर भी और नवीन इच्छाएं बढ़ती जाती हैं, तब सुखकी संभावना कैसे हो सकती है ? नहीं। यथासंभव इस लेखकने भी लक्ष्यकी सिद्धिके अनेक उपाय किये, द्रव्य कमाया, पुस्तकें लिखीं जैसा कि चलन-व्यवहार (पद्धति) है, सुखशान्ति नहीं मिली। अन्तमें उसीके लिये पूज्य श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्यकी अनुभवपूर्ण या गुरुवर्य पूज्यतम श्री कुन्दकुन्दाचार्यके साहित्य (समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि महान् ग्रन्थों) के गहन अध्ययनसे प्राप्त हुए सार (अनुपम तत्त्व) की कृतिरूप पुरुषार्थसिद्ध्युपाय जैसे ग्रन्थकी हिन्दीटीका (भावप्रकाशनी) लिखना प्रारंभ किया और अब पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। भाषाटीका लिखनेसे हमें क्या मिला है ? किस उद्देश्यकी पूर्ति हुई है ? यह तो हम नहीं बता सकते, यतः वह निरपेक्ष लिखी गई है। लेकिन यह कह देना अनिवार्य है कि इसके लिखनेमें हमारे पास न कोई संस्कृतटीका थी, न कोई (बम्बई संस्करण पं० नाथूरामजी प्रेमी लिखितके अलावा) हिन्दीटीका थी, अतएव कठिनाई पर्याप्त उठानी पड़ी है और संभव है कि कहीं स्खलन भी हो गया हो, उसके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूँ और निष्पक्षतासे त्रुटियां बतानेका भी इच्छुक हूँ। साथ ही इसके मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि मेरे आद्यगुरु स्व० पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक पं० गणेशप्रसादजी वर्णी रहे हैं। पश्चात् अन्य दो विद्वान्, जिनका मेरे ऊपर महान् उपकार है और मैं उसको आजन्म भूल नहीं सकता। ग्रन्थके भावको मैं कहां तक हृदयंगम कर सका हूँ इसका प्रमाणपत्र तो सहृदय विवेकी पाठक ही देवेंगे, जो इसका रसास्वाद लेंगे। जितना बन सका है उतना स्पष्टीकरण ग्रन्थोंकी खोज द्वारा किया गया है एवं संगति बैठा ली गई है, कोई कोर-कसर व आलस्य नहीं किया गया है, बड़ी सावधानी रखी गई है, कृपया विद्वज्जन पाठक बारीकीसे देखेंगे। हिन्दीभाषामें पूर्ण आधुनीकरण न होनेसे त्रुटि मालूम हो सकती है, किन्तु भावकी त्रुटि न होनेसे उसको उच्चस्थान ही देना है, गिराना नहीं है, ऐसी मेरी प्रार्थना है। क्षायोपशमिक ज्ञान और सत्संगति एवं पठनपाठनका अभाव इत्यादि

अनेक कारण साथ रहे हैं, अधिक क्या लिखा जाय। अकेले अच्छे लेबिलमात्रसे दवाई नहीं बिकती, किन्तु गुणसे बिकती है यह नियम है अस्तु।

निरूपण-शैली

इस ग्रन्थकी कथनशैली एवं निर्माणशैली अत्यन्त अपूर्वताकी लिये हुए है, ऊपरी दृष्टिसे तो यह कहा जाता है कि यह मुख्यतया श्रावकाचारका ग्रन्थ है, इसमें पेश्तर अणुव्रतोंका और उनके पालक श्रावकोंका तथा पश्चात् महाव्रतोंका और उनके पालक मुनियोंका भी संक्षेपमें वर्णन किया गया है। अतएव यह ग्रन्थ आचार-ग्रन्थ मालूम पड़ता है। इसी तरह इसका वर्णन एक निश्चयकी दृष्टिसे या एक व्यवहारदृष्टि (नय) से किया गया है इत्यादि, जो भ्रम है। इस ग्रन्थमें निश्चय और व्यवहारकी परस्पर संगति बैंठालते हुए रत्न-त्रयका यथार्थ वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ बारीकीसे विचार किया जाय तो एक ऐसा अद्वितीय लक्षणग्रन्थ है, जो साथ २ लक्ष्यको भी बताता जाता है। अतएव इसकी सानीका दूसरा ग्रन्थ देखनेमें नहीं आता इत्यादि।

इसके सिवाय

यह ग्रन्थ तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी कुंजी है, इसके द्वारा कठिनसे कठिन ताला या ग्रन्थि खुल सकती है, इसमें ऐसी क्षमता है। अनादिकालसे व्यवहारमें भूला हुआ जीव किस प्रकार अज्ञानी बन रहा है, एवं अनिर्व-चनीय असीमित दुःख भोग रहा है? उसके उद्धारके लिये प्रारंभसे ही निश्चय और व्यवहारका ज्ञान तथा दोनोंकी संगति और हेय-उपादेयता बतलाई गई है, अर्थात् भूमिकाशुद्धिपूर्वक तत्त्वोंका निर्णय होनेसे ही जीव-का उद्धार हो सकता है, अन्यथा नहीं, चाहे वह कितना ही उपाय क्यों न करे, सब व्यर्थ है (साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता)। अरे! जो जीव (प्राणी) अपनेको भी यथार्थ न समझे वह कैसे संसारसे पार हो सकता है? जब उसको अपना सच्चा ज्ञान हो और यह समझे कि मैं अभी संसारसमुद्रमें गोता लगा रहा हूं, लेकिन अब इससे पार होना चाहता हूँ तथा उसका सही उपाय (मार्ग) यह हैं, तभी वह वैसा उद्यम या पुरुषार्थ करनेसे पार हो सकेगा। यह खुलासा है,

इस ग्रन्थमें मुख्य-गौणरूपसे निश्चय-व्यवहारका कथन है, जिसको स्याद्वादनय या शैली कहा जाता है। पाठक, एकबार अवश्य अवलोकन-मनन करें, ऐसी प्रार्थना है, किम्बहुना।

आभार-प्रदर्शन[1]

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें प्रियमित्र डा० पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य, बनारसवालोंका पर्याप्त सहयोग रहा है। अतएव हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। उक्त पं० जी समाजके प्रसिद्ध विद्वान् एवं कई पुस्तकोंके लेखक और अनुवादक हैं। वर्तमानमें श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमालाके मंत्री हैं। अधिक क्या कहा जाय वे वर्तमान समाजके उदीयमान प्रकाशमय ध्रुवतारा हैं।

श्री महावीर प्रेस, भेलुपुर बनारसके मालिक श्री पं० बाबूलालजी फागुल्लके भी हम आभारी हैं, जिन्होंने अपने प्रेसमें सुन्दरताके साथ इसे छापा है। आपका सौहार्द्र हमेशा याद रहेगा। जो कुछ अशुद्धियाँ

१—श्लोक नं० १३५ में कहा है कि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गमें प्रवर्त्तना व समझना इसका उद्देश्य है—

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥ १३५ ॥

हो गई हैं, उनको शुद्धकर पृथक्से शुद्धयशुद्धिपत्र दिया गया है, उससे मिलानकर पाठक शुद्ध पढ़ेंगे। हम उक्त प्रेसकी अभिवृद्धि निरन्तर चाहेंगे व चाहते हैं।

इस कार्यमें हमें येन केन प्रकारेण जिन २ मित्र बन्धुओंने सहायता दी है, उन सबका मैं हृदयसे आभार मानता हूँ, उन्हें साधुवाद देता हूँ।

अन्य ग्रन्थोंकी सहायता

हमने इस टीकाके लिखनेमें अनेक बड़े छोटे ग्रन्थोंकी सहायता ली है तथा उनके उद्धरण दिये हैं। जैसे कि (१) समयसार, (२) प्रवचनसार, (३) पंचास्तिकाय, (४) नियमसार, (५) षट्खंडागम, (६) राजवार्तिक, (७) सर्वार्थसिद्धि, (८) आप्तमीमांसा, (९) अष्टपाहुड़, (१०) आलापपद्धति, (११) जीवकांडगोम्मटसार, (१२) कर्मकांडगोम्मटसार, (१३) बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, (१४) आत्मानुशासन, (१५) तत्वार्थसूत्र, (१६) रत्नकरंडश्रावकाचार, (१७) बृहद्द्रव्यसंग्रह, (१८) युक्त्यनुशासन (१९) समयसारकलश, (२०) अध्यात्मतरंगिणी, (२१) स्वरूपसंबोधन, (२२) छहढाला, (२३) मोक्षमार्ग-प्रकाशक, (२४) नाटकसमयसार, (२५) भर्तृहरिशतक, (२६) ज्ञानार्णव इत्यादि। अतएव उन सबका भी मेरे ऊपर आभार है। तथा उनके कर्त्ताओंका तो परोक्ष आभार है ही, जिसे हम कदापि भूल नहीं सकते।

श्री :

प्रस्तावना-भूमिका

आजकल यह एक रिवाज सा हो गया है कि किसी प्रकाशनमें भूमिका होना ही चाहिये, बिना उसके प्रकाशनकी शोभा नहीं होती, न उसका महत्त्व प्रकट होता है। उसका कारण यह है कि भूमिकामें ही, यदि वह बुद्धिमानीसे लिखी जाय तो, पूरे ग्रन्थका रहस्य उड़ेल दिया जाता है, जिससे एकाएकी भीतर प्रवेश करनेकी उत्कंठा शान्त हो जाती है और संक्षेपमें ग्रन्थका पूरा परिचय मिल जाता है। इस लिहाजसे यह पद्धति हेय नहीं है अपितु उपादेय है। किन्तु कई प्रकाशनोंमें ऐसा भी देखनेमें आता है कि भूमिका मूलसे लम्बी हो जाती है, जिसको पढ़नेकी प्रथम तो इच्छा ही नहीं होती और यदि कदाचित् पढ़ना ही पड़े तो वेगारकी तरह चित्त नहीं लगता, मानो संकट आ गया हो। ऐसी स्थितिमें, मैं इस प्रकाशनको उक्त दोषोंसे मुक्त या अछूता ही रखना चाहता हूँ। कारण कि इस ग्रन्थका महत्त्व तो जग जाहिर है, तव ढोल पीटनेकी क्या आवश्यकता है? व्यर्थ है। रहा इसके रचयिताका परिचय, सो वह भी गजटेड है, इतिहासवेत्ताओंने खूब प्रकाश डाला है, उससे हम नई वात कोई नहीं लिख सकते। हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि ग्रन्थकार (पूज्य अमृतचन्द्राचार्य) की यह मौलिक कृति (रचना) है, और इसमें वह सार-अमृत भर दिया है जो उन्हींको ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, इन तीन रत्नत्रयोंकी मार्मिक (हार्दरूप) टीकाओंके लिखने और अवगाहन करनेसे उपलब्ध हुआ था, कहना न होगा कि इसकी सानीका दूसरा उनका ग्रन्थ नहीं है। यह ग्रन्थ केवल आचारग्रन्थ नहीं है, अपितु मोक्षमार्गका सच्चा निरूपण करने वाला है। जीव (आत्मा)की प्रारंभिक (अनादिकालीन) अज्ञान अवस्थासे लेकर क्रम-क्रमसे होनेवाले विकासका निश्चय और व्यवहारनयके माध्यमसे जो अनुपम वर्णन किया है वह अनिर्वचनीय है। इसमें श्लोक नं० ३ के द्वारा ग्रन्थरचनाका मूल उद्देश्य और मूलमें भूल मिटानेको निश्चय व्यवहारमें भेद एवं उनका लक्षण तथा व्यवहारकी कथंचित् उपादेयताकी सीमा दोनोंका ज्ञान हो जानेपर समताभाव (माध्यस्थपना) तथा उससे होनेवाला लाभ वताया गया है। इतना ही नहीं उत्थान और पतनका निदान भी विस्तारपूर्वक वतलाया गया है। जीव और कर्मोंकी संतानपरंपरा चलने और मिटानेका उपाय वड़ी गहराईके साथ दर्शाया गया है। प्रत्येक विषयका क्रमवद्ध वर्णन एक आदर्श है, उसका अनुकरण सभीको करना चाहिये।

वैसे तो सारे ग्रन्थका आलोडन करके देखा जाय तो श्रावक या शिष्य (मुमुक्षु भव्यात्मा) का आचार याने कर्त्तव्य क्या है? वही इसमें क्रमवद्ध वतलाया गया है, इसीसे इस ग्रन्थको 'श्रावकाचार' कहते हैं (श्रावक + आचार = शिष्यका कर्त्तव्य)। अनादिकालसे भूले-गुमराह हुए शिष्यका पहिला कर्त्तव्य भूल या मिथ्यात्वको हटाना है अर्थात् स्वपर अपने और दूसरे)को भिन्न भिन्न जानना है याने एकत्व वनाम अभेदकी भूल मिटाकर दो द्रव्योंको पृथक् २ जानना चाहिये, जो अनादिकालसे जीवको होती आरही है। यह सवसे वड़ा रोग है जो सबको ही खोखली कर देता है। फलतः जिस श्रावक (श्रोता या शिष्य)ने ऐसा नहीं किया, उसने श्रावक-

---

१. न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि, श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ ३४ ॥ —रत्नकरण्ड०

का (अपना) कर्त्तव्य नहीं पाला यह निष्कर्ष है। अतएव वह अनिवार्य है, करना ही चाहिये। उसके पश्चात् यदि सत्य समझकर उसका प्रयोग या उपयोग (वैसा आचरण) नहीं किया तो भी कुछ लाभ नहीं होता वह सिर्फ गड़े हुए धनके समान निरुपयोगी है। तदनुसार उसका प्रदर्शन करना दूसरा कर्त्तव्य है, इसका नाम चारित्र या चर्या है। अनादिकी भूल या मिथ्यात्व मिटने (छूटने)के बाद निर्भूल हुए सम्यग्दृष्टिको उसका लाभ किस तरहसे उठाना चाहिये, यह बात खासतौरसे विस्तारके साथ इस ग्रन्थमें आचार्यने बताई है। सबका सारांश यह है कि मानने जानने व करनेमें भूल रहनेसे जीवका कल्याण या उत्थान कदापि नहीं होता, कारण कि वह स्वयं अपना घात (हिंसा या अधर्म) करता रहता है जो जीवका कर्त्तव्य नहीं है अर्थात् वह अपने कर्त्तव्य (अपनी रक्षा करना)से स्वयं च्युत हो जाता है, अपनी रक्षा नहीं कर सकता बनाम 'अहिंसा-रूप परमधर्म नहीं पाल सकता और उसके बिना जीवन बेकार है, ऐसा समझना चाहिये इत्यादि।

तदनुसार 'अहिंसा परमधर्म'की प्राप्ति एवं रक्षाके लिये मुख्य दो कार्य करना आचार्यने बतलाए हैं। (१) मिथ्यात्वको हटाकर सम्यक्त्व प्राप्त करना (२) मिथ्या आचरण (प्रवृत्ति) को हटाकर सम्यक् आचरण करना, क्योंकि दोनोंके बिना हिंसा जैसे महापाप (अधर्म)का अभाव नहीं हो सकता अर्थात् अहिंसा परमधर्म नहीं पल सकता, जो कि जीवका स्वभाव या धर्म है (श्रोता शिष्य श्रावकका कर्त्तव्य है)। उस चरित्रकी भूमिकास्वरूप (१) हिंसा (२) झूठ (३) चोरी (४) कुशील (५) परिग्रह इन पाँच पापोंको छोड़नेका उपदेश दिया गया है, एवं उनके स्थानमें पाँच अणुव्रत (एकदेशचारित्र) धारण करनेका उपदेश, विचित्र या आश्चर्यजनक विधिसे दिया है। वह विधि (तरीका) निश्चय और व्यवहारकी है। (१) निश्चयविधिसे चारित्रका साक्षात् सम्बन्ध आत्माकी शुद्धपरिणतिसे बतलाया गया है और (२) व्यवहारविधिसे चारित्रका सम्बन्ध बाह्यक्रियासे अर्थात् संयोगीपर्यायमें होनेवाली योगकपायकी क्रिया (शरीरके परिणमन)से सम्बन्ध बतलाया है, जो कि बाह्यदृष्टिवाले लौकिक जनोंको द्रव्येन्द्रियसे दिखता है, उसको सदाचार भी कहते हैं। लोकमें उसकी ही प्रतिष्ठा है अतएव वह भी पदके अनुसार कर्त्तव्य है या उपादेय है किन्तु परलोक (मोक्ष)के प्रति वह उपादेय नहीं है ऐसा बतलाया है। इसीका खुलासा अनेकान्त-दृष्टिसे कथंचित्' उपादेय है और कथंचित् हेय है ऐसा विधिरूप किया है, किन्तु सर्वथा (एकान्तसे) वैसा नहीं है, इसका निषेध किया गया है, इस तथ्यको गहरी दृष्टिसे पर्याप्त समझना है जो उलझनमें पड़ा हुआ है। इसीके सिलसिलेमें उपादानकारण व निमित्तकारणका भी विवाद उठ खड़ा है। समाधानके लिये साक्षात्-कारण (निश्चय) और परंपराकारण (व्यवहार) यह बतलाया जाता है अथवा सामान्यतः कारण और कारणका कारण ऐसा कहा जाता है। इत्यादि जो भी समझमें आये किन्तु उसका निर्धार अध्यात्मशास्त्रोंसे करना चाहिये व मानना चाहिये तभी विवाद मिट सकता है कारण कि अध्यात्मशास्त्रोंमें ही सत्य-उपदेश दिया गया है अतएव वह निष्कर्परूप कथन है, स्वाधीनताको एवं शुद्धताको लिये हुए होनेसे प्रामाणिक भी है। अतएव उसमें हठ नहीं करना चाहिये वह तो द्रव्यानुयोगका विषय है जो[१] स्वतंत्र है। भावार्थ—आचार्यने सर्वत्र मुख्य-गौणदृष्टि रखकर चारु कथन किया है, अर्थात् चाँद लगा दिया है, जिससे ग्रन्थमें अत्यन्त प्रियता आगई है और अज्ञानको हटा दिया है, इस प्रकार अपूर्वता ला दी है; यह महान् उपकार किया है। संक्षेपमें कहा जाय तो व्यवहारकी अभेददृष्टिको हटानेके लिये और भेददृष्टिको स्थापित करनेके लिये ही इसका जन्म (निर्माण) हुआ है, यह सत्य या सच्चा वस्तुका स्वरूप बतलाता है असत्य और मिलावटी (नकली) स्वरूप नहीं बताता, वह भी निर्भीकताके साथ यह खास विशेषता है।

इस विषयमें कितनेही व्यामोही जीव विना तथ्य समझे असत् आक्षेप करते हैं कि यह ग्रंथ गृहस्थों या श्रावकोंके लिये उपयोगी (लाभदायक) नहीं है, अतः इसके पढ़ने एवं स्वाध्याय करनेसे व्यवहार धर्म छूट जायगा—पूजापाठ, दानपुण्य, संयम आदि, यह अत्यन्त नासमझी है। यह ग्रन्थरत्न पेश्तर अज्ञान मिटाता है अर्थात् निश्चय और व्यवहारके भेदको न समझकर जो भूल हो रही है, उसको दोनोंमें भेद बताकर प्रबुद्ध करता है या सावधान करता है कि सब लोग निश्चय और व्यवहारको एक न समझकर जुदा जुदा समझें तथा दोनों फर्क (भेद) समझकर ग्रहण-त्याग करें, जो हितकर हो उसे अपनावें तथा जो अहितकर हो उसे त्यागें, कोई जबर्दस्ती नहीं है। जैसे कि कोई आदमी यदि भोजन करनेसे बीमार होता है, और भोजन छोड़ देनेसे नीरोग होता है, ऐसा ज्ञान करानेवाला वैद्य दोनोंका स्वरूप बताकर यदि भोजन छुड़ाता है तो क्या वह कोई अनर्थ करता है कि उपकार करता है? इसका निर्धार स्वयं ही रोगी और अन्य जीव कर लेवें, कहनेकी जरूरत नहीं है। स्वयं वह विवेक करलेने की बात है। अरे, जो जीव वस्तुके दोष गुण जान लेता है, वह खुदही दोषका त्याग और गुणका ग्रहण करने लगता है। ऐसी स्थितिमें जब विवेकी व्यवहारके दोष और निश्चयके गुण जान लेगा तब क्या वह अपना मार्ग या कर्त्तव्य निश्चित करनेमें दूसरोंकी प्रतीक्षा करेगा? नहीं। व्यवहारका अर्थ, असत्य या अनुपयोगी है, जो साधन (अभीष्ट)की सिद्धि न कर सके। और निश्चयका अर्थ, सत्य या उपयोगी है, जो साध्यकी सिद्धि कर देवे। इसमें न पूजा-पाठका सम्बन्ध है, न उसके छोड़ने व करनेका है, यह तो पदार्थका निर्णय है। तब विचारना होगा कि जो व्यवहारक्रिया दंड आदि (शरीराश्रित) और शुभराग या अशुभराग (भक्तिस्तुतिरूप या भोगविलासादिरूप) है (अशुद्ध आत्माश्रित) उनसे क्या जीवको मोक्षकी (साध्यकी) प्राप्ति हो जायगी या वह संसारमें ही पड़ा रहेगा? क्योंकि वह सब व्यवहाररूप साधन (हेतु) हैं अर्थात् उनको उपचारसे (कल्पनामात्र) मोक्षका साधन कहा जाता है या कहा गया है, न कि निश्चयसे। निश्चयका अर्थ भूतार्थ और व्यवहारका अर्थ, अभूतार्थ भी है। तब क्या अभूतार्थका त्याग करना बुरा है? और उसका ग्रहण करना अच्छा है? नहीं, नहीं, नहीं,।

हाँ, जबतक सत्यको जानते हुए भी त्यागकी शक्ति न होनेसे उसको मजबूरीमें (अगत्या—इच्छा बिना) ग्रहण करना पड़ रहा है, तबतक वह कथंचित् उपादेय है—वह भी अरुचिपूर्वक, न कि रुचिपूर्वक या स्वामी बनकर, किन्तु नौकरकी तरह होकर उसको विवेकी ग्रहण करता है और मनमें उसको छोड़नेका ही विचार रखता है तथा यथाशक्ति छोड़ता भी जाता है, यह उसकी चर्या या वृत्ति हो जाती है, अर्थात् खेदके साथ उस व्यवहार कार्यको वह करता है यह भाव है। ऐसी स्थितिमें वह शनैः शनैः मोक्ष प्राप्त कर लेता है, किन्तु व्यवहारको उपादेय या अत्याज्य माननेवाले कभी भी उससे त्रिकालमें मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते, यह ध्रुव है, किम्बहुना। 'सब धान बाईस पसेरी नहीं तुलती' यह लोकोक्ति सत्य है विचार किया जाय, विवाद न किया जाय। आचार्य महाराजका यह स्पष्ट मत है, तभी तो उन्होंने बारह व्रतोंका, उनके अतिचारोंका एवं सम्यग्दर्शनका, उसके अतिचारोंका पूर्णतया एक एक करके निरूपण किया है। तात्पर्य यह कि १२ तप, २२ परीषह, ११ प्रतिमाएँ, अनुद्दिष्टभोजन, भोगोपभोगका त्याग, अष्टमूलगुण, सम्यग्दर्शनके आठ अंग, उनका निश्चय-व्यवहाररूप, पंचलब्धियोंका विस्तृत कथन, प्रायोग्यलब्धिमें होनेवाली विशेषता, करणलब्धिके भेद

---

१. सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय–कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परःपरस्य कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम्॥ १६८॥ कलश॥

नोट—कर्मका अर्थ परिणमन या वस्तुका स्वभाव या कार्यपर्याय है अस्तु (यह अज्ञान अध्यवसाय है। गा० २५४ आदि)

और खुलासा, अर्थात् रत्नत्रयका आमूलचूलवर्णन, हिंसा आदि पाँचपापोंका निश्चय-व्यवहारस्वरूप, अहिंसाका स्वरूप, हिंसाके ४ भेद, उनका विस्तार एवं तर्क व समाधान, फलका भोक्ता, सत्य-असत्यका अनुपम निर्धार, अथवा गृहस्थ-अणुव्रतीके व्यवहारका पालन करते समय भी व्रतकी रक्षाका उपाय आदि पर्याप्त वतलाया गया है। गरज कि पंचाणुव्रत पालनेकी पूर्ण रीति वतलाई गई है। अतिचारोंका भी वढ़िया विश्लेषण किया गया है। मिथ्यात्व व अनंतानुवंधी आदि चारों कपायोंका कार्य व उनमें होनेवाला विवाद मिटाया गया है। वाह्य व अन्तरंग परिग्रहका त्याग एवं श्रावकके उत्तम-मध्यम-जघन्यभेद, गृहविरत, गृहनिरतका खुलासा आदि इसमें हैं। रत्नत्रय और व्रत पालनेका फल, गुणव्रत-शिक्षाव्रतोंके भेद व स्वरूप, सामायिकशिक्षाव्रत पालनेकी विधि, देवपूजनकी प्रासुक सामग्री, उपवासकी समाप्ति व कालकी मर्यादा, घृतकी मर्यादा, पिंडशुद्धि (आहार शुद्धि) गुणव्रतों व शिक्षाव्रतोंमें आचार्योंका मतभेद, दाताके ७ गुण व नवधा भक्ति, गुणोंके अर्थ करनेमें भूल, व विपरीत प्रचार, पात्रोंके ३ भेद, उत्तमपात्रों (मुनियों)की वृत्ति (वरताव), उनका आहार, (अनुद्दिष्ट) प्रतिमास्वरूप, १२ व्रतोंसे उनकी उत्पत्ति—व उनके भेद, सल्लेखना व विधि, आत्मघातका स्वरूप व निषेध, एवं भेद, वारह व्रतोंके अतिचार। पाँच अणुव्रत व सात शीलोंका समुदाय ही १२ वारह व्रत हैं, विरत पृथक् है। साथ ही मार्गोपयोगी सात तत्त्वोंका अविपरीत श्रद्धान, ज्ञान, आचरण भी वतलाया गया है, अनुजीवी प्रतिजीवी गुणोंका सयुक्तिक विश्लेषण व विस्तृत परिशिष्ट आदि अनेक चीजें इसमें हैं। प्रश्नोत्तरके रूपमें आस्रव और वंधका भेद, १० दशधर्मोका स्वरूप, १२ अनुप्रेक्षाओंका स्वरूप, २२ वाईस परीषहोंका स्वरूप, व कुछ विशेषताएँ, अन्तिम निष्कर्प, मुनिपद प्राप्त करनेकी योग्यता, रत्नत्रयकी अपूर्णता और उससे होनेवाली हानि एवं आंशिक लाभ, चरित्रधारियोंके भेद, पुद्गलवंधके विषयमें प्रकाश, सम्यग्दर्शनसे वंध नहीं होता, वंध साथमें रहनेवाले कपायभावोंसे होता है, इसका पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष द्वारा निर्धार, निश्चय व्यवहारकी एकत्र स्थिति, मोक्षमार्गकी एकता व उससे सिद्धि, मुक्तात्माका स्वरूप, अन्यमतका खंडन, अन्तिम शिक्षा, ग्रन्थकारकी भावना व मान्यता।

ग्रन्थकार आचार्य अमृतचन्द्रका कुछ परिचय

वीरप्रभुके वंशज, तीर्थप्रवर्तन-प्रकाशनकी अपेक्षा

नंदीसंघकी प्राकृतपट्टावलिके अनुसार महावीरस्वामीकी २९ वीं पीढ़ीमें अर्हद्वली मुनिराज हुए, ३० वीं पीढ़ीमें माघनन्दी मुनिराज हुए। माघनन्दी स्वामीके दो शिष्य रहे। (१) जिनसेन (२) धरसेन, जो आचार्यपदसे विभूषित हुए। तदनुसार श्रीजिनसेनाचार्यके शिष्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्य और श्रीधरसेनाचार्यके शिष्य श्रीपुष्पदन्त व भूतवलि हुए, जिन सभी परमपूज्य आचार्योंने महान् २ ग्रन्थ रचकर जैनधर्मका भारी उद्योत किया। इस हिसावसे श्रीधरसेनाचार्य वर्धमान (महावीर) तीर्थंकरकी ३१ वीं पीढ़ीमें हुए और कुन्दकुन्दस्वामी (आचार्य) पुष्पदन्त-भूतवलि आचार्य ३२ वीं पीढ़ीमें हुए। इसलिये धरसेनाचार्यके काकागुरु अर्थात् गुरु (जिनसेन)के सहपाठी भाई (धरसेन)के भी शिष्य होते हैं। तदनुसार श्री कुन्दकुन्दस्वामी और पुष्पदन्त-भूतवलि स्वामी परस्पर गुरुभाई सिद्ध होते हैं संक्षिप्त यह वंश परिचय है।

ग्रन्थ रचना और काल परिचय

पूज्य श्रीमाघनन्दी आचार्य एवं उनके शिष्य, जिनसेन व धरसेन ये सभी भगवान् महावीरके निर्वाण होनेके पीछे ६८३ वर्ष वाद कभी हुए हैं, जिन्होंने अत्यन्त उच्चकोटिके अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है, जिनमें

अनेक ग्रन्थ नष्ट हो गये हैं और कुछ-एक आज भी उपलब्ध हैं। जैसेकि जिनसेनके आदिपुराण आदि, धरसेनके षट्खंडागमसिद्धान्त आदि। उनके शिष्यों द्वारा अर्थात् श्रीकुन्दकुन्दद्वारा प्रवचनसार, समयसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि अनेक अध्यात्मग्रन्थ रचे गये हैं जिनकी सारभूत-निष्कर्ष निकालने वाली टीकाएँ हमारे पूज्यश्री अमृताचार्य महाराजने की हैं, उन्हींका रहस्य लेकर उन्होंको यह 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' नामक अपूर्व रत्नत्रयप्रतिपादक ग्रन्थ एक मौलिक रचना है और भी अनेक ग्रन्थ आपने लिखे हैं। इन महाराजके गुरु श्रीमाधवचन्द्र त्रैविद्यदेव हैं, जो प्राय: दसवीं शताब्दी (विक्रमकी)के महान् विद्वान् हैं।

इसी तरह श्रीधरसेनाचार्यके शिष्य पुष्पदन्त-भूतवलिद्वारा रचे गये षट्खंडागम नामक सिद्धान्तग्रन्थकी टीका पूज्य श्रीवीरसेन महाराजने अन्तस्तत्त्व निकालकर की है, जिनके नाम धवल, जयधवल, महाधवल रखे हैं और वर्त्तमानमें जिनका पर्याप्त पठन-पाठन एवं स्वाध्याय चल रहा है, जैसाकि समयसार आदिका पठन-पाठन-स्वाध्याय अत्यधिकमात्रामें चल रहा है। बड़े ही उल्लास (हर्ष की बात है कि जिस प्रकार पूज्यतम महावीर भगवान्के शिष्य इन्द्रभूति नामक प्रधान गणधरने, भगवान्की दिव्यध्वनि साक्षात् श्रवण करके द्वादशांगशास्त्रोंकी रचना की थी, उसी तरह उनके अंगभूत कितने ही शास्त्रोंकी रचना पूर्वोक्ति आचार्योंने भी की है, जिनसे विद्वत्समाज और साधारण जनता आज भी लाभ उठा रही है—उनके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं, जिनके प्रकाशसे हम कुछ अनुगम-पूर्वक लेखनी चला पाये हैं। मैं कोई इतिहासज्ञ नहीं हूँ, न कोई ख्यातिप्राप्त लेखक विद्वान् हूँ, तथापि चंचु-प्रवेशन्यायसे जो कुछ प्राप्त कर सका हूँ, वही आपके सामने रख रहा हूँ, आप निर्णय कीजिये और विशेष परिचय मुझे न होनेसे ग्रन्थकारोंके वारेमें अधिक लिखनेसे वंचित हूँ, जिसका मुझे खेद है। इतना कुछ लिखनेका भी आधार 'आत्मधर्म' गजटका वर्ष २४ अंक दूसरा है, उसका मैं अत्यन्त आभारी हूँ, मैं चाहता था कि कोई अन्य प्रसिद्ध विद्वान् उपोद्घात लिखता और इसके लिये प्रयत्न भी किया, किन्तु न जाने क्यों सफलता नहीं मिली, अगत्या मुझे खुद ही यह कुछ लिखना पड़ रहा है, पाठक क्षमा देंगे। यह ग्रन्थ, कलेवर (२२६ श्लोक) छोटा होने पर भी गजवका है, जैनागमका हृदय है, पाठकोंद्वारा अवश्य पठनीय है, भाषा और भाव यथासंभव रुचिकर वनाये गये हैं, साथमें हिन्दी पद्यानुवाद भी लिख दिया गया है, जिससे सर्वोपयोगी वन गया है। अनेक ग्रन्थोंके उद्धरण व भाव देकर इसको सर्वांगपूर्ण सुन्दर व ग्राह्य वनाया गया है। परिशिष्ट आदिमें उलझनपूर्ण विषयों-का यथासंभव काफी खुलासा किया गया है। यद्यपि इस ग्रन्थकी भाषाटीकाएँ अनेक लिखी गई हैं, किन्तु संभ-वतः इसमें कुछ विशेष सामग्री मिलाई गई है। अतएव यह ग्रन्थ आदरणीय होगा ऐसा मेरा विश्वास है। त्रुटियोंकी सूचना पानेका मैं अभिलाषी एवं कृतज्ञ रहूँगा।

५/३/६९　　　　कृपेच्छु:

सन्तोषभवन, कटरावाजार, सगर　　　　**मुन्नालाल रांधेलीय (वर्णी)**

विषय-सूची

(६) अध्याय छठवां, पेज २९९ से ३५७ तक—इसमें सात शील (तीन गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत) का स्वरूपक्रम, पिंड शुद्धिमें मक्खनका त्याग, श्रावकके १७ नियम शंका समाधान, दाताके ७ गुण, पात्रोंके भेद अनुद्दिष्ट भोजनका लक्षण, १२ व्रतोंसे ११ प्रतिमाओंका निर्माण आदि।

(७) अध्याय सातवां, पेज ३५८ से ३६५ तक—इसमें सल्लेखनाका स्वरूप है, आत्मघात नहीं है, धर्म है।

(८) अध्याय आठवां, पेज ३६६ से ३८८ तक—इसमें १२ व्रतोंके पांच २ अतिचार हैं, कुल सम्यग्दर्शन व सल्लेखनाके मिलाकर ७० होते हैं।

(९) अध्याय नवमां, पेज ३८९ से ४१३ तक—इसमें सकलचारित्रका कथन, पालनेकी अभ्यास रूप विधि, प्रसंगवश शंका समाधान; विशेष छानवीन व सिद्धान्त कथन, तपके अन्तरंग वहिरंग भेद, निरुक्ति अर्थ, सम्यग्दर्शनकी विशेषताएँ, विनयकी विधि, ६ आवश्यक, ३ गुप्ति, ५ समिति १० धर्म १२ भावना २२ परीषह, इन सबका स्वरूप बताया गया है।

(१०) अध्याय दशमा, पेज ४१४ से ४३७ तक—इसमें अन्तिम निष्कर्ष बतलाया है, ग्रन्थका सारांश है। रत्नत्रयको व मुनिपदको प्राप्त करनेकी योग्यता, एक साथ बंध व मोक्ष (मिश्र उपयोग द्वारा) या संवर निर्जरा व आस्रवका सद्भाव बतलाया गया है, स्याद्वादन्यायसे सबकी सिद्धि, शंका, समाधान, अन्तिम प्रयोजन, अपना परिचय है।

❁

ओं नमः सिद्धेभ्यः ।

श्रीमदमृतचन्द्राचार्यविरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

'भावप्रकाशनी' हिन्दीटीका सहित
(हिन्दीपद्यानुवाद, अन्वय, अर्थ, भावार्थादियुक्त)

भाषाटीकाकारका मंगलाचरण

देव-शास्त्र-गुरु-धर्मको प्रणमूं बारम्बार
तत्त्वज्ञान-आधार अरु भवि-जीवन-हितकार ॥ १ ॥

ग्रन्थकारका मंगलाचरण

तज्जयति परंज्योतिः समं समस्तैरनंतपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥ १ ॥

पद्य

उस उज्ज्वल ज्योतिको नमते जो अद्भुत[२] गुणवाली है ।
तीनलोक तिहुँकाल मांहि नहिं जिसके सम उपकारी है ॥
एककालमें जो दरशाती दर्पण सम सब अर्थोंको—।
हैं अनन्त पर्याएँ जिनमें जानत है उन सर्वोंको ॥ १ ॥

साहचर्यसे—

धर्ममूलविज्ञानज्योतिके साथ धर्मको नमते हैं
वीतरागविज्ञान साथ रह अक्षय सुखको करते हैं ॥

अन्वय-अर्थ

आचार्य महाराज इस श्लोक द्वारा गुणोंके माध्यमसे गुणी परमात्माका विनय या नमस्कार

---

१. यह सर्वनाम पद है अतः जो भी महात्मा ऐसे हों, उन सबको नमस्कार किया जाता है—उनकी मंगलकामना या स्मृति की जाती है, उन्हें बहुमान दिया जाता है । यह कार्यसमयसारको नमस्कार या कृतज्ञताका ज्ञापन है । आचार्य स्वयं तद्गुणलब्ध्यर्थी हैं । साहचर्यन्यायसे वीतरागधर्मको भी नमस्कार या बहुमान दिया गया है, सिर्फ विज्ञानको ही नहीं, यह तात्पर्य है

२. आश्चर्य व अतिशयजनक ।

निम्न प्रकारसे करते हैं। यथा [यत्र] जिस परंज्योति या केवलज्ञानमें (विज्ञानमें) [समं] युगपत् यानि एक साथ—एक काल ही [समस्तैरनन्तपर्यायैः सकला पदार्थमालिका] अपनी सम्पूर्ण अनन्त पर्यायों सहित समस्त पदार्थ-समुदाय (विश्व) [दर्पणतल इव] दर्पण या मुकुरकी तरह, यानि जैसे दर्पणके सामने आनेपर चेहरा मोहरा या वस्तुएँ उसमें स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती हैं, उसी तरह [प्रतिफलति] झलकते हैं या जाने जाते हैं [तत् परंज्योतिः जयति] ऐसी वह परंज्योति या केवल-ज्ञान जयवन्त रहे याने सदैव अनन्तकाल तक मौजूद रहे उसका अन्त कभी न हो। अर्थात् उक्त गुणवाले मोक्षमार्गप्रदर्शक गुणी (केवली सर्वज्ञ) का हम (आचार्य अमृतचन्द्र) विनय करते हैं—कृतज्ञता प्रकट करते हैं, यह सारांश है। फलतः वीतरागता एवं विज्ञानता दोनों ही उपास्य व आदरणीय एवं प्रापणीय हैं। इस तरह बहुअर्थीमंगलाचरण आचार्यप्रवरने किया है। मंगलाचरणके प्रयोजन[1] अनेक हैं जो विनयगुणमें शामिल हैं ॥१॥

भावार्थ—कर्त्ताके शुभोपयोग या धर्मानुरागका परिचय मंगलाचरणके द्वारा हुआ करता है। संयोगी पर्यायमें रहते हुए भी जीवोंकी कृति या प्रवृत्तिसे उनके भावों (परिणामों) का पता बराबर लग जाता है, कोई असाध्य वस्तु नहीं है। जब परोपकार करनेकी अभिलाषा या धर्म तथा धर्मात्माओंके प्रति कृतज्ञताका भाव होता है या उसका प्रबल वेग प्रकट होता है तब वह किसीका रोका हुआ नहीं रुकता। यद्यपि विवेकी सम्यग्दृष्टि जीव उसको रोग या विकार जैसा हेय ही जानता व मानता है तथापि शक्तिहीनतासे संयोगीपर्यायमें अनिच्छा या अरुचिसे उसका प्रयोग, उपयोग या सेवन करना ही पड़ता है। इसलिये वे विकारी भाव ज्ञानपूर्वक होनेसे ज्ञान-भावरूप ही हैं, अज्ञानभावरूप नहीं हैं, न होते हैं तथापि अरुचि या अनिच्छा साथमें रहनेसे अधिक बन्धके कर्त्ता वे नहीं होते, अल्पबन्धके कर्त्ता ही वे होते हैं, परन्तु एकदम रुकते नहीं हैं। तभी तो पूज्य, कुन्दकुन्दाचार्यप्रभृति महाव्रती आचार्योंने छठवें गुणस्थानमें रहते हुए शुभोपयोग और शुद्धोपयोग बनाम व्यवहार और निश्चयका सदुपयोग किया है—दोनोंका अविरोधरूपसे प्रवर्त्तन अपनेमें किया है। जो प्रत्येक ग्रन्थमें मंगलाचरणके रूपमें प्रस्फुटित हुआ है। यहाँ पर भी वही समाधान है। परिणमनके अनुसार शुद्धोपयोगी मोक्षमार्गीका उपयोग बदलकर शुभोपयोग रूप हो जाता है, स्वभावके अनुसार उपयोग क्षायोपशमिकदशामें बदलता रहता है तभी तो परमात्माके अनुपम गुणोंकी प्राप्तिका भाव रखकर परमात्माके गुणोंका कीर्त्तन संभवतः आचार्य-ने किया है। परन्तु ध्यान रहे कि यह अशुभराग नहीं है कारणकि इसमें विषय-कषाय बढ़ानेकी चाह या इच्छा नहीं है न किसी तरहकी संक्लेशता है जिससे अधर्मानुराग या अशुभोपयोग माना-जा सके, यह रहस्य है। अस्तु, यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है कि लक्ष्यकी सिद्धि (केवलज्ञानकी प्राप्ति) विना वीतरागताके नहीं हो सकती, उसका होना साथमें अनिवार्य है। परन्तु आचार्य महाराजने उसका नाम भी नहीं लिया, यह कैसा? इसका समाधान यह है कि दोनों सहभावी या

---

१. (१) नास्तिकता (अधार्मिकता) दोषको मिटानेके लिये (२) शिष्टाचार पालनेके लिये याने पूर्वपरम्पराको चलानेके लिये (३) विघ्नोंकी शान्तिके लिये (४) उपकार स्मरण करनेके लिये इस प्रकार चार प्रयोजन मंगलाचरणके माने गये हैं। आचार्यने उन्हें लक्ष्यमें रखा है।

अविनाभावी हैं। अतएव किसी एकका नाम लेनेसे दोनोंका ग्रहण हो जाता है, लोकमें ऐसा न्याय है। जैसे कि माताका नाम लेनेसे पिताका नाम आ जाता है या रूपके कहनेसे सहचर रसका भी कथन या ग्रहण हो जाता है। तदनुसार यहाँ पर भी विज्ञानता—परंज्योतिके साथ वीतरागताका भी उपादान हो जाता है। अरहंत या केवलज्ञानी होनेके लिये वीतरागता व विज्ञानता दोनोंकी आवश्यकता होती है व मानी गई है।[1] अस्तु, ये दोनों आत्माका स्वभाव हैं तथा ज्ञानके साथ वैराग्य होता है अतः जोड़ीदार भी हैं। ज्ञानका अर्थ यहाँ भेदविज्ञान है, किन्तु साधारण ज्ञान नहीं है जो सभी जीवोंमें रहा करता है, कारणकि वह जीवद्रव्यका साधारण लक्षण[2] है, जो दूसरी द्रव्योंमें नहीं पाया जाता। हमेशा गुण ही[3] पूज्य होते हैं, वेष वगैरह पूज्य नहीं होते क्योंकि वे जड़ पुद्गलकी पर्यायरूप हैं इत्यादि। गुण और गुणीका परस्पर भेद न होनेसे गुणोंके नमस्कार द्वारा गुणीका नमस्कार अनायास (आनुषंगिक) सिद्ध हो जाता है। किम्बहुना।

आचार्य या साधु-मुनि (श्रमण) का मुख्य कर्त्तव्य 'श्रामण्य' का याने माध्यस्थ्यभावका वनाम समताभाव या निर्विकल्पकताका भलीभाँति निर्वाह करना है अर्थात् उसको रागद्वेषसे रहित होकर निन्दा-स्तुति, कांच-कंचन, शत्रु-मित्र, आदि सवमें कोई विकारीभाव या पक्षपात नहीं करना चाहिये 'सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं' इत्यादि भावना भी वर्जनीय वतलाई है, कारण कि उससे वन्ध होता है। इसीलिये स्वामी समन्तभद्राचार्यने रत्नकरंडश्रावकाचारमें "विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते"।। लिखा है। सव आरंभ-परिग्रह, विषयवासनासे रहित सिर्फ ज्ञान, ध्यान व तपमें लीन रहने वाला साधु या श्रमण होता है व होना चाहिये, शेष सभी कार्य उसके लिये वर्जनीय हैं—पदवीके विरुद्ध हैं इत्यादि। शास्त्र-रचना आदि कर्त्तव्य है। आचार्यने शास्त्र-रचनाकर सराहनीय कार्य किया हैं, पदके अनुकूल है।

पुनः परमज्योतिः (केवलज्ञान) की और विशेष महिमा (तारीफ) है—उसका ज्ञेयोंके साथ नित्य सम्वन्ध सिर्फ निमित्तनैमित्तक है याने ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध नहीं है, यह वताया जाता है।

ज्योतिः प्रकाशको कहते हैं सो वह ज्योतिः या प्रकाश जीवद्रव्य (चेतन) में होता है और पुद्गलद्रव्य (रत्न वगैरह जड़) में भी होता है। परन्तु ज्योतिका महत्त्व सिर्फ प्रकाश करनेसे नहीं होता किन्तु खुद अपनेको जाननेसे होता है। ऐसी स्थितिमें पुद्गलद्रव्य (अजीव) की ज्योति ज्ञान या चेतनता रहित होनेसे वैसी आदरणीय नहीं होती जैसी कि आत्मा (जीव) की ज्योति आदरणीय होती है। अस्तु, इसके सिवाय जड़की ज्योति जड़को ही प्रकाशित करती है चेतनको प्रकाशित नहीं करती। जैसे कि एक्सरा शरीरके मामूली स्थूल विकारको बताता है

---

१. तीन भुवनमें सार वीतराग-विज्ञानता। शिवस्वरूप शिवकार नमहूँ त्रियोग सम्हारिके ॥

—छहढाला १–१

मंगलमय मंगलकरन वीतराग-विज्ञान। नमों ताहि जातें भये अरहंता दिमहान् ॥ —मोक्षमार्ग प्रका०

२. तत्त्वार्थसूत्रमें 'उपयोगो लक्षणम्' कहा गया है। —अ०२ सूत्र ॥८॥

३. गुणाः पूज्याः पुसां न च विकृतवेषो न च वयः।—स्वयंभूस्तोत्र

सूक्ष्मविकारको नहीं वताता, जीवको तो कतई वता ही नहीं सकता। शरीर जड़ है अतः उसको वता देता है। किन्तु उसको यह ज्ञान नहीं है कि मैं कौन हूँ व ये कौन हैं और मैं क्या कर रहा हूँ इत्यादि। फलतः दर्पणकी उपमा सर्वथा फिट नहीं वैठती, साधारण समझानेको उसका उदाहरण दिया जाता है। अस्तु,

केवलज्ञानरूप परंज्योतिः (चेतन) हमेशा ज्ञेयों याने पदार्थोंसे सदैव जुदी (पदार्थ व दर्पणकी तरह) या पृथक् सत्ता (अस्तित्व) रखती है तथापि उन सवको अखिलपर्यायों सहित वह युगपत् (एक ही समयमें ज्यों-की-त्यों जानती है। न वह ज्योतिः पदार्थोंके क्षेत्रमें जाती है न पदार्थ ज्योतिःके क्षेत्रमें आते हैं, किन्तु अपने-अपने स्थान और चतुष्टय (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव)में रहते हुए अपनी अपनी विशेषता या स्वभावके द्वारा (प्रकाश्य-प्रकाशकरूप) एक दूसरेसे अस्थायी संयोग सम्वन्ध स्थापित कर लेते हैं। अतएव ऐसे सम्वन्धको निमित्तनैमित्तिक सम्वन्धके नामसे कहा जाता है— उत्पाद्य-उत्पादकसम्वन्धके नामसे नहीं कहा जाता। अतः वैसा मानना भ्रम व अज्ञान है, कारण कि कोई किसीको उत्पन्न नहीं कर सकता, यह अटल नियम है। न कोई वस्तु किसीमें प्रवेश करती है न तादात्मयरूप होती है, न उसको उत्पन्न करती है, न उसका कार्य करती है। अतः वस्तु पूर्ण स्वतंत्र है, अपना-अपना कार्य ही करती है। एक दूसरेमें पृथक् रहते हुए सहायक या निमित्तता अवश्य कर सकती है किन्तु उसके उत्पन्न करनेमें असमर्थ या अकिंचित्कर ही रहती है। वस्तु या पदार्थमें ऐसी शक्ति ही नहीं है जो परमें प्रवेश कर सके या उसका उत्पादनरूप कार्य कर सके इत्यादि। इसीसे यह भी सिद्ध होता है कि आत्मामें अनन्तशक्ति रहते हुए भी परके करने की शक्ति उसमें नहीं है, सिर्फ परको जाननेकी शक्ति उसमें है। इसी तरह प्रत्येक द्रव्यका हाल समझना चाहिये।

ज्ञानकी हालत वदलती है, एकसी सदैव नहीं रहती। प्रतिक्षण अर्थपर्याय याने सूक्ष्म पर्याय वदल जाती है—उसकी क्षणमात्रकी स्थिति है। तभी तो सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकका अक्षरके अनन्तवें भाग वरावर सूक्ष्मज्ञान बढ़ते-वढ़ते केवलज्ञान (अनन्त) तक वढ़ जाता है। सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग वरावर शरीर एकहजार योजनकी अवगाहनावाला वढ़ते-वढ़ते हो जाता है। तव यहाँ प्रश्न होता है कि जव प्रत्येक वस्तु (पदार्थ) परिणमन या परिवर्त्तनशील है तव पुद्गलका परमाणु भी कभी वढ़ जाना चाहिये याने अधिक प्रदेश वाला मोटा वन जाना चाहिये ? इसका उत्तर—यह है कि शुद्धनिश्चयनयसे परमाणु एकप्रदेशी सूक्ष्म है अतएव वह उतना ही हमेशा रहता है सिर्फ उसमें रहने वाले गुणोंकी हालत (पर्याय) वदलती है याने कभी उन गुणोंकी शक्ति वढ़ जाती है और कभी घट जाती है ऐसा होता है। परन्तु व्यवहारनयसे या अशुद्धनिश्चयसे, परमाणुको वहुप्रदेशी वननेकी योग्यता (शक्तिमात्र) वतलाई गई है लेकिन यह संभावनासत्य है, कार्यसत्य नहीं है (व्यक्ति नहीं होती)। हाँ, उपचारसे उस समय वहुप्रदेशी कह दिया जाता है, जव कि यह परमाणु दूसरे परमाणुओंके साथ संयुक्त होता है अर्थात् स्कन्धमें वहुप्रदेश होनेसे (जो वहु परमाणुओंसे वनता है), जैसा स्कन्ध वहुप्रदेशी माना जाता है वैसा ही, परमाणुको भी उपचारसे वहुप्रदेशी मान लेते हैं, यह समाधान समझना चाहिये। निश्चयसे परमाणुका परिमाण (एकप्रदेश) नहीं वढ़ता, न घटता है। किम्बहुना।

वस्तुके स्वभाव अनेक तरहके होते हैं। जैसे कि—(१) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, यह वस्तुका स्वभाव है (२) गुण व पर्याय, वस्तुका स्वभाव है। (३) परिणमनशीलता, यह भी वस्तुका स्वभाव है। इसीमें नित्य व अनित्य स्वभाव भी आ जाता है। फलतः 'पुष्करपलाशवत् निर्लेप' (तादात्म्य-रहित) प्रत्येक वस्तुका स्वभाव होनेसे ज्ञायक परज्योति भी ज्ञेयोंसे भिन्न (शुद्ध-तादात्म्यरहित) रहती है।

तथा परंज्योतिः निश्चयसे अपने ज्ञेयाकार चैतन्यको ही जानती है और व्यवहारसे पर-पदार्थोंको यह तथ्य (रहस्य) भी समझना चाहिये, जो सत्य है। इसी तरह परंज्योति (केवल-ज्ञान) और अर्हन्तपना (सर्वज्ञवीतरागता) यह सब पुण्यका फल है, पापका फल नहीं है। कारण कि पापकर्मों याने घातियाकर्मोंके क्षय होने पर ही वह अवस्था होती है, उनके उदय अस्तित्वमें नहीं होती जिससे उनका फल माना जाय; नहीं माना जा सकता। किन्तु वह पुण्यकर्मोंका याने अघातिया कर्मोंके उदय या अस्तित्व रहते ही होता है अतएव उनहीका फल मानना चाहिये, भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये[1]। तथा उनकी सब गमनादि क्रिया क्षायिकी है (निमित्तकी अपेक्षा) किन्तु सामान्यतः स्वाभाविकी है—वस्तुस्वभावसे वैसा परिणमन होता है। अस्तु, विशेष टीकासे देख लेना चाहिये। वे मोक्षमार्गके नेता (प्राप्त करनेवाले) हैं या उपदेश देनेवाले हैं, सर्वज्ञ हैं, वीतराग हैं। अतएव गमनादि सब क्रियाओंके होते हुए भी वीतराग-विज्ञानतासे कर्मबंध नहीं करते, न नया भव धारण करते हैं यह फल होता है।

विशेष—आचार्य महाराजने परंज्योति (केवलज्ञान) की महिमा उक्त श्लोक द्वारा मुख्यरूपसे एकप्रकारकी बतलाई है और वह इस प्रकारकी कि वह परमज्योतिः युगपत् (एक कालमें) सम्पूर्ण पदार्थोंको उनकी त्रैकालिक अनन्त पर्यायों सहित हस्तामलकवत् स्पष्ट यथार्थ जानती है। इत्यादि शेष सब यथाशक्ति ऊपर दर्शाया गया है। अर्थात् परंज्योतिमें अनेक प्रकारकी महिमाएँ हैं तथापि आचार्यने 'स्थालीतंडुलन्याय'से एक अद्वितीयपना मुख्यतासे बता दिया है। लेकिन इससे सिर्फ उतनी ही महिमा नहीं समझना चाहिये, अपितु और भी अनेक महिमाएँ समझना चाहिये, अनेकान्तदृष्टिसे विचार किया जाता है। अस्तु, सबसे बड़ी संख्या (राशि) केवलज्ञानके अविभागी प्रतिच्छेदों (अंशों) की है, वह अनंतानंत है। उनसे कम संख्या, पदार्थों (विषयों) की है, वह अनंत है तथा उन पदार्थोंके वाचक शब्दों (अक्षरों) की संख्या और भी कम है (सीमित है) एवं पदों, वाक्यों और शास्त्रोंकी संख्या बहुत कम है। अनंत अनेक प्रकारके होते हैं द्रव्यगत, गुणगत, पर्यायगत इत्यादि।

परंज्योतिके प्रति आस्था और विनय प्रकट करनेके पश्चात् आचार्य अनेकान्तको बनाम स्याद्वादरूप जिनवाणीको भी साध्यका साधक होनेसे नमस्कार करते हैं—

---

१. पुण्यफला अरहन्ता तेसिं किरिया पुणो हि ओदयिया।
मोहादीहिं विरहिंदा तम्हा सा खायगत्ति मदा ॥४५॥

—गाथा नं० ४५ प्रवचनसार

परमागमस्य बीजं[1] निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥

पद्य

जिनवाणीको नमन करत हैं अनेकान्तमय जो होती ।
वादविवाद मिटाती वह है 'स्याद्वाद' संगति करती ॥
ईर्षा नीतिसे मेल होत हैं, सारे काम सिद्ध होते ।
जन्मांधोंको ज्ञान करातीं—हाथी, मिल अंगहि जेते ॥२॥

अन्वयार्थ

आचार्य (अनेकान्तं नमामि) अनेकान्त बनाम 'स्यावाद' को अथवा निमित्तकारणरूप जिनवाणीको नमस्कार करते हैं, जिससे कि जीवोंको ज्ञान या बोध होता है। पुनः वह अनेकान्त कैसा है ? [परमागमस्य बीजं] परमागम याने जिनोपदेशका बीजरूप है अर्थात् जिनेन्द्रदेव (अर्हन्त तीर्थंकर) का उपदेश (पदार्थकथन) सब स्याद्वादरूप या अनेकान्तरूप होता है, एकान्तरूप कभी नहीं होता जो असत्य माना जाये। तथा [निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्] जिस प्रकार जन्मसे अन्धे मनुष्योंका हाथीके बाबत होने वाले विवादको, नीतिज्ञ सर्वांग दृष्टि रखने वाला चतुर व्यक्ति तुरन्त ही मिटा कर हाथीका यथार्थ ज्ञान करा देता है, उसी तरह [सकलनयविलसितानां विरोधमथनं] अनेक नयों या पक्षपातोंके द्वारा उत्पन्न होने वाले मतभेदोंको करने वाले या मानने वाले मनुष्यों (एकान्तवादियों) के विवाद (विरोध) को वह अनेकान्त नष्ट कर देता है, ऐसी अद्‌भुतशक्ति उस अनेकान्त-शासनमें है अतएव उसको नमस्कार करना उचित ही है। वह भी वीतरागता व विज्ञानताकी तरह हितकारी—उपकारी है, यह भी एक कृतज्ञता-प्रकाशनरूप विनयगुण है—शुभराग है, जो पुण्यबंधका कारण है। अस्तु, अनेकान्तकी महिमा इस श्लोकमें बतलाई गई है। जिसके दृष्टान्तका खुलासा निम्न प्रकार है—

किसी नगरमें जन्मसे अन्धे (प्रज्ञाचक्षु) बहुतसे मनुष्य रहते थे। उनको हाथीके जानने की प्रबल इच्छा थी। एक बार उस नगरमें अचानक हाथी आ गया, लोग उसको देखनेके लिये दौड़ पड़े। जन्मांध मनुष्य, जो पहिलेसे ही हाथी जाननेको उत्सुक थे, कब मानने वाले थे, वे भी चल दिये और हाथीके पास पहुँचकर हाथीके अंगोंको पकड़ गये और अपने आप ही सोचने लगे कि हाथी ऐसा होता है। जिसने हाथीके पाँव पकड़े वह खम्भा जैसा हाथीको मानने लगा। जिसने पेट पकड़ा वह बिटा जैसा हाथीको मानने लगा, जिसने सूँड़ पकड़ी वह डंडा जैसा हाथीको मानने लगा, जिसने आँखें पकड़ीं, वह दिया जैसा मानने लगा, जिसने कान पकड़ा वह सूप जैसा मानने लगा, जिसने पूँछ पकड़ी वह वारा जैसा कहने लगा, इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार हाथी उनके ज्ञानमें झलक गया। पीछे वे आपसमें हाथीके स्वरूपको लेकर झगड़ने लगे। कोई

---

१. मूलाधार—जिससे उत्पत्ति होती है, उपादान कारण। पाठान्तर 'जीवं' शब्दका अर्थ प्राणाधार या रचनेवाला होता है।

कहता है हाथी खम्भा जैसा होता है, कोई कहता है विटा जैसा होता है, कोई कुछ कहता है, कोई कुछ कहता है, इत्यादि। इतनेमें कोई समझदार अनेकदृष्टिवाला या सर्वांगोंको जानने-देखने वाला वहाँ आया और उनके विवादको समझा। और कहा, भाई! क्यों लड़ते हो? मत लड़ो हम तुमारा झगड़ा मिटाए देते हैं। बात इस तरह है कि तुम सबका कहना कुछ-कुछ सत्य है—झूठ नहीं है, किन्तु पूरा हाथी वह नहीं है, जिसे तुम लोग मान बैठे हो, यह गलत है। हाँ, सब अंगों-को परस्पर मिला दिया जाए तो पूरा व सही हाथी होता है (बन जाता है), वस क्या था, उन लोगोंकी समझमें आ गया और सब एक मत हो गये, विवाद तुरन्त मिट गया। यह सब अनेकान्त-से या स्याद्वादरीतिसे समझानेका ही फल है, जिसको वह समझाने वाला स्वयं ही समझता था। अतएव उसने वताया कि सब अंग मिल करही अंगी (पूरा) वनता है, विना अंगोंके अंगी नहीं वनता, इत्यादि।

इसी तरह प्रत्येक पदार्थ या वस्तु अनेक धर्मोका पिंडरूप होता है—उसमें अनेक धर्म या अंग वसते हैं। अतएव किसी एक धर्मके जान लेने मात्रसे पूरे पदार्थका ज्ञान हो जाना नहीं माना जा सकता, अपितु वह आंशिक ज्ञान छद्मस्थ या क्षायोपशमिक ज्ञानियोंको होता है, इसीलिये उनको एक साथ पूरे पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता, वह सिर्फ क्षायिकज्ञानी सर्वज्ञ केवली को ही होता है अन्यको नहीं। लेकिन कथन—निरूपण या उपदेश सबका एक साथ पूरा नहीं हो सकता। किन्तु थोड़ा-थोड़ा होता है, वस इसीका नाम 'स्याद्वाद' है—कथंचित् या थोड़ा-थोड़ा कथन है। लेकिन उसमें विशेषता यह है कि वह क्रमशः कहा गया वस्तुका अंश शेष अकथित अंशोंके साथ सम्वद्ध रहता है, वह अकेला उतना ही वस्तुमें नहीं रहता, परस्पर वे सापेक्ष रहते हैं। फलतः अनेक धर्मवाला पदार्थ होनेसे एक धर्मरूप या एकान्तरूप (तावन्मात्र) पदार्थ नहीं है, न माना जा सकता है। सब विरोध या विवाद, जो एकान्त माननेसे होते हैं, अनेकान्त से नष्ट हो जाते हैं। अन्तका अर्थ धर्म है।

विशेष—अनेक धर्मोंमें, नित्य धर्म, अनित्य धर्म, स्वभाव धर्म, विभाव धर्म, निश्चय धर्म व्यवहार धर्म, उत्पादव्ययध्रौव्यधर्म, द्रव्यपर्याय व गुणपर्यायधर्म, सामान्यधर्म विशेषधर्म आदि वहुतसे शामिल हैं। उन सबसे पदार्थका सम्बन्ध है अतएव सवका विचार किया जाता है। यही अनेकान्तकी जानकारी है। गौण और मुख्य यह अनेकान्तकी रीति व नीति है।

विश्लेषण

'स्याद्वाद' यह शव्दकी शक्ति या स्वभाव है, जो उसमें अकृत्रिम या स्वाभाविक है। कोई भी शव्द (पुद्गलकी पर्याय) किसी भी वस्तुका एक वारमें पूरा नहीं कह सकता, किन्तु थोड़ा-थोड़ा कह सकता है अतएव जितना आगम या उपदेश (दिव्यध्वनि) है वह सब स्याद्वादरूप या थोड़ा-थोड़ा कथनरूप है। फलतः जिनध्वनिका आधार या वीज 'स्याद्वाद' या अनेकान्त ही ठहरा, क्योंकि उसी रूप वह होता है, अन्यरूप नहीं होता, ऐसा स्पष्ट समझना चाहिये।

इसके विरुद्ध जो एकान्ती शव्दको 'स्याद्वाद' रूप नहीं मानते किन्तु पूर्ण या सर्वथा मानते हैं कि शव्दोंके द्वारा जो कुछ एकबार कहा जाता है वस उतना ही पदार्थ है, और उसमें कुछ

बकाया नहीं रहता इत्यादि, बस इसीसे उनको अनेकान्तका ज्ञान नहीं होता और वे अज्ञानी (अधूरे ज्ञानी-मिथ्याज्ञानी) बने रहते हैं अर्थात् उनको शब्दकी शक्तिका ज्ञान न होनेसे भटकते रहते हैं, अहंमन्य अहंकारी बन जाते हैं। फलतः स्याद्वादी ही वस्तुके स्वरूपको यथार्थ समझ सका है, एकान्तवादी नहीं, यह सारांश है। इसीलिये आचार्यने स्याद्वाद या अनेकान्तको उपकारी—हितकारी समझकर नमस्कार किया है। इस तरह वीतराग विज्ञानताके साथ अनेकान्त या स्याद्वादका सम्बन्ध जोड़ा गया है।

दिव्योपदेश (दिव्यध्वनि) का क्रम और उसमें निश्चय-व्यवहाररूपता ध्वनि या शब्द, अर्थ या पदार्थ, ये दो पृथक्-पृथक् चीजें हैं। इनका परस्पर वाचक-वाच्य सम्बन्ध पाया जाता है। ध्वनि या शब्द वाचक होते हैं और अर्थ या पदार्थ वाच्य हुआ करते हैं। परन्तु कुछ शब्द ऐसे भी हुआ करते हैं जिनमें पदार्थोंको कहनेकी शक्ति नहीं रहती तथा कुछ पदार्थ भी ऐसे होते हैं जो वचनों या ध्वनियोंसे नहीं कहे जा सकते—अनिर्वचनीय होते हैं ऐसी स्थितिमें दिव्यध्वनि भी सभी अर्थोंको नहीं कह पाती और ऐसे अर्थ प्रायः तीन चौथाई याने बारह आने भर हैं, सिर्फ चार आना भर पदार्थ ऐसे हैं जो दिव्यध्वनि द्वारा कहे जाते हैं। वे भी क्रम-क्रमसे कहे जाते हैं, युगपत् (एक साथ) नहीं कहे जाते। यही बात गोम्मटसारमें[1] कही है।

तात्पर्य यह कि जितने पदार्थ दिव्यध्वनि द्वारा कहे जाते हैं उनमेंसे श्रोतागण थोड़े पदार्थोंको अपनी-अपनी भाषामें जान पाते हैं—उन्हें उनका ज्ञान हो जाता है और गणधरदेव उसमेंसे भी थोड़े पदार्थोंका समावेश द्वादशांग शास्त्रमें कर पाते या करते हैं। उसके पश्चात् अंग पूर्वके ज्ञाता आचार्य और थोड़ा अपनी रचनामें लिख पाते हैं। इस तरह कमती-कमती ही आगे ज्ञान व रचना होती जाती है। इस व्यवस्थाके अनुसार कभी भी एक बार सभी पदार्थोंका कथन और उनका शास्त्ररूपमें प्रणायन या समावेश नहीं होता, यह नियम है। इस तरह क्रम-क्रमसे पदार्थोंका कथन होता है तथा एक पदार्थका कथन भी उसके सम्पूर्ण धर्मों सहित एक बार नहीं होता किन्तु अनेक बार उसके अनेक धर्मोंका कथन करना पड़ता है। यह क्रम व्यवस्था बहुत शब्दों और अर्थोंमें (वाचक-वाच्यरूपमें) पाई जाती है, इसका खंडन कोई नहीं कर सका।

दिव्योपदेश (परमागम) का रूप व भेद व परिचय मय उदाहरणके

निश्चयसे यह तो प्रायः सभी विद्वान् जानते हैं कि शब्द या वचन (ध्वनि) यह पुद्गलकी पर्याय है और जड़रूप है किन्तु व्यवहारसे जब उन शब्दोंका संयोग सम्बन्ध जीवद्रव्यके साथ हो जाता है तब उन शब्दों या वचनोंको जीवको कहा जाता है। इस अपेक्षासे जीव बोलता है,

---

१. पण्णवणिज्जा भावा आणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो दु सुदणिवद्धो ॥३३४॥ —जीवकांड

अर्थ—जितने पदार्थ केवलीके ज्ञानमें आते हैं वे सब वचनीय (वक्तव्य) नहीं हैं किन्तु अनिर्वचनीय उनमें बहुत याने बारह आना हैं, और वचनीय कम याने चार आना भर हैं। उनमेंसे भी शास्त्रमें जो निबद्ध किये जाते हैं याने गूँथे या भरे जाते हैं वे अनन्तवें भाग हैं—सबसे थोड़े हैं यह क्रम है ऐसा समझना चाहिये।

उपदेश देता है, यह भी कहा जाता है एवं सत्य बोलता है, झूठ बोलता है, उभय बोलता है, अनुभय बोलता है, यह भी कहा जाता है। इसी तरह अर्हन्त देव भी उपदेश देते हैं—मोक्षमार्ग संसारमार्गका निरूपण करते हैं, विहार करते हैं, ध्यान धरते हैं इत्यादि उपचारसे कहा जाता है। परन्तु निश्चयसे वे सिर्फ ज्ञाता, दृष्टा हैं—सिर्फ सब बातोंको जानते हैं। लेकिन संयोगी पर्यायमें रहनेसे उनको यह लांछन लगाया जाता है। अस्तु, जब तक संयोगी पर्यायमें रहते हुए भी जीव कषायसहित (विकारी भाव सहित) होता है तब तक इतना जरूर होता है कि उसके 'जितने वचन निकलते हैं, वे सब प्रायः कषायपूर्वक या कषायके निमित्तसे निकलते हैं, यह नियम है। तभी तो कषायसहित जीवोंके वचनोंके चार भेद माने जाते हैं (१) सत्यवचन, (२) असत्यवचन, (३) मिश्रवचन, (४) अनुभयवचन। इनका सम्बन्ध जीवके अभिप्राय (कषायरूप इरादा) के साथ है अर्थात् जैसा इरादा (अभिप्राय) होता है वैसा ही नाम वचनोंका पड़ता है। जैसे कि यदि किसीका खोटा इरादा हो, वचन वह सत्य भी बोलता हो तो उसको असत्य वचन ही कहा जायगा। वह जीव असत्यवचन (झूठ) का अपराधी होगा; कारण कि उसका इरादा बोलनेके समय खराब था—दूसरे प्राणीको नुकसान पहुँचानेका था—अतएव 'सत्यमपि विपदे' इस वाक्यद्वारा समन्तभद्राचार्यने उसको असत्यवचनमें शामिल किया है (रत्नकरंडश्रावकाचार श्लोक नं० ५५)। तात्पर्य यह कि संयोगी पर्यायमें कषाय या अभिप्रायके अनुसार ही सत्य, असत्य आदिका निर्णय होता है बिना कषायके चार भेद वचनोंके नहीं होते।

अर्हन्त भगवान्‌के विना कषायके वचनोंके दो भेद (१) सत्यवचन (२) अनुभय वचन (न सत्य न असत्य या अक्षर रहित निरक्षर वचन) ऐसे माने गये हैं। शेष दो भेद असत्य और मिश्र नहीं माने गये हैं। गोम्मटसारमें[1] उनको याने सत्यवचन और अनुभय वचनको उदाहरण देकर समझाया गया है।

---

१. **१० दश प्रकारका सत्यवचन**

भत्तं देवी चंदप्पहपडिमा तह य होदि जिणचन्दो।
सेदो दिग्घो रज्झदि कूरो त्ति य जं हवे वयणं ॥२२३॥
सक्को जंवूदीवं पल्लट्टदि पाववज्जवयणं च।
पल्लोपमं च कमसो जणपदसच्चादिदिट्ठंता ॥२२४॥ —गो० जीवकांड

अर्थ—सत्यके १० भेद, भिन्न २ अपेक्षासे माने जाते हैं यह लोकरीति है—व्यवहारनय है जो पर्यायाश्रित है। अतः वह भी पर्यायकी अपेक्षासे सत्यमें शामिल होता है। जैसे कि मद्रास देश (जनपद) में 'भक्त-भात-भेट्ट-भाट्ट, यह चांवलोंकी पर्याय सत्य मानी जाती है। फिर भी वह कथंचित् सत्य है, उस देशकी अपेक्षा सत्य है—सब देशोंकी अपेक्षा सत्य नहीं है।

(१) यह सत्यका पहला उदाहरण है, इसके द्वारा सत्यका परिचय दिया गया है, जानकारी कराई गई है।

(२) सम्मतिसत्यका उदाहरण, देवी-पट्टरानी-स्त्री आदि वचन सम्मतिरूपसे सत्य हैं; कारणकि उनसे एक निश्चित अर्थका बोध होता है। वह रूढ़िसत्य भी कहलाता है।

सत्य और अनुभयका यथार्थ अर्थ निर्निमित्त (निमित्तविना—स्वाभाविक) एवं अनिर्णीत होता है अथवा विशेष और सामान्य भी होता है अथवा साक्षर और निरक्षर भी होता है इत्यादि। स्वभावानुसार (कषाय निमित्तके विना) जो पुद्गलद्रव्यमें ध्वनि या वचन या शव्द निकलते हैं वे सत्य ही निकलते हैं, परन्तु उन्हें कथंचित् सत्यवचन कहा जाता है इसलिये कि वे वचन किसी भी पदार्थको पूर्ण कहनेमें असमर्थ होते हैं, कुछ थोड़े धर्मको ही कहते व कह सकते हैं, सिर्फ स्वाभाविक परिणमन पुद्गलका होनेसे वे सत्य हैं कृत्रिम या

---

(३) स्थापनासत्यका उदाहरण—यह चन्द्रप्रभ भगवान्की प्रतिमा है, ऐसा कथन या वचन स्थापनानिक्षेपसे सत्य माना जाता है।

(४) नामसत्यका उदाहरण—जैसे यह जिनदत्त है, देवदत्त है, इत्यादि नामरूप कथनके द्वारा सत्य माना जाता है।

(५) मुख्यसत्य—अनेक धर्मों या गुणोंमेंसे एक-एक मुख्यका कथन करना मुख्यसत्य कहलाता है, जैसे—यह 'काला है' आदि।

(६) इसी प्रकार प्रतीत्यसत्य, (७) व्यवहारसत्य, (८) संभावनासत्य, (९) आगमसत्य (भावसत्य) और (१०) उपमासत्य इनका भी स्वरूप जान लेना चाहिए।

नौ प्रकारका अनुभय वचन

आमंतणि[१] आणवणी[२] याचणिया[३] पुच्छणी य[४] पण्णवणी[५]।
पच्चक्खाणी[६] संसयवयणी[७], इच्छानुलोमा य[८] ॥२२५॥
णवमी अणक्खरगदा[९] असच्चमोसा हवंति भासाओ।
सोदाराणं जम्हा वत्तावत्तंस-संजणया ॥२२६॥—गो० जीवकांड

अर्थ—जो वचन न व्यक्त (स्पष्ट) हो, न अव्यक्त (अस्पष्ट) हो यानि अनिर्णीत हो अर्थात् किसी प्रकारका निर्णय न हो सके, उस वचन या कथनको 'अनुभयवचन' (चौथा भेद) कहते हैं। उसका परिचय नौ प्रकारके दृष्टान्त देकर कराया गया है अर्थात् नौ स्थानों या वाक्यप्रयोगोंमें प्रदर्शित किया गया है। जैसे—(१) आमंत्रणी किसीको जोरसे वुलानेमें या टेरनेमें जव तक स्पष्ट उच्चारण न हो—ठीक-ठीक शव्द न वोले जायं, न सुनाई पड़ें, तव तक उनको अनुभयवचन समझना चाहिये। इसको आमंत्रण या सम्वोधन कहा जाता है। यही आमंत्रणी भाषा है। (२) आज्ञावचन—किसीको आज्ञा देना कि ऐसा करो इत्यादि (३) याचनावचन—किसीसे कुछ मांगनेके वचन। (४) पृच्छनावचन—किसीसे कुछ पूछनेके वचन (५) प्रज्ञापन-वचन—किसीको कुछ वताने या जाहिर करनेके वचन—सूचना देनेवाले वचन। (६) प्रत्याख्यानवचन—त्यागने या छोड़नेके वचन कि यह तुम छोड़ो आदि। (७) संशयवचन—जिसमें कोई निर्णय न हो सके। (८) इच्छानुलोम वचन—पूछनेवालेकी इच्छापर फैसला देनेके वचन, कि जैसा चाहो सो करो इत्यादि। (९) अनक्षरवचन—इशारा या संकेतरूप वचन, जिसमें वचन न वोले जांय, सिर्फ गुनगुन-सा किया जाय इत्यादि। ये सव अस्पष्ट होनेसे अनुभयवचनमें शामिल किये गये हैं। इनके सिवाय और भी अस्पष्ट या अव्यक्त कथन (निरूपण-शव्दोच्चारण) अनुभयवचनमें अन्तर्भूत होता है। विस्तारभयसे विशेष नहीं लिखा—शास्त्रमें देख लेना,।

नैमित्तिक नहीं हैं, यह निश्चित है। इसी तरह प्रारम्भिक अवस्था (दर्शनकाल) में वे वचन स्पष्ट साक्षर या निर्णीत न होनेसे अनुभयरूप हैं। पश्चात् वे ही वचन स्पष्ट साक्षर निर्णीत हो जानेसे सत्यरूप हैं ऐसा निर्णय समझ लेना चाहिये। विशेष खुलासा वक्ष्यमाण है। भगवान्की दिव्यध्वनि (धर्मोपदेश) जब नियमित विना इच्छा, कषाय या अभिप्रायके स्वभावतः चार वार (प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल, अर्धरात्रिको छह-छह घड़ी तक) निकलती है तव वह प्रारम्भमें अस्पष्ट अक्षररहित अनिर्णीत निकलती है (कर्णतक न पहुँचे तव तक) ज्ञानरूप होती है। पश्चात् जब श्रोताओंके कर्णमें वह ध्वनि पहुँचती है तव वह स्पष्ट रूपसे अक्षर-पदसहित परिणत होकर जानी जाती है—समझमें आती है अतएव उसको 'सत्य-वचनरूप' कहते हैं। यहाँ पर ऐसा भेद समझना चाहिये कि यह सिर्फ मागध जातिके देवोंका अतिशय नहीं है किन्तु वस्तुका स्वभाव है, उन भाषावर्गणाओंमें स्वयं सव भाषाओं (वचनों)के वीज हैं, उपादानता है अतएव वे अनेक भाषारूप परिणम जाती हैं और श्रोतागण अपनी-अपनी भाषामें समझ लेते हैं। फलतः वे अक्षररूप और अनक्षररूप (अक्षरसहित व अक्षररहित) दोनों प्रकारकी होती हैं, यह तात्पर्य है। मागध[1] जातिके देव, सिर्फ़ दिव्यध्वनिको विस्ताररूप करते हैं और भगवान्की स्तुति करते रहते हैं। अतएव 'अर्धमागधीभाषा'का अर्थ यही है कि दिव्यध्वनि (जिनवाणी)को आधा और दूरतक वढ़ा देना याने पूरे समोशरण और उसके वाहिर भी पहुँचा देना—ध्वनि-विस्तारक यंत्रकी तरह आवाज वढ़ा देना इत्यादि। अर्धमागधी भाषाका दूसरा अर्थ भी किया जाता है जो विचारणीय है।

निश्चय व व्यवहारकी दशा

वाणी या उपदेश सव; व्यवहार रूप है कारण कि पदार्थोंका बोध जीवोंको वचनों या शब्दोंकी सहायतासे ही होता है। अतएव पराश्रितताके नाते सव व्यवहारकोटिमें आजाता है। ज्ञानकी दशा निश्चयरूप है क्योंकि वह विना किसी इन्द्रियादि परकी सहायतासे होता है अतः वह स्वाश्रित है (आत्मामात्रके आश्रित है) ऐसी स्थितिमें निश्चय और व्यवहारको ठीक-ठीक समझना चाहिये। परकी (शब्दादिक या इन्द्रियादिककी) सहायता लेना ही ज्ञानकी व्यवहार दशा है ऐसा समझना चाहिये, इत्यादि—

अथवा

शब्द स्वयं अपनेको कहते हैं अतः निश्चयरूप हैं और पर (ज्ञेयों पदार्थों)को कहते हैं अतः व्यवहाररूप हैं। इसी तरह ज्ञान स्वयं अपनेको जानता है अतः निश्चयरूप है और पर (ज्ञेयों)-को जानता है यह व्यवहाररूप है। ऐसा निर्धार समझना चाहिये।

परमागम (दिव्यध्वनि)की महिमा

यद्यपि परमागम या जिनवाणीमें अनेक विशेषताएँ—महिमाएँ हैं तथापि आचार्य महाराजने इस श्लोकद्वारा एक ही मुख्य महिमा वतलाई है जो मूलभूत या वीजभूत है और वह

---

१. मागधाः स्तुतिपाठकाः, इत्यमरः।

है 'अनेकान्त' वनाम स्याद्वाद याने कथंचित् या अपेक्षासे कथन करना। अर्थात् जिनवाणी या जिनवचन, कभी एकवार सम्पूर्ण कथन (पदार्थका निरूपण) नहीं कर सकती, यह नियम है और यह मूलभूत योग्यता उसमें है, इसका उल्लंघन वह कभी नहीं कर सकती। फलतः क्रम-क्रमसे वह पदार्थों व उनमें रहनेवाले धर्मोंका कथन करती है। इतना ही नहीं, यह स्वभाव सभी वचनों या शब्दोंमें पाया जाता है, चाहे वे शब्द किसीके भी हों, शब्दोंमें इतनी ही सामर्थ्य व शक्ति है ऐसा समझना चाहिए। यही खास महिमा परमागमकी है और शेष महिमाएं पीछे वताई जा चुकी हैं। किम्वहुना। अर्हन्तके शरीरगत या सामान्यपुरुषके शरीरगत भाषावर्गणाओंके निषेक क्रम-क्रमसे ही ध्वनिरूप या उपदेशरूप होते हैं। वे एकसाथ पूर्ण वस्तुको नहीं कह सकते यह साधारण नियम है जो टल नहीं सकता, अस्तु।

परमागममें निश्चय-व्यवहारका अविरोध व सद्भाव

(ज्ञान व कथनकी अपेक्षासे निर्णय)

अर्हन्तदेवका उपदेश कभी निश्चयरूप होता है याने द्रव्यार्थिकनयसे द्रव्यमात्र (शुद्धरूप) का कथन वे करते हैं, जिससे निश्चयपना उसमें पाया जाता है। और कभी उनका उपदेश व्यवहाररूप होता है अथात् उसी द्रव्यकी संयोगी पर्यायका कथन पर्यायार्थिकनयसे वे करते हैं जो पर्यायाश्रित होनेसे व्यवहाररूप (अशुद्ध) है इत्यादि। इसी तरह कभी निश्चयनयसे अर्थात् द्रव्यार्थिकनयसे वे जीवद्रव्यको, वंध आदिसे रहित (एकत्व विभक्तरूप) याने परके साथ तादात्म्य-से रहित कहते हैं अतएव वह कथन निश्चयरूप (शुद्ध) है एवं कभी वे संयोगी पर्यायमें पर्यायार्थिक-नयकी अपेक्षा कर्मवंध सहित (संयोगरूप) जीवको कहते हैं अतएव वह पर्यायाश्रित कथन होनेसे व्यवहाररूप है इत्यादि, तथापि निश्चय और व्यवहारका विरोध रहित अस्तित्व एक ही द्रव्य (जीव)में अनेकान्तदृष्टिसे पाया जाता है कोई विरोध नहीं आता, दोनों विरोधी धर्मोंका सह-अस्तित्व (सहावस्थिति) एक जगह एककाल वरावर पाया जा सकता है याने दोनोंकी परस्पर संधि रहती है। इसी प्रकार रागके साथ विराग भी निर्विरोध रह सकता है। एक ही जीवद्रव्यमें संयोगीपर्यायमें पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे रागका रहना और द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे जीवद्रव्यमें राग जैसे दोषका जीवद्रव्यके साथ तादात्म्यरूपसे नहीं रहना दोनों विरोधी चीजें पाई जाती हैं इत्यादि। यह निश्चय-व्यवहारका सद्भाव समझना चाहिये। सर्वत्र नयोंके आधारसे अनेक धर्म वस्तुमें निरावाध सिद्ध हो जाते हैं। परमागम या दिव्यध्वनिमें उपदेश निश्चय और व्यवहार दो रूप होता है[1]।

---

१. जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥६॥ —सूत्रपाहुड, कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ—जिन भगवान् या अर्हन्त देवकी वाणी या उपदेश निश्चय और व्यवहार दो रूप होता है इसलिये जो जीव (योगी) उस उपदेशको यथाविधि (निश्चयको निश्चयरूप और व्यवहारको व्यवहाररूप) जान लेता है वह कर्ममल (कर्मवंधन) को नष्ट करके आत्मिक सच्चे सुखको प्राप्त कर लेता है, अन्यथा नहीं। यह विवेकी सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, दूसरे एकान्ती मिथ्यादृष्टि नहीं कर सकते, उनमें वह

आगम (परमागम) के तीन भेद—

(१) **गणधरसूत्ररूप आगम**—वह है जिसकी रचना चार ज्ञानके धारी गणधर द्वादशांगरूप करते हैं। तथा जो अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य दो रूप होती है। वह सब शब्दरूप या द्रव्यश्रुतरूप है। संक्षेप-रचनाका नाम सूत्र है।

(२) **प्रत्येकबुद्धसूत्ररूप आगम**—जो स्वयंवुद्ध गणधरसे कमती ज्ञान वाले वड़े-वड़े तपस्वी ऋषि-महर्षियोंके द्वारा संक्षेप-शास्त्र वनाए जाते हैं, उन्हें प्रत्येकबुद्धसूत्र कहते हैं।

(३) **अभिन्नदशपूर्वसूत्ररूप आगम**—जो शास्त्र अभिन्न दशपूर्वके ज्ञाता आचार्योंके द्वारा बनाये या रचे जाते हैं, उनको अभिन्नदशपूर्व सूत्र कहते हैं। उनके नाम वगैरह शास्त्रोंमें दिये गये हैं वहाँसे उन्हें देख लेना।

अथवा आगमके तीन भेद—

(१) शब्दागम (२) अर्थागम (३) ज्ञानागम।

यथा—

(१) **शब्दागम**—केवलीकी जो ध्वनि या शब्द निकलते हैं, उसको शब्दागम कहते हैं। वह अक्षररूप (अकारादि स्पष्ट अक्षर सहित) और अनक्षररूप (स्पष्ट अक्षर रहित गर्जनात्मक या घरघराहट रूप) निकलती है। अथवा निकलते समय अक्षर रहित और सुनते समय अक्षर सहित समुदायरूप 'ओम्' वीजाक्षरकी तरह समुदायरूप, जिसमें सव भाषाओंके बीज भरे हुए हैं ऐसी विचित्र भाषा या ध्वनिरूप वह है। इसीका नाम निरक्षरी ध्वनि व साक्षरी ध्वनि है ऐसा खुलासा समझना चाहिए।

सामर्थ्य नहीं है। स्याद्वादरूप उपदेशको समझनेवाला स्याद्वादी भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव ही जिनवाणीका यथार्थ ज्ञाता होता है।

दूसरा अर्थ—

अर्थ—जिनवाणी (दिव्यध्वनि) व्यवहाररूप ही होती है अर्थात् जिनेन्द्रदेवका उपदेश याने ज्ञानगत ज्ञेयोंका कथन, शब्दों की सहायतासे होता है अतएव वह पराश्रित व्यवहाररूप सिद्ध होता है। तथापि उस व्यवहाररूप वाणी (उपदेश) से जो जीव निश्चयको समझ लेते हैं वे सम्यग्ज्ञानी होकर सच्चे सुखको प्राप्त करते है एवं कर्ममलको नष्ट कर देते हैं अर्थात् संसारको त्यागकर मोक्षको चले जाते हैं, यह तात्पर्य है ॥६॥ इस प्रकार व्यवहारको निश्चयका कारण माना जाता है तथा उसमें निमित्तता पाई जाती है। वास्तवमें तो अभिन्नप्रदेशी व्यवहार ही निश्चयका कारण होता है, ऐसा समझना चाहिये।

विशेष—यहाँ पर कार्यकी अपेक्षासे जिनवाणीमें निश्चय और व्यवहार दो भेद किये गये हैं, कारणकी अपेक्षासे दो भेद नहीं वनते, ऐसा समझना चाहिये। इसका भावार्थ यह है कि स्वयं व्यवहाररूप जिनवाणी जव यथार्थ (सत्य) तत्त्व (वस्तुस्वरूप) का कथन (वर्णन) करती है (यह वाणीका कार्य है) तव उसको निश्चय वाणी कहते हैं और जव वही वाणी अभूतार्थ (असत्य) तत्त्वका कथन करती है तव उसको व्यवहार वाणी कहते हैं, यह भेद समझना चाहिये।

(२) **अर्थागम**—शब्दोंके द्वारा जो अर्थ या वाच्यरूप पदार्थ कहा जाता है, उसको अर्थागम कहते हैं। कारण कि शब्दोंका व अर्थोंका वाच्यवाचक नित्य सम्बन्ध रहता है ऐसा समझना चाहिये।

(३) **ज्ञानागम**—शब्दोंका और अर्थोंका जो ज्ञान श्रोताओंको होता है, उसको ज्ञानागम कहते हैं। आगम शब्दका अर्थ आना या प्राप्त होना है। अतएव परीक्षामुखमें लिखा है—

'आप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमागमः'।

—परीक्षामुख ३।९९

अर्थ—जिनेन्द्रदेव (आप्त)के वचनों आदिके निमित्तसे जो पदार्थोंका ज्ञान होता है, उसको आगम (ज्ञानागम) कहते हैं। यहाँ पर वचनोंको गौण करके सिर्फ ज्ञानकी मुख्यता की गई है ऐसा समझना और कोई भेद नहीं है। अस्तु, वह ज्ञान शब्दों द्वारा आता है याने प्रकट होता है अतएव वह आगमरूप सिद्ध होता है। यथार्थतः वे वाचक शब्द ही आगम हैं—आये हैं—शब्दरूप परिणत हुए हैं।

उस ज्ञानागमके सिलसिलेमें ही नय व प्रमाणका विवेचन किया जाता है—

ज्ञानके याने जाननेके साधनके दो भेद माने गये हैं (१) नय तथा (२) प्रमाण। पदार्थों-का ज्ञान नयसे व प्रमाणसे होता है। नयसे आंशिक (थोड़ा) ज्ञान होता है और प्रमाणसे सम्पूर्णका ज्ञान होता है यह मूल भेद है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब नयसे पदार्थका पूरा ज्ञान नहीं होता—थोड़ा-थोड़ा होता है तब उसमें प्रामाणिकता (सत्यता) कैसे आसकती है ? इसका उत्तर निम्न प्रकार है—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८॥

—आप्तमीमांसा

अर्थात् नय भी प्रमाणकी तरह प्रामाणिक होते हैं। लेकिन तभी, जब वे परस्पर सापेक्ष माने जाते हैं। अर्थात् नयका विषय पदार्थका एक अंश व देश है जो सत्यरूप है। इसलिये उसका जानना उतने अंशमें सही है, परन्तु वह पदार्थको उतना मात्र ही नहीं बताता या मानता, जिससे वह अप्रामाणिक सिद्ध हो सके। अतएव सभी नय या वस्तुके अंश मिलकर वस्तु या पदार्थको पूरा बनाते हैं तथा परस्पर मेल या सहयोग रखते हैं। ऐसा नहीं कि एक नय (अंश) दूसरे नयको छोड़ देता हो—उसका अभाव या खंडन कर देता हो ? अतएव गौण-मुख्यरूपसे सभी नय कार्य करते हैं। इससे वे प्रामाणिक हैं—अप्रामाणिक नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें वे परस्पर सापेक्ष नय वस्तुरूप हैं और वस्तुरूप होनेसे अर्थक्रियाकारी हैं। इसके विपरीत यदि वे नय परस्पर सापेक्ष न हों—निरपेक्ष हों तो वे मिथ्या हैं—सम्यक् नहीं हैं; क्योंकि निरपेक्ष नयोंको मिथ्या कहा गया है और सापेक्षोंको सम्यक्। अतः सापेक्ष अंशोंको विषय करने तथा प्रमाणका अंश होनेसे नय प्रमाण हैं।

भावार्थ—यद्यपि निरपेक्ष एकान्त मिथा है और इसलिए उनके समूहरूप अनेकान्तको मिथ्या कहा जा सकता है पर जैन दर्शनमें न निरपेक्ष एकान्तको स्वीकार किया है और न उनके समूहको अनेकान्त माना है। अपितु उन्हें मिथ्या ही कहा है। किन्तु सापेक्ष एकान्त और उनके समूह अनेकान्तको अङ्गीकार किया तथा उन्हें वस्तु (सम्यक्) एवं अर्थक्रियाकारी बतलाया है। अत: सापेक्ष एकान्तोंको विषय करने वाले नय प्रमाणस्वरूप ही हैं। इसके सिवाय प्रमाणके द्वारा द्वारा गृहीत पदार्थके अंशको ही नय ग्रहण करता है इसलिए उसका पदानुसारी होनेसे प्रमाणकी तरह वह भी प्रामाणिक है।

विशेष—अनेकान्तरूप (स्याद्वादरूप = कथंचित्रूप) आगमका ज्ञान हो जानेसे निश्चय और व्यवहाररूपताका भी उससे ज्ञान हो जाना संभव है। अर्थात् जिस प्रकार शब्द या वचन पदार्थको थोड़ा-थोड़ा कहते हैं अतएव वे अनेकान्तरूप हैं (अनेक तरहका कथन करनेवाले हैं) उसी तरह वे वचन या शब्द, निश्चयरूप भी हैं—निश्चयका याने द्रव्यका कथन करनेवाले हैं तथा व्यवहाररूप भी हैं—संयोगी पर्यायका कथन करनेवाले हैं।[1]

इस तरह परमागमके भेद, क्रम व निश्चय-व्यवहाररूपताका वर्णन हुआ।

वक्ता और श्रोतामें निश्चय व्यवहार प्रदर्शन

निश्चय नयसे शुद्ध आत्मा बोलती नहीं है, बोलना शब्द है और पुद्गलकी पर्याय है, जीवकी नहीं है अतएव आत्मा अवक्ता ही है—वह ज्ञाता दृष्टा है। फलत: द्रव्यार्थिक नयसे आत्मा वक्ता नहीं है किन्तु पर्यायार्थिक नयसे अर्थात् व्यवहार नयसे आत्माका व जड़ शरीरका संयोगसंबंध होनेसे जड़ शरीरकी शब्दपर्यायको आत्मा (जीव) की मान ली जाती है। बस, यही तो व्यवहार या उपचार है और यह कलंक ही जीवको बदनाम कर देता है कि 'आत्मा वक्ता है' इत्यादि। इसी तरह आत्मा द्रव्यार्थिकनय या निश्चय नयसे श्रोता भी नहीं है कारण कि उसके कान नहीं हैं जिनसे वह सुन सके। कान पुद्गलकी रचना है और आत्मा चेतनरूप ज्ञाता दृष्टा है तब वह श्रोता नहीं हो सकता। किन्तु संयोगी पर्यायमें व्यवहार नयसे अर्थात् पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे जीव या आत्माको कह दिया जाता है कि आत्मा श्रोता है—सुनता है इत्यादि। यह सब उपचार है (कल्पना मात्र है; पराश्रित है, अभूतार्थ है)। इस प्रकार संयोगी पर्याय में निश्चय और व्यवहार दोनोंका अस्तित्त्व नयविवक्षासे सिद्ध होता है, कोई विरोध नहीं आता। फलत: अनेकान्त या स्याद्वाद (शब्दरूप व ज्ञानरूप व नयरूप) सभी विवादों या विरोधोंको मिटा देता है जो उसका स्वभाव है। किम्बहुना, अनेकान्तको अच्छी तरह जानना व समझना मुख्य कर्त्तव्य है। अनेकान्त अनेक तरहसे घटित किया जाता है याने निश्चयसे व व्यवहारसे, स्वचतुष्टय तथा परचतुष्टयसे भी युगपत् अनेकान्त सिद्ध होता है। जैसे कि युगपत् अस्ति व नास्ति एकत्र निर्विरोध सिद्ध होते हैं। ज्ञान व अज्ञान भी इसी तरह समझना चाहिये।

---

१. द्रव्याश्रितो निश्चय :—शुद्ध याने परसे भिन्न द्रव्य मात्रका कथन करनेवाला द्रव्यार्थिक नय।
पर्यायाश्रितो व्यवहार :—संयोगी पर्यायका कथन करनेवाला पर्यायार्थिक नय।

अनेकान्तके अनेकरूप (भेद)

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।

अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१०३॥

—स्वयंभूस्तोत्र

अर्थ :—अनेकान्त याने वस्तुमें अनेक धर्म एवं अनेकान्त याने स्याद्वाद अर्थात् उन वस्तुगत अनेक धर्मोंका कथंचित् कथन, ये दोनों चीजें (वाच्य व वाचक) प्रमाण और नयके द्वारा सिद्ध होती हैं अर्थात् प्रमाण और नय अनेकान्तके द्योतक हुआ करते हैं। अतएव उनको अनेकान्तके साधन (हेतु) नामसे कहा गया है—साध्य-अनेकान्तके साधक-प्रमाण व नय हैं ऐसा कहा है। अस्तु, यदि प्रमाण व नय न होते तो अनेकान्तको कौन वताता ? प्रमाण और नय ही ज्ञापक हैं तथा अनेकान्त रूप पदार्थ ज्ञेय है, यह निर्णय है। ज्ञानका और ज्ञेयका परस्पर ज्ञेय-ज्ञायक सम्वन्ध ही है दूसरा कोई कर्त्ता-कर्म (उत्पाद्य-उत्पादक) संवंध नहीं है। प्रमाण समुदायरूप वस्तु (अखंड) को जानता है जो अनेक धर्मरूप है और नय खंड-खंडको जानता है जो एक धर्मरूप है। अथवा प्रमाण-अनेकान्त व नय-अनेकान्त व पदार्थ-अनेकान्त ऐसा तीन तरहका अनेकान्त-होता है। इसके सिवाय प्रमाण खुद अनेक भेदरूप है व नय खुद अनेक भेदरूप है जो वस्तुके भिन्न-भिन्न रूपोंको वताते हैं। परन्तु तारीफ यह है कि वे सव रूप (पहलु) परस्पर वस्तुमें ही सापेक्ष रहते हैं, उनके पृथक्-पृथक् प्रदेश नहीं रहते, सभी द्रव्याश्रित रहा करते हैं। अतएव वे सब प्रामाणिक होते हैं। प्रश्न—यद्यपि क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान) युगपत् पूर्णरूपसे पदार्थोंको जानता है, अतएव उसको प्रामाणिक मानना तो ठीक है किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान (मतिज्ञानादि चार ज्ञान) और सभी नय पदार्थको पूर्णरूपसे नहीं जानते, अपितु थोड़ा-थोड़ा जानते हैं तव उनको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता ? इसका उत्तर—इस प्रकार है कि जितना अंश (अपूर्ण) वे जानते हैं उतना वह सही जानते हैं अतएव गंगाजल की तरह वह सत्य ही है किन्तु वह अंशरूप ही है, अंशी या पूरा नहीं है, सव मिलकर पूरा होता है यह भी वही बताता है अतएव वह सत्यवक्ताकी तरह सत्य है, भ्रमात्मक नहीं है, कथंचित् वह भी प्रामाणिक है (अंशकी अपेक्षासे) फलतः आप्तमीमांसामें स्वामी समन्तभद्राचार्यने कहा है—

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।

क्रमभावि च यज्जानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥

—आप्तमी०

अर्थ :—भगवन् ! आपका युगपत् सव पदार्थोंको यथार्थ प्रत्यक्ष जाननेवाला तत्त्वज्ञान (क्षायिक केवलज्ञान) प्रमाण है, निःसन्देह है। किन्तु जो क्षायोपशमिक ज्ञान (मत्यादि चार) और नय हैं वे भी प्रमाण हैं कारण कि वे स्याद्वाद नय (न्याय) से संयुक्त हैं अर्थात् उनको भी कथंचित् प्रामाणिक माना जाता है, पूर्ण प्रामाणिक नहीं माना जाता। जैसा कि केवल-ज्ञानको सर्वथा प्रामाणिक माना जाता है, यह तात्पर्य है।

विशेषार्थ—ज्ञान दो तरहका होता है—(१) अक्रमभावी और (२) क्रमभावी। जो एक ही समयमें क्रमरहित एकसाथ सम्पूर्ण द्रव्यों, उनके समस्त गुणों और त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंको हस्तामलककी तरह प्रत्यक्ष (साक्षात्) जानता है, जिसे केवलज्ञान, अनन्तज्ञान या क्षायिकज्ञान भी कहते हैं, वह अक्रमभावी (युगपत्सर्वप्रतिभासनरूप) तत्त्वज्ञान है और वह प्रमाण है तथा जो भिन्न-भिन्न समयमें क्रमसे द्रव्य-गुण-पर्यायोंको परोक्ष (असाक्षात्-इन्द्रियादि द्वारा) जानता है वह क्रमभावी (अयुगपत्सर्वप्रतिभासनरूप) तत्त्वज्ञान है और वह भी स्याद्वाद-नयसे संस्कृत होनेके कारण प्रमाण है। इसे सीमितज्ञान क्षायोपशमिकज्ञान और स्याद्वाद-नयरूपज्ञान भी कहते हैं। अथवा सर्वप्रत्यक्षज्ञान या क्षायिकज्ञानका ही नाम अक्रमभावीज्ञान है और एकदेशप्रत्यक्षज्ञान या क्षायोपशमिकज्ञानका नाम क्रमभावी ज्ञान है।

इस प्रकार दोनों ही ज्ञान पदार्थोंको प्रकाशित करने वाले होनेसे प्रमाण हैं। फिर भी अक्रमभावी ज्ञानमें प्रमाणता स्वाश्रित है—मात्र आत्मापेक्ष होनेसे स्वयं है और वह निश्चय या साक्षात्‌रूप है। तथा क्रमभावीज्ञानमें प्रमाणता वक्ताके वचन (स्याद्वादरूप कथनों) पर निर्भरित है। अतएव वह व्यवहाररूप या असाक्षात् (परोक्ष) रूप है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब क्रमभावी (स्याद्वादरूप) ज्ञान और अक्रमभावी (केवल) ज्ञान दोनों समस्त पदार्थोंके प्रकाशक हैं,तो दोनों समान—एक ही सिद्ध होते हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् माननेकी आवश्यकता नहीं है? इसका उत्तर यह है कि क्रमभावी तो क्रमशः और परोक्ष (असाक्षात्)उन्हें जानता है किन्तु अक्रमभावी युगपत् और साक्षात् (प्रत्यक्ष) जानता है। तात्पर्य यह कि इन दोनों ज्ञानोंमें साक्षात् और असाक्षात्‌का भेद है। अतः दोनों सम्पूर्ण पदार्थोंके प्रकाशक होनेपर भी उक्त भेदके कारण पृथक्-पृथक् कहे गये हैं। यथा—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥

—आप्तमी० १०५।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्रमभावी ज्ञान जब पदार्थोंको असाक्षात् जानता है तो उसे प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए? इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार गंगाका जल विभिन्न नहरोंमें विभक्त हो जाने पर भी वह गंगाका ही जल माना जाता है, भले ही नहरोंके कारण उसमें भेद आ जाय, पर वह गंगाका ही जल कहा जायगा, उसी प्रकार स्याद्वादरूप ज्ञान अक्रमभावी (केवल) ज्ञानका अंश होनेसे वह प्रमाण है। इसके अतिरिक्त विषयभूत पदार्थ दोनोंके एक-से हैं, भिन्न नहीं।

इस तरह पूर्वोक्त अक्रमभावी परज्योति (केवलज्ञान) और परमागम (क्रमभावी स्याद्वाद) ज्ञानमें अंश-अंशीका परस्पर सम्बन्ध होनेसे आचार्य महाराजने दोनोंका जयकार एवं नमस्कार किया है।

तत्त्व-निर्णयके विषयमें जिन्हें विवाद है वे ये हैं—(१) नैयायिक, (२) वैशेषिक, (३) सांख्य, (४) मीमांसक; (५) वेदान्ती, (६) चार्वाक और (७) बौद्ध । इनके विवादों और स्याद्वाद द्वारा किये गये समाधानोंको आगे कहा जायेगा ॥ २ ॥

आचार्य मंगलाचरण करनेके पश्चात् अपना ध्येय बतलाते हैं—

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन ।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ ३ ॥

पद्य

तीनलोकमें अनुपम जो है अरु अद्वितय नेत्रसम है ।
ऐसा परमागम मंथनकर, निज उद्देश्य बताना है ॥
है उद्देश्य अचारज[४] निश्चित, विद्वानोंके लिये अहो !
आत्म-प्रयोजन सिद्धिकरनका, मूलमंत्र है 'धर्म' गहो ॥ ३ ॥

अन्वयअर्थ—[लोकत्रयैकनेत्रं] तीनों लोकोंको बताने वाले अर्थात् उनका स्वरूप आदि कहने वाले अद्वितीय नेत्रके समान [परमागमं प्रयत्नेन निरूप्य] परमागम या द्वादशांगरूप जिन वाणीका गहरा प्रयत्नपूर्वक अध्ययन या अभ्यास करके उसका [अस्माभिः] हम [उपोद्ध्रियते] उपदेश देते हैं क्योंकि [अयं विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायः] यही धर्मोपदेश, विद्वानों या विवेकियों- (समझदार जीवों) के लिये अपने इष्ट प्रयोजनकी सिद्धिका उपाय (मार्ग) है, इसके अतरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है । अर्थात् उस परमागमका दोहनपूर्वक उसीसे प्रस्तुत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थको उद्धृत किया जाता है—मैं स्वयं उसका कर्त्ता नहीं हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—करुणासागर आचार्य संसारी भव्य जीवोंका हित करनेके उद्देश्यसे इस ग्रन्थकी रचना करके उसके द्वारा सत्यार्थ (निश्चय) धर्मका निरूपण कर रहे हैं अथवा उपदेश दे रहे हैं । और वह भी उपदेश, तब दे रहे हैं, जबकि उन्होंने द्वादशांग जिनवाणी (परमागम) का पर्याप्त अध्ययन या मंथन करके सारभूत धर्मरत्नको प्राप्त कर लिया है एवं अनुभव प्राप्त कर चुके हैं । ऐसा करने या बतानेका प्रयोजन सिर्फ प्रामाणिकता लानेका है, ख्याति आदि चाहनेका नहीं है । इससे वह उपदेश विश्वसनीय माना जाता है । तथा यह बात विद्वान् समझदार ही समझ सकते हैं और वे ही उसको अपना सकते या पाल सकते हैं, यह तात्पर्य है । यों तो अनादिकालसे संसारी जीव सच्चे (सत्यार्थ) उपदेशके बिना भूलभटक रहे हैं, पार नहीं हो पाये हैं। नहीं मालूम कितनी बार निमित्त मिले परन्तु उनसे अज्ञानतावश लाभ नहीं उठा पाया, व्यर्थ ही काल गमाया । आचार्य महाराजने यही सब सोच-विचार कर यह प्रयास किया है कि संज्ञीपंचेन्द्रिय विद्वान् मनुष्य तो हित-अहितको समझें और जो अनादिसे चाह रहे हैं उसको प्राप्त करें। चाह प्रत्येक प्राणीको सुख-शान्ति प्राप्त होनेकी है और दुःख व अशान्ति नष्ट होने की है । परन्तु

उपायमें भूले हुए हैं, इसलिये उपेय (साध्य) की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती, न उस भूलके कारण अभी तक हो पाई है। सिर्फ चाह कर लेनेसे ही कार्य सिद्ध नहीं होता, जब तक उपाय न किया जाय। यद्यपि वस्तुका संयोग-वियोग होगा अर्थात् कार्य सिद्ध होना व न होना स्वतंत्र है, परतन्त्र नहीं है, जब जैसा होना है तभी तैसा होगा, यह निश्चय है तथापि श्रद्धामें यह विश्वास रखते हुए भी परीक्षाके तौर पर या कषायके वशमें होकर संयोगीपर्यायमें जीवोंके कर्मधारा बहती है अर्थात् कुछ करने-धरनेका भाव या विकल्प अवश्य हुआ करता है और उसकी पूर्त्तिके लिये जीव तरह-तरहके प्रयत्न या पुरुषार्थ भी करता है अतएव उपाय करना कोई आश्चर्यकी चीज नहीं है न मिथ्याकी निशानी है, कारणकि अन्तरंगमें वस्तुस्वभावकी दृढ़ श्रद्धा रखते हुए विवश अरुचि या अनिच्छापूर्वक वह वैसा करता है अर्थात् वह उसका स्वामी या कर्त्ता नहीं बनता, यह विशेषता उसके रहा करती है इत्यादि विवेकशीलता है जो विवेककी हमेशा रक्षा करती रहती है।

यही सब सोच-विचार कर आचार्य महाराजने भी अपने उद्धारका और अन्य जीवोंके उद्धारका उपाय, इस ग्रन्थको बनाकर तथा उसमें हितकी बातें (धर्मका सच्चा स्वरूप) लिख-कर और अहितकी बातें (धर्मका मिथ्या स्वरूप) निकालकर जीवोंको लक्ष्य कर उपदिष्ट किया है एवं उनका ध्यान आकर्षित किया है तथा उसमें लगाया है अर्थात् जीवोंको धर्म (कल्याण के उपाय) के विषयमें सम्यक्श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् आचरण कराया है या कराना चाहते हैं। बस, यही उनका अभिधेय है जो इस ग्रन्थमें उत्तरोत्तर दर्शाया गया है, यही उनकी प्रतिज्ञा, अभिलाषा या हार्दिक इच्छा रही है व अन्त तक उसका निर्वाह किया गया है। इस ग्रन्थमें मुख्य-तया रत्नत्रय या सम्यग्दर्शनादित्रयका ही वर्णन किया गया है तथा उसीके सिलसिलेमें उसके निमित्त व भेद व अतिचार आदिका भी अतीव विशेषताके साथ कथन किया गया है जो दर्शनीय अनुभवनीय एवं करणीय है। फलतः यह ग्रन्थ अनुपम है, निश्चय धर्म (कर्त्तव्य) और व्य-वहारका बड़े मार्मिक शब्दों द्वारा स्वरूप बताया गया है, अतः यह बेजोड़ है। वीतरागता व विज्ञानता (मिथ्यात्वका छूटना) ही धर्म है तथा सरागता व अज्ञानता (मिथ्यात्वपन) ही अधर्म है ॥ ३ ॥

श्री अमृतचन्द्राचार्य यह बताते हैं कि संसारमें धर्मतीर्थ (रथ) को चलाने वाले या प्रसार करने वाले सन्त-महात्मा कैसे होना चाहिये—

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥ ४ ॥

पद्य

मुख्य और उपचार कथन कर जन-अज्ञान मिटाते हैं।
ऐसे ज्ञाता व्यवहर-निश्चय, जगमें तीर्थ चलाते हैं ॥

नामभेद है निश्चय-व्यवहर, जिसे मुख्य-उपचार कहा।
अर्थभेद नहिं दोनोंमें कुछ वही प्रवर्त्तक जीव महा ॥ ४ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः] जो सन्त महात्मा, मुख्य उपचारके कथन या विश्लेषण द्वारा दुरन्त या कष्टसाध्य(अनादिकालीन) शिष्योंके अज्ञान या मिथ्यात्वरूप अन्धकारको मिटा देते हैं अथवा मिटानेमें समर्थ होते हैं, ऐसी अपूर्व या अनुपम योग्यता वाले वक्ता या उपदेशक ही [व्यवहारनिश्चयज्ञाः] व्यवहार और निश्चयके समीचीन ज्ञाता माने जाते हैं और वे ही महापुरुष [जगति तीर्थं प्रवर्त्तयन्ते] संसारमें धर्म-तीर्थ (धर्मरथ) को चला सकते हैं, अर्थात् सच्चे आत्महितकारी रत्नत्रयरूप अहिंसा धर्मका प्रचार कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं ॥ ४ ॥

भावार्थ—शास्त्रोंमें महात्माओंके अनेक नाम होते हैं, कोई-कोई मुख्य व उपचार (गौण) के ज्ञाता कहलाते हैं, और कोई-कोई व्यवहार निश्चयके ज्ञाता कहलाते हैं, तथा कोई-कोई निमित्त उपादानके ज्ञाता कहलाते हैं, तो कोई-कोई अध्यात्म व आगमके ज्ञाता कहलाते हैं इत्यादि, किन्तु सभी एक जिनशासनके ही ज्ञाता या उपासक हैं—सभीका तत्त्वनिर्णयके विषयमें एक मत (सिद्धान्त अविरोध) पाया जाता है, लक्ष्य भी सभीका एक ही रहता है कि किसी तरह अज्ञानी जीवोंका अंधकार नष्ट हो और वे ज्ञानी बनें, अर्थात् उनकी मिथ्यादृष्टि छूटे और सम्यग्दृष्टि होवें। फलस्वरूप वे संसारसे पार होवें। जीवोंको सबसे बड़ा रोग रागद्वेष-मोहका है और उसके छूटे बिना उन्हें सच्चा सुख व शान्ति मिल नहीं सकती, जिसकी चाह रहती है। फलतः उसका ही सच्चा उपाय करना चाहिये। परन्तु उस उपायको बताने वाले सच्चे ज्ञानी व हितैषी ही हो सकते हैं व होना चाहिये तथा वे कैसे कब हो सकते हैं जब वे निश्चय और व्यवहारके अच्छे ज्ञाता हों एवं मुख्य और उपचार कथन (निरूपण) के द्वारा स्याद्वाद या अनेकान्तकी स्थापना या पुष्टि करते हुए एकान्ती मिथ्यादृष्टि जीवोंके अनादिकालीन अज्ञान या एकान्तको सरलता पूर्वक आसानीसे दूर करनेमें कुशल व समर्थ हों। अर्थात् स्वयं जो नय-प्रमाण-युक्तिका कुशल ज्ञाता हो, स्याद्वादनयका प्रयोग करनेमें पटु हो, तथा कल्याण कारिणी बुद्धिवाला हो, सम्यग्दृष्टि स्वपरका ज्ञाता हो, इत्यादि गुणसम्पन्न होना ही चाहिये तभी वह धर्म प्रवर्त्तन कर सकता है यही बात आचार्यने इस श्लोकमें प्रदर्शित की है। किम्बहुना। सारभूत बात तो यही है। इसके बिना ही इस समय जैनधर्मका प्रचार व प्रसार कम होता जा रहा है। इसकी पुष्टि स्थविर आचार्य समन्तभद्र महाराज अपने युक्त्यनुशासनमें करते हुए कहते हैं—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी-प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥१२॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव ! आपके पवित्र सर्वजनीन धर्मका प्रचार कम होनेका कारण हमें यह प्रतीत होता है कि एक तो कलिकाल (खोटा काल) है, दूसरा लोगोंके विचार (भाव) दुष्ट व खोटे हो गये हैं, तीसरे वक्ता और श्रोताके कथनमें मैत्री या संधि नहीं बैठती अर्थात् नय

और विवक्षाका भेद व समझनेका भेद रह रहा है, एकता स्थापित नहीं होती। फलतः विवाद खड़ा हो जाता है, इत्यादि अनेक कारण बाधक होनेसे जैनधर्मका प्रचार दिन-प्रतिदिन घटता जाता है, यह दुःख व पश्चात्तापकी बात है।

इसी प्रकार आचार्य अनेकान्तरूप वस्तुकी सिद्धि करते हैं। यथा—

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षा न निरात्मकस्ते।
तथारिमित्रानुभयादिशक्तिर्द्वयावधेः कार्यकरं हि वस्तु ॥

बृ० स्वयंभू० ५३।

अर्थ—पदार्थोंके जिस धर्म या अंशका उपदेश या कथन किया जाता है वह मुख्य या विवक्षित कहा जाता है तथा जिस धर्मका कथन न किया जाय, वह गौण (उपचरित) या अविवक्षित माना जाता है किन्तु नष्ट नहीं हो जाता अर्थात् वस्तुके मुख्य व गौण दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष (एक दूसरे की अपेक्षासे) रहते हैं, जो अनेकान्त का सूचक है। जैसे कि एक ही देवदत्त किसीका शत्रु है तो किसीका मित्र है और किसी का न शत्रु है न मित्र है (अनुभयरूप है), फलतः अनेक धर्म वाला है। सारांश यह कि विरोधी दो आदि अनेक धर्मवाली वस्तु या अनेक धर्मवाला पदार्थ ही कार्यकारी होता है, एक धर्मवाला नहीं, पदार्थ स्वभावतः सामान्य-विशेषरूप या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है या गुणपर्यायरूप। दूसरे शब्दोंमें निश्चय-व्यवहाररूप या मुख्य-गौणरूप या विवक्षित-अविवक्षिपरूप है। इस प्रकार जो सभी बातोंका ज्ञान रखता हो, अनेकान्तसे परिचित हो, युक्ति-आगम कुशल हो वही संसारमें धर्मका प्रचार कर सकता है।[1] प्रारम्भमें किसीको समझाते समय व्यवहारी ढंगसे ही दृष्टान्त वगैरह देकर द्रव्य या पदार्थका यथार्थ बोध कराया जाता है। अतः वह कथंचित् प्रयोजनीय होता है, किन्तु जब वही जीव पदार्थका असली स्वरूप जान लेता है तब अपने आप वस्तुके नकली स्वरूप व उसके प्रदर्शक साधनोंसे उपेक्षा हो जाती है—हेयबुद्धि कर लेता है। निश्चयका ज्ञाता व रुचिया

---

१. जो जिणमयं पविज्जइ तामा व्यवहारणिच्चयो मुयए।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण सच्चं॥ ॥ क्षेपक समयसारे

अर्थ—जो जीव जिज्ञासु होकर जिनमत या जिनधर्मको जानना चाहता है उसका कर्त्तव्य है कि वह यथावसर निश्चय व व्यवहार दोनों नयोंका सहारा (आश्रय) लेवे अर्थात् दोनोंके स्वरूपको समझे और वर्त्तावमें लावे। किन्तु बराबरीका दोनोंको न समझे, न हमेशा उपादेय माने। हाँ, हीनदशामें रहते समय यदि व्यवहार कार्य (क्रिया या प्रवृत्तिरूप धर्म शुभराग) छोड़ दिया जाय तो तीर्थयात्रा आदि बाह्य प्रभावना मिट जायगी, यह हानि होगी तथा निश्चय कार्य या धर्म (तत्त्वनिर्णयरूप स्वभाव) को छोड़ दिया जाय तो वीतराग सत्यता नष्ट हो जायगी सत्य-असत्यका भेद ही न रहेगा इत्यादि हानि होगी। फलतः व्यवहार और निश्चयका ज्ञाता अवश्य होना चाहिए, वही जिनमतको धारण—पालन कर सकता है, यह मूल श्लोकका भाव या आशय (रहस्य) है, इति।

शुद्धवस्तुका ही आलम्बन ग्रहण करता है। इसी लिये वह शुद्धको अशुद्ध में नहीं मिलाता, खालिश रखता है। किन्तु खाली व्यवहारका ज्ञाता किसीको किसीमें मिलाता है व वैसा कथन या उपदेश देता है, अतएव वह हितकारी व मार्गदर्शक नहीं है, किन्तु वह हेय है। अतः निश्चय व्यवहार या मुख्य गौणका ज्ञाता होना अनिवार्य है।

धर्ममें अनेकान्तता

व्यवहारनयसे धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप तीन तरह का है। विभाव (मिथ्यात्त्वादि अधर्म) का शत्रु (विपक्षी) है और स्वभाव (सम्यग्दर्शनादि सुधर्म) का मित्र है। तथा निश्चयनयसे धर्म वीतरागतारूप होनेसे अनुभयरूप है अर्थात् किसीका न शत्रु है न किसी का मित्र है किन्तु आत्मरूप है, इसी प्रकार धर्म दुःखहर्त्ता व सुखकर्त्ता या संसारहर्त्ता व मोक्ष कर्त्ता है इत्यादि अनेकान्तता उसमें पाई जाती है—उसका जानना अनिवार्य है ॥ ४ ॥

आचार्य निश्चय और व्यवहारका स्वरूप और नामान्तर वतलाते हैं जिनमें वहुधा संसारी जीव भूले हुए हैं—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥ ५ ॥

पद्य

सत्यरूपको निश्चय कहते, कल्पितको[1] व्यवहार कहा।
संसारी जन भूल रहे हैं, भेद न जानत उनमें हा[2]!
अतः न वे जन कर सकते हैं निज अरु पर कल्याण जहाँ[3]।
उसके खातिर करना होगा ज्ञान उभयका प्रथम यहाँ[4] ॥ ५ ॥

अन्वयअर्थ—गणधरादिक आचार्य कहते हैं कि [इह] परमागममें या लोकमें [भूतार्थं निश्चयं वर्णयन्ति] भूतार्थका नाम निश्चय समझना अर्थात् जो नय, सत्य या यथार्थताको वतावे या कहे उसको निश्चयनय जानना और [अभूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्ति] अभूतार्थका नाम व्यवहार समझना अर्थात् जो नय, असत्य या अयथार्थताको वतावे या कहे उसको व्यवहार नय समझना चाहिये। किन्तु [प्रायः सर्वोऽपि संसारः] देखा जाता है कि वहुधा (अधिकत्तर) संसारके प्राणी [भूतार्थबोधविमुखः] निश्चयके ज्ञानसे रहित हो रहे हैं अर्थात् उनको निश्चयका ज्ञान नहीं है, केवल व्यवहारका ज्ञान है अतएव वे अज्ञानी हैं यह खेद की वात है ॥ ५ ॥

भावार्थ—यथार्थ तत्त्वज्ञानके विना जीवन निष्फल है। चाहे वह देवेन्द्र, नरेन्द्र, नागेन्द्र कोई भी हो, क्योंकि वह कभी संसारसे पार नहीं हो सकता, न उनकी अभिलाषा पूरी हो सकती

१.असत्य। २.कष्ट या दुःखकी वात। ३.संसारमें। ४.कर्मभूमिमें।

है। सभी जीव सुख-शान्ति चाहते हैं, दुःख व अशान्ति नहीं चाहते, परन्तु इष्टसिद्धि चाहने मात्रसे नहीं होती। जब तक कि सच्चा उपाय न किया जाय। ऐसी स्थितिमें सच्चा उपाय या मार्ग वताने वाले सद्‌गुरु ही होते हैं, जो ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न हैं एवं कुशल वक्ता हैं तथा जिनके स्वपर कल्याणकी भी भावना है। इसीलिये उनका कहना है कि सबसे पहले कल्याणार्थी जीवोंको निश्चय और व्यवहार का भेदरूप सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और उसके लिये सभी अनुयोगोंके शास्त्रोंका अध्ययन, मनन, धारण करना चाहिये तथा सबका निष्कर्ष निकालकर अन्तर निकालना चाहिये। उसमें जो उपादेय हो उसको ग्रहण करना चाहिये और जो हेय हो उसको छोड़ देना चाहिये। परन्तु निर्णय या परीक्षा विना यह कार्य नहीं हो सकता है। उसके लिये वाह्य निमित्त मिलानेका पुरुषार्थ करना चाहिये। शास्त्र पढ़ना, प्रमाण-नय-निक्षेप आदिके स्वरूपको जानना, स्मरण रखना, हेय, उपादेय व उपेक्षणीय इन तीन तरहके ज्ञेयोंका जानना अनिवार्य है। पश्चात् तदानुकूल क्रिया करना आवश्यक है, ऐसी स्थितिमें नयोंका यथार्थ स्वरूप समझना मुख्य कर्त्तव्य है।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि जव लोकव्यवहार या लोकयात्राको चलानेके लिये प्रमाण, नय और निक्षेप ये तीन साधन माने जाते हैं तब उनमेंसे पहिले नय-साधनपर जोर क्यों दिया जाता है? इसका समाधान यह है कि जव सारा संसार अज्ञान-अंधकारसे व्याप्त हो तथा पूर्ण प्रकाशका मिलना असंभव हो तव उस गाढ़ांधकारके समय कार्य चलानेको तारा-गणों (तरइयों) का या छोटे-छोटे दीपकोंका उजेला (प्रकाश) ही सहायक या समर्थ होता है किन्तु वह प्रकाश स्पष्ट या निर्मल होना चाहिये, धूमिल या कुहरा जैसा मलीन नहीं होना चाहिए, जिसमें स्पष्ट न दिख पड़े एवं टकरानेकी या भूल-भटक हो जानेकी संभावना न हो। ठीक उसी तरह अनादिकालसे अज्ञान-अंधकार द्वारा व्याप्त लोकके प्राणियोंको आंशिक काम-चलाऊ या लोकव्यवहारचलाऊ ज्ञान (नयरूप आंशिकज्ञान) होना अनिवार्य है और वही शक्य व संभव है। परन्तु वह नयरूप आंशिकज्ञान भी स्पष्ट व निर्मल होना चाहिये, धूमिल (मलीन) या धोखा देने वाला कुहराकी तरह नहीं होना चाहिए, तभी प्रयोजन या लोक-यात्रा या इष्टसिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं। फलतः लोकयात्राके मुख्य साधन नयोंका ठीक-ठीक ज्ञान होना अनिवार्य है क्योंकि वे ही प्रगाढ़ अज्ञानांधकार में फँसे हुए प्राणियोंको निकालनेमें समर्थ हैं। इसीसे सद्‌गुरु आचार्य अधिक जोर देते हैं कि निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंका ज्ञाता होना चाहिए। यद्यपि आरम्भमें व्यवहार अपेक्षणीय है, परन्तु समर्थ अवस्थामें उससे लक्ष्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थात् उस व्यवहाररूप अशुद्ध मान्यतासे शुद्ध स्वरूप वस्तुकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती, जो अभीष्ट है, क्योंकि शुद्धसे ही शुद्धकी प्राप्ति होती है। इस यथार्थ निर्णय या सिद्धान्तके वल पर ही वस्तुकी या लोककी व्यवस्था निरावाध चलती आई है व आगे भी चलेगी। सत्य हमेशा सत्य रहता है और असत्य असत्य ही रहता है। तदनुसार जव जीव (आतमा) के सत्यनय (निश्चयनय) का उदय या प्रकाश होता है, तभी उसे अपना या दूसरेका यथार्थ रूप अथवा शुद्ध स्वरूप दिखने लगता है और उसीका श्रद्धान या विश्वास होने लगता है एवं वही उसे सुहाता है दूसरा कुछ नहीं सुहाता अर्थात् वही

उसे प्रिय लगता है, उसीमें उसका उपयोग या चित्त लगता है, यह स्वाभाविक है। हाँ, जब तक उस शुद्ध स्वरूपका दर्शन या उसकी प्राप्ति एवं उसका अनुभव या स्वाद नहीं आता तब तक जीव बराबर भूला रहता है और नकलीको असली मानता है व उसीमें संतुष्ट रहता है, जो कूपमंडूक जैसा है अथवा तिलीके[1] तेलको ही सर्वोत्कृष्ट मानता है, या गुड़को ही उत्तम मानता है किन्तु जिसने घीका स्वाद या मिश्रीका स्वाद ले लिया हो वह कभी गलत या नकली धारणा या सत्यता नहीं कर सकता, न करेगा, यह पक्का है, अटल है। फलतः स्वाभावभाव या सहज स्वभावकी अपेक्षासे नय व प्रमाण दोनों साधनोंके द्वारा यथार्थ ज्ञान होता है किन्तु तीसरे साधन (निक्षेप) द्वारा, व्यवहारका चलाना मात्र माना जाता है, यह सारांश है।

अनादिसे संयोगीपर्यायमें रहनेवाले तमाम जीवोंको पेश्तर पर्यायकी अपेक्षा शुद्ध व अशुद्धका ठीक-ठीक ज्ञान करानेके लिए ही निश्चयनय और व्यवहारनयका उपदेश दिया है कि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंको निश्चयनय और व्यवहारनय (साधनरूप) का स्वरूप जानना अनिवार्य है। क्योंकि वह एक निर्णय करनेकी या सत्य असत्यको पहचाननेकी कसौटी है। उसके साथ-साथ दोनोंकी यथावसर आवश्यकता भी है और उनकी परस्पर संधि या सापेक्षता भी है। कारण कि वस्तु एक स्वभाववाली नहीं है, अनेकस्वभाव (धर्म) वाली है तब उसका कथन पूरा तो एक साथ नहीं होता। किन्तु क्रम-क्रम से होता है *लेकिन वे अनेक धर्म उस समय भी वस्तुके साथ-साथ गौणरूपसे (अविवक्षित) बराबर मौजूद रहते हैं, नष्ट नहीं हो जाते अथवा दृष्टिके बाहर नहीं हो जाते किन्तु दृष्टिके भीतर[1] ही रहते हैं, जब अमुक धर्मकी विवक्षा होती है। ऐसी

---

१. तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि।
अविदितपरमान्दो वदति जनो विषय एव रमणीयः॥

अर्थ—जिस पुरुषने जन्मसे तिलीका तेल ही खाया है, कभी घी नहीं खाया, वह तिलीके तेलकी ही प्रशंसा (तारीफ) करेगा, क्योंकि उसकी दृष्टिमें दूसरी कोई श्रेष्ठ वस्तु है ही नहीं उसीका संस्कार है। इसी तरह जिसको वैषयिक सुखका ही अनादिसे स्वाद आया है अर्थात् जो पराश्रित व्यवहार में ही लीन हो रहा है या पग रहा है किन्तु कभी स्वाश्रित निश्चयरूप आत्मिक सुखका स्वाद नहीं मिला है वह कभी उसकी चाह, रुचि या प्रशंसा नहीं करेगा, यह स्वाभाविक संस्कार हैं। पीलिया रोगीकी तरह (अशुद्ध दृष्टि वाले की तरह) यथार्थ वस्तु को देख नहीं सकता इत्यादि समझना।

*बस, उक्त प्रकारके कथनका नाम ही 'स्याद्वाद' है। अर्थात् वस्तुमें परस्पर सापेक्ष (संधिपूर्वक) रहने वाले अनेक धर्मोंका शब्दशक्तिके अनुसार क्रमशः कथन करना 'स्याद्वाद' कहलाता है। इसीका दूसरा नाम कथंचिद्वाद या अपेक्षावाद है। और अनेकान्तवाद उसका विषय है।

१. इसीका नाम 'स्यात्नय' है। अर्थात् क्रम-क्रमसे अनेक धर्मोंको जानना, कारण कि क्षायोपशमिक ज्ञानके अंशोंका यही स्वभाव है (शक्ति है) कि थोड़ा-थोड़ा परस्पर सापेक्ष जानना। इस प्रकार 'स्याद्वाद या स्यात् नय, वस्तु (पदार्थ) को जानने व कहने वाला है इति।

सापेक्षता परस्पर सब धर्मोंकी रहती है। इसीका नाम विरोध रहित संधि है, जो कभी पृथक् या विनष्ट नहीं होती। तदनुसार ही वस्तुको जानना व कथन करना। बस, यही अनेकान्तकी शैली है या पद्धति है। फलतः निश्चय और व्यवहारसे वस्तुको जाननेके लिए ही आचार्यने इस ग्रन्थकी रचना की है।

नयोंके भेद व स्वरूप

इस श्लोकमें नयके निश्चय व व्यवहार ये दो भेद बतलाये हैं और उनका समान्य लक्षण भी बतलाया है जो सर्वत्र व्याप्त (घटित) हो सकता है। भूतार्थ—निश्चय और अभूतार्थ—व्यवहार यह स्वरूप, आत्मभूत व अनात्मभूत—इन नामोंमें भी व्यवहृत किया जा सकता है अथवा अभिन्न प्रदेश और भिन्न प्रदेश इन दो नामोंमें भी कहा जा सकता है। इसी तथ्यको द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नामसे भी कहा जाता है। अस्तु।

आचार्योंने नयोंके लक्षण, कारण और कार्यकी अपेक्षासे किये हैं। यथा—प्रवचनसार[१] गाथा १८९ में 'शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयः' और 'अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारः' जो नय शुद्ध (परसे भिन्न स्वाश्रित) द्रव्यका या वस्तुका कथन करे, उसको निश्चयनय समझना और जो नय, अशुद्ध या संयोगी द्रव्यका निरूपण करे, उसको व्यवहारनय जानना, ऐसा कहा है। यह तो शब्द-नयकी अपेक्षा कार्यका प्रदर्शन है, उससे निश्चय और व्यवहारका लक्षण गठित किया गया है और वैसा ही लोकमें कथन किया जाता है। तथा कहीं कहीं कारणकी अपेक्षासे भी लक्षण बताया जाता है, जैसे कि दिव्यध्वनि निश्चय और व्यवहार रूप है अर्थात् दिव्यध्वनि पुद्गलकी (भाषा-वर्गणाकी) पर्याय है, ऐसा कहना निश्चयकी कथनी है, इसमें रंचमात्र अभूतार्थता नहीं है। कारण कि पर्याएँ सब द्रव्यमें ही हुआ करती हैं जो सत्यरूप हैं, स्वाश्रित है। और दिव्यध्वनि नैमित्तिक है अर्थात् केवलज्ञानके निमित्तसे प्रकट् या उत्पन्न होती है (पराश्रित है)। अतएव वह व्यवहार-रूप है, ऐसा कहना व्यवहारकथन है। यहाँ पर कारणकी अपेक्षा कथन है और उपादानकारण (भाषावर्गणाएँ पौद्गलिक) और निमित्तकारण (केवलज्ञानादिक) हैं। इस प्रकार दो तरहका कथन शब्दों द्वारा होता है अतएव वैसा ही शब्दात्मक लक्षण बनाया गया है। लेकिन जब नयात्मकज्ञानके विषय (ज्ञेय) होने की अपेक्षासे विचार या चिन्तवन या अनुभव किया जाता है तब पदार्थके आंशिक शुद्ध ज्ञान होने या करनेको निश्चयनय कहते हैं और पदार्थके आंशिक अशुद्ध ज्ञान होनेको व्यवहारनय कहते हैं, यह सिद्धान्त है। परन्तु इसकै सम्बन्धमें यह विशेषता है कि केवलीसर्वज्ञका ज्ञान नयात्मक (खंडरूप) नहीं होता वह सर्वांशरूप युगपत् होता है किन्तु क्षायोप-शमिकज्ञानियोंका श्रुत ज्ञान ही नयात्मक होता है और प्रामाणिक होता है। कारण कि वह सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं। अर्थात् पदार्थके सर्वांशोंसे वह सम्बद्ध या अनुस्यूत रहता है असंबद्ध या अननुस्यूत नहीं रहता या उन सबमें प्रदेशभिन्नता नहीं रहती इत्यादि विशेषता समझना। इसीका नाम 'स्यात् (कथंचित्) नयज्ञान हैं', किम्बहुना।

---

१. एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छएण णिद्दिट्ठो। अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥

निश्चयनयके भेद व लक्षण

निश्चयनयके दो भेद होते हैं (१) शुद्धनिश्चयनय (२) अशुद्धनिश्चयनय। (१) जो नय, द्रव्य (पदार्थ) के परसे भिन्न शुद्ध स्वरूपका निश्चय करावे या ज्ञान करावे उसको शुद्ध निश्चयनय कहते हैं यह ज्ञानात्मक है तथा जो द्रव्यके शुद्ध स्वरूपका कथन या निरूपण करे उसको उपचारसे निश्चयनय कहते हैं कारण कि शुद्धद्रव्यके निरूपक शब्दोंको यहाँ पर नय (ज्ञानका भेद) मान लिया जाता है, यही उपचार है। ज्ञान और शब्द जुदे-जुदे हैं। जैसे कि 'आत्मा परसे भिन्न ज्ञानदर्शनरूप चेतनाका पिण्ड है' ऐसा सत्य बोध करानेवाला नय ही शुद्ध निश्चयनयका लक्षण व स्वरूप है। (२) तथा रागादिक विकारीभाव आत्माके हैं ऐसा अशुद्ध बोध करानेवाला नय, अशुद्ध निश्चयनयका लक्षण है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि 'रागादिक विकार या दोष आत्माके सहज स्वभाव नहीं हैं क्योंकि वह तो गुणी या निर्दोष है—ज्ञानदर्शनसुखबलवाला अनादिसे ही है (जन्मजात विरासतरूप है) किन्तु संयोगी पर्याय, जो अनादिसे हो रही है, उसके हैं (शुद्ध या पृथक् आत्माके नहीं हैं) अथवा औपाधिक एवं विनश्वर हैं सदा (त्रैकालिक) स्थायी नहीं हैं अतएव यह अशुद्धता है। फिर भी (तथापि) वे रागादिक विकार आत्माके ही प्रदेशोंमें होते हैं यह निश्चय या यथार्थ बात है, अतएव उक्त मान्यता या कथममें कुछ सत्यता भी है। फलतः ज्ञानदर्शनादिक (गुणों) और रागादिक (विकारों—दोषों) दोनोंके एक आत्माके प्रदेशोंमें ही उत्पन्न होनेसे, अशुद्धपना व निश्चयपना दोनों सिद्ध होते हैं। इसप्रकार अशुद्ध निश्चयनयका स्वरूप समझना चाहिए। (वृहत् द्रव्य-संग्रह गाथा नं० ८।९ में भी देख लेना)।

व्यवहारनयका लक्षण और भेद

(१) जो नय, अशुद्धता (परके संयोग सहितरूप) का परिचय या बोध करावे उसको व्यवहारनय कहते हैं अर्थात् यह अन्यको अन्यमें मिलाकर बतलाता व कहता है, शुद्ध नहीं बताता व कहता, यह भेद है। जैसे आत्माको द्रव्यकर्मादि व शरीरादिसे बद्ध या संयुक्त बतलाना व कहना जो अशुद्ध व गलत है क्योंकि आत्मा (जीव) व द्रव्यकर्मादि (जड़पुद्गल) दोनों पृथक्-पृथक् हैं, कोई किसीके नहीं हैं, सबका गुण-स्वभाव आदि जुदा-जुदा है—तादात्म्यरूप अभेद नहीं है।

व्यवहारनयके ३ तीन भेद हैं (१) भेदाश्रित (२) पराश्रित (३) पर्यायाश्रित। अखंडद्रव्य (वस्तु) में खंड कल्पना करना भेदाश्रित व्यवहार कहलाता है अर्थात् प्रदेशोंका भेद न होनेपर भी संख्याकी स्थापना करना। जैसे कि आत्माको असंख्यात प्रदेशी मानना या कहना इत्यादि। इसी तरह आत्मा या प्रत्येक द्रव्य, स्वाश्रित या स्वाधीन है अथवा स्वसहाय है, परन्तु उसको पराश्रित या परसहाय मानना, कहना भी व्यवहार है। जैसेकि द्रव्योंका सभी कार्य पर या निमित्तादिकी सहायतासे होता है, इत्यादि व्यवहार (अभूतार्थ) है, कारण कि कार्यपर्यायें सब उसी द्रव्यमें उपादानसे ही प्रकट या उत्पन्न होती हैं ऐसी वस्तुस्थिति है। तथा पर्यायोंके द्वारा द्रव्यमें भेद हो जाता है ऐसा मानना व कहना, यह भी व्यवहार है। कारण कि द्रव्य कभी नहीं बदलता, न भेदरूप होता है। जैसे नर-नरकादि पर्यायोंसे जीव द्रव्य नहीं बदलता, किन्तु वैसा मानना व्यवहार या उपचार ही है। इसप्रकार व्यवहारनयके ३ तीन भेद माने गये हैं।

द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिकनयका स्वरूप व भेद

(१) जिस नयका उद्देश्य या मुख्य प्रयोजन द्रव्यकी शुद्धताको वताना या ज्ञान कराना हो अर्थात् जो नय सिर्फ द्रव्यके शुद्ध स्वरूपको वतलावे उसको द्रव्यार्थिकनय करहते हैं। जैसेकि संयोगी पर्यायसे रहित सर्वथा शुद्ध सिद्ध परमात्माके स्वरूपका ज्ञान कराना, क्योंकि वे सर्वथा शुद्ध अर्थात् कार्यकारणभावसे रहित पूर्ण शुद्ध जीव द्रव्यरूप हैं। संसारदशामें जीवद्रव्य कार्य-कारणरूप होता है तथापि आत्मद्रव्यके साथ उनका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता वह आत्मद्रव्य परसे भिन्नतारूप शुद्ध रहता ही है, अस्तु। द्रव्यार्थिकनयके ३ तीन भेद (उपनयरूप) माने गये हैं। यथा (१) नैगम (२) संग्रह (व्यवहार। तीनोंके लक्षण निम्नप्रकार हैं।

(१) जो नय दो पदार्थोंमेंसे एकको मुख्य और दूसरेको गौण करके भेदरूप या अमेदरूप वतलावे (जनावे) उसको नैगमनय कहते हैं। अथवा कार्यके संकल्पमात्रको वतानेवाला नय (ज्ञान) नैगमनय कहलाता है। जैसे कि रसोई बनानेके संकल्पमात्र करते समय किसीके पूछनेपर कि क्या कर रहे हो ? जवाव देना कि रसोई वना रहे हैं इत्यादि यहाँ कार्य पर्यायमें द्रव्यका आरोप है।

(२) जो नय, जातिभेद (विरोध) न करके समुदायरूपसे द्रव्य (पदार्थ) को ग्रहण करे या वतावे उसको संग्रहनय कहते हैं। जैसे सामान्यतः वृक्षोंके समूहको वन कहना या जानना, पर्यायोंका भेद न कर जीवमात्र सबको बरावर मानना 'यह जीवराशि है' इत्यादि।

(३) जो नय, अभेदमेंसे भेद करे अथवा संग्रहनय द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थोंमेंसे पृथक्-पृथक् वतावे या करे, उसको व्यवहारनय कहते हैं। जैसे वनमेंसे, यह नीम है, यह सागोन है, यह आम है इत्यादि। या जीवराशिमेंसे, यह त्रस है, यह स्थावर है, यह एकेन्द्री है, यह दो इन्द्रिय है, यह देव है, यह मनुष्य है इत्यादि।

पर्यायार्थिकनयका स्वरूप व भेद

(२) जिस नयका उद्देश्य, द्रव्यकी पर्यायमात्रको (संयोगीपर्यायको) ग्रहण करने या बतानेका हो अथवा जो नय, मुख्यतासे पर्यायको ही बतावे या कहे, उसको पर्यायार्थिकनय कहते हैं। उसके चार भेद हैं यथा—(१) ऋजुसूत्र, (२) शब्द (३) समभिरूढ़ (४) एवंभूत।

---

१. ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण य होदि ॥३६॥ पञ्चास्तिकाय

अर्थ—सिद्ध परमात्मा, किसीसे अर्थात् कर्मक्षयद्वारा उत्पन्न नहीं होते किन्तु स्वयं स्वोपादानसे होते हैं अतएव कार्यरूप नहीं हैं तथा किसीको अर्थात् स्वकीय संसार पर्यायको तथा परको उत्पन्न नहीं करते अतएव कारणरूप भी नहीं है किन्तु ज्ञातादृष्टा मात्र शुद्ध द्रव्यरूप हैं इति।

(१) जो नय भूतभविष्यत् पर्यायको ग्रहण न कर सिर्फ वर्तमान पर्यायको ग्रहण करे या ज्ञात करावे, उसको ऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे यह पुरुष जवान है इत्यादि।

(२) जो नय लिंग, वचन, कारक, काल, उपसर्ग आदिके भेदसे पर्यायमें भेद करे या जतावे, उसको शब्दनय कहते हैं। जैसे—दार, भार्या, कलत्र इत्यादि भेद समझना, सभापति-उपसभापति इत्यादि।

(३) जो नय लिंगादिकका भेद न कर रूढ़िरूप अर्थ (पर्याय) को ग्रहण करे उसको समभिरूढ़ नय कहते हैं। जैसे—गाय, बैल, घोड़ी, घोड़ा यहाँ लिंग भेद होनेपर भी सबको पशु या तिर्यञ्च बताना। अथवा लिंगादिकका भेद न होनेपर भी जो नय, पर्याय शब्दके भेदसे अर्थात् वर्त्तमान समयकी क्रिया देखकर भेद करता है उसको समभिरूढ़नय कहते हैं। जैसे देवराज (इन्द्र) को रनवासमें शचीपति, राज्यसभा (दरबार) में इन्द्र, लड़ाई के समय पुरन्दर आदि कहना या जानना।

(४) जो नय शब्दका जैसा अर्थ हो वैसा परिणमते समय (क्रिया करते समय) ही वैसा माने या कहे, जिसको एवंभूतनय कहते हैं। जैसे पूजा करते समय ही पुजारी कहना, अन्य समय नहीं इत्यादि।

व्यवहारनय या उपनय[1]के भेद

(१) सद्भूत व्यवहारनय (२) असद्भूत व्यवहारनय (३) उपचरित व्यवहारनय (४) अनुपचरित व्यवहारनय ये चार भेद हैं। अर्थात् मूलमें व्यवहारके एक सद्भूत व्यवहार, दूसरा असद्भूत व्यवहार दो भेद हैं पश्चात् सद्भूत व्यवहार के उपचरित व अनुपचरित ऐसे दो भेद होते हैं कुल ४ चार भेद समझना चाहिये। अथवा सामान्य संग्रह भेदक व्यवहार व विशेष संग्रह भेदक व्यवहार, कारण कि संग्रहनय द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थोंमें भेद करना, यही एक मुख्य प्रयोजन व्यवहारनयका है। जैसेकि द्रव्यें (संग्रहरूप) जीव व अजीव दो भेद रूप हैं तथा जीव संसारी व मुक्त दो तरहके होते होते हैं इत्यादि भेद करना।

(२) ऋजुसूत्रके दो भेद—एक सूक्ष्म ऋजुसूत्र, अर्थात् जो एक समय ही स्थित रहे। प्रतिक्षण विनश्वर पर्याय या अर्थपर्यायरूप। दूसरा स्थूल ऋजुसूत्र अर्थात् जो अनेक समयतक स्थित रहे। मनुष्य तिर्यञ्चादि व्यंजनपर्यायरूप।

(३-४-५) शब्द-समभिरूढ़-एवंभूत ये तीनों एक २ भेदरूप ही हैं। इनमें भेद नहीं है। इत्यादि।

---

१. पदार्थके एकनय या अंशको ग्रहण करके उसको अनेक या अनेक तरहसे भेद या विकल्पों द्वारा ज्ञापित करना या कहना उपनय कहलाता है। यह मूलनयोंका सहायक या सापेक्ष रहता या होता है।

विशेष—द्रव्यार्थिकनयके १० भेद। पर्यायार्थिकनयके ६ भेद। नैगमनयके ३ भेद। संग्रहनयके २ भेद। व्यवहारनयके २ भेद। ऋजुसूत्रनयके २ भेद। शब्द-समभिरूढ़-एवंभूत-नयका १, १ भेद। तथा उपनय, सद्भूत व्यवहारके शुद्ध व अशुद्ध दो भेद। उपनय, असद्भूत व्यवहारनयके ३ भेद। उपनय, उपचरित असद्भूत व्यवहारनयके ३ तीन भेद इत्यादि सब विस्ताररूप कथन आलापपद्धति ग्रन्थसे समझ लेना चाहिये।

उपसंहार

इस श्लोक द्वारा आचार्यने यह बताया है कि अनादिकालसे संयोगी पर्यायमें रहते हुए जीव मात्र व्यवहारनय (अभूतार्थ) नयका आश्रय लेनेके कारण वस्तु (द्रव्य) के असली स्वरूप या स्वभावको भूल गये हैं अर्थात् नकली या मिथ्या या विपरीत ज्ञानश्रद्धानवाले हो रहे हैं। फलतः उनका आत्मकल्याण होना या मोक्षमार्गको प्राप्त करना दुःशक्य है। अतएव निश्चयनय (भूतार्थ) द्वारा सबका या खासकर मोक्षमार्गोपयोगी जीवादि सात तत्त्वोंका असली स्वरूप व स्वभाव जानकर भूल या अज्ञान मिटाना अनिवार्य है क्योंकि उसके बिना जीवोंका कल्याण नहीं हो सकता। सारांश यह कि जो जीव सदैव चाहते हैं कि 'सुखशान्ति प्राप्त हो व दुःख अशान्ति दूर हो' उन्हें अभीष्टसिद्धि कदापि नहीं हो सकती जबतक अनादिकी भूल न मिटे। वह अनादिकी भूल संक्षेपमें अपने या वस्तुके स्वभावको नहीं समझकर उससे विचलित हो जाना एवं परवस्तुको अपना मान लेना है (कलश २०२ व १७६–१७७ के अनुसार) अथवा परके साथ अभेद या एकत्त्व करने लगता है, जो भ्रम है—कभी परके साथ एकत्त्व होता नहीं है अर्थात् तादात्म्य नहीं होता, कारण कि वस्तुका एकत्त्व विभक्त स्वभाव नियत है। इसप्रकार तथ्यको जानकर रत्नत्रयधर्मको धारण—पालन करना चाहिये, यही सार है या मनुष्य जीवनका मुख्य कर्त्तव्य है।

व्यवहारनय व निश्चयनयके आलम्बनका अर्थ

(१) व्यवहारनय अथवा अभूतार्थ नयके द्वारा बताए गये या जाने गये पदार्थके अशुद्ध या असत्य स्वरूपको वैसा जानना एवं वैसी श्रद्धा (मान्यता) करना, व्यवहारनयका आलम्बन करना कहलाता है, जो हेय है। (२ [निश्चयनय अथवा भूतार्थ नयके द्वारा बताए गये या जाने गये पदार्थके शुद्ध या सत्य स्वरूपको वैसा जानना एवं वैसी श्रद्धा करना निश्चयनयका आलम्बन करना कहलाता है जो उपादेय है ॥५॥

प्रश्न होता है कि जब व्यवहारनय अभूतार्थ है और फलस्वरूप हेय है तब उसको ग्रहण करना एवं उसका उपयोग या स्तैमाल करना अथवा उसकी अपेक्षा करना व्यर्थ है, कारण कि वह अकिंचित्कर जेसा सिद्ध होता है ? आचार्य इस प्रश्नका समाधान, अनेकान्तकी दृष्टिसे प्रारम्भिक दशामें उसका उपयोग लेना आवश्यक है, यह कहकर करते हैं :—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥

पद्य

निश्चयके अज्ञानी जो जन उनको समझाने हेतु।
व्यवहारनय उपयोग करत हैं, मुनिजन करुणाके सेतु[1] ॥
जो केवल व्यवहार मानते, निश्चय और नहीं कुछ भी।
उनको जिन उपदेश न लगता, वे अपात्र एकान्ती भी ॥६॥

अन्वय अर्थ—[मुनीश्वराः] गणधरादिक आचार्य [अबुधस्य बोधनार्थं अभूतार्थं देशयन्ति] करुणाबुद्धिसे अज्ञानी और भूलेभटके (विपरीत बुद्धि) जीवों को प्रारम्भमें निश्चयका ज्ञान करानेके लिये, व्यवहारनयका आलम्बन करके उपदेश देते हैं क्योंकि वह अनिवार्य है किन्तु [यः केवलं व्यवहारं एव अवैति] जो जीव सिर्फ व्यवहारको ही सबकुछ मानता है अर्थात् जिसकी दृष्टिमें न कोई दूसरा (निश्चय) है और न उसकी जिज्ञासा है ऐसा एकान्तीजीव है [तस्य देशना नास्ति] उसको जिन वाणीका उपदेश देना ही व्यर्थ है, कारण कि वह उसको न समझ सकता है और न उसपर उसका कोई प्रभाव (असर) हो सकता है। फलतः वह उपदेशका पात्र नहीं है ॥ ६ ॥

भावार्थ—अनादिकालसे संसारी जीव, संयोगीपर्यायमें रहते हुए अनेक तरहसे अज्ञानी व भूलवाले (विपरीतबुद्धि) बन रहे हैं। उनमेंसे कितने ही जीव ऐसे हैं कि जो तत्त्वों (पदार्थों) का नाम व स्वरूप तक नहीं जानते, न उन्हें द्रव्यगुण पर्यायका ज्ञान है न निश्चय और व्यवहारका ही ज्ञान है ऐसे भोले हैं, तथा कुछ ऐसे भी हैं, जो तत्त्वोंके नाम, लक्षण, भेद आदि सब जानते हैं किन्तु विपरीत बुद्धि व श्रद्धा होनेसे भूले हुए हैं। उनसबको ठीक ठीक समझानेके लिये आचार्य उपाय बतला रहे हैं। वह उपाय प्रारंभ दशा या हीन अवस्थामें 'व्यवहारनय' का आलम्बन करना है अर्थात् उसके द्वारा बोध कराना है अथवा उसकी सहायता लेना है (उसे मुहरा माना है) दूसरा (निश्चय नय) उपाय (साधन) नहीं है। कारण कि उतनी बुद्धि व विचारशक्ति उनमें नहीं पाई जाती यह स्वाभाविक है, एवं प्राचीन संस्कार पड़े रहते हैं। अस्तु,

नियमानुसार पदार्थोंका ज्ञान जीवको दो नयोंसे होता है—(१) निश्चयनयसे (२) व्यवहारनयसे। परन्तु उनमेंसे निश्चयनय, पदार्थके सत्य (असली भूतार्थ) स्वरूपका ज्ञान कराता

---

१. पुलके समान पार करनेवाले या लगानेवाले।

अबुधका अर्थ भोले या बालक भी होता है उनको समझानेके लिये व्यवहार सहित निश्चयका उपदेश दिया जाता है यह करुणाभाव गुरुओंके रहता है। सद्गुरु शुभोपयोगके समय (धर्मानुरागवश) सम्यग्दृष्टियोंको तथा सम्यग्दर्शनके सन्मुख मन्दकषायी मिथ्यादृष्टियोंको तो व्यवहार सहित निश्चयका उपदेश देते ही हैं किन्तु जो तीव्रकषायी एकान्ती (मिथ्यादृष्टि) हैं उन्हें भी व्यवहारनय द्वारा सदाचारमें लगाते हैं, असदाचार छुड़ाते हैं तथा असैनी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंको दूसरोंके द्वारा बचवाते हैं (रक्षा करनेका उपदेश देकर उनके प्राण बचाते हैं) अर्थात् किसी न किसी तरह उनका भला करते हैं यह रहस्य है।

हैं और व्यवहार नय पदार्थके असत्य (नकली-अभूतार्थ) स्वरूपका बोध (ज्ञान) कराता है यह मूल भेद है। अतएव व्यवहारनय प्रारम्भमें कामचलाऊ अस्थायी साधन है लेकिन हेय अवश्य है। और निश्चयनय हमेशा कार्यकारी व स्थायी साधन है और उपादेय है। फलतः व्यवहारनयका प्रयोजन जबतक उसकी सहायतासे निश्चयनयका या पदार्थोंके असली स्वरूपका ज्ञान नहीं हो जाता तबतकके लिए है, हमेंशाके लिए उसका आलम्बन व प्रयोजन नहीं है। निश्चयनयका उद्योत होने पर वह स्वयं तिरोहित या अनावश्यक हो जाता है, कारण कि निश्चयनय स्वयं स्वसहाय है पर सहाय नहीं है। तभी तो 'स्वाश्रितो निश्चयः', 'पराश्रितो व्यवहारः' कहा गया है। सारांश—व्यवहार नयकी उपयोगिता (सार्थकता) तभीतक है जबतक निश्चयनयका राज्य नहीं होता है। जिस प्रकार म्लेच्छ भाषाका उपयोग तबतक किया जाता है जबतक कि म्लेच्छ (अनार्य) जीव आर्य-भाषा नहीं जानता, जब वह आर्यभाषा जान लेता है तब फिर अनार्य भाषाका प्रयोग बन्द कर दिया जाता है। ऐसा ही प्रयोजन व्यवहारनयका समझना चाहिये। परन्तु दोनों नय परस्पर सापेक्ष (संधिरूप) एकत्र अवश्य रहते हैं व माने जाते हैं अर्थात् एकके अभावमें दूसरा नय अपना कार्य करता है। सारांश यह कि जब एक नय अपना कार्य नहीं करता तब दूसरा (विपक्ष) नय अपना कार्य करता है और एक दूसरेकी सत्ता (अस्तित्व) स्थापित करता है क्योंकि एकके बिना दूसरेका नामनिर्देश हो नहीं सकता ऐसा परस्पर जोड़ा है, हाँ, गौणमुख्यता बराबर रहती है, विषय व अधिकरण भी दोनों नयोंका एक ही द्रव्य है।

व्यवहारनयके भेद व कार्य

व्यवहारनय तीन प्रकारका होता है (१) भेदाश्रित या भेदरूप मान्यता (२) पर्याया-श्रित या पर्यायरूप मान्यता (३) पराश्रित या निमित्ताधीन मान्यता। इन तीनोंका उदाहरण प्रयोजनवश व्यतिक्रमरूपसे दिया जाता है। और जीवद्रव्यका ज्ञान करानेके लिये व्यवहारकी विधि (प्रक्रिया) बतलाई जाती हैं। यथा—

(१) जब कोई अज्ञानी मनुष्य जीवके निश्चय स्वरूपको जानना चाहता है तब यदि उसको इकदम प्रारंभमें यह बताया जाय कि जीवका निश्चयस्वरूप 'एकत्त्वविभक्त' है इत्यादि, तब बिना दिखाये या व्यवहारनयकी सहायता व आलम्बन लिये वगैर अनंत कालतक वह जीव-द्रव्यको नहीं जान सकता, यह पक्का है। इसलिये प्रारंभकालमें जीवका ज्ञान, पर्यायाश्रित व्यवहारनयका आश्रय लेकर कराया जाता है कि—जिसके मनुष्य-देवनारक—तिर्यंचका शरीर हो या पाँच इन्द्रियाँ हों, वही जीव कहलाता है। उस जिज्ञासु श्रोताको यह ज्ञान हो जाता है कि मेरे मनुष्य शरीर व इन्द्रियाँ हैं, अतः मैं जीव हूँ। यहाँ पर जीवका ज्ञान संयोगी पर्याय द्वारा कराया जाता है जो व्यवहारनयरूप है या व्यवहारनयका कार्य हैं अर्थात् इस प्रकार जीवद्रव्यका श्रोता या जिज्ञासुको ज्ञान होना व्यवहारनयाश्रित है, निश्चयनयाश्रित ज्ञान नहीं है। उपचरितज्ञान है कारण कि शरीर या इन्द्रियाँ सब पुद्गलकी पर्याय हैं जो जीवद्रव्यसे भिन्न हैं।

(२) इसी तरह पराश्रित (निमित्ताश्रित) व्यवहारनयका उदाहरण ऐसा है—जो इन्द्रियों

के द्वारा जाने वह जीव है। यहाँ भी इन्द्रियों (साधनों-निमित्तों) की पराधीनतासे जीवकी सिद्धि बतायी गई है, जो सरासर व्यवहारनयका ही भेद है अर्थात् श्रोताको यह अभूतार्थ ज्ञान होता है कि मैं इन्द्रियोंसे जानता हूँ अतएव मैं जीव हूँ। क्योंकि निश्चयनयसे जीवका स्वरूप स्वाधीन व स्वाश्रित है, पराश्रित या निमित्ताश्रित नहीं है यह दूसरा व्यवहारनयका उदाहरण है।

(३) इसी तरह भेदाश्रित व्यवहारका उदाहरण यह है—जो ज्ञान व दर्शनसे जानता है वह जीव है। यहाँ पर अखंड व अवक्तव्य जीवद्रव्यमें ज्ञान व दर्शनका भेद करके कथन किया जाता है अतएव वह व्यवहारनयका विषय है निश्चयनयका विषय अखंडपिंड है। यद्यपि व्यवहारनय हेय है परन्तु प्रारंभ दशामें उसीने जीवतत्त्वके विषयमें कुछ अज्ञान मिटाया है अतएव वह कथंचित् अपेक्षणीय है सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है—प्रारंभ अवस्थामें कार्यकारी है। व्यवहारनय पदार्थका अशुद्ध स्वरूप बतलाता है, जिससे वह आत्मकल्याणका साधक नहीं है बाधक है व त्याज्य है। फलतः तीनों प्रकारका व्वहारनय है तो हेय, परन्तु प्रारंभमें अज्ञानियोंको समझानेके लिये थोड़ा उपादेय भी है किन्तु श्रद्धान गलत या विपरीत नहीं होना चाहिये, यह निष्कर्ष है।

अशुद्ध या विभावरूप प्रवृत्तिको या क्रियारूप परिणमनको उपादेय या आत्महितकारी न मानकर निमित्त या उपाधिरूप ही मानना और वस्तु स्वभावपर हमेशा दृष्टि रखना, उसको नहीं हटाना अर्थात् पर (विभाव) की ओर दृष्टिको नहीं जाने देना ही मूलमें भूल नहीं करना है और निज स्वभाव (ज्ञानदर्शनादि) से दृष्टिको विचलित करना ही मूलमें भूल व अपराध है, यह ध्यान रखना चाहिए। फलतः असंयम या संयम (द्रव्यभावरूप) दोनों बन्धके कारण या निमित्त हैं विकार हैं अतएव ज्ञानी वीतरागी उनको भी त्याग देता है वह ज्ञातादृष्टा मात्र स्वस्थ होता है, एकाकी स्वरूपमें रमता है।

इसके विपरीत जो केवल व्यवहारनयावलम्बी अशुद्धज्ञानी और अशुद्धाचरणी हैं वे जिन-वाणीके उपदेशके पात्र नहीं है क्योंकि वे उसको समझ नहीं सकते न उनको रुचि होती है, यह खराबी उनमें पाई जाती है तब उन्हें उपदेश देना ही व्यर्थ है। अथवा कभी-कभी उसका उल्टा फल भी होता है। फलतः संयोगी पर्यायमें होनेवाली प्रवृत्ति या क्रियाको वस्तुका परिणमन निश्चय-रूप समझते हुए उसके द्वारा अपनी आत्माका कल्याण नहीं हो सकता ऐसा दृढ़ श्रद्धान करना और हेयको हेय उपादेयको उपादेय मानकर कार्य करते रहना मना नहीं है वह तो वस्तुस्थितिको मर्यादा है, उसको सम्यग्दृष्टि नहीं तोड़ सकता उसका वह पालन या रक्षा हमेशा करता है। अतः सम्यग्दृष्टि उच्च है। कोई भी सरागी जीव संयोगी पर्यायमें रहते हुए सब तरहका व्यवहार कार्य करना नहीं छोड़ सकता किन्तु उसको करता हुआ उससे सदा विरक्त या उदासीन (रुचिरहित) रहता है तथा यथाशक्ति उसे छोड़ता भी है, यह विशेषा रहती है।

उपसंहार

व्यवहारनयके ज्ञानीको ही निश्चयनयका ज्ञान व आचरण होता है, परन्तु उसका तरीका पूर्वोक्त प्रकार ही है अन्य प्रकार नहीं है अर्थात् पेश्तर व्यवहारनयका आलम्बन करते कराते हुए

आत्मा, जैसे अरूपी अदृश्य पदार्थ का, रूपी दृश्यमान शरीरादि साधनों द्वारा ज्ञान कराया जाता है, जोकि यद्यपि है अशुद्ध (व्यवहार) ज्ञान, तथापि मुख्य लक्ष्य निश्चयका ज्ञान कराना होनेसे वह धोखा देना या मायाचार व कपट करना (गुमराह करना) नहीं कहा जा सकता, बल्कि उस जिज्ञासु जीवको उसकी योग्यताके अनुसार सान्त्वना (तसल्ली) देना है, जिससे वह घवड़ाने न पावे। ऐसा करते २ जव उस जिज्ञासुको स्वयं ही निश्चयनयरूप सत्यज्ञान प्रस्फुटित (प्रकट) होता है तव अपने आप वह निश्चय-व्यवहारको समझ लेता है और पेश्तरके हुए ज्ञानको अशुद्ध ज्ञान जानकर उसको छोड़ देता है क्योंकि वह तो शरीरादि साधनोंको ही जीव जनानेवाला भ्रम ज्ञान था ऐसा भेदज्ञान उसको प्रकट हो जाता है। वह व्यवहारज्ञान असत्यार्थ है और निश्चय-ज्ञान सत्यार्थ ऐसा दृढ़ ज्ञान-श्रद्धान उसको हो जाता है व उसके होनेमें पर (कोई शरीरादि व इन्द्रियादि) सहायक नहीं होते, उसका आत्मा ही सहायक (स्व सहाय) होता है और मेरा आत्मा या जीव यही है, जो अपनेको अखण्ड पिण्ड रूपसे नियत जानता है। फलतः व्यवहारनयसे साध्यसाधनभाव या कार्यकारणभाव परके साथ माना जाता है और निश्चयनयसे अपने भीतर ही सव पाया जाता है। जव जिज्ञासु और आचार्यका एक मत हो जाता है तभी साध्य (सम्यग्ज्ञान) की सिद्धि रूप अन्तिम लक्ष्य पूरा हुआ समझा जाता है। यही आशय उक्त श्लोक द्वारा आचार्यने दरशाया है। इसकी पूर्ति न होनेतक सभी ज्ञान प्रायः अज्ञान कोटिमें शामिल रहते हैं क्योंकि वे प्रमाणरूप नहीं हैं। हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करानेमें समर्थ ज्ञान ही प्रमाण माना जाता है[1] और वह सम्यग्ज्ञान ही है, किम्वहुना[2] ॥ ६ ॥

आचार्य पूर्वोक्तको ही पुष्ट करनेके लिए एक दृष्टान्त देते हैं—

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

पद्य

जिसको निश्चयज्ञान नहीं वह व्यवहर निश्चय जानत है।
सिंह ज्ञान नहिं होता जिसको विल्लीको सिंह मानत है॥
पर यह भ्रम मिट जाता तव है, जव सच्चा सिंह दिख पड़ता।
इसीलिये व्यवहार कहा है, द्योतक-निश्चय-प्रकटाता ॥७॥

अन्वय अर्थ—[यथानवगीतसिंहस्य] जिस तरह जिस किसी आदमीको सच्चे शेरका ज्ञान नहीं है, परन्तु जिज्ञासा जरूर है वह [माणवक एव सिंहो भवति] विल्लीको ही सच्चा सिंह मान

---

१. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तदिति ॥—परीक्षामुखसूत्र १–२।
२. जइ जिणमयं पविज्जय ता मा ववहारणिच्चये मुईए। एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥ क्षेपकगाथा।

लेता है एवं कथञ्चित् सन्तुष्ट भी हो जाता है। [तथा अनिश्चयज्ञस्य हि व्यवहार एव निश्चयतां याति] उसी तरह जिस जीवको निश्चयका यथार्थ ज्ञान नहीं है, वह जीव व्यवहारको ही निश्चय मान लेता है व सन्तुष्ट हो जाता है ॥७॥

भावार्थ—अनादिकालसे व्यवहारको ही निश्चय माननेवाले जीव संसारमें बहुधा अधिक पाये जाते हैं, वे भूले-भटकके जीव अज्ञानी जीव हैं, कारण कि उनको निश्चयका न ज्ञान है न महत्त्व है, व्यवहारदृष्टि (मान्यता) ही उनको सदैव रहती है। उनके सामने निश्चय जैसी महत्त्वपूर्ण कोई वस्तु है ही नहीं। जिसप्रकार अज्ञानी या बालकके सामने सच्चा शेर न होनेसे बिल्लीके बच्चेको ही वह शेर समझता है। ऐसी स्थितिमें कभी उद्धार या भला नहीं हो सकता। सच्चे शेरके जाने विना नकली शेरको जान लेने मात्रसे उसको शेरका सच्चा ज्ञाता नहीं कह सकते। नतीजा यह होता है कि उसकी नकली धारणा इतनी मजबूत हो जाती है कि कदाचित् सच्चे शेरका प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर भी वह उसको सच्चा शेर नहीं मानता, झूठा मानता है। अतः जबतक निश्चय (सत्य) का दर्शन व ज्ञान न हो तबतक तो वह किसी तरह व्यवहार या असत्यको अपनावे, किन्तु जब सत्यका दर्शन व ज्ञान हो जाय तब वह व्यवहाररूप धारणा (मान्यता) को छोड़ देवे या छोड़ देना चाहिये। यह आशय या रहस्य है। यही बात जीवकाण्ड गोम्मटसारमें श्रीनेमिचन्द्राचार्यने लिखी है[1] ॥७॥

तदनुसार मिथ्या या व्यवहार श्रद्धा तुरन्त छोड़ देना चाहिये, हठ नहीं करना चाहिये, वही भद्र परिणामी समझा जायगा। जैसे कि जबतक असली शेरका दर्शन या प्रत्यक्ष न हो तबतक भले ही नकली शेर (बिल्ली)को तसल्लीके लिए सच्चा शेर मानता रहे किन्तु जब सच्चे शेरका दर्शन व प्रत्यक्ष हो जाय तब तो भ्रम या अज्ञान (व्यवहारपना) छोड़ ही देना चाहिए, अन्यथा वह मूर्ख ही कहलायगा और धोखा खायगा, उससे लाभ या मनोरथ सिद्धि न होगी यह तथ्य है। कदाचित् परीक्षाके समय नकली शेर, दूसरे असली शेरका मुकाबला नहीं कर सकेगा। न अपनी व दूसरोंकी वह रक्षा भी कर सकेगा, दूसरे जबर्दस्त या बलवानके देखते ही भाग जायगा इत्यादि। उसी तरह प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये। जैसेकि व्यवहाररूप (सराग) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रसे भाव व द्रव्य शत्रु (रागादिक विभाव भाव व द्रव्य कर्म) नष्ट नहीं हो सकते न आत्माकी उनसे रक्षा हो सकती है किन्तु निश्चय वीतरागतारूप सम्यग्दर्शनादिसे ही कर्मशत्रुओंका क्षय (विनाश) होकर आत्माकी रक्षा होती है व मोक्ष जाता है इत्यादि, अतएव निश्चय ही उपादेय व हितकारी है ऐसा समझकर उसका ही आलम्बन या ग्रहण करना चाहिए, उससे कभी धोखा न होगा, हमेशा लक्ष्य या साध्यकी सिद्धि होगी। किम्बहुना, आचार्यका दिया हुआ शेर (सिंह) का दृष्टान्त बिलकुल फिट बैठता है। म्लेच्छ भाषाका दृष्टान्त भी जो श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने दिया है संगत बैठता है उनसे सब भ्रम मिट जाता है, खुलासा समझमें आ जाता है इति ॥७॥

---

१. सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि। सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥२७॥
सुत्तादो तं सम्मं दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि। सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी ॥२८॥
—जीवकाण्ड

आगे आचार्य—निश्चयनय और व्यवहारनयके ज्ञानकी आवश्यकता वतलाते हुए उसका फल व महत्त्व बतलाते हैं—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति माध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८॥

पद्य

जिस जीवने व्यवहार-निश्चयज्ञान सम्यक् कर लिया।
वह त्याग दोनों पक्षको 'मध्यस्थ' मानो हो गया ॥
वह ही लहत जिनदेशनाका लाभ पूरा रत्ननर।
वह तत्त्वज्ञानी जैनवाणी समझकर होता अमर ॥८॥

अन्वय अर्थ—[यः शिष्यः] जो शिष्य भव्यश्रोता [तत्त्वेन व्यवहारनिश्चयौ प्रबुध्य] व्यवहारनय व निश्चयनयके स्वरूप व भेदको सम्यक्प्रकारसे जान लेता है और [माध्यस्थः भवति] माध्यस्थभावको धारणकर लेता है अर्थात् निश्चय और व्यवहारमें रागद्वेषरूपपक्ष नहीं करता [स एव शिष्यः] वही शिष्य (श्रोता) [देशनायाः अविकलं फलं प्राप्नोति] जिनेन्द्रदेवके उपदेश (शिक्षा) का सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है, मोक्ष जाता है ॥८॥

भावार्थ—जिनवाणीके लिखनेका और उसको सुननेका मुख्य उद्देश्य है कि उससे भूले भटके अज्ञानी जीव वस्तुका निश्चय और व्यवहार स्वरूप समझें अथवा अपना अनादिकालीन भ्रम व अज्ञान मिटावें तथा जो हेय हो उसे छोड़ें व जो उपादेय हो उसको ग्रहण करें और ऐसा करके अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करें (साध्यको सिद्ध करें)। परन्तु इसके लिये और क्या क्या करना अनिवार्य है, यह जिज्ञासा स्वभावतः होती है जिसका उत्तर है कि जिनवाणीमें यह सामर्थ्य है कि वह स्वतः निश्चय और व्यवहाररूप कथन करती है अथवा स्याद्वादरूप कथन करती है। अर्थात् वस्तुमें रहनेवाले धर्मों को क्रमशः कहती है क्योंकि उसमें यह सामर्थ्य नहीं है कि एक ही बारमें सब धर्मोंको कह सके। यतः वे सभी धर्म एक ही आधारमें परस्पर मेलसे रहते हैं। अतएव अनेक धर्मवाली वस्तु अनेकान्तरूप कहलाती है तथा उसको कहनेवाली वाणी या भाषाका नाम 'स्याद्वाद' है। इस तरह अनेकान्तरूप वस्तु तथा उसको कहनेवाली भाषाका परस्पर वाच्यवाचक सम्बन्ध है। अतएव वह जिनवाणी स्याद्वादवाणी मानी जाती है जो सब एकान्तरूप विवादोंको मिटाकर मैत्री स्थापित करती है। ऐसी वाणीके द्वारा ही निश्चय और व्यवहारका उपदेश होता है। दूसरी कोई भाषा या वाणीमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह निश्चय और व्यवहारको कहनेवाली वाणीके[1] अवलम्बन या सहायता (निमित्त) से जीवोंको सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञानसे माध्यस्थ्य[2] (वीतरागतारूपनिर्विकल्प) भाव

---

१. पूर्वकथित गाथा ६ सूत्रपाहुड़।

२. माध्यस्थभावका अर्थ 'श्रामण्य' होता है या निर्विकल्प पक्षपातरहित, रागद्वेषरहित होता है ॥१५६॥ —प्रवचन०

उत्पन्न होता है, जिसे सम्यक्चारित्र कहते हैं एवं उसका फल मोक्षकी प्राप्ति है, यही सम्पूर्ण फलकी प्राप्ति है। संक्षेपमें ऐसा समझना कि इन सबमें मूल कारण जिनदेशना—निश्चय और व्यवहारका उपदेश है। उसके बाद निश्चयव्यवहारका सूत्रानुसार जानना है, उसके पश्चात् माध्यस्थ्यभावका होना है। इस तरह तीनों परस्पर अनुस्यूततया सम्बद्ध है। देशनाके अविकल फल आत्मकल्याण या जीवोंके उद्धारके लिये तीनों अनिवार्य है किसीकी भी त्रुटि नहीं होना चाहिये।

ऐसी स्थितिमें सम्यग्दृष्टिको स्याद्वादरूप जिनवाणी, एवं निश्चयव्यवहारका ज्ञाता और माध्यस्थ परिणामी अवश्य २ होना चाहिये तभी वह मोक्षमार्गी व मोक्षगामी परम सुखी आदि महत्त्वपूर्ण फलवाला हो सकता है अन्यथा नहीं, यह सारांश है। फलतः जिनदेशनाके प्राप्त होने पर भी जिन जीवोंका हृदय परिवर्त्तन नहीं होता (मिथ्याश्रद्धान नहीं छूटता) वे कभी संसारसे पार नहीं होते। उनको न जिनवाणीका ज्ञान होता है न वे स्याद्वादको जानते हैं न उनको निश्चय व्यवहारका ज्ञान होता है न माध्यस्थ्यभाव होता है।

निश्चयव्यवहारनयके सम्बन्धमें निर्णय—

एवं व्यवहारणयो पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ २७२ ॥

—समयसार-कुंदकुंदाचार्य

अर्थ—निश्चयरूपसे (वास्तविकमें) व्यवहारनय हेय या निषिद्ध है क्योंकि उससे मोक्ष नहीं होता, किन्तु निश्चयनय उपादेय है कारण कि उसके आलम्बनसे मुनि मोक्ष जाते हैं अर्थात् मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं इत्यादि लाभ होता है, अस्तु।

व्यवहारनयके भेदोंमें भेद

(१) लोकव्यवहार, अनेक तरहकी क्रियाओंरूप (२) शास्त्रव्यवहाररूप, जिसके पराश्रित आदि ३ भेद होते हैं। मोक्षमार्गमें वे ही बाधक होते हैं। लोकव्यवहार बाधक नहीं होता यह तात्पर्य है, अस्तु ॥ ८ ॥

निश्चयनय और व्यवहारनयमें भूल तथा कारणकार्यमें भूल

कोऊ नयनिश्चयसे आत्माको शुद्ध मान, भये हैं स्वच्छन्द न पिछाने निजशुद्धता[1]।
कोऊ व्यवहार दान शील तप भावको ही, आतमको हित जान छांड़त न मुद्धता[2] ॥

---

१. आत्माकी शुद्धि—क्रियाकांड आदिको छोड़ देना है उसकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि आत्मा सदैव शुद्ध है यह अशुद्ध नहीं होता ऐसी मान्यता निश्चयाभास है।

२. मूर्खता—दानादिसे आत्मकल्याण मानना व्यवहाराभास है।

कोऊ व्यवहारनय निश्चयके मारगको भिन्न भिन्न पहिचान करे निज उद्धता[1]।
जब जाने निश्चयके भेद व्यवहार सब, कारण है उपचार माने तब बुद्धता[2]॥

भावार्थ—(१) संसारमें बहुतसे जीव ऐसे हैं कि जिन्हें नयोंका अर्थात् निश्चयनय, व्यवहार-नय, द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनयका तो ज्ञान नहीं है किन्तु एक सामूहिक मिथ्याज्ञान या अज्ञान पाया जाता है जिससे वे शरीर और जीवको एक ही मानते हैं अतएव वे 'बहिरात्मा' कहलाते हैं। उनका खयाल (मान्यता) ऐसा है कि जब शास्त्रोंमें लिखा है और उपदेश दिया जाता है कि जीव (आत्मा) 'शुद्ध' है—अशुद्ध नहीं है, तब उसको शुद्ध करने के लिये क्रियाकांड या उपवासादि तपश्चरण क्यों किया जाय ? व्यर्थ है। 'पिष्टस्य पेषणं वैयर्थम्' यह न्याय है अर्थात् पिसे हुएको फिर पीसना बेकार है। ऐसा मानकर वे स्वच्छंद होकर वनगजकी तरह मनचाहा खानापीना कुकर्म व पाप करना अपना कर्त्तव्य समझ लेते हैं गरज कि उनको किसी बातका भय व परहेज नहीं रहता। सो आचार्य कहते हैं कि वे अत्यन्त मूर्ख (मूढ़) हैं, उन्होंने आत्मा (जीव) की शुद्धताको समझा ही नहीं है और खोटी या गलत धारणाकर संसारमें परिभ्रमणकर रहे हैं। (२) बहुतसे जीव ऐसे भी हैं जो यह मानते हैं कि 'आत्मा अनादिसे अशुद्ध है, उसको शुद्ध करनेके लिये दान तथा शील, संयमादि क्रियाएँ करना चाहिये, वे जरूरी हैं, उनके करनेसे आत्माका हित या कल्याण होता है या आत्मा शुद्ध हो जाता है इत्यादि। आचार्य कहते हैं कि वे भी मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं उन्होंने भी आत्माकी शुद्धता-अशुद्धताको नहीं पहिचाना है एवं भूले हैं। (३) बहुतसे जीव ऐसे हैं कि जो शुद्धता होने के या मोक्ष प्राप्त करनेके दो मार्ग (उपाय) मानते हैं व कहते हैं यथा (१) निश्चय मोक्षमार्ग (२) व्यवहार मोक्षमार्ग, और दोनों पृथक् २ हैं। आचार्य कहते हैं कि वे जीव उद्दंड हैं अर्थात् हठी और लड़ाकू हैं अर्थात् व्यर्थ ही बकवाद और वितंडा करनेवाले हैं, कारण कि मोक्षका मार्ग एक ही है दो नहीं हैं। और वह व्यवहारमार्ग इस प्रकार कहा गया है कि जो जीव अखंड द्रव्य (वस्तु) में ज्ञानके द्वारा खंडकल्पना या निर्धार करते हैं परन्तु प्रदेशभेद नहीं करते, वह भेदाश्रित व्यवहार कहा जाता है और वही निश्चयका कारण[3] है व हो सकता है, दूसरे प्रकारका कोई व्यवहार निश्चयका कारण नहीं हो सकता, यह सारांश है अर्थात् भिन्न प्रदेशी व्यवहार निश्चयका कारण नहीं हो सकता इत्यादि। अतएव निश्चय (अखंड)में खंड करना, व्यवहार या उपचार है ऐसा जानना चाहिये तभी वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि हो सकता है अन्यथा अज्ञानी व मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये, किम्बहुना। फलतः नयोंका ज्ञान होना एवं विवक्षाको समझना वस्तु स्वरूपको समझनेके लिये अनिवार्य है—बिना उसके तत्त्वका स्वरूप व निश्चयव्यवहारका ज्ञान होना असंभव है इति। देखो, सिद्धान्त यह है कि संयोगी पर्यायमें (संसार

---

१. उद्दंडता या हठ है—दो मोक्षमार्ग मानना है, जो हो नहीं सकते।

२. ज्ञानीपना-सम्यग्दृष्टि है, वास्तवमें निश्चय (अखंड) में खंड करना व्यवहार है। और वही व्यवहार निश्चयका कारण हो सकता है जो अभिन्न प्रदेशी है इत्यादि सत्य रूप है।

३. जो छहढालामें पं० दौलतरामजीने कहा है।

दशामें) रहते समय न सर्वथा शुद्ध आत्मा है न सर्वथा अशुद्ध आत्मा है किन्तु द्रव्यार्थिकनयसे शुद्ध आत्मा है और पर्यायार्थिकनयसे अशुद्ध आत्मा है ऐसा निर्धार है, अस्तु ।। ८ ।।

कथंचित्नयोंमें हेयता व उपादेयता बतलाते हैं

व्यवहारनय यों तो अन्तमें हेय (त्याज्य) है ही किन्तु प्रारम्भमें जबतक हीन दशा रहती हैं अर्थात् निश्चयनय प्रकट नहीं होता तबतक वह भी अपेक्षाकृत उपादेय माना जाता है क्योंकि वह अशुभसे बचाता है शुद्धके सन्मुख करता है अर्थात् संयोगीपर्यायमें रहते हुए भी कुछ विवेक जाग्रत होता है, उसको स्थूल रूपसे अच्छे और बुरेका ज्ञान होता है, कषाय मन्द होती है, शुभरागरूप[1] परिणाम होता है, परन्तु यह व्यवहारनय है, एकान्तरूप अप्रशस्त व्यवहारनयसे यह भिन्न है। इस व्यवहारनयमें पुण्य व पापका खयाल नहीं रहता है अर्थात् दोनोंमेंसे पुण्यको अच्छा मानता है, पापको बुरा मानता है, दया करना व्रत पालना शीलसंयम धारण करना, लोकोपयोगी कार्य करना, तीर्थाटन करना आदिको वह पुण्य या धर्म मानता है, जो यथार्थ (निश्चय) में धर्म नहीं है—मोक्षका कारण नहीं है, प्रत्युत बंधका कारण है किन्तु व्यवहार या उपचारसे उसको धर्म मान लिया जाता है इत्यादि भूल ही है। लेकिन उससे भी कुछ लाभ या बचत होती है, पापका बंध प्रायः नहीं होता पुण्यका बंध होता है जिससे नवग्रैवेयिकतक चला जाता है—अहमिन्द्र बड़ा विभूतिका धारी हो जाता है, परन्तु रहता मिथ्यादृष्टि ही है वहाँ आत्माकी रक्षा नहीं होती, आत्माके

---

१. पूयादिसु वयसहिदं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।
मोहक्खोयविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८१॥ —भावपाहुड़, कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ—व्रतधारियों (त्यागियों) के भी भूमिकानुसार पूजादिक या देवभक्ति आदिके भाव (शुभराग) होते हैं, उनको पुण्य नामसे जिनशासनमें कहा गया है अर्थात् शुभभावोंको पुण्य कहा जाता है तथा उसीको 'धर्म' भी कहा जाता है ऐसा दोनोंमें अभेद माना जाता है, यही व्यवहार या उपचार है लेकिन यह व्यवहार धर्म सम्यग्दृष्टि व्रतीकी अपेक्षा है किन्तु निश्चयनयसे जो धर्म, अज्ञान (मिथ्यात्व) और रागद्वेषरूप भावोंसे (लोभसे) रहित हो वही धर्म आत्माका धर्म है (शुद्ध स्वभावरूप है) अर्थात् मोह (मिथ्यात्व) व रागद्वेषादि धर्म नहीं है वे अधर्म हैं। परन्तु मिथ्यादृष्टि अव्रतीके जो शुभरागरूप धर्म होता है, वह व्यवहारनयसे भी धर्म नहीं है किन्तु लोकाचार मात्रसे (चरणानुयोगसे) धर्म कहा जाता है जो भ्रमरूप है ॥८१॥ तथा और भी कहा है—

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदुं धम्मोत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठम् ॥८३॥ —भावपाहुड़।

अर्थ—जब आत्मा रागादिक दोषोंको छोड़कर अपने शुद्ध स्वरूपमें रत (लीन या स्थिर) होता है, तभी संसार से तारनेवाला निश्चयधर्म (वीतरागतारूप) आत्माको प्राप्त होता है, जिसको 'आत्मधर्म, कहते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। अस्तु, अर्थात् जब आत्माका उपयोग अशुद्धसे हटकर शुद्धमें लगता है या शुद्धोपयोगरूप आत्माका भाव (परिणमन) होता है तभी निश्चय धर्मवाला कहलाता है ॥८३॥

स्वभावका घात होता ही रहता है, संवरपूर्वक निर्जरा नहीं होती, संसारका अन्त (मोक्ष) नहीं होता इत्यादि कमी बनी ही रहती है इत्यादि हानि व लाभ समझना।

सारांश—धर्म दो तरहका होता है (१) व्यवहारधर्म (२) निश्चयधर्म। अथवा एक लौकिकधर्म दूसरा पारलौकिकधर्म। व्यवहार शब्दके अनेक अर्थ हैं जैसे व्यवहारका अर्थ, लोक-प्रवृत्ति या लोकयात्रा या चालचलन होता है तथा व्यवहारका अर्थ भेद करना भी होता है या सलूक करना होता है इत्यादि। परन्तु यहाँपर धर्मका प्रकरण होनेसे सम्यक्धर्म व मिथ्याधर्मका विचार किया जाना है। जो धर्म (आत्म स्वभाव) सम्यग्दर्शन पूर्वक हो उसको सम्यक्धर्म समझना चाहिए। और जो धर्म मिथ्यादर्शनके साथ हो उसको मिथ्याधर्म समझना चाहिये। तदनुसार मिथ्यादृष्टिके शुभ रागरूप या शुभप्रवृत्तिरूप (सदाचाररूप-क्रियाकाण्डरूप) धर्मके अत्यधिक होनेपर भी वह मिथ्याधर्ममें ही गर्भित (शामिल) है, उससे उसको 'मोक्ष नहीं होता तथा सम्यग्दृष्टिके वह शुभरागरूप धर्म कथंचित् या उपचारसे मोक्षका कारण माना जाता है कारण कि उसकी श्रद्धा उस शुभरागरूप धर्मके वारे (विषय) में सही है अर्थात् उसको वह मोक्षका कारण नहीं मानता, संसार (बंध) का ही कारण मानता है और मिथ्यादृष्टि वैसा नहीं मानता, यह खास भेद धर्मके विषयमें है। फलतः लोकव्यवहार (लोकाचार) को अपेक्षा शुभ क्रिया या शुभ प्रवृत्ति कथंचित् उपादेय है। किन्तु परलोककी अपेक्षा वह उपादेय नहीं है, हेय है अर्थात् वह व्यवहारधर्म (शुभ प्रवृत्तिरूप) सर्वथा उपादेय नहीं है। निष्कर्ष यह कि मिथ्यात्वके साथ (शुभरागरूप व्यवहारधर्म) तथा सम्यक्त्वके साथ भी उक्त व्यवहारधर्म, उपादेय व कार्यकारी, किसी भी हालतमें नहीं है—उससे मोक्ष नहीं हो सकता। किन्तु मोक्ष सिर्फ निश्चयधर्म अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक वीतरागतारूप धर्मसे ही हो सकता है अन्यथा नहीं, यह तात्पर्य है। अर्थात् जबतक निश्चयधर्म प्राप्त नहीं होता या निश्चनयका उदय नहीं होता तबतक व्यवहारधर्म या भेद बतानेवाला नय उपादेय है और जब निश्चयधर्मकी या निश्चयनयकी प्राप्ति हो जाती है तब व्यवहारधर्म व व्यवहारनयको छोड़ दिया जाता है एवं भेदरूप या विकल्परूप या शुभरागरूप निश्चयनय (अशुद्धनिश्चय) को भी निर्विकल्प दशा (समाधि) के समय छोड़ दिया जाता है, एक ज्ञाता-दृष्टामात्र स्वस्थ रह जाता है, किम्बहुना उपादेय व हितकारी निश्चय ही है। इस विषयमें एक—लौकिक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक समय दो आदमी किसी तीर्थयात्राको पैदल चले। उनमेंसे एक आदमीको कुछ कमती (धुंधला) दिखता था और दूसरेको पूरा साफ साफ दिखता था। चलते २ दोनोंको भूख व प्यासकी इच्छा हुई और वेचैन होने लगे। थोड़ी देरके बाद एक गाँव मिला, जहाँपर बहुतसे होटल थे। दोनों ठहर गये और खाने-पानेको होटलोंमें गये, जो आदमी कम दृष्टिवाला था वह पासवाले एक गंदले (छोटे) होटलमें चला गया और वहाँपर उसने खराब बासा विकारी भोजन किया और मलीन्न विषैला पानी भी पिया। तथा दूसरे अच्छी दृष्टिवालेने अच्छे बड़े साफ होटलमें जाकर भोजन किया, पानी पिया। इसके बाद दोनों आगे चल पड़े। चलते-चलते बीच में वह कम दृष्रि-वाला एकदम वीमार हो गया—तड़फड़ाने लगा, चिल्लाने लगा। दूसरा साफ दृष्टिवाला अक्का-

वक्का होगया या घवड़ा गया कि इसे क्या हो गया है ? आश्चर्यमें पड़ गया । लेकिन हिम्मत करके उसको पीठपर रखा तथा बस्तीमें ले जाकर दवाई कराई किन्तु वह मर गया । घर वापिस लौटा और उसके घरवालोंको खबर दी व सब हाल कह सुनाया, सब लोग समझ गये कि यह सब खराब या अशुद्ध विकारी खाने-पीनेका नतीजा है अर्थात् उसकी गलतीका फल है । बस, इसी प्रकार व्यवहारनय (अशुद्धनय) के आलम्बन लेनेका फल मिलता है (बरबादी होना) और निश्चयनयके आलम्बनका फल (आबादी या रक्षा) मिलता है ऐसा संक्षेपमें समझना चाहिये । यही कथंचित् उपादेयता व हेयताका खुलासा है, अस्तु ॥८॥

उपसंहार

व्यवहारके दो भेद हैं (१) मिथ्यादृष्टिका व्यवहार, जिसको मिथ्या व्यवहार कहते हैं (२) सम्यग्दृष्टिका व्यवहार, जिसको सम्यक् व्यवहार कहते हैं, भिन्न २ तरहका होता है । मिथ्यादृष्टिका व्यवहार मूलमें भूलरूप है अर्थात् वह भेद ज्ञान रहित है, संयोगी पर्यायके साथ एकत्त्वरूप है । और सम्यग्दृष्टिका व्यवहार मूलमें भूलरूप नहीं है किन्तु भेदज्ञान सहित है तथापि सरागरूप अशुद्ध है अतएव वह हेय ही है इसीसे वह कथंचित् उपादेय भी (हीनदशामें) माना जाता है, जो मजबूरीकी निशानी है, या बलात्कारके समान है । तभी तो वह सम्यग्दृष्टि उससे भी अरुचि या असहयोग करता है उसका स्वामी नहीं बनता इत्यादि । ऐसे भव्य सम्यग्दृष्टि जीवको ही व्यवहारनयसे मोक्षमार्गी कहा जा सकताा है किन्तु मिथ्यादृष्टि जीवको कदापि (व्यवहारनयसे भी) मोक्षमार्गी नहीं कहा जा सकता और यह सब श्रद्धापर (भावपर) निर्भर है, क्रिया या आचरणपर निर्भर नहीं है किम्बहुना, इस तथ्यको निष्पक्ष होकर ठीक २ समझना चाहिये ॥८॥

नोट—दर्शन ज्ञान चारित्र (धर्म) तीनों निश्चय और व्यवहाररूप होते हैं अतएव तीनोंमें जो भूल या भ्रम है उसको निकालना चाहिए तभी आत्मकल्याण होगा, अन्यथा नहीं, यह ध्यान रहे इति ।

प्रथम अध्याय

जीव द्रव्यका लक्षण

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शरसगन्धवर्णैः ।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥९॥

पद्य

आतम अथवा पुरुष नाम है, जीवद्रव्यका तुम जानो ।
निश्चयरूप कहा है उसका, उसको भी तुम पहिचानो ॥[१]
है चैतन्यरूप अरु परसे भिन्न रसादिक-वर्जित है ।
गुणपर्यय संयुक्त होयकर, उत्पादिक त्रय अर्जित है ॥९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य निश्चयनयसे जीवद्रव्यका स्वरूप बताते हैं कि [पुरुषः] जीव द्रव्य [चिदात्मा] चैतन्यस्वरूप (दर्शनज्ञानवाला) और [स्पर्शरसगन्धवर्णैः विवर्जितः] रूप रस गन्ध स्पर्श, इन पुद्गलके गुणोंसे रहित (परसे भिन्न) एवं [गुणपर्ययसमवेतः] गुण और पर्यायोंके साथ अभिन्न तादात्म्यरूप, एवं [समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहितः] उत्पादव्ययध्रौव्यरूप वस्तुके स्वभाव सहित [अस्ति] है। अर्थात् एकत्व विभक्तरूप जीव द्रव्य है—अन्यप्रकार नहीं है ॥९॥

भावार्थ—लक्षण या स्वरूप दो तरहका होता है (१) निश्चयरूप अर्थात् असली (भूतार्थ) और (२) व्यवहाररूप (नकली कामचलाऊ अभूतार्थ)। तदनुसार इस श्लोक द्वारा जीवद्रव्यका असाधारण (आत्मभूत) असली स्वरूप बताया गया है जो अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता, वह त्रिकाल जीवके साथ रहता है, कभी जीवसे भिन्न नहीं रहता। जैसे कि चेतना गुण जीवद्रव्यका मुख्य गुण है उसके साथ जीवका त्रैकालिक सम्बन्ध है और उसके साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध भी है अतएव उसके साथ जीवका एकत्व है। यद्यपि चेतनाके तीन भेद किये गये हैं—(१) ज्ञानचेतना (२) कर्मचेतना और (३) कर्मफल चेतना। परन्तु कार्य, चेतनाका एक जानना ही है। विषयभेदसे उक्त तीन भेद किये गये हैं या जो अपनेको खुद जाने (स्वसंवेदन या आत्मसंवेदन करे अनुभवे)

---

१. अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ —समयसार ४९
अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं, ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३५॥ —समयसार कलश

वह ज्ञानचेतना है (आत्मचेतना है) और जो कर्म अर्थात् क्रिया को जाने (प्रवृत्ति निवृत्ति करावे) वह कर्मचेतना है तथा जो कर्मके फल सुख-दुःखको जाने—ज्ञान करावे, वह कर्मफल चेतना है। इन तीनोंमेंसे 'ज्ञानचेतना' सिर्फ सम्यग्दृष्टिके होती है ऐसा कहा[1] गया है। क्योंकि स्व और परका भेद विज्ञान सिवाय सम्यग्दृष्टिके और किसीको नहीं होता अर्थात् सत्यार्थ नहीं होता जो हितकारी है। परसे भिन्नताका ज्ञान होना सम्यग्दृष्टिका ही कार्य है मिथ्यादृष्टिका नहीं है। मिथ्यादृष्टिके विपरीत ज्ञान होने से वह अपने आत्माको परसे भिन्न नहीं जानता मानता, अपितु पर रूप ही जानता मानता है, जैसी संयोगीपर्याय है तद्रूप ही जानता है इत्यादि। फलतः वस्तुका या आत्माका स्वरूप, परसे अर्थात् रूप रसादिक पुद्गलके गुणोंसे पृथक् है अर्थात् तादात्म्यरूप (अभिन्न या एकत्त्वरूप) नहीं है। और अपने गुणपर्यायोंके साथ हमेशा रहता है (एकत्त्वरूप है) तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीन साधारण गुणोंवाला है, जो सभीमें (द्रव्य मात्रमें) रहते हैं, कारण कि वे द्रव्यका स्वभाव हैं। 'सत् द्रव्यलक्षणं—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' ऐसा द्रव्यका लक्षण कहा गया है। (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५वाँ सू० २९, ३०)

प्रत्येकका लक्षण निम्न प्रकार है—

(१) नवीन पर्यायकी उत्पत्ति होना, उत्पाद कहलाता है जो समय २ होता है वस्तुका स्वभाव है।

(२) व्यय—प्रति समय जो पूर्व पर्याय का विनाश (अभाव) होता है वह व्यय है।

(३) ध्रौव्य—जो हमेशा स्थिर (कायम) रहता है वह ध्रौव्य है ऐसी चीज द्रव्य है। अर्थात् मूलभूत वस्तु है। परन्तु वह भी परिणामी ध्रुव (नित्य) है कूटस्थ नित्य (ध्रुव) नहीं है जैसा कि अन्य मतवाले मानते हैं।

(४) गुण—जो द्रव्यके आश्रय (आधार) रहते हैं और जिनमें गुण नहीं रहते (द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणाः, तत्त्वार्थसूत्र ५-४१)।

(५) पर्याय—जो बदल करके भी तद्रूप (द्रव्यरूप) रहे, अन्यरूप न हो इत्यादि ('तद्भावः परिणामः, त० सूत्र ५-४२) अर्थात् जैसी द्रव्य हो वैसी ही पर्याय होती है (परिणाम होता है)

पर्यायके भेद—

(१) अर्थपर्याय—जो प्रति समय बदलती रहती है, प्रत्येक गुणकी अवस्था परिवर्तित होती है। (एक समयकी है)

---

१. अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना।
चेतनत्वात् फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना ॥१९५॥ —पंचाध्यायी उत्तरार्ध

अर्थ—चेतनाके मूलमें दो भेद हैं (१) शुद्धचेतना (२) अशुद्धचेतना। अशुद्धचेतनाके दो भेद हैं (१) कर्मचेतना (२) कर्मफलचेतना। शुद्धचेतनाका (१) एक भेद ज्ञानचेतना, ज्ञानका अर्थ आत्मा है। अभेद विवक्षासे।

(२) व्यंजनपर्याय—जो समुदाय रूप स्थूल (व्यक्त) होती है अनेक समयकी पर्यायोंके मेल रूप है। वह विभावरूप व स्वभावरूप दो तरहकी होती है, उनमेंसे भेद है।

नोट—यह विभाव व्यंजनपर्याय, जीव और पुद्गल दो ही द्रव्योंमें होती है शेष चार द्रव्योंमें नहीं होती। (आलापपद्धतिमें देखो) निश्चयसे जीव द्रव्य के उक्त चार लक्षण (स्वरूप) चेतनत्व, स्पर्शादिभिन्नत्त्व, गुणपर्ययवत्त्व, उत्पादव्ययध्रौव्यत्त्व हैं जो आत्मभूत लक्षण हैं (अभिन्न प्रदेशी हैं) और कोई २ लक्षण अनात्मभूत (भिन्न प्रदेशी) भी होता है। उसका नाम व्यवहारी लक्षण है जो संयोगावस्थामें होता है। अभिन्नप्रदेशी लक्षणका नाम निश्चयलक्षण है ऐसा जानना।

सम्यग्दृष्टिका लक्षण

जो आत्मा (जीवद्रव्य) के उक्त प्रकार अनेकान्त स्वरूपको निश्चयनयसे जानता व मानता है वही सम्यग्दृष्टि होता है दूसरा नहीं।

तदुक्तं

जो तच्चमणेयन्तं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं।
लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च ॥२११॥

स्वा० का० अनु०

अर्थ—जो जीव सातभंगरूप (भेदरूप अनेक धर्मरूप) अनेकान्तमय वस्तुको यथार्थ जानता है व श्रद्धान करता है वही सम्यग्दृष्टि होता हैं यह नियम है तथा जो जीव अनेकान्तमय तत्त्वको नहीं समझता वह मिथ्यादृष्टि होता है। और ऐसा अनेकान्तका ज्ञाता जीव ही संयोगी पर्यायमें रहता हुआ अच्छी तरह लोकव्यवहार चला सकता है कोई विघ्न-बाधा नहीं आती यह महान् लाभ होता है अस्तु।

सातभंगोंके नाम

(१) स्यादस्ति (२) स्यान्नास्ति (३) स्यादस्तिनास्ति (४) स्यादवक्तव्य (५ स्यादस्ति अवक्तव्य (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्य (७) स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य। ये सात धर्म वस्तुमें पाये जाते हैं, जो प्रश्न होने पर बताये जाते हैं। और भी ४७ शक्तियों तक विचार किया जाता है। ज्ञानकी महिमा अपरंपार है ऐसा समझना।

सप्तभंगीका स्वरूप

एकस्मिन्नविरोधेन, प्रमाणनयवाक्यतः।
सदादिकल्पना या च सप्तभंगीति सा मता॥

अर्थ—प्रमाणकी अपेक्षा (आलम्बन) से या नयकी अपेक्षासे एक ही पदार्थमें विरोधरहित अर्थात् स्याद्वादका सहारा लेकर जो 'सत्, असत्' आदि सात प्रकारकी कल्पना (विकल्प) की

जाती है, उसको सप्तभंगी कहते हैं। उसके दो भेद हैं—(१) प्रमाणसप्तभंगी (२) नयसप्तभंगी इति। केवलज्ञानको छोड़कर ७ ज्ञानके भेद और ७ नयों के भेद इत्यादि जानना।

विशेषार्थ

नोट—इस श्लोक द्वारा आचार्य महाराजने पुरुष (आत्मा) का श्रद्धेय व उपास्य तत्त्व क्या है ? यह खासकर वतलाया है, उसीसे उद्धार हो सकता है। वह तत्त्व एक चेतन द्रव्य है शेष पांच जड़ (अचेतन) द्रव्य हैं। जव तक भाव्यात्मा चेतन व अचेतनका पृथक् २ ज्ञान श्रद्धान नहीं करता तव तक अज्ञानी रहता है और जब चेतन व जड़का भेद जान लेता है और उसमें भी जड़को उपादेय न मानकर एक अपने शुद्ध स्वरूप आत्माको ही उपादेय-श्रद्धेय व उपास्य मानता है तभी निश्चयसे सम्यग्दृष्टि होता है और मोक्षका अधिकारी माना जाता है। फलतः जड़की या मूर्त्तकी उपासना करनेवाला (तन-धन-जन-प्रतिमा या शास्त्र आदि पुद्गल द्रव्य व उसकी पर्यायोंका उपादेय रूपसे आदर करनेवाला) कभी संसारसे पार नहीं हो सकता न वह सम्यग्दृष्टि कहा जा सकता है अरे ! जड (अचेतन संयोगीपर्याय) का उपासक या पूजक (आत्मज्ञान रहित) कैसे पार पायेगा यह विचारणीय है। बस, यही खास तत्त्व इस श्लोकमें वतलाया गया है।

सारांश—चेतनको चेतनकी उपासना व श्रद्धा करना और सबसे सम्बन्ध विच्छेद करना, यही कार्यकारी है। वह चेतन पुरुष पूर्वोक्त प्रकारका है अन्य प्रकारका नहीं है। यदि भिन्न प्रकार माना जायगा तो मिथ्यात्व होगा इत्यादि। आत्मा (चेतन) का आलम्वन, आत्मा ही है नान्यः इति मूर्त्ति (प्रतिमा शास्त्र आदि) का आदर स्मारकरूप निमित्त होनेसे उपचार मानकर किया जाता है सत्य नहीं यह भेद है इसको ठीक २ समझना चाहिए।

अनुजीवी व प्रतिजीवी गुण

जीव (आत्मा) द्रव्यमें (१) अनुजीवी और (२) प्रतिजीवी दो तरहके गुण रहते हैं। अर्थात् जीवमें विद्यमान रहते हैं या पाये जाते हैं।

(१) अनुजीवीगुणका अर्थ है स्वाश्रितगुण अर्थात् जो अपनी ही अपेक्षासे घटित हों सदा रहें अन्यकी अपेक्षा न रखें। जैसे कि जीवद्रव्यमें चेतना—ज्ञानदर्शनसुखवल विशेष गुण अथवा सुख, वीर्य, जीवत्त्व वगैरह, जिनसे जीवन सिद्ध होता है व स्वतः सिद्ध हैं—पराश्रित या आपेक्षिक नहीं हैं इत्यादि।

(२) प्रतिजीवीगुणका अर्थ है पराश्रितगुण अर्थात् जो परकी अपेक्षासे घटित होते हैं या प्रतिपक्षी गुण, जिनमें जीवनका सम्वन्ध नहीं है अर्थात् जो अनुजीवी नहीं हैं भिन्न हैं। जैसे कि अव्यावाधत्त्व, यह परकृत वाधासे रहित होनेके कारण प्रकट होता है, अनुजीवी नहीं है प्रतिपक्षी है। अवगाहत्त्व, यह परको स्थान नहीं देने से प्रकट होता है या परमें प्रवेश न करनेसे प्रकट होता है। अगुरुलघुत्व, यह परका प्रवेश न होने देनेसे प्रकट होता है। नास्तित्त्व, परमें न रहनेसे यह

प्रकट होता है (परचतुष्टकी अपेक्षा रखता है) इत्यादि दोनोंका अर्थ समझना। इससे भिन्न सद्भाव रूप या अभाव रूप अर्थ नहीं समझना जैसा कि अन्यत्र लिखा है अस्तु। यथा अभावरूप गुणोंको प्रतिजीवी गुण कहते हैं, ऐसा जो लक्षण लिखा है वहाँ पर अभावरूपका अर्थ, अनुजीवी गुणोंके अभावरूप या प्रतिपक्षी रूप अर्थ समझना चाहिए अर्थात् जो अनुजीवी रूप नहीं हैं। इसीसे उनका नाम 'प्रतिजीवी' रखा गया है। कारण कि जीव द्रव्य (आत्मा) का जीवन उनके आश्रित नहीं है ऐसा स्पष्ट समझना चाहिए॥ ९॥

निश्चयनयसे पुनः जीवका स्वरूप बताते हैं—

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसंतत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च॥१०॥

पद्य

अपनी पर्यायों का कर्त्ता द्रव्य हमेशा होता है।
उनही का वह भोक्ता होता भिन्न नहीं सब थोता है॥
जीव द्रव्य भी कर्त्ता भोक्ता ज्ञानादिक पर्यायों का।
है अनादिका नियम अकृत्रिम हिस्सा नहीं परायों का॥१०॥

अन्वय अर्थ—[स जीवः] निश्चयनयसे वह जीव द्रव्य [नित्यं अनादिसंतत्या ज्ञानविवर्त्तैः परिणममानः] हमेशा अनादिकालसे अखण्ड सन्तानरूपसे (धारावाहिक) ज्ञानकी पर्यायों द्वारा परिणत हो रहा है [च] और [स्वेषां परिणामानां कर्त्ता च भोक्ता भवति] उन अपनी पर्यायोंका ही वह स्वयं कर्त्ता तथा भोक्ता होता है, अन्यका नहीं, न अन्यका कोई सम्बन्ध है, ऐसा समझना चाहिए॥१०॥

भावार्थ—वास्तविकरूपसे विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी २ गुणपर्यायोंका ही धनी कर्त्ता व भोक्ता है अन्यका कदापि नहीं है यह वस्तुस्वभाव है। यदि कहीं हर एक वस्तु दूसरे की कर्त्ता व भोक्ता हो जाय या होने लगे तो तमाम लोककी व्यवस्था ही बिगड़ जाय, कोई भी कार्य नियमित न रहेगा, जिससे एक तरहकी अराजकता सरीखी उत्पन्न हो जायगी, सुखशान्तिके दर्शन न होंगे, संसार दुःखी दरिद्री हो जायगा इत्यादि। अतएव वस्तु अपनी मर्यादा कभी नहीं छोड़ती अटल रहती है उसके लिए किसी व्यवस्थापक या नियन्ताकी आवश्यकता नहीं रहती अतः वस्तु सब स्वतन्त्र है व स्वतः सिद्ध है, परकृत (ईश्वरादिजन्य) नहीं है। देखो—

जीवद्रव्य ज्ञानमय है अतएव सदैव वह अपनी ज्ञानपर्यायके साथ रहता है ज्ञानको नहीं छोड़ता अन्यथा वह अज्ञानी (ज्ञानशून्य जड़) हो जाय जो असम्भव है कभी ज्ञानी अज्ञानी नहीं होता और अज्ञानी ज्ञानी नहीं होता यह पक्का नियम है। इसके विरुद्ध किसी शक्ति विशेष (ईश्वरादि) के द्वारा अन्यथा हो जाता है ऐसा कहना मूर्खता है क्योंकि वस्तुके स्वभावको कोई बदल नहीं

सकता। मिथ्याज्ञानके समय भी जीव जानता ही है चाहे उल्टा क्यों न जानें, पर जानना गुण या स्वभाव नहीं छोड़ता अस्तु।

ज्ञानकी पर्यायके भेद

ज्ञानकी मुख्यत: दो पर्याएँ होती है (१) शुद्धपर्याय (२) अशुद्धपर्याय। जबतक ज्ञानके साथ पर द्रव्यका संयोग रहता है तबतक ज्ञानकी अशुद्धपर्याय रहती है यह सामान्य नियम है। विशेषत: जबतक ज्ञानके साथ मोहनीय कर्मका सम्बन्ध रहता है अर्थात् मिथ्यात्वादि व रागद्वेषादिका सम्बन्ध रहता है तबतक ज्ञानकी अशुद्धपर्याय अथवा विभावपर्याय मानी जाती है। और जब ज्ञानके साथसे मोहकर्मका सम्बन्ध छूट जाता है तब ज्ञानकी शुद्धपर्याय पूर्ण प्रकट हो जाती है। इसके बीचमें जबतक पूर्ण मोह कर्मका सम्बन्ध नहीं छूटता तबतक शुद्धाशुद्ध (मिश्र) अवस्था ज्ञानकी रहती है ऐसा समझना। चूंकि संयोगी पर्याय, अशुद्धपर्याय कहलाती है फिर भी एक दूसरेका तादात्म्य न होनेसे (ऐक्य व समवाय न होनेसे) द्रव्यकी अपेक्षासे वह शुद्धपर्याय ही मानी जाती है। भावार्थ—द्रव्यगत सामान्य पर्यायकी शुद्धपर्याय और पर्यायगत विशेषपर्यायको अशुद्धपर्याय माना जाता है। फलत: सामान्यपर्यायका क्षय (विनाश) नहीं होता और विशेषपर्यायका प्रतिक्षण क्षय होता है ऐसा सिद्धान्त है।

संयोगीपर्यायमें होनेवाले रागादिकको अशुद्ध निश्चनयसे कथंचित् जीवके कहा जाता है तथा कथञ्चित् जीवके नहीं हैं—औपाधिक हैं (संयोगज है) ऐसा कहा जाता है किन्तु पुद्गलके हैं ऐसा कहना गलत है—संभवता नहीं है। द्रव्यार्थिकनयमें या निश्चयनयसे प्रत्येक द्रव्य शुद्ध है (परसे भिन्न है) और पर्यायार्थिकनयसे अशुद्ध है (व्यवहाररूप है)।

ज्ञानकी अणु व महत्पर्याय

ज्ञानकी सबसे छोटी पर्याय (अक्षर पर्याय) सूक्ष्मनिगोदियालब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंचजीवके होती है तथा सबसे बड़ी (महान्) पर्याय सर्वज्ञ केवली (मनुष्य) के होती है परन्तु कोई ऐसा समय नहीं आता जिसमें ज्ञानपर्यायका पूर्ण (सर्वथा) अभाव या क्षय हो जाता हो जैसा कि अन्य मतवाले मानते व कहते हैं। यथा—

(१) **नैयायिक वैशेषिक**—मोक्षमें, ज्ञान गुण व उसकी पर्यायोंका अभावहो जाता है, हमेशा ज्ञान-गुण आत्मद्रव्यसे जुदा रहता है पीछे परस्पर संबंध होता है। वे गुण गुणीमें भेद मानते हैं।

(२) **सांख्य**—मोक्षमें, ज्ञेयाकार ज्ञानका अभाव हो जाता है—ज्ञान शून्य रहता है। व पुरुष (आत्मा) का स्वरूप चैतन्य मानता है यह कैसी विरुद्धता है? आश्चर्यजनक है।

(३) **बौद्ध**—मोक्षमें, दीपकके बुझ जानेकी तरह ज्ञान (आत्मा) नष्ट हो जाता है इत्यादि। न मालूम आत्मा कहाँ चला जाता है विचित्रता है।

(४) **जैन**—मोक्षमें क्षायोपशमिक ज्ञानका अभाव हो जाता है—क्षायिक ज्ञान रहता है अर्थात् ज्ञानका सर्वथा अभाव कभी नहीं होता, हमेशा रहता है।

(५) **जैन**—आत्मा व ज्ञान एक है गुणगुणीमें भेद नहीं है, व असंख्यात प्रदेशी है—प्रदेश कभी घटवढ़ नहीं होते—सभी प्रदेशोंमें ज्ञान रहता है, ज्ञानसे खाली कोई प्रदेश नहीं रहता। सभी प्रदेशों में सुख व दु:खका ज्ञान होता है। आत्मा छोटा व बड़ा नहीं होता—शरीर छोटा वड़ा होता है इत्यादि। हाँ, प्रदेशोंमें संकोच विस्तार (संहार विसर्पण) होता है, दीपकके प्रकाशकी तरह जानना।

(६) **चार्वाकमत**—यह जीवकी उत्पत्ति मानता है अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पाँच तत्त्वों के मिलनेसे नया जीव उत्पन्न हो जाता है और मरकर पुनः पाँच रूप वटवारा हो जाता है—सब अपने २ में मिल जाते हैं इत्यादि। उदाहरणके लिए वे गोवरका नाम लेते हैं कि उसमें गुवरीला वगैरह कितने ही भिन्न २ तरहके जीव पैदा हो जाते हैं ऐसा समझना, वह सब मिथ्या कल्पना है, जीव कभी पैदा नहीं होता न मरता है तथा उनकी संख्या भी घटवढ़ नहीं होती, सदैव नियमित रहती है किम्वहुना। जीव यह नाम ही सदैव जीवित रहनेकी अपेक्षासे वड़ा है और वह स्वतः सिद्ध है कृत्रिम नहीं है वह नित्य अविनाशी है परन्तु परिणामी है। कहा भी है कि—

तदर्हजस्तनेहातो रक्षोदष्टेर्भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात् सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥

आचार्य कहते है कि जो जीव निश्चयनयका आलम्वन करते हैं वे ही पुरुषार्थकी सिद्धि (सफलता) को प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् कृतकृत्य हो सकते हैं, संसारसे पार हो सकते हैं यह फल दिखते हैं—

सर्व[1]विवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति[2]।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुपार्थसिद्धिमापन्नः॥११॥

---

१. शर्व अर्थात् शंभुकी तरह विकारीपर्यायके छूटनेसे, यह आशय भो निकाला जा सकता है। भर्तृहरिशतके—

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्द्धधारी हरो। नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासंगो न यस्मात्परः।
दुर्वारस्मरवाणपन्नगविपव्यासक्तमुग्धो जनः। शेषः कामविडम्वितो हि विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः॥
॥ ९७ ॥

२. शुद्ध सत्तामात्र अकेलापन (एकत्वविभक्तरूप)।

पद्य

रागादिक विकारसे जब यह आतम छुटकारा पाता।
तभी होत कृतकृत्य और भवसिन्धु [1]पार वह हो जाता॥
निश्चयका आलम्ब करे से यह पुरुषार्थ सिद्धि होती।
जब तक व्यवहर ग्रहण करत है क्षुद्र दशा उसकी रहती॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यदा सः] निश्चयनयके आलम्बन (ग्रहण अनुभवन) करनेसे जिस समय जीवद्रव्य [सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं अचलं चैतन्यं आप्नोति] सम्पूर्ण विभावपर्यायोंसे छूट-कर (जो व्यवहारनयके आलम्बनसे हुआ करती हैं) शुद्ध चैतन्यरूप सर्वविशुद्धज्ञानरूप अचल अवस्था (पद) को प्राप्त करता है [तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः भवति] उस समय वह कृतकृत्य (सर्वथा शान्त-पूर्णमनोरथ) और सम्यक् पुरुषार्थकी सिद्धि (सफलता या मोक्षप्राप्ति) को वह प्राप्त हो जाता है या कर लेता है, अन्यथा नहीं, इस प्रकार फल प्राप्त हो जाता है जब यह जीव निश्चयनयका आलम्बन (आराधन) करता है किम्बहुना।

भावार्थ—जबतक संयोगी अथवा लोकव्यवहारी (अशुद्ध) पर्याय जीवके साथ रहती है तबतक जीव अनेक (नाना) अवस्थाएँ धारण करता है। उस समयतक वह कृतकृत्य (सफल मनोरथ-निष्काम) नहीं हो पाता और फलस्वरूप उसको अचलपद (मोक्ष) नहीं मिलता अथवा उसके पुरुषार्थको सिद्धि नहीं होती, उसका सारा प्रयत्न निष्फल या बेकार जाता है अर्थात् साध्यकी सिद्धि नहीं होती, ८४ लाख योनियोंमें घोर दुःख उठाता हुआ भटकता फिरता है। यह सब अशुद्ध या व्यवहारनयके आलम्बनका फल है। अतएव सारांशरूपमें आचार्य कहते हैं कि यदि किसी जीवको संसार दुःखसे छूटनेकी अभिलाषा हो तो उसको चाहिये (कर्त्तव्य है) कि वह व्यवहार-नयका आलम्बन करना क्रम २से छोड़ देवे या छोड़ता चला जाय और निश्चयनयका आलम्बन लेता जाय (नकलीको छोड़कर असलीको ग्रहण करे) यही पुरातन व उचित मार्ग है, (उपाय है) दूसरा मार्ग सब मिथ्या गुमराह करनेवाला है। फलतः द्रव्य (आत्मा) अनुसार चरण या बर्ताव करे अर्थात् आत्मा (द्रव्य) जैसी शुद्ध वीतराग (रागादिक दोषोंसे रहित) है वैसा ही उसे आच-रण या चारित्र धारण करना चाहिये तभी बुद्धिमानी या भेदविज्ञानता है। जीवको इन सब बातोंका ज्ञान या पता जब सम्यग्दर्शन होता है तभी लग पाता है। सम्यग्दृष्टि बड़ा चतुर व परीक्षक है निश्चय व व्यवहारका पूर्ण ज्ञाता है। स्वानुभवसे आत्माको प्रत्यक्ष जाननेवाला है, कारण कि उस समय (स्वसंवेदनके वक्त) वह इन्द्रियादिकी सहायता नहीं लेता। ऐसी हालतमें उसे अपनी शुद्धताका परिचय व स्वाद आ जानेसे उसे अकथनीय निराकुल सुख प्राप्त होता है और फिर उसको वैषयिक सुख नहीं भाते—उनसे विरक्ति या अरुचि हो जाती है इत्यादि विशे-षताएँ प्राप्त हो जाती हैं किम्बहुना यह सब निश्चयनयके आलम्बनका फल है—हेयोपादेयके ज्ञान का फल है इति।

---

१. मुक्त।

अचल (निश्चल एकरूप मोक्ष) अवस्थाको प्राप्त करना ही जीवनका लक्ष्य होना चाहिए—बहुरूपियाके रूप तो अनादिसे बहुत धारण किये हैं परन्तु स्थिर रूप कोई नहीं रहा है। राजा रंक मनुष्य, पशु, कीड़ा-मकोड़ा देव नारक आदि सब रूप न मालूम कितनी बार धारण कर २ के छोड़े हैं। इसका कारण अनेक तरहकी इच्छाओं एवं विकल्पोंका होना तथा उनके निमित्तसे तरह२ का कर्मबंध होना है। जब कोई विकल्प या इच्छाएँ नहीं रहतीं—निश्चल समुद्रकी तरह स्वयं अपनेमें स्थिर हो जाता है तब न कोई खतरा रहता है न कर्मोंका आस्रव व बंध होता है। फलस्वरूप अभीष्ट स्थान (मोक्ष-अचल या परिवर्तनरहित पद) सदाके लिए प्राप्त हो जाता है जहाँपर कोई विकार या दोष उत्पन्न नहीं होता अनन्त कालतक एक-सा सुखिया व ज्ञाता दृष्टा बना रहता है। यह सब व्यवहारनयके छोड़ने एवं निश्चयनयके ग्रहण करनेका फल है। निःस्वार्थ भावका होना दुर्लभ है। निश्चयनयसे जिनाज्ञाके अनुसार हेय, हेय ही रहता है और उपादेय, उपादेय रहता है। किन्तु लोक पद्धतिके (व्यवहारके) अनुसार प्रयोजनवश हेय उपादेय माना जाता है यह भेद है। तभी तो लोकका न्याय सच्चा न्याय नहीं माना जाता यह तात्पर्य है अस्तु।

तथापि संयोगी पर्यायमें

अनेकान्तदृष्टिसे कथंचित् व्यवहारमें उपादेयता बतलाई है, किन्तु हमेशाके लिये वह उपादेयता नहीं है हेयता है।

> व्यवहरणनयः स्याद् यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहिपदानां हन्त हस्तावलंबः।
> तदपि परमम‍र्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित् ॥५॥
>
> —समयसारकलश

अर्थ—संयोगी पर्यायमें विद्यमान (मौजूद) ज्ञानी जीवोंको यद्यपि व्यवहारनय, (अरुचि पूर्वक) हाथके सहारेकी तरह सहायक है जबतक कि हीनावस्था पाई जाती है (बालककी या वृद्ध पुरुषकी तरह) परन्तु वह पराधीनता सुखदायक नहीं है—दुःखदायक ही है। नीतिमें भी कहा जाता है कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं कर विचार देखो मनमाहीं' तदनुसार स्वाधीनता अर्थात् निराकुलतामें ही वास्तविक सुख है ऐसा समझना चाहिये। ऐसी स्थितिमें जो जीव (ज्ञानी) निश्चयनयसे परसे भिन्न चिच्चमत्कारके पिंड (एकत्वरूप) सर्वोत्कृष्ट अपनी आत्माके स्वरूपको देख व जान लेते हैं जो कि एकत्त्वविभक्तरूप व स्वसहाय है, उनकी दृष्टिमें परकी सहायताका कोई महत्त्व नहीं है और न वे उसको उपादेय मानते हैं अपितु उस परसहायतारूप व्यवहारको हेय या तुच्छ ही समझते हैं, अपने कार्यमें उसको बाधक ही मानते हैं, साधक नहीं मानते इत्यादि, पश्चात् आत्मशक्तिके बढ़ने पर उसका सम्बन्ध विच्छेद भी कर देते हैं और स्वावलम्बी बन जाते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी अगत्या व्यवहारनयका आलम्बन लेता है (विवशतामें बेगारकी तरह करता है) अतएव उसको वैसा करने में प्रसन्नता या रुचि नहीं होती किन्तु दुःख

या अरुचि ही होती है अतः वह होने का विषाद व मेटनेका उपाय हमेशा करता रहता है अस्तु—

व्यवहारको छोड़कर निश्चयका आलम्बन करनेसे होनेवाला लाभ बतलाया जाता है।—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं, प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥

अर्थ—निश्चयनयसे आत्माका स्वरूप, परसे सर्वथा भिन्न अर्थात् परपदार्थके साथ तादात्म्य सम्बन्धसे रहित है, गुणोंकर भरा हुआ है अर्थात् अपने सम्पूर्ण गुणों सहित है (उसमें औगुण या दोष नहीं है वह गुणोंका पिंड है) आदि व अन्तसे रहित अनादिनिधन (नित्य) है तथा एक—अकेला है (अद्वितीय—एकत्त्वरूप है) संकल्प (रागादिभाव) और विकल्प (ज्ञानमें उठनेवाली तरह २ की लहरों) से रहित है। द्रव्यदृष्टिसे अशुद्धता (संयोगीपर्याय) रहित है, उसमें परसे भिन्नतारूप शुद्धता सदैव रहती है इत्यादि ऐसा आत्माके शुद्ध स्वाधीन स्वरूपको दरशानेवाला शुद्धनय ही है, व उस निश्चयनय (शुद्धनय) का आलम्बन करने पर ही जीवका कल्याण होना संभव है (लाभ संभव है) व्यवहारनयका आलम्बन करनेसे कल्याण अर्थात् मुक्ति नहीं हो सकती। सम्यग्ज्ञानका होना ही सच्चा आलम्बन है, शेष सब भ्रम है। इसीका नाम 'स्वपरका भेदविज्ञान' है अतः उसको येनकेन प्रकारेण प्राप्त अवश्य करना चाहिये किम्बहुना ॥११॥

आगे आचार्य व्यवहारनयकी अपेक्षासे जीवका स्वरूप बताते हैं—

नैमित्तिकताका प्रदर्शन द्वारा

जीवकृतं[1] परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव[2] परिणमन्ते[3]ऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन[4] ॥१२॥

पद्य

बंधदशा[5] होनेमें कारण स्वयं जीवके भाव[6] हि हैं।
वे निज भाव कहे हैं प्रभुने यतः जीवमें होते हैं॥
हैं निमित्त कारण वे उसमें कर्मबंध जो होता है।
उपादान कारण है पुद्गल, कर्मरूप परिणमता है ॥१२॥

---

१. अशुद्ध निश्चयनयसे जीव (अशुद्ध) की कार्यपर्यायरूप, उसमें उत्पन्न हुए।
२. अपने आप ही उपादान शक्तिसे।
३. परिणम जाते हैं—हो जाते हैं, प्रकट हो जाते हैं।
४. कर्मपर्यायरूपसे परिणम जाते हैं।
५. संयोगीपर्यायरूप अशुद्ध अवस्था।
६. विकारीपरिणाम अशुद्धोपयोग।

अन्वय अर्थ—[अत्र] इस संसारमें अथवा जीवकी अशुद्ध (संयोगी) पर्याय में [जीवकृतं परिणामं] जो रागादिरूप विकारीपरिणाम प्रकट होते हैं उनको [निमित्तमात्रं प्रपद्य] सिर्फ निमित्त-रूप बना करके [अन्ये पुद्‌गलाः] दूसरे जड़ पुद्‌गलस्कंध [स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ते] स्वयं अर्थात् अपने आप अपनी योग्यतासे ही (स्वोपादानतासे) कर्मपर्यायरूप अर्थात् ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप (मूलभेद व उत्तरभेदरूप) परिणम जाते हैं। अर्थात् कर्म यह पुद्‌गल द्रव्यकी कार्य-पर्याय है जो पुद्‌गल द्रव्यमेंसे स्वयं ही प्रकट होती है सिर्फ उसके लिये सहायता देनेवाले जीव-द्रव्यके रागादिरूप विकारीभाव होना चाहिये जो कि अशुद्ध निश्चयनयसे संसारी या अशुद्ध जीवके कार्यपर्याय रूप हैं, परन्तु वे खाली निमित्त कारण हैं (दर्शकरूप) और कुछ नहीं हैं यह तात्पर्य है। यही निमित्तनैमित्तिकरूपसे कर्तृत्व भोक्तृत्वका होना व्यवहारनयकी अपेक्षा जीवका लक्षण या स्वरूप है ऐसा समझना चाहिये ॥१२॥

भावार्थ—जीव और पुद्‌गल, इन दो द्रव्योंका संयोग सम्बन्ध अनादि कालसे स्वयं—भिन्न पर द्रव्यकी सहायता या निमित्तता विना होता चला आया है। उससे दोनों अनादिकालसे विकृत हो रहे हैं, जिसका नतीजा यह संसार दशा है। प्रतिसमय आस्रव-बंध-उदय-निर्जरा आदि कार्य होता रहता है। फलस्वरूप जन्ममरण रोग आधि व्याधि भूख-प्यास आदिके असह्य दुःख उठाना (भोगना) पड़ रहे हैं। सिवाय संक्लेशता व आकुलताके एक क्षणको भी सुखशान्ति नहीं मिलती, अतएव उस सबका छूटना अत्यावश्यक है—उपादेय है यह निश्चयकी बात है अस्तु। इस विषयमें विशेष प्रकाश डालनेकी आवश्यकता मालूम पड़ती है।

नोट—पुद्‌गल द्रव्यका परिणमन अनेक प्रकारका होता है ज्ञानावरणादि कर्मरूप व शरीरादिनोकर्मरूप। खाये हुए अन्न आदिका जैसे खलरसरुधिरादिरूप परिणमन होता है जो उसका स्वभाव है।

विशेषार्थ—खुलासा

द्रव्यार्थिकनय या शुद्ध निश्चयनयको अपेक्षासे जीव आदि छहों द्रव्यें अबद्ध हैं स्वतंत्र व शुद्ध हैं—परसे भिन्न स्वतः परिणमनशील हैं, एक दूसरेका कुछ भी विगार या सुधार नहीं कर सकतीं, अपना २ कार्य स्वयं करती रहती हैं तथा अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़तीं यह अकाट्य नियम है इत्यादि, यह द्रव्यार्थिकनय वनाम निश्चयनयका कथन या निरूपण है। किन्तु संयोगरूप पर्यायार्थिकनय या व्यवहारनयकी अपेक्षासे जीव और पुद्‌गल ये दोनों द्रव्यें अयुतसिद्ध संयोगसम्बन्धसे बद्ध हो रही हैं—परस्पर संधिरूपसे मेल किये हुए हैं। इतना ही नहीं अपितु एक दूसरेमें निमित्तता भी करती रहती हैं। अर्थात् संयोगीपर्यायमें जो जीवद्रव्यके रागादिरूप विकारीभाव (परिणाम-पर्याय) होते हैं उनकी व साथी योगोंकी सहायता या निमित्ततासे नवीन पुद्‌गल द्रव्योंका आस्रव (आगमन) व बंध व कर्मनोकर्म रूप परिणमन (कार्यपर्याय) तथा स्थिति अनुभागका पड़ना, उदयमें आकर फल देना आदि कार्य हुआ करते हैं। उदय होनेके समय पुनः परिणाम बिगड़ते हैं अर्थात् उनमें रागादि विकार होता है तब उनके निमित्तसे पुनः आस्रव-बंध-उदय आदि होता है। इस तरह भावबंध (विकार) से द्रव्यबंध और

द्रव्यबंधसे भावबंध, इस प्रकार निमित्तनैमित्तिकरूपसे संतानपरंपरा चलती रहती है जब तक कि 'मोह रागद्वेष' का विनाश नहीं हो जाता।

यहाँ पर इतरेतराश्रय दोष तो होता नहीं है, कारण कि वे सब बदलते जाते हैं जैसे कि बीज व वृक्ष बदलता जाता है—नया २ होता जाता है। परन्तु यह शंका हो सकती है कि यह उपर्युक्त प्रकारकी निमित्तनैमित्तिकता द्रव्यकर्मके साथ है कि उदयके साथ है? इसका उत्तर यह है कि उदयके साथ फलकी निमित्तनैमित्तिकता है न कि कर्मके अस्तित्त्वके साथ। कारण कि जब कर्मरूप पर्याय उदयमें आती है (व्यक्त होती है) तभी उसका फल सुख-दुःख होता है तथा रागद्वेष भाव होते हैं तभी पुनः आस्रव और बंध होता है। यदि उदय न हो खाली सत्तामें कर्म रहें तो कोई हानि नहीं हो सकती। जब कर्म उदयमें आते हैं और फल देते हैं तभी परिणामोंके अनुसार बंधादि हुआ करता है। अतएव यह कहना कि 'कर्म फल देते हैं' उपचार है (व्यवहार है), निश्चय (सही) यह है कि 'कर्मका उदय साक्षात् फल देता है' और कर्म परंपरया फल देते हैं अर्थात् वे मूलकारण हैं उनकी ही उदय अवस्था होती है किम्बहुना।

द्रव्यकर्म व भावकर्मका निर्धार

सामान्यतः पुद्गलकी अशुद्ध (संयोगी) पर्यायका नाम 'द्रव्यकर्म' है। यतः द्रव्य अर्थात् पुद्गल द्रव्यकी कर्म अर्थात् कार्यपर्यायको ही 'द्रव्यकर्म' कहा जाता है। तथा भावकर्म अर्थात् जीव-द्रव्यकी अशुद्धपरिणामरूप कार्यपर्यायको भावकर्म कहा जाता है।

भावार्थ—पुद्गलकी विकारी पर्यायका नाम द्रव्यकर्म है और जीवकी विकारीपर्यायका नाम भावकर्म है ऐसा जानना तथा जबतक फल देनेकी सामर्थ्य कर्ममें रहती है तबतक वह कर्म कहलाता है शक्ति नष्ट हो जानेपर वह पुद्गल रह जाता है।

नोट—कर्मोंका कार्य है सुखदुःखकी सामग्री उपस्थित करना या सुखदुःखके वेदनेमें निमित्तता करना अतः उन्हें कर्मनामसे कहा जाता है। इनकी रचना (निर्माण) पुद्गल द्रव्यसे होती है। इसी तरह पुद्गल द्रव्यसे ही शरीरका निर्माण होता है और वह भी संक्षेप या अल्परूपमें कर्म जैसा कार्य करता है अतः उसे नोकर्म कहते हैं (थोड़ा काम करनेवाला नोकषायकी तरह ऐसा समझना)। यह खुलासा द्रव्यकर्म व भावकर्मका प्रसंगवश किया गया है। इसके सम्बन्धमें दूसरी विचारधारा निम्नप्रकार की है—

सूक्ष्म और प्राचीन शंका व समाधान

(इतरेतराश्रय दोष बाबत)

प्रवचनसार आदि आगमग्रन्थोंमें भावकर्मबंध व द्रव्यकर्मबंधके विषयमें 'इतरेतराश्रय' दोषका खंडन करते समय यह समाधान किया गया है कि अनादिकर्मबंधमें यह दोष (इतरेतराश्रय) नहीं आता, कारणकि अनादिकालसे ही आत्मा कर्मबन्ध सहित अशुद्ध पर्यायवाला रहा है तब

उसके पहिले कोई पृथक् २ दो द्रव्यें शुद्ध (पृथक् २) रही ही नहीं है, जिनको एक दूसरेका निमित्त (आश्रय) माना जाय। अर्थात् भावकर्मको—जुदे रागादिको, द्रव्यकर्मका निमित्त माना जाय या द्रव्यकर्म (पर्यायरूप कर्म) को भावकर्म (रागादि) का निमित्त माना जाय, यह नहीं बन सकता, कारण कि जुदी स्थितिमें कर्मरूप अथवा कार्यरूप पर्याय जीव द्रव्य या पुद्गल द्रव्यमें होती ही नहीं है यह नियम है। किन्तु कर्मरूप पर्याय जीव व पुद्गलकी अनादिसे अयुतसिद्ध रही है अर्थात् संयोगरूप—मिली हुई रही है ऐसा जानना चाहिए। फलतः तब ऐसा ही कहनेमें व माननेमें आता है कि अनादि कर्मबंध, बिना पृथक् निमित्तके ही होता है अर्थात् वही संयोगावस्था उपादान व निमित्तरूप है अन्य कोई निमित्त (भिन्न) उसमें नहीं है। तथा इसमें युक्ति व आगम दोनों प्रमाणोंसे विरोध भी नहीं आता। उक्तञ्च—

"नैवं (दोषः) अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्मसंबद्धस्यात्मनः तत्र हेतुत्त्वेनोपादानात्"
(प्रवचनसार गाथा नं० २२१)

अर्थात् इतरेतराश्रयताका या भिन्न निमित्तताका दूषण यहाँ नहीं आता, कारणकि—संयोगी पर्यायमें अनादि प्रसिद्ध द्रव्यकर्मोंसे संवद्ध (संयुक्त) आत्मा (पिण्डरूप) ही अपने बंधनादिमें स्वयं कारण है, दूसरा कोई नहीं है, यह निर्णय है अस्तु स्वयं स्वसे बँध जाता है जैसे रस्सी अपनेको बाँधनेमें समर्थ स्वयं है अन्यकी अपेक्षा नहीं रखती।

अनादिकर्मपर्याय और अनादि कर्मबंधका खुलासा

पुद्गलद्रव्यकी कर्मपर्याय और कर्मबंध, दोनों अनादिकालके हैं—उनकी आदि नहीं है। इसलिए तत्त्वार्थसूत्रकार पूज्य उमास्वामी महाराजके कथन 'अनादिसम्बन्धे च' ॥४१॥ अ० २ के सूत्रसे कोई विरोध नहीं आता, सिर्फ समन्वय करनेकी बात है। कृपया सूक्ष्म शंकाका समाधान भी सूक्ष्म दृष्टिसे ही होना सम्भव है वह किया जाय यह शास्त्रीय चर्चा है, किम्बहुना। मेरी समझमें जैसा आया है वैसा लिख दिया है, विचार किया जाय। मेरा क्षायोपशमिक (अल्प) ज्ञान है। स्वतः या गुरुनियोगात् अतत्त्व (अन्यथा) श्रद्धान भी हो सकता है आश्चर्य नहीं है। कर्मपर्यायकी अवधि (स्थिति) भी अनादि तक एक-सी रहे यह नियम नहीं है, वह बदलती रहती है—नया २ बंध व उसकी स्थिति व अनुभाग घटवढ़ होता ही रहता है। बंध भी वही हमेशा नहीं रहता वह भी वदलता जाता है इत्यादि। प्रायोग्यलब्धिके समय व करणलब्धिके समय क्या २ होता है उसका विचार किया जाय आश्चर्यकी बात नहीं है अस्तु।

नोट—संयोग, संयोगको जन्म देता है यह प्राकृतिक नियम है है। जैसे अनादिकालसे लोक संयोगरूप रहा है अतः उससे वैसा ही संयोगरूप लोक उत्पन्न होता रहता है। तदनुसार द्रव्यकर्म (पुद्गलकी विकारी कार्यपर्याय) तथा भावकर्म (जीवकी विकारी कार्यपर्याय) दोनोंका संयोग (अयुतसिद्ध) संवंध अनादिकालसे चला आ रहा है और आगे भी चला जाता है, जबतक दोनोंका वियोग (पृथक्तारूप संबंध विच्छेद) नहीं होता। वियोग होना यह भी द्रव्यका स्वभाव है।

संयोग होना, वियोग होना, यह सब वस्तुका स्वभाव है और उसका होना नियत व निश्चित है जो अन्यथा कभी नहीं हो सकता। इसको स्वभाव इस लिए कहा जाता है कि यह किसी के निमित्त से नहीं होता अपितु जब जो होनेका होता है तब वह निराबाध हो ही जाता है और उसके पीछे (बदौलत) निमित्तादि सब एकत्रित हो जाते है। स्वाभाविक परिणमनको कोई बदल नहीं सकता वह अकृत्रिम होता है किम्बहुना। अनादि कर्मबन्धमें कारण, अनादि कर्मबन्ध ही है, उससे भिन्न कोई स्वतन्त्र कारण न है न हो सकता है, अन्यथा निमित्तमें उपादेयता व बलात्कारता सिद्ध हो जायगी जो अनिष्ट है वह असम्भव है, युक्ति व आगमके प्रतिकूल है इत्यादि। बन्धादिका करनेवाला व फल भोगनेवाला जीव द्रव्य होता है यह कथन अपेक्षासे सम्बन्ध रखता है याने आपेक्षिक (कथञ्चित्) है। यथा[1]—

कर्मबन्धके होनेमें विशेषता

जब जीवके संसारदशामें देवगुरुशास्त्रके प्रति श्रद्धाभक्ति स्तुति पूजाप्रभावना आदिके शुभ[2] भाव होते हैं, उन भावोंके निमित्तसे पुद्‌गलद्रव्य पुण्यकर्मरूप स्वयं परिणम जाता है तथा जीवके साथ बंध जाता है। और उसमें स्थिति व अनुभाग (फल देनेकी शक्ति) पड़ जाता है। इतना ही नहीं जब वह पुण्यकर्म उदयमें आता है तब सुखदुःखकी सामग्री उपस्थित होती है एवं मोह या रागद्वेषके अनुसार जीव उस समय सुख व दुःखका अनुभव करता है अर्थात् सुखी-दुःखी होता है। तथा फलको भोगते समय जो जीवके परिणाम हर्षविषादरूप होते हैं—(संक्लेशरूप या विशुद्धता रूप होते हैं) उनके निमित्तसे पुनः नवीन कर्मोंका बंध होता है इत्यादि बंधकी परम्परा (शृंखला) चालू रहती है। तात्पर्य यह कि जैसे शुभ या अशुभभाव संयोगी पर्यायमें होते हैं वैसा ही पुण्यकर्म या पापकर्मका बंध प्रतिसमय जीवको होता है। इसी तरह—

जब जीवके विषयकषायको पोषण करनेके या सेवन करनेके या किसीको मारने सताने आदि रूप अशुभभाव[3] होते हैं तब नवीन पाप कर्मोंका बंध होता है एवं उनमें स्थिति अनुभाग पड़ता है। यदि उस समय तीव्रकषाय[4] (संक्लेशता रूप परिणाम) हो तो उन बंधे हुए पापकर्मोंमें स्थिति व अनुभाग (फलदानशक्ति) अधिक पड़ेगा और मंदकषाय[5] हो तो स्थिति अनुभाग

---

१. व्यवहारनयकी अपेक्षा जीव द्रव्यका स्वरूप।
तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाऊ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥३॥
पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥—बृहत्द्रव्यसंग्रह।

२. प्रशस्तरागरूप।

३. अप्रशस्तराग।

४. विषयानुराग, विषय सेवनकी अधिक लालसाका होना या अतिआसक्ति होना—प्रचुरराग।

५. धर्मानुराग या विषयादिसे अरुचि या उदासीनताका होना।

कमती पड़ेगा। इसके विपरीत पुण्यकर्मों में स्थिति अनुभाग अधिक पड़ेगा इत्यादि। तथापि वह वंध और स्थिति अनुभाग पुद्गल द्रव्यमें स्वयं ही होगा यह वस्तुस्वभाव है क्योंकि वह जड़ है उसे कुछ ज्ञान नहीं है। लेकिन परस्पर अनादिसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है यह विशेषता वस्तुभावकी है। दृष्टान्तके तौर पर जब कोई मंत्र या विद्या साधनेवाला जीव (व्यक्ति) कोई संकल्प—इरादा या रागद्वेषादि विकारीभाव धारणकरके धूली-पानी-अन्न-कंकरपत्थर आदिके माध्यम (विचौलिया या निमित्त) से मंत्र, तंत्र, जंत्र विद्या सिद्ध करके उन चोजोंका (जो स्वयं जड़रूप हैं) पर जीवोंके प्रति उपयोग करता है (उन्हें प्रयुक्त करता है) तव वे निमित्त बनकर अन्य जीवोंको सुखदु:खके दाता लोकमें माने जाते हैं, यह मान्यता व्यवहारकी है। निश्चयकी मान्यता यह नहीं है, कारण कि वे धूली आदि जड़रूप हैं एवं उस जीवसे भिन्न हैं उनको कुछ ज्ञान नहीं है कि किसको क्या करना है? इत्यादि। हां, निश्चयनयसे वह जीव ही जिसके प्रति मंत्रादि का प्रयोग किया जाता है, अपने ऊपर उपस्थित हुए दु:ख व सुखका (पर्यायका) ज्ञाता व भोक्ता है। यदि उस समय उस जीवकी दु:खरूप पर्यायका वियोग होनेवाला होगा तो हो जायगा एवं फलस्वरूप वह सुखमय (सुखी) स्वयं हो जायगा और दु:खपर्यायका वियोग न होनेवाला होगा तो मंत्रादि कुछ नहीं करेंगे ठप्प रह जावेंगे। परन्तु उसी कालमें निमित्त मौजूद होनेमें अज्ञानी जीवोंको भ्रम हो जाता है कि निमित्तोंने ही यह सब कार्य किया है इत्यादि। वस्तुतः सुख व दु:ख रूप परिणमन जीवद्रव्यमें ही स्वयं होता है, अन्य के द्वारा अन्यमें कुछ नहीं होता। फलतः पुद्गल-द्रव्य ही स्वयं पुण्यरूप व पापरूप परिणमती है इत्यादि। उक्त दृष्टान्तसे वस्तुका परिणमन व व्यवस्थापन स्वयं सिद्ध स्वतन्त्र समझना चाहिये।

निष्कर्ष

परिणाम ही पुण्य और पाप कर्मके वँधनेमें निमित्त कारण होते हैं तथा पुद्गलद्रव्य ही उपादान कारण होती है यह सारांश है। पुद्गल द्रव्य धूली वगैरहमें भी मंत्रादिके निमित्तसे स्वयं विशेष शक्तिरूप परिणमन हो जाता है तथापि परके प्रति निमित्तरूप ही रहता है।

बंधके मुख्य भेद ३ हैं

(१) जीववन्ध—संयोगीपर्यायमें जीवके जो विकारोभाव (रागद्वेषमोहरूप) होते हैं, वही जीवबन्ध कहलाता है। कारण कि उनके नष्ट हुए विना जीव कभी मुक्त (मोक्षगामी) नहीं होता यह नियम है। फलतः मुख्य वन्ध वही है।

(२) कर्मवन्ध—पुद्गलद्रव्यकी पर्यायरूप कर्मपरमाणु (बन्ध योग्य) जब अपने रूप रस गन्ध स्पर्श आदि स्वाभाविक गुणोंके द्वारा परस्पर स्कन्धरूप होते हैं अर्थात् बँधते हैं, उसीका नाम 'कर्मवन्ध' है। वह भी जवतक संयोगी पर्यायमें रहता है तवतक जीव मुक्त नहीं होता।

(३) उभयवन्ध—भाववन्ध और द्रव्यबन्धका जवतक परस्पर संयोग सम्बन्ध है तबतक दोनों (जीव व पुद्गल) बँधे हुए हैं। और जब दोनों पृथक् २ हो जाते हैं तभी मुक्ति होतो है यतः दोनोंका परस्पर वियोग होना ही मोक्ष है इति।

नोट—बन्धका अर्थ, एक क्षेत्रमें श्लेषरूप (घनिष्ठ) सम्बन्धका होना, परन्तु संयोग रूप ही रहना, तादात्म्य रूप नहीं होना इत्यादि। आस्रव और बन्धमें यह भेद है कि आस्रव कार्माण द्रव्यके आने मात्रको कहते हैं और बन्ध उस आये हुए द्रव्यके दो-चार समय ठहरनेको कहते हैं अर्थात् जो आकर तुरन्त चला जाय वह बन्ध नहीं है ईर्यापथ आस्रव ही है। स्थिति अनुभाग जिसमें पड़े असलमें वही बन्ध है। —द्रव्य० गा० ३३।

कर्मके भेद व उनका लक्षण

कर्म ३ प्रकारके माने जाते हैं। यथा—१ द्रव्यकर्म, २ नोकर्म, ३ भावकर्म। प्रत्येक कर्मका स्वरूप निम्नप्रकार है—

द्रव्यकर्म व स्वरूप

(१) द्रव्यकर्म, पुद्गलपिंडकी पर्यायरूप है, उसके ज्ञानावरणादि ८ मूल भेद हैं और १४८ सबके उत्तर भेद हैं। जो निम्न प्रकार हैं। उनमें घातियाकर्म—

(क) ज्ञानावरणकर्म, जीवके व्यक्त ज्ञान गुणको घातता है, अर्थात् ज्ञानको प्रकट नहीं होने देता, वह ज्ञान गुणको प्रकट न होनेमें निमित्त कारण है।

नोट—आवरण सब व्यक्तताके घातक होते हैं, शक्तिके घातक नहीं होते, अतः स्वभावकी व्यक्ति दशाके घातक होनेसे उन्हें घातिया कर्म कहा जाता है। जो जीवके ज्ञान गुणको घाते उसे ज्ञानावरण (घातिया कर्म) कहते हैं। इसके ५ भेद होते हैं।

(ख) दर्शनावरणकर्म, यह जीवके दर्शन गुणको व्यक्त (प्रकट) नहीं होने देता अतः वह भी घातिया कर्म है, इसके ९ भेद हैं।

(ग) अन्तरायकर्म—जो जीवके बल (वीर्य) गुणको घाते उसको अन्तरायकर्म कहते हैं। उसके उदयमें जीवकी अनन्त बल प्रकट नहीं हो पाता। फलस्वरूप ५ पाँच प्रकारकी शक्तियाँ (सामर्थ्य) प्रकट नहीं होतीं। जैसे दान देनेकी शक्ति, लाभ होनेकी शक्ति, भोग करनेकी शक्ति, उपभोग करनेकी शक्ति (क्षमता या उत्साह) और बल या पुरुषार्थ करनेकी शक्ति प्रकट या जाग्रत

---

१. बन्धरूप पर्यायोंका मूलकारण 'क्रिया' हैं परिणति है। अर्थात् क्रिया (भावरूप)का ही फल हर तरहकी पर्यायोंको प्राप्त करना व दुःखका भोगना है। क्रिया दो तरहकी होती हैं (१) भावरूप अर्थात् उपयोगरूप (२) योगरूप (परिस्पन्दनरूप) इन दोनोंके रहते मोक्ष व सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव (उपयोगशुद्धि व योगशुद्धि दोनोंकी प्राप्ति होना मुक्तिका कारण (उपाय या मार्ग) है ऐसा समझना चाहिए। देखो, प्रवचनसार गाथा ११७।२५ तथा २०५-६ चरित्राधिकार।

उपयोगमें वीतरागताका होना—रागादिका दूर होना उपयोगशुद्धि है। आत्माके प्रदेशोंका स्थिर या अचल होना योगशुद्धि है अस्तु।

नहीं होती है (यह निश्चयपना है) । बाहिरमें उक्त कार्योंके करनेमें अन्तराय या विघ्न उपस्थित हो जाता है यह कहना व्यवहारपना है । इसके भी दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय ये पाँच भेद होते हैं ।

(घ) मोहनीयकर्म—यह जीवके सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र गुणको घातता है एवं समुदाय रूपसे 'सुख' गुणको घातता है, आकुलता उत्पन्न करता है । इसके २८ भेद होते हैं । दर्शन मोहके ३ भेद, चरित्रमोहके २५ भेद, कुल २८ भेद । इनका प्रत्येकका स्वरूप जहाँ-तहाँ प्रकरणमें कहा जायगा जो समझ लेना (इति घातियाकर्म) ।

अघातियाकर्म

(च) आयुकर्म—यह जीवको पर्यायमें स्थिर रखता है बेड़ीकी तरह बाँधे रहता है, परन्तु यह स्वभावका घातक न होनेसे अघातियाकर्म कहलाता है । जबतक इसके चार भेदोंका यथास्थान उदय रहता है तबतक वहाँसे निकल नहीं पाता यह विशेषता है । इसके नरकायु वगैरह ४ चार भेद हैं ।

(छ) नामकर्म—इसके उदयसे अनेक तरहके शरीर जीवको प्राप्त होते हैं । इसके ९३ भेद माने जाते हैं ।

(ज) गोत्रकर्म—इसके उदय से जीव को नीचा ऊँचा कुल (जाति या गोत्र) प्राप्त होता है । इसके २ भेद हैं १ नीच गोत्र २ उच्च गोत्र ।

(झ) वेदनीयकर्म—इसके उदयसे जीवको इष्ट अनिष्ट बाह्य सामग्री प्राप्त होती है । इसके १ सातावेदनीय २ असातावेदनीय दो भेद हैं ।

नोकर्मका स्वरूप

नोकर्म शरीर व इन्द्रियोंको कहते हैं । जिस प्रकार ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म जीवको सुख दुःखादि देनेमें निमित्तता करते हैं, (सहायता देते हैं) उसी प्रकार शरीरादि भी कुछ कम (अल्परूपमें) सुख दुःखादि देनेमें निमित्तता करते हैं अतएव इनका नाम नो (ईषत्) कर्म (कार्य करनेवाले) पड़ता है, ऐसा समझना चाहिए । शरीरके भेद औदारिक (स्थूल), वैक्रियिक, आहारक आदि होते हैं, जो संसारी जीवके बराबर पाये जाते हैं व कर्मोंके साथ २ रहते हैं इत्यादि इनको ही साधन भी कहते हैं इत्यादि ।

भावकर्म व स्वरूप

जीवके जो रागद्वेष मोहरूप (कषायरूप) भाव होते हैं उनको ही भावकर्म या विकारीभाव कहते हैं, असलमें यही कर्म जीवको संसारसे बाँध देता है अर्थात् संसाररूप नाना तरहकी पर्यायोंमें जकड़ देता है क्योंकि उन भावकर्मोंसे तरह २ का नया कर्मबन्ध होता है और उसके उदय आनेपर दुःख सुखकी सामग्री मिलती है तथा उसके भोगनेमें हर्षविषाद व सुख दुःखकी कल्पना

(मान्यता) होती है, एवं उस समय रागद्वेषादि होनेसे पुनः नया वन्ध होता है ऐसी शृंखला चलती रहती है इत्यादि सब जीवके भावरूप कर्मों (परिणामों) का ही फल (कार्य) है ऐसा समझना चाहिये तभी तो उक्त तीनोंको (द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्मको) हेय वतलाया गया है। आत्मानुशासनमें 'परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः' स्पष्ट कहा गया है अस्तु।

नोट—कर्मके उत्तर भेदोंका वर्णन आगे यथावसर पृथक् रूपसे कहा जायेगा सो समझ लेना यहाँ विस्तार भयसे नहीं लिखा गया है ऐसा समझना ॥१२॥

व्यवहारनयसे जिस प्रकार जीवद्रव्यके विकारीभाव (रागादि) कर्मपर्यायके उत्पन्न होनेमें निमित्त कारण माने जाते हैं उसी प्रकार पुद्गल द्रव्यकी कार्यपर्यायरूप द्रव्य (द्रव्यकर्म) का उदय भी जीवद्रव्यके विकारीभावोंके होनेमें निमित्तकारण होता है यह वताया जाता है—

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

पद्य

जीव सदा चेतनभावोंसे परिणमता है स्वयं अहो।
अतः उन्हींका कर्त्ता है वह निश्चयसे यह तुम्हीं कहो॥
है निमित्तकारण उसमें भी जब विभाव उसके होते।
पुद्गलकर्म उदय आनेपर रागादिक प्रकटित होते ॥१३॥

अन्वय अर्थ—[अपि] और भी आचार्य शेष कहते हैं कि [तस्य चिदात्मकैः स्वकैः भावैः स्वयमपि परिणममानस्य चितः] जो जीव (निश्चयसे) ज्ञानदर्शनरूप अपने चैतन्य भावोंके द्वारा (सहित) स्वयं परिणमन करता है उसके विकाररूप परिणमनमें (रागादिभावोंके होनेमें) [हि] यथार्थतः [पौद्गलिकं कर्म निमित्तमात्रं भवति] द्रव्यकर्म, अर्थात् पुद्गलद्रव्यकी कर्मरूप पर्याय जो उदयमें आती है वह निमित्तकारण वन जाती है। अर्थात् जीवके रागादिरूप विकारीभावोंका और पुद्गलमय द्रव्यकर्मोंके उदयका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध माना जाता है ॥१३॥

भावार्थ—संयोगीपर्यायमें जीवद्रव्यके विकारीभाव, पुद्गलद्रव्यके विकारीभावों (पर्यायों) के होनेमें सिर्फ निमित्तकारण होते हैं (उपादानकारण नहीं होते, उपादानकारण स्वयं वह पुद्गलद्रव्य होती है) और पुद्गलद्रव्य अथवा पुद्गलद्रव्यकी कर्मरूप पर्यायका उदय, जीवद्रव्यके विकारीभाव होनेमें सिर्फ निमित्तकारण होता है किन्तु उपादान कारण स्वयं जीवद्रव्य है क्योंकि उसीमें वैसा विकाररूप परिणमन होता है और वह योग्यतानुसार समय पर ही होता है क्योंकि पर्याय (भाव) प्रति समय वदलती है एक-सी स्थायी (कूटस्थ-नित्य) नहीं रहती, यह नियम है जो अन्यथा नहीं हो सकता। जीव और पुद्गल दो द्रव्यों ही ऐसी हैं जिनमें संयोग अवस्थाके समय विकाररूप (अशुद्ध) परिणमन होता है शेष द्रव्योंमें विकारी परिणमन नहीं होता।

तदनुसार जीवद्रव्य और पुद्‌गलद्रव्य दोनों अनादिकालसे संयुक्त [अपृथक् सिद्ध) हो रहे हैं, अतएव उनके परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है। और यह कथन पर्यायाश्रित होनेसे व्यवहारनयका कथन है। किन्तु निश्चयनयका कथन नहीं है, कारण कि द्रव्यमें कोई विकार नहीं होता, चाहे वह संयोगी पर्यायमें हो क्यों न रहे। विकार तो तब हो जब एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें प्रवेश या तादात्म्य हो, सो वैसा कभी होता नहीं है—एक दूसरेसे सदैव भिन्न रहता है अर्थात् तादात्म्यरूप नहीं होता, संयोगरूप होता है, जिससे द्रव्यगत शुद्धता हमेशा रहती है, जिसको अविकारता या विकारताका अभाव कहते हैं। यह विश्लेषण समझना चाहिये, इसमें जीव बहुत भूले हुए हैं अस्तु। फलतः परस्पर निमित्तनैमित्तिकताका समझना अनिवार्य है, तभी भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि हो सकता है जो संसारसे पार होता है इत्यादि। इस तरह भावकर्म (जीवके रागादिभाव) और द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादिका उदय) में परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध समझना चाहिये।

शंका-समाधान

जो जीव अच्छी तरहसे निमित्त और उपादान को नहीं समझते न निमित्तनैमित्तिकताको ही समझते हैं वे ऐसी शंका (प्रश्न) अवश्य करते हैं कि कर्म (ज्ञानावरणादि) जो जड़ पुद्‌गल हैं, उनको कोई ज्ञान नहीं है और जीव चैतन्यका स्वामी ज्ञानी ध्यानी है। फिर जड़कर्म, जीव-चेतनको कैसे भुला देते हैं अर्थात् विपरीत बुद्धि (मिथ्यादृष्टि) कैसे कर देते हैं, जिससे संसारमें घूमना व दुःख भोगना पड़ता है इत्यादि ? इसी तरह चेतनजीवद्रव्य, जड़ पुद्‌गलद्रव्यको कर्मरूप कैसे बना देती है, जिससे वे जीवद्रव्यको ही सुख दुःख देने लगते हैं इत्यादि ?

इसका समाधान इसप्रकार है कि पूर्वोक्त कथन व्यवहारनयकी अपेक्षाका है अतः वह अभूतार्थ (कथंचित् सत्य है—सर्वथा सत्य नहीं है) कारण कि निश्चयनयकी अपेक्षासे कोई भी द्रव्य, किसी भी द्रव्यका कर्त्ता हर्त्ता भोक्ता नहीं है (सभी स्वतन्त्र हैं) तब जीव पुद्‌गलमें व पुद्‌गल जीवमें विकार वगैरह कुछ कर ही नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें—पुद्‌गलकर्म जीवमें कोई विकार अर्थात् विपरीत बुद्धि, रागद्वेष मोह, सुख, दुःख आदि कार्य नहीं कर सकते तथा जीवद्रव्य, पुद्‌गलकर्ममें कोई सुख-दुःख आदि देनेकी नई शक्ति नहीं पैदा कर सकती, सभी द्रव्यें, अपना २ कार्य अपनी २ स्वयंसिद्ध शक्तिके द्वारा ही करती हैं—ऐसा ध्रुव नियम है। फलतः जिस समय जीवद्रव्य, (संयोगीपर्यायमें) विपरीत बुद्धिवाला होता है या सुखी दुःखी होता है, उस समय उसी जीवकी वैसी पर्याय उसीमेंसे प्रकट होती है, कहीं अन्य जगहसे या अन्यके द्वारा नहीं प्रकट होती किन्तु उसी द्रव्यमें वह बसती है और समयपर व्यक्त होती है, क्योंकि द्रव्य स्वाधीन है पराधीन नहीं है। हाँ, उस समय पुद्‌गलकर्मका उदय भी साथमें रहता है, जिससे यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि इस उदयरूप जड़ निमित्तने, यह सुखदुःख आदि फल दिया है जो गलत है। सुखदुःखरूप परिणमन (पर्याय) होना स्वयं जीवद्रव्यका अशुद्ध कार्य है—पुद्‌गलद्रव्यका लेशमात्र कार्य नहीं है, जैसा कि भ्रमसे अज्ञानी जीव मानते हैं इत्यादि। इसी तरह कर्मरूप परिणमन या फलदान शक्ति, पुद्‌गलद्रव्यका ही कार्य है जो उसीमें स्वयं ही उसकी अपनी योग्यता (उपादान शक्ति) से व्यक्त (उत्पन्न)

होता है। जीवद्रव्य तो उसका निमित्तरूप साथी है लेकिन भागीदार नहीं है किम्बहुना। मन्त्र द्वारा मन्त्रित धूली आदिमें भी यही निर्णय (व्यवस्था) है। अर्थात् धूलीमें स्वयं वैसी शक्ति होनेसे वह प्रकट होती है उसमें उस समय मन्त्रका पाठ निमित्त कारण है। इसी तरह जिस जीव (व्यक्ति) पर उस धूलीका प्रयोग किया जाता है, उसपर दुःख आपत्तिका आना या दूर होना उसीकी पर्याय-रूप कार्य है जो व्यक्त होता है। वह धूली आदिका पड़ना तो निमित्त मात्र है। वह कार्यकर्त्ता असलमें नहीं है। नहीं तो (अन्यथा) जिसपर भी वह धूली आदि पड़ती उसके लिए भी वैसा कार्य हो जाना चाहिये परन्तु नहीं होता यह न्याय है। इसपर अवश्य विश्वास करना चाहिये तभी वह पक्षपात रहित विवेकी समझा जायगा। निमित्त उपादानकी भूल मिटाना एवं सत्य निर्णय करना, भ्रम या अज्ञानको मिटाना मुमुक्षु जीवका मुख्य कर्त्तव्य है। वही धर्म है वही कर्म है वही शर्म है, इत्यादि।

इसी प्रसंगमें यह जान लेना भी आवश्यक है कि कोई भी कर्मरूप कार्य—विना कारणके अर्थात् उपादान कारणके विना नहीं होता, जिससे उसको अकृत अर्थात् निराधार— (कारणरहित) माना जावे। फलतः 'यत् यत् कार्यं तत्तत् केनापि जन्यं, कार्यत्वात् घटादिवत्' इस व्याप्तिके अनुसार कार्य मात्र कारणपूर्वक होते हैं तथा 'उपादानकारणसदृशं हि कार्यं भवति' यह भी नियम है। ऐसी स्थितिमें भावकर्म व द्रव्य कर्म, इन दोनोंका निर्धार करना अनिवार्य है। भावकर्म (रागादि-विकार) का उपादानकरण अशुद्ध निश्चयनयसे जीवद्रव्य (संसारी) है, अजीवद्रव्य (पुद्गलकर्म) नहीं है अर्थात् भावकर्मका कर्त्ता स्वयं जीवद्रव्य है। और द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि) का कर्त्ता या उपादान कारण स्वयं पुद्गलद्रव्य है। यह सत्य निर्णय है। इसके विरुद्ध मानना गलत है। यथा—यदि भावकर्म व द्रव्यकर्म दोनोंके कर्त्ता अथवा उपादान कारण, जीव और पुद्गल दोनोंको माना जाय तो उनका फल भी दोनों को भोगना पड़ेगा (सांझेकी दुकानकी तरह) परन्तु ऐसा होता नहीं है न हो सकता है कारण कि जड़ पुद्गल क्या सुखदुःख आदि फल भोगेगा ? असम्भव है। ऐसा समझना चाहिये[1] अस्तु।

विशेषार्थ—भावकर्म (रागादिरूप विकारीभाव–अशुद्धभाव) कार्यरूप हैं (जन्य हैं) अत-एव शंकाकार शंका करता है कि वे जीव और पुद्गल (द्रव्यकर्म) दोनोंके मानना चाहिये क्योंकि

---

१. कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात् कृतिः।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्त्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥२०३॥—समयसारकलश

अर्थः—भावकर्म (रागादि) व द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि) दोनों कार्यपर्यायरूप हैं अतएव विना कारण (उपादान कर्त्ता) के वे नहीं हो सकते यह नियम है। अतएव अशुद्ध निश्चयनयसे भावकर्मका कारण (कर्त्ता) जीवद्रव्य है और द्रव्यकर्मका कारण (कर्त्ता) पुद्गल द्रव्य है ऐसा संक्षेपमें समझना चाहिये, किन्तु शुद्ध निश्चयनयसे वैसा नहीं है ॥२०३

दोनोंका संयोग पाया जाता है। इस शंकाका खंडन किया जाता है कि—दो द्रव्योंके अर्थात् जीव और पुद्गलके वे नहीं हो सकते ('नैकस्य द्वौ कर्त्तारौ यतः' यह श्लोक ५४ में कहा है)। इसी तरह एकके दो कर्म भी नहीं हो सकते इत्यादि। क्योंकि यदि दो द्रव्योंका कर्म (कार्य) उन्हें (रागादिको) माना जाय तो, दोनोंको उनका फल भोगना पड़ेगा ? यह दोष आयगा। परन्तु पुद्गल तो जड़ है अतएव वह तो फल (सुखदुःखादि) भोग नहीं सकता इत्यादि। और यदि इस दोष (आपत्ति) को टालनेके लिए यह कहा जाय कि वे 'रागादिभावकर्म' जीव द्रव्यके हैं, तो वह न्यायके विरुद्ध होगा। क्योंकि दोनोंके संयोग (सोंझयाई) से होनेवाले फलके भोक्ता दोनों ही होंगे, एक पुद्गल या जीव अकेला नहीं हो सकता इत्यादि।

तव न्याय दृष्टिसे यह निर्धार (फैसला) किया जाता है कि 'रागादिभावकर्म' का कर्त्ता या भोक्ता, (जो कथंचित् चेतनरूप हैं—आत्माके प्रदेशोंमें होते हैं) जीव द्रव्य है, और जड़रूप भाव-कर्मोंका (गुणपर्यायोंका) कर्त्ता व भोक्ता पुद्गल द्रव्य है इति। अर्थात् अशुद्धनिश्चयनयसे अशुद्धोपादान रूप जीव द्रव्य, (संयोगीपर्यायमें रहते समय) रागादिभावकर्मका कर्त्ता है क्योंकि उसके प्रदेशोंमें ही वे होते हैं किन्तु शुद्धनिश्चयनयसे जीव द्रव्यके नहीं हैं, यतः जीवद्रव्य सबसे भिन्न है—(त्रिकाली) शुद्धोपादानरूप है। अथवा व्यवहारनयसे वे जीवद्रव्यके हैं। क्योंकि यथार्थरूपमें विचार किया जाय तो वे औपाधिकभाव हैं अर्थात् पुद्गलकर्मकी उपाधि या संयोगसे होते हैं, (विनश्वर हैं) अतएव पुद्गलके ही हैं ऐसा समझना चाहिये। इसीको स्याद्वाद या अनेकान्तकी शैलीसे कहा जाय तो कथंचित् जीवके हैं और अथंचित् पुद्गलके हैं ऐसा मानना व कहना पड़ेगा किम्बहुना अशुद्ध निश्चयनयसे जीवके प्रदेशोंमें होनेवाले रागादि भी चेतनरूप है और शुद्धनिश्चयसे वे चेतनरूप नहीं हैं अस्तु। यहाँ प्रश्न उठता है कि—अशुद्ध निश्चय माननेकी क्या आवश्यकता है, एक शुद्ध निश्चय ही मानना चाहिए ? इसका उत्तर है कि—यदि अशुद्ध निश्चय या व्यवहार-नयसे रागादि विकारोंको जीव द्रव्यके न माने जायेंगे तो जीवद्रव्य, प्रमादी व अज्ञानी बन जायगा, कोई उपाय उनके निकालनेका न करेगा और संसारमें ही रहा जायगा (निकलेगा नहीं) यह महान् दोष होगा। अतएव अशुद्ध निश्चयनय व व्यवहारनयको माननेकी भी आवश्यकता संयोगी पर्यायमें अवश्य है। फलतः जीव (आत्मा) रागादिका कर्त्ता व भोक्ता है, अतएव उन्हें निकालना (त्यागना) चाहिए। इसीलिए एकान्तवुद्धिका खंडन किया गया है कि—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं, शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥२२१॥—समयसारकलश

अर्थ—जो अज्ञानी—भेदज्ञान शून्य जीव, ऐसा एकान्त मानते हैं कि रागादिक आत्मा (जीव) के नहीं हैं, पर (पुद्गल) के ही हैं अर्थात् परके निमित्तसे ही वे उत्पन्न होते हैं। वे कभी संसार व मिथ्यात्वसे छुटकारा नहीं पा सकते, मिथ्यादृष्टि संसारी ही बने रहते हैं। अतएव जीवके भी रागादिक हैं ऐसा मानना चाहिए। यही अनेकान्तकी पद्धति है, उसको अपनाना चाहिये तभी उद्धार हो सकता है ॥२२१॥ ॥१३॥

आचार्य संसारपरिभ्रमणका मूल कारण वतलाते हैं कि संयोगी पर्यायमें भूल जाना (करना) ही एकमात्र संसारका कारण है, दूसरा नहीं। यथा—

(विपरीत श्रद्धान व ज्ञान ही कारण है)

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति वालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

पद्य

संयोगीपर्याय माहिं जे, भाव अनेकों होते हैं।
वे सब मिश्ररूप दोनोंके, नहीं एकके होते हैं॥
तौ भी अज्ञानी जीवों को, एकरूप सब दिखते हैं।
वही भूल भवकारण जानो, ज्ञानी उसको तजते हैं॥

अन्वय अर्थ—[एवं] पूर्वोक्तप्रकार [अयं] यह जीवद्रव्य, संयोगीपर्याय (मिश्रपर्याय) में भी [कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि] कर्मकृत अर्थात् औपाधिक या नैमित्तिक— कर्मके निमित्तसे होने वाले) रागादिक विभाव भावोंके साथ समवेत अर्थात् तादात्म्यरूप एक, नहीं है तथापि [वालिशानां युक्त इव प्रतिभाति] अज्ञानी जीवोंको समवेतरूप अर्थात् तादात्म्यरूप एक मालूम पड़ते हैं। बस [स प्रतिभासः] वही गलत या उल्टा (विपरीत) ज्ञान या मान्यता, [खलु भवबीजमस्ति] संसारका बीज अर्थात् मूलकारण है ऐसा समझना चाहिये ॥१४॥

भावार्थ—जीवोंके संयोगीपर्यायमें जो कर्मकृत अर्थात् कर्मोदय होने पर विकारीभाव अथवा रागद्वेषादिकरूप खोटे परिणाम होते हैं, निश्चयनयकी अपेक्षासे वे भाव, जीवद्रव्यके नहीं हैं, अर्थात् उनका जीवद्रव्यके साथ ज्ञानादिक स्वभाव भावोंकी तरह समवेत (समाहित या तादात्म्यरूप) सम्बन्ध नहीं है अपितु संयोग संबंधमात्र है, और इसीलिये वे रागादिक विकारीभाव आत्मा (जीवद्रव्य) से पृथक् भी हो जाते हैं—सदैव उनका संयोग, जीवद्रव्यके साथ नहीं रहता—इस प्रकार वस्तु व्यवस्था है। तथापि अज्ञानी जीव उस व्यवस्थाको (जो शाश्वतिक है) भूल जाते हैं और विपरीत श्रद्धा व ज्ञान करने लगते हैं। वे मानते व कहते हैं कि वे कर्मजनित (औपाधिक) रागद्वेषादि विकारीभाव (भावकर्म) तथा उनके निमित्तसे प्रकट होनेवाले पुद्गल द्रव्यके ज्ञानावरणादिभाव (कर्मपर्याय) परस्पर एक हैं, भिन्न२ नहीं है अर्थात् जीव (आत्मा) और वे एक दूसरेके कर्त्ता व भोक्ता हैं। जीव, कर्मों (पुदगल कर्मों) को करता (वनाता) है और कर्म, जीव को करता अर्थात् वनाता है इत्यादि विपरीत वुद्धि (श्रद्धान ज्ञान) करते रहते हैं, जो मिथ्या है— वस्तुव्यवस्था या प्राकृतिक नियमके विरुद्ध है इत्यादि।

फलतः उक्त प्रकारकी गलत धारणा कर लेना महान् अपराध है। जिसका फ़ल यह होता है कि उसीमें हमेशा लीन या दत्तचित्त होनेसे, संसार व उसका दुःख नहीं छूटता, हमेशा गलती पर गलती जीव (अज्ञानी) करता जाता है व सजा (दंड) पाता है। यही गलत मार्ग पर

चलना है, जिससे इष्टसिद्धि (सुखकी प्राप्ति) कभी नहीं हो सकती।

हां, यदि वह अज्ञानी जीव, कभी अपनी भूलको समझे और उसको सुधारे अर्थात् विपरीत श्रद्धान व ज्ञानको छोड़कर सम्यक् (अविपरीत यथार्थ) श्रद्धान व ज्ञानको प्राप्त करे और अपनावे तो बराबर इष्टसिद्धि हो अन्यथा नहीं ऐसा समझना। अनादिकालसे यही तो हो रहा है। जो कहा[1] भी है उसका विचार करो अस्तु।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढम्।
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्॥
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेक:।
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्॥२२॥ —समयसारकलश

अर्थ:—हे संसारके प्राणियो (जगत्)! अनादिकालसे लगा हुआ (भूतकी तरह) अज्ञानभाव (परमें एकत्ववुद्धि—विपरीतता) को छोड़कर तुम शुद्ध सच्चे ज्ञानका स्वाद लेओ (उसको चखो, अनुभव करो) क्योंकि अभी तक तुमने झूठे अज्ञानका ही स्वाद लिया है। अतएव मौकेसे लाभ उठाओ! देखो, कभी तीन कालमें भी आत्मा (जीव) का पर (जड़ कर्मादि) के साथ तादात्म्य (सर्वथा एकत्व अभेद) नहीं हो सकता—दोनों संयोगरूप जुदे२ रहते हैं। फिर भूलसे तुम क्यों उनको अपना मानते हो अर्थात् वे तुम्हारे स्वभाव नहीं हैं विभाव (विकार) हैं, ऐसा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो और मिथ्याज्ञान छोड़ो इत्यादि। अत: तेरा कल्याण भेदज्ञानसे ही होगा अन्यथा नहीं, यह निश्चय रख, किम्बहुना। सर्वोत्कृष्ट चीज जीवका ज्ञान ही है, जिससे सब बातोंका पता लगता है, अत: उसीकी आराधना करना चाहिये। यही बात आगे भी कही जाने वाली है ध्यान देना चाहिये॥१४॥

आचार्य कहते हैं कि संसारमें भूलका मूलकारण (बीज) विपरीत वुद्धिका होना है (परमें एकत्वका ज्ञान हो जाना है) उसको हटानेका मुख्य उपाय 'रत्नत्रय' को प्राप्त करना है अतएव उसीका क्रम निश्चयनयसे बताया जाता है—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य[३] निजतत्त्वम्[४]।
यत्तस्मादविचलनं स[७] एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥१५॥

---

१. अपनी सुध भूल आप, आप दु:ख उठायो। ज्यों शुक नभ चाल विसर नलनी लटकायो॥
चेतन अविरुद्ध शुद्ध दरशबोधमय विशुद्ध तज, जड़ रस फरसरूप पुद्गल अपनायो॥

२. श्रद्धान (विपरीत अभिप्राय) दर्शन।

३. निश्चय करना या जानना—ज्ञान।

४. आत्मस्वरूप।

५. निजस्वरूप (आत्मस्वरूप)।

६. चलायमान नहीं होना अर्थात् स्थिर रहना—चारित्र।

७. वही स्थिरतारूप चारित्र।

पद्य

त्रिपरीतभिनिवेश हटाकर, सम्यक् निश्चय करता है।
और उसी में लीन होयकर, सम्यक् चारित धरता है।।
वह ही एक उपाय जीव के, पुरुपारथ की सिद्धि का।
मोक्ष दशा का बीज वही है, संसारी जड़ कटने का ।।१५।।

अन्वय अर्थ—[यः] जो जीव, सवसे पहिले [विपरीताभिनिवेशं निरस्य] अनादिकालसे व्याप्त विपरीतश्रद्धानको (मिथ्यादर्शनको) हटाकर अर्थात् निकालकर एवं [निजतत्त्वं सम्यग् व्यवस्य] आत्माके एकत्त्व विभक्त स्वरूपको यथार्थ जानकर [यत् तस्माद् विचलनं] जो फिर अन्तमें उस अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर या निश्चल होता है अथवा निश्चयचारित्र धारण करता है अर्थात् राग-द्वेष रहित वीतरागधर्मरूप चारित्रको प्राप्त करता है। सारांश—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप अवस्थाको प्राप्त होता है [स एव] वही तीनोंका समुदाय ही [अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपायः] प्रत्यक्ष या साक्षात् (निश्चयसे) पुरुषार्थकी सिद्धिका एक अनुपम उपाय है, अर्थात् मोक्षका निश्चयरूप मार्ग है—निर्विवाद (प्रधान) रास्ता है ऐसा जानना ।।१५।।

भावार्थ—अनादिकालसे संसारी जीव प्रायः विपरीत बुद्धि करके अर्थात् परपदार्थोंके साथ अपना अभेद (एकत्त्व) रूप श्रद्धान और ज्ञान करके उसीमें लीन या मस्त हो रहे (भूल रहे) हैं वह भूल ही संसारका मूल या जड़ (बीज) है अर्थात् निदान है। उसीसे संसार फल-फूल रहा है (वढ़ रहा है) जव इस तथ्यको (वास्तविक रहस्यको) जीव समझ जाता है या अपनी भूलका ज्ञान उसे हो जाता है तव उसके संसारकी जड़ कट जाती है अर्थात् उसका मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र नष्ट होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप उत्पन्न होता है। अर्थात् मिथ्या अन्धकार मिटकर सम्यक् उजेला प्रकट होता है। उसके प्रकाशमें वह अपनी पुरानी करतूत (कृति मान्यता) पर अत्यन्त पछताता है दुःख मनाता है और आगेका सुधार करता है। यद्यपि संसारके या संयोगी पर्यायके सभी काम वह करता है जिनमें जन्ममरण, खाना-कमाना, लड़ना-झगड़ना, विवाह शादी करना आदि सभी काम शामिल हैं। तथापि अरुचिपूर्वक आसक्त या दत्त-चित्त न होकर एक विगारीकी तरह विवशतामें करता है उत्साह और रुचिसे नहीं करता, इतना ही नहीं, यथाशक्ति उनका करना छोड़ता जाता है और अन्तमें क्रमशः सबका त्याग कर देता है। जिससे वह एक समय संसारसे पार हो जाता है। यही उसकी न्यायवृत्ति है दैनिक-चर्या है। ऐसा करके ही वह—

[1]अनादिकालीन निगोदादिकी अनन्तपर्याएँ छोड़ देता है।
पञ्चपरावर्तनरूप संसारसे मुक्त होकर मोक्ष स्थान प्राप्त कर लेता है।

---

१. नित्यनिगोदमें रहनेका काल, किसीके अनादि अनन्त है व किसीके अनादि सान्त है।
इतरनिगोदमें रहनेका काल २।। ढाई पुद्गलपरावर्त्तन प्रमाण (अनन्त) है।

अतएव इस पुरुष (जीव) को हमेशा ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ करना चाहिये जो पहिले कभी न किया गया हो। वह पुरुषार्थ सम्यग्दर्शनादिकी प्राप्ति करना है और संसारके दुःखोंसे छूटकर मोक्षके सुखोंको पाना है। संसारमें रहना और दुःखसुख भोगना परिग्रहादिको बढ़ाना—दुर्गतियोंका बंध करना यह कुपुरुषार्थ है। इसकी तारीफ नहीं होती प्रत्युत निन्दा ही होती है। ऐसा समझकर मोक्षका व उसके मार्ग (उपाय) का ही पुरुषार्थ करना चाहिये, उसीका पुरुषत्त्व सफल माना जाता है।

जब जीवकी क्षुद्र पर्यायोंका विचार किया जाता है तब रोंगटे खड़े हो जाते हैं, दुःखकी कथाएँ (कहानियाँ) हृदयको व्यथित कर देती हैं, जिनको भोगा है सुना है देखा है। फिर भी अज्ञान और कषाय के वेगमें यह जीव सब भूल जाता है, अपना सन्तुलन खो देता है यह बड़े दुःखकी बात है। तब अभिमान काहेका ? पर्याएँ सब विनश्वर हैं—एकसी सदैव रहती नहीं हैं। अतएव विवेकी जीवको एकत्त्व व अन्यत्त्व भावना भानी चाहिए। एकत्त्वका अर्थ मेरा 'चेतनारूप आत्मा' अकेला है अर्थात् अपने गुणों के साथ ही अभेदरूप है, और गुणोंके साथ अभेदरूप नहीं है। तथा परसे भिन्न है, (अन्य है) परद्रव्य के साथ कभी एकरूप या तादात्म्यरूप न होकर भिन्न ही है (विभक्त है) भिन्न रहता है। तब अपना ही बल भरोसा रखना चाहिये, दूसरोंका नहीं यह सारांश है। इसपर ध्यान देना चाहिए जो कोई मोक्ष जाना चाहता है। इति ॥१५॥

प्रसंगवश—सम्यग्दर्शनादित्रयका संक्षेपस्वरूप
(आचार्य ने स्वयं आगे श्लोक २२, ३१, ३९ में क्रमशः कहा है)

(१) विपरीत श्रद्धाका छोड़ना अर्थात् पर द्रव्यके साथ मेरा (आत्माका) एकत्त्व है (अभेद है) ऐसी धारणाको हटाना, सम्यग्दर्शन गुण है। अथवा अपने गुणोंके साथ ही मेरा एकत्त्व है अन्यके साथ नहीं है, ऐसी भावना (श्रद्धा) भी निश्चय सम्यग्दर्शन है। विशेष आगे समझना, कर्मजनित औपाधिक पुद्गलकी पर्यायोंको आत्मा (जीव) की मानना व जानना व उनमें लीन रहना मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र है।

(२) मेरा आत्मा पर सबसे भिन्न है, ऐसा जानना या निश्चय करना 'सम्यग्ज्ञान' है अथवा अन्यत्त्व भावना (श्रद्धा) भाना, निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

(३) आत्माके यथार्थस्वरूपको जानकर व श्रद्धानकर, उसमें स्थिर होना लीन होना तन्मय होना, निश्चय सम्यक्चारित्र है। यह सामान्य कथन है। आगे प्रत्येकका विस्तारके साथ कथन किया जायगा सो जान लेना। यहाँतक संसार व मोक्षका बीज (निदान) बताया गया है। अस्तु। आगेके पेजमें चारित्रका दूसरा लक्षण ग्रन्थान्तरकी अपेक्षासे लिखा गया है सो समझ लेना।

स्थावरकायोंमें रहनेका काल, असंख्यात पुद्गलपरावर्त्तन प्रमाण है।

त्रसपर्यायमें रहनेका काल कुछ अधिक दो हजार सागर प्रमाण है।

नोट—संख्यातसे बड़ा पल्य, पल्यसे बड़ा सागर, सागरसे बड़ा परावर्त्तन होता है ऐसा समझना चाहिए।

मिथ्यादृष्टियों व सम्यग्दृष्टियों के भेद व उनका अस्तित्व

(क) मिथ्यादृष्टि २ दो तरहके होते हैं—(१) अनादिमूढ़ मिथ्यादृष्टि (२) सादि मूढ़ मिथ्यादृष्टि, अथवा अनादि अनन्त मिथ्यादृष्टि, व अनादि सान्त मिथ्यादृष्टि। जैसे निगोदिया—कोई अनादि अनन्त होते हैं व कोई अनादिसान्त होते हैं (निगोदका अर्थ सम्मूर्च्छन जन्म होता है)। एकेन्द्रीसे लेकर असैनी पंचेन्द्रियतक सभी जीव, प्रायः अनादिमूढ़ मिथ्यादृष्टि (अगृहीत मिथ्यादृष्टि) माने जाते हैं, कारण कि उनके 'आप्त-आगम-पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता—क्या आप्त है क्या आगम है क्या पदार्थ है यह वे नहीं समझते। तथा संज्ञी पञ्चेन्द्री जीवोंके यथासम्भव सभी मिथ्यात्वके भेद पाये जाते हैं (खुलासा षट्खंडागम पुस्तक १ सूत्र ४३ में देख लेना)।

(ख) सम्यग्दृष्टि ३ तीन तरहके ९ नो तरहके २ दो तरहके होते हैं। किन्तु सभी संज्ञी जीवोंको सभी सम्यग्दर्शन नहीं होते। क्षायिक सम्यग्दर्शन केवली व श्रुतकेवलीका निमित्त मिलने वालों (मनुष्यों) के ही होता है यह विशेषता है। वह निमित्तता अपनी अपेक्षासे भी मिलती है पर की अपेक्षा से भी मिलती है इत्यादि, सम्यग्दर्शनके १० भेद[1] भी होते हैं।

ज्ञान और श्रद्धानके विषयमें शंका समाधान

सामान्यतः श्रद्धान ज्ञानपूर्वक ही होता है, विना ज्ञान के नहीं होता ऐसा नियम है। इस प्रकार माननेपर यह शंका होती है कि जब पूर्वमें यह वताया गया है कि एकेन्द्रियादि असैनी पर्यन्त जीवोंके आप्त, आगम, पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता तब क्या उनके उनका श्रद्धान हो सकता है? यदि श्रद्धान होता है तो वे सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं हो सकते, क्या प्रतिबन्ध है? इसके सिवाय ज्ञानपूर्वक श्रद्धान होता है यह नियम खंडित होता है इत्यादि? इसका समाधान यह है कि सामान्य ज्ञान चेतनालक्षण, सभी जीवोंके सदैव रहता और सामान्य श्रद्धान (दर्शनरूप पर्याय) भी रहा करता है। अतएव ज्ञान व श्रद्धानका समन्वय (संगम) खंडित नहीं होता। हाँ, विशेष ज्ञान अर्थात् भेदज्ञान या प्रत्यक्ष ज्ञान ये हमेशा हर जीवके नहीं होते तथापि परोक्ष ज्ञान (अनुमान-आगम आदि) बरावर सैनी जीवके रहा करते हैं या श्रुतज्ञान सभीके रहा करता है, तब ज्ञानपूर्वक श्रद्धान होनेमें कोई बाधा (आपत्ति) नहीं आती। फलतः सम्यक्श्रद्धान (विशेषश्रद्धान) सम्यग्ज्ञान (भेदज्ञान) पूर्वक बरावर होता है चाहे वह सम्यग्ज्ञान परोक्ष ही क्यों न हो ऐसा समझना चाहिये। अतएव असैनी जीवोंतक आप्त आगमके ज्ञान विना उनका सम्यक् श्रद्धान नहीं हो सकता।

इसके सिवाय एकेन्द्री आदि जीवोंके मिथ्यादर्शन (विपरीताभिनिवेश) कैसे पाया जा सकता है जब कि उनके आप्त-आगम-पदार्थोंका ज्ञान ही नहीं होता, और मिथ्यादर्शन माना अवश्य गया है, यह एक प्रश्न है? इसका भी समाधान इस प्रकार है कि अनादिमूढ़ मिथ्यात्त्व तो उनके होता है क्योंकि उस समय भी उनके अन्य अज्ञानरूप निरावरण सामान्यज्ञान पाया जाता है,

---

१. आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवगाढपरमावगाढे च ॥११॥ आत्मानुशासन।

नोट—प्रत्येकका लक्षण वहीं देख लेना—ग्रन्थ वढ़ जायगा अस्तु।

अतएव उसके साथ मिथ्यादर्शन या मिथ्याश्रद्धानका होना सम्भव है असम्भव नहीं है। इसके सिवाय विशेषज्ञान (भेदज्ञान या प्रत्यक्षज्ञान) के विना जो श्रद्धान अवश्यम्भावी है वह तो होगा ही, क्योंकि ज्ञान जीवका स्वभाव है। अतएव ज्ञानपूर्वक श्रद्धानका होना अनिवार्य है अथवा श्रद्धान ज्ञानकी पर्याय है सो ज्ञानके साथ वह अविनाभावरूपसे रहेगा ही किम्बहुना (विशेष षड्खंडागम पुस्तक १ सूत्र ४३ में समझ लेना)।

मिथ्यात्वके सात भेद

(१) ऐकान्तिक मिथ्यात्त्व (सिर्फ एक कोटि या धर्मका ज्ञान होना कि वस्तु इसी रूप है)

(२) सांशयिक मिथ्यात्त्व (दो कोटियोंमेंसे किसी एक कोटिका भी निश्चय नहीं होना)।

(३) मूढ़मिथ्यात्त्व (किसी वस्तुका स्पष्ट ज्ञान नहीं होना—अनध्यवसायरूप ज्ञानका होना)

(४) व्युद्ग्राही मिथ्यात्त्व (गृहीत मिथ्यात्व, नई २ मिथ्यात्व पोषक क्रियामें रुचिका होना)।

(५) स्वाभाविक मिथ्यात्त्व (अगृहीत मिथ्यात्व, अपने आप अनादिसे विपरीत ज्ञान होना)।

(६) वैनयिक मिथ्यात्व (सब चीजोंमें समान विनयादि करना—उनमें भेद न मानना)।

(७) विपरीत मिथ्यात्व (भ्रमका होना—जैसे रस्सी में साँपका ज्ञान हो जाना आदि)।

चारित्रका दूसरा लक्षण—(वीरसेनाचार्य कथित षट्खण्डागमटीका)

'पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्' अर्थात् पापक्रियाओंका छूटना ही चारित्र कहलाता है। यहाँ पर पाप, घातिया कर्मोंको समझना चाहिये तथा मिथ्यात्त्व, अविरति, प्रमाद, कषाय ये चार पापक्रियाएँ हैं। क्योंकि इनके द्वारा ही घातिया कर्मों का आस्रव व बंध होता है। घातिया मिथ्यात्त्व कर्मोंमें मुख्य कर्म, मोहनीय है और पाप क्रियाओं में मुख्या पाप क्रिया है। जिस भाव (परिणाम) से आत्मा के अनुजीवीगुणोंका घात हो, उन्हें पाप कहते हैं। चाहे वह भाव शुभरूप हो अशुभरूप हो, दोनोंसे आत्माकी असली दशा (शक्ति वीतराग विज्ञानताकी व्यक्तिरूप) का घात होता है। अतएव मिथ्यात्त्वादि चारों प्रकारके भावोंका भेद प्रभेद सहित अभाव होना 'सम्यक् चारित्र' कहलाता है। उसके होने पर ही मुक्ति होती है जब वह पूर्ण (विकल्पशून्य स्थिर) हो जाता है॥ षट्खंडागम सूत्र २२ पुस्तक ६॥ साधारण रूपसे विषय और कषाय दोनों पापरूप हैं ऐसा कहा गया है।

चारित्र के २ भेद—मुख्य।

(१) स्वरूपाचरण चारित्र (२) संयमाचरण चारित्र।

स्वरूपाचरण चारित्रके भेद—(१) आंशिक (अपूर्ण) (२) समग्र (पूर्ण)

नोट—इनका खुलासा तत्तत् प्रकरणमें किया जायगा, यहाँ पर अभी नाममात्र सामान्यरूप कहा गया है।

सम्यग्दर्शनके चार प्रकार (मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थमें)

१—देवगुरुशास्त्रका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

२—तत्त्वार्थश्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

३—परद्रव्योंसे भिन्न आत्माका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

४—आत्माके स्वरूपका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

अथवा ३ भेद या प्रकार

१—उपशम सम्यग्दर्शन।

२—क्षयोपशम सम्यग्दर्शन या वेदक सम्यग्दर्शन।

३—क्षायिक सम्यग्दर्शन।

नोट—इसी तरह ९ प्रकार व १० प्रकार भी होते हैं जो शास्त्रोंमें लिखे हैं सो देख लेना।

सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानीकी विचारधारासे भिन्न, मिथ्यादृष्टिकी साततत्त्वोंमें विचारधारा (विपरीताभिनिवेश)

१—जीवतत्त्व, अर्थात् जीवका स्वरूप, चैतन्य ज्ञानदर्शनादि स्वभावरूप हैं, परसे भिन्नरूप है (विभक्तरूप है) व अपने गुणों-पर्यायों के साथ एकत्त्वरूप है। ऐसा श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है।

परन्तु मिथ्यादर्शनके रहते हुए जीव, क्रोधमानादि विभावभावोंको और अपनेसे भिन्न पर पदार्थों को भी अपना ही मानता है और उनमें रागद्वेषादि करता है ऐसी विपरीत-विचारधारा या श्रद्धा जीवतत्त्वके सम्बन्धमें होती है—यह खुलासा है और भी इसी तरह समझना।

२—अजीवतत्त्व, पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश, इन अचेतन द्रव्योंमें एकता या अभेद मानना कि ये और हम एक (अभिन्न) ही हैं। मैं इनका स्वामी व कर्त्ता भोक्ता इत्यादि हूँ ऐसी विपरीत धारणा करना अजीव तत्त्वके सम्बन्धमें विपरीत श्रद्धा (विचारधारा) या मिथ्या दर्शन कहलाता है। जिनमें चेतना न हो वे अजीव तत्त्व कहलाते हैं। अतएव जीव (चेतन) का और अजीव (जड़) का अभेद या एकत्त्व कभी नहीं हो सकता फिर भी वैसा मानना मिथ्यात्त्व है। सामान्यतः सभी सजातीय या विजातीय द्रव्यें या पदार्थ, स्वभावतः एक दूसरेसे भिन्न हैं—कभी एकत्त्वरूप (तादात्म्यरूप) नहीं होते। यह नियम है। परद्रव्य, परगुण, परपर्याय, को अपना मानना विपरीत श्रद्धा है। अर्थात् अजीव चीजोंका स्वामी कर्त्ता व भोक्ता अपनेको मानना, अजीव तत्त्वमें विपरीत श्रद्धा कहलाती है।

१—आस्रवतत्त्व, अनादिकालसे जीव और अजीव द्रव्यका संयोग सम्बन्ध (एक क्षेत्रमें रहना) हो रहा है। लेकिन संयोगरूप अशुद्धताके कारण वे दोनों द्रव्यें पर्यायसे अशुद्ध हो जाती हैं या मानी जाती हैं। इसलिये परस्पर उनका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेसे विपरीत धारणा

आत्मा कर लेता है कि जिससे उन संयुक्त परपदार्थोंमें रागद्वेष मोह आदि विभावभाव करने लगता है तथा उनको इष्ट सुखद मानता है वस यही आस्रव तत्त्वमें विपरीतता है अर्थात् वे जो विभावभाव प्रकट होते हैं अथवा आते हैं (आस्रवरूप हैं आगन्तुक हैं) उनको जीव अपने स्वाभाविक या स्वभावरूप मान लेता है, इष्टानिष्ट बुद्धि करता है। जो त्रिकालमें जीवके नहीं हैं, वे तो संयोगी पर्यायजन्य हैं व आस्रवरूप हैं, इस तथ्यसे वह भूल जाता है और अशुद्ध परिणमन या भाव करने लगता है जिससे संसारमें घूमता रहता है। वह जो रागादिरूप विकारीपर्याय है सो न अकेले जीव की है न अकेले अजीव (पुद्गल) की है किन्तु दोनोंके मेलसे होती है अतः कथंचित् दोनों की है। अशुद्ध निश्चयनयसे जीवकी है और व्यवहारनयसे अजीवकी है ऐसा निर्धार है। इसमें विपरीत धारणा (मान्यता) करना विभावोंको सुखदायक हितकारी समझना आस्रवतत्त्वमें विपरीतता समझना चाहिये। रागादिकको जीवके मानना जो कि औपाधिक हैं आस्रव तत्त्वमें विपरीतता है इत्यादि। उपादानकी अपेक्षासे आत्माके प्रदेशोंमें रागादिक आस्रव होते हैं अतएव कथंचित् जीवके हैं और निमित्तकी अपेक्षासे कर्मोंके उदय होने पर होते हैं अतएव कर्मोंके हैं (औपाधिक हैं) इत्यादि जानना।

४—बन्धतत्त्व, अनादिकाल से जीवद्रव्य और कर्मनोकर्मरूप पुद्गल स्कन्धों का संयोगरूप परस्पर बन्ध रहा है अर्थात् घनिष्ट (सान्द्र) सम्बन्ध पाया जाता है, उसमें जो विपरीत श्रद्धा हो जाती है कि यह बन्धावस्था मेरी (जीव की) है अर्थात् बन्ध का कर्त्ता व फल भोक्ता मेरा आत्मा (जीवद्रव्य) है, इत्यादि मिथ्या कल्पना है, कारण कि बन्ध रूपीका रूपीके साथ होता है अरूपी के साथ नहीं होता, इस न्याय से पुद्गल रूपी है अतः अन्य रूपी पुद्गल के साथ उसका बन्ध होगा—किन्तु जो अरूपी (अमूर्तिक) जीवद्रव्य है उसके साथ कर्मादिरूप पुद्गल का बन्ध कभी नहीं हो सकता, इस तथ्यको भूलकर जीवका (आत्माका) बन्ध मान लेना, फलमें रति अरति करना—यही विपरीत श्रद्धा 'बन्धतत्त्व' के प्रति समझना चाहिये। फलतः बन्ध यह पुद्गलकी पर्याय है इत्यादि समझना ही सम्यग्दर्शन है, जीवकी पर्याय नहीं है किम्बहुना। बन्धके फलमें हर्ष विषाद करना सुख दुःख मानना विपरीतता है।

नोट—आस्रव और बन्धमें क्या भेद है यह पहिले श्लोक नं० १२ की व्याख्या में बताया गया है।

५—संवरतत्त्व, रागादिक विकारी भावोंका न होना संवर कहलाता है तथा उसके निमित्त से नवीन कर्मोंका न आना अर्थात् रुक जाना भी संवर कहलाता है। भेद सिर्फ यह है कि पहिला (मुख्य निश्चयरूप) भाव संवर है और दूसरा (गौणरूप-व्यवहाररूप) द्रव्यसंवर कहलाता है। इसके विषयमें विपरीत धारणा या श्रद्धा होना कि 'यह संवररूप पर्याय सब जीवकी है, इसमें दूसरे (पुद्गल) का हिस्सा नहीं है' इत्यादि विपरीतता है क्योंकि कथंचित् दोनोंका हिस्सा इसमें है। भाव या परिणाम (विकाररूप) नहीं होना अर्थात् वैराग्यरूप परिणामोंका होना, जीवकी पर्याय है और कार्माण द्रव्यका न आना (बन्द हो जाना) पुद्गलकी पर्याय है, यह निर्धार है। ऐसा मानना ही सम्यक् श्रद्धान व सम्यग्दर्शन है इत्यादि। आत्माके हितकारी वैराग्य और ज्ञान हैं उनको सुखदायक न मानकर दुःखदायक मानना संवरके प्रति विपरीत भावना है।

६—निर्जरातत्त्व, एक देश अर्थात् कुछ थोड़े, पूर्वबद्ध कर्मोंका आत्मासे सम्बन्ध छूटना निर्जरा कहलाता है, यह द्रव्यनिर्जरा है तथा विकारी भावोंका थोड़ा हटना या न होना भाव-निर्जरा कहलाता है। परन्तु इसके विषयमें विपरीत धारणा या श्रद्धा होना निर्जरा तत्त्वमें विपरीतता है। जैसे कि यह निर्जरा सब जीवकी ही है—(मेरी है) पुद्गलकी नहीं है जबकि दोनोंकी है इत्यादि भूल है। अर्थात् चाह (अभिलाषा) आदि विकारीभावोंको कमती न कर उन्हें बढ़ाना, निर्जराके प्रति विपरीत श्रद्धा है क्योंकि उनसे अधिक कर्मबन्ध होता है।

७—मोक्षतत्त्व, संयोगीपर्यायका, जो कि जीव और पुद्गलका गठबन्धनरूप अनादिसे है, वियोग हो जाना मोक्ष कहलाता है अर्थात् परस्परका घनिष्ट सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष माना जाता है। इसके विषयमें विपरीत श्रद्धाका होना कि मोक्षपर्याय अकेले जीव की (मेरी) ही है, मोक्षके समय सिर्फ जीव ही संसार-शरीर-भोगोंसे पृथक् होता है किन्तु दूसरा कोई (शरीरादि परद्रव्यें) नहीं, यह विपरीत धारणा मोक्षके सम्बन्धमें है। क्योंकि जब दो चीजोंका संयोग है तब वियोग होनेपर क्या दोनों एक दूसरेसे पृथक् न होंगी ? यह प्रश्न होता है। तब कहना पड़ेगा कि बराबर दोनोंकी पृथकता होती है इत्यादि। फलतः मोक्षपर्याय जीव पुद्गल दोनोंकी है जबतक कि संयोगीपर्यायमें दोनों रहते हैं। वैसे तो द्रव्य हमेशा मुक्त (परसे भिन्न-तादात्म्यरहित) है व रहती है, परन्तु उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है इत्यादि।[1] विकल्प न करना मोक्ष है, परन्तु विकल्पोंको मोक्षका कारण मानना विपरीतता है। आकुलता (दुःख) रूप है।

पूर्वोक्त प्रकारकी विपरीत धारणा (श्रद्धा) संयोगीपर्यायमें होना ही सात तत्त्वोंमें विपरीत श्रद्धाका (विचारधाराका) होना कहलाता है। अतएव उसका मिटाना अनिवार्य है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक् श्रद्धानके हुए विना जीवका उद्धार संसारसे कदापि नहीं हो सकता यह नियम है। फलतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रको प्राप्त करना ही पुरुषार्थकी सफलता कही गई है, शेष सफलताएँ मोक्षोपयोगी नहीं हैं अतः उनका कथन नहीं किया गया—सार बात बतलाई गई है किम्बहुना। सात तत्त्वोंकी विपरीतताका कथन व स्वरूप स्व० पं० दौलतरामजीने छहढालाकी द्वितीय ढालमें और स्व० पं० तोड़रमलजी सा० ने मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थके चतुर्थ अधिकारमें विस्तारसे कहा है सो समझ लेना। लिखनेका ढंग भिन्न २ प्रकारका है किन्तु भाव सबका प्रायः एक-सा है अस्तु।

विपरीतभाव (अभिनिवेश)

जो जीव पुद्गलकी कर्मरूप पर्यायों (आठ कर्मों) को तथा उनके उदयरूप निमित्तोंसे होनेवाले कार्यों (फलों) को अपना मानते व सुखी-दुःखी होते हैं वे महामिथ्यादृष्टि हैं जैसे कि नामकर्मके उदयसे होनेवाली गतियों (नारक तिर्यंच मनुष्य देव पर्यायों) में तथा जातियों (एकेन्द्रियादि) में, गोत्रकर्मके उदयसे होनेवाले कुलों (नीच-ऊँच) आदिमें अपनायत बुद्धिसे

---

१. अन्यमतावलंबियों (नैयायिकादिकों) के द्वारा माने गये मोक्षके स्वरूप को मानना भी मोक्षके विषयमें विपरीत मान्यता कहलाती है।

अहंकार ममकार करना यह सव परसे एकत्त्व मानने रूप मिथ्यात्त्व है। असलमें परद्रव्यें व विकारीभाव कोई आत्माके नहीं हैं, आत्मा हमेशा टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव पुष्करपलाशवत् निर्लेप (शुद्ध परसे भिन्न एकत्त्वविभक्त) है, परन्तु भ्रमवश व एक आधारवश, एक कालमें अस्तित्त्ववश, विपरीत बुद्धि हो जाती है यह तात्पर्य है यही मूलमें भूल, संसार परिभ्रमण या पंचपरावर्त्तनका कारण है अतः उस भूलको निकालना सम्यक् पुरुषार्थ है, जीवनकी सफलता है अन्यथा जैसा मनुष्य जन्म पाया तैसा न पाया एक वरावर है किम्वहुना।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेकी योग्यता क्या है?
(कौन जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर सकता है)

जो जीव चारों गतियोंमें से किसी एक गतिमें रहनेवाला हो, भव्य हो, संज्ञी (मनसहित) हो, विशुद्ध परिणामी (मन्दकषायी) हो, जागता हुआ हो (वेहोश या अनुपयुक्त न हो) अथवा स्वोन्मुख हो, विचारशील हो, पर्याप्तक हो (शक्ति सम्पन्न हो) ज्ञानी हो (साकार उपयोग-वाला हो) निकट संसारी हो (जिसका संसारमें रहनेका काल अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परावर्त्तन मात्र रह गया हो) ऐसी योग्यता वाला हो, वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है[१] अर्थात् उसीमें योग्यता है दूसरेमें नहीं है, यह नियम है अस्तु।

मोक्ष प्राप्त होनेकी योग्यता क्या है?
(अनेक कारणोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है)

पद स्वभाव पूरव उदय, निश्चय उद्यम काल।
पक्षपात मिथ्यात्व तज, सर्वांगी शिव चाल॥

अर्थ—पद अर्थात् मुनिपदका होना, स्वभाव अर्थात् सम्यग्दर्शनादिका होना, पूरब उदय अर्थात् कर्मो की निर्जराका होना (परका संयोग छूटना) यथार्थ (निश्चय) पुरुषार्थका करना, (अनुकूल या साधक पुरुषार्थ करना) काललब्धि (उस कालकी प्राप्ति) का होना, पक्षपातका छूटना (निर्विकल्पता होना या स्वभावलीनता रहना) मिथ्यात्त्वका छूटना (विपरीत बुद्धिका हटना) इन सव अनेक मुख्य कारणोंके प्राप्त हो जाने पर ही जीव मोक्षको प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं यह नियम है। वस, यही मोक्ष प्राप्त होनेकी योग्यता है। इन्हींमें सब शुद्धियाँ अन्त-

---

१. चदुगदिभव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाणपज्जत्तो।
संसारतडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्तं॥ ३०७॥ स्वा. का. अनुप्रेक्षा।
चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेसो सलद्धिगो सम्ममुवगमई॥ ६५२॥ जीव. गोम्मटसार।
चदुगदिमिच्छो सण्णी पुण्णो गब्भज विशुद्ध सागारो।
पढमुवसमं स गिण्हदि पंचमवरलद्धि चरिमम्हि॥२॥ लब्धिसार

भूल हो जाती है किम्बहुना। यहाँ पर पूरव उदयका अर्थ निर्जरा समझना चाहिए कारण कि उदय रहते हुए मोक्ष नहीं होता या हो सकता यह तात्पर्य है अस्तु। मोक्षकी प्राप्ति सर्वांगी या अनेकांगी होती है, एकांगी नहीं होती जैसा कि अन्य लोग एक-एक कारणसे मोक्ष मानते हैं (अकेले दर्शनसे या ज्ञानसे या चारित्रसे इत्यादि)। तदुक्तम्—

सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणमिति।

द्वितीय अध्याय

भूमिका

आचार्यदेव, संसारस्थ जीवोंमेंसे असाधक व साधक (संसारी एवं मोक्षगामी) दो तरहके जीवोंकी छटनी करके मोक्षमार्गियोंमें भी अव्रती और व्रती तथा व्रतियोंमें भी एक देशव्रती (श्रावकव्रती-विरताविरत ५ गुणस्थानवाले) व सर्वदेशव्रती (मुनिव्रती-विरत ६ गुणस्थानवाले) बताते हुए मुख्य साधक व्रती मुनियोंकी वृत्ति कैसी होती है ? यह बताते हैं, अर्थात् उनकी वृत्ति लोकमें रहते हुए भी अलौकिक होती है—उनके विरक्ति या निवृत्तिरूप वृत्ति मुख्य रहती है। यथा–

उत्तम साधककी दशा

अनुसरतां[1] पदमेतत्[2] करंविताचार[3]नित्यनिरभिमुखा[4]।
एकान्त[5]विरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी[6] वृत्तिः ॥१६॥

पद्य

जो धारते हैं मिश्रपद, पर्याय संयोगी में सदा।
सब काम करते हुए भी, नहिं रुचि रखते सर्वदा॥
वृत्ति उन्हीं की दो तरह, होती प्रवृत्ति निवृत्तिमय।
पर रुचि मुख्य निवृत्तिरूपा, अलौकिकता यह हर समय॥१६॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [एतत्पदमनुसरताम्] पूर्वोक्त पुरुषार्थसिद्धिके कारण भूत रत्नत्रयपद (मोक्षमार्ग) को प्राप्त करनेवालोंमें-से, अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती (व्रताव्रती श्रावक (महाव्रती (मुनिव्रती) इन तीनों मोक्षमार्गियोंमें-से [मुनीनां वृत्तिः] मुनियों-की वृत्ति (वर्त्ताव या अवस्था) [करंविताचारनित्यनिरभिमुखा एकान्तविरतिरूपा अलौकिकी भवति]

---

१. प्राप्त करने वाले।
२. यह पूर्वोक्त मोक्षमार्गीपद (स्थान)।
३. शिथिलाचार या मिश्ररागविरागरूप।
४. विरक्त अरुचिकारक।
५. सर्वथा निवृत्तिरूप-पूर्ण वीतरागताके सन्मुख उद्यमरूप।
६. रागी जीवोंसे भिन्न प्रकार, या आंशिक व्रतियों या चिन्तकों (अव्रतियों) से भिन्न प्रकार।
गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्। अनगारः गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥३॥ र. श्रा.

व्रत अव्रतरूप चितकवरी या शिथिलाचाररूप (रागविरागयुक्त) अवस्था (पाँचवें गुणस्थान-वाली श्रावकव्रतकी दशा) से निरन्तर विरक्त या अरुचि रूप ऐसी सर्वथा या पूर्ण वीतरागतारूप अनुपम या अलौकिक (लौकिकजनोंसे भिन्न प्रकारकी होती है अर्थात् पूर्ण शुद्ध व निर्मल होती है ॥१६॥

भावार्थ—मोक्षमार्गी मूलमें दो तरहके होते हैं (१) चिन्तक (२) साधक। चिन्तक अव्रती होते हैं, जो खाली तत्त्वोंकी श्रद्धा एवं विचारधारा रखते हैं जैसे चौथे गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि जीव। साधक, मोक्षमार्गकी साधना करनेवाले अणुव्रती व महाव्रती जीव (श्रावक व मुनि)। परन्तु सामान्यतः मोक्षमार्गी ३ तीन तरह के होते हैं, (१) अव्रती (२) अणुव्रती (३) महाव्रती, लेकिन सवमें मुख्य या श्रेष्ठ मुनिराज होते हैं यह यहाँ वताया गया है, मुनियोंका पद दर्जा या स्थान उच्च होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि संयोगीपर्यायमें रहते हुए प्रवृत्ति व निवृत्तिरूप (ग्रहण भोजनादि स्वरूप तथा त्याग परिग्रहादि स्वरूप) दोनों कार्य करते हैं परन्तु प्रवृत्तिरूप कार्यसे अत्यन्त विरक्त या उदासीन रहते हैं हमेशा शुद्धताका आलम्वन लेते हैं, अशुद्धताका त्याग करते हैं अर्थात् रागको छोड़ते हैं—वैराग्यको धारण करते हैं, यही अलौ-किकता उनके पाई जाती है। तथा मुनियोंका यही कर्त्तव्य भी है—संसार, शरीर, भोगोंसे जुदा रहना।

जो श्रमण मुनि होकर भी इसके विपरीत आचरण या वृत्ति करते हैं वे महान् गलती व अपराध करते हैं। रागी द्वेषी मुनि कभी संसारसे पार नहीं हो सकता। चाहे वह राग प्रशस्त (शुभ) ही क्यों न होवे, वह बंधका ही कारण है मोक्षका कारण नहीं है। यद्यपि उस भूमिकामें वह होता जरूर है परन्तु साधु मुनि उसको इष्ट या उपादेय नहीं मानता, विगार या वलात्कार ही समझता है एवं उससे अरुचि रखता है, उसका स्वामी नहीं वनता इत्यादि। तव सच्चे मुनिको दुनियाँके या गृहस्थरागियोंके कार्योंमें पड़ना ही नहीं चाहिये। रागको तो उसे कृतकारित अनुमोदना व मनवचनकायसे छोड़ ही देना चाहिये क्योंकि वह विषरूप है। मोक्षमार्गकी साधना उनका मुख्य कर्त्तव्य है। झूठी प्रशंसा या वाहवाहमें आकर उनको वन्धकारक कार्य कदापि नहीं रखना चाहिये। लोकैषणा या लोकख्याति सदा वर्जनीय है। इसीलिए प्रतिक्रमणादि करनेकी विधि शास्त्रोंमें कही गई है। उसमें मुख्यतः स्वामित्त्व छुड़ाया गया है—शुद्ध स्वरूपका अनुभव कराया गया है। अस्तु। इसका विचार हमेशा मुनि या त्यागीको करना चाहिये व अमल (वर्त्ताव) में लाना चाहिये। यदि न कर सके तो उसपर श्रद्धा तो रखना ही चाहिये, जिससे सम्यग्दृष्टि वना रहे, मिथ्यादृष्टि न हो जाय ('जं सक्कइ तं कीरइ' इत्यादि गाथा भावपाहुड़में लिखी है)।

अपराधके अनुसार दंड (सजा) मिलता है यह वताते हैं—

संसारमें चार तरहके जीव होते हैं (१) अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) (२) ज्ञानी (सम्य-ग्दृष्टि अव्रती) (३) अणुव्रती (देशव्रती) (४) महाव्रती (पूर्णव्रती)। (१) अज्ञानी मिथ्या-दृष्टि सवसे वड़ा (भयंकर) अपराधी है क्योंकि वह परको अपना मानता है और उसमें अत्यधिक रागद्वेष भी करता है वेहद आसक्ति रखता है। फलस्वरूप उसको संसारकी जेलमें ही लम्बी करोड़ों

सागर रहना पड़ता है यह सजा मिलती है। (२) ज्ञानी सम्यग्दृष्टि, उससे कम अपराधी होता है, क्योंकि वह पर वस्तुको अपनी तो नहीं मानता किन्तु उसमें राग कुछ करता है, जो अपराध है। उसका फल या दंड उसको अर्धपुद्गल परावर्त्तन कालतक (म्यादी) संसारमें रहनेका मिलता है, अधिक नहीं। (३) अणुव्रतीको, परवस्तुमें राग कम होनेसे उसका दंड और थोड़ा मिलता है अर्थात् वह निरतिचार अणुव्रत पाले तो संभवतः तीसरी पर्याय (भव) में ही वह संसार की जेलसे छूट सकता है। (४) महाव्रतीको, परमें पूर्णराग छूट जानेसे बहुधा वह उसी पर्यायसे मोक्ष जा सकता है, परन्तु यह सब अपराधोंके सर्वथा छूट जाने की बात है किम्वहुना। यह न्याय दृष्टि पर निर्भर है, कर्त्तव्य पालनेकी बदौलत फलका मिलना है इत्यादि।

मुनिका लक्षण और कर्त्तव्य

लक्षण दो तरहका होता है (१) अन्तरंग लक्षण (आत्मभूत) या निश्चय लक्षण और (२) बाह्य लक्षण (अनात्मभूत) या व्यवहार लक्षण, दूसरे शब्दोंमें भावलक्षण व द्रव्यलक्षण इति। अर्थात् एकलक्षण चरणानुयोगकी पद्धतिका होता है, जिससे मुनिकी बाहिर पहिचान होती है, उसका सम्वन्ध शरीरकी क्रियाओंसे रहता है। दूसरा लक्षण करणानुयोगकी पद्धतिका होता है, जिसका सम्बन्ध आत्माके भावों (परिणामों) से रहता है यह भेद दोनों में पाया जाता है। चरणानुयोगकी पद्धतिसे मुनि या मोक्षमार्गी वह कहलाता है, जो २८ मूलगुण पालता हो अर्थात् ५ महाव्रत ५ समिति ५ इन्द्रियोंपर विजय (वशीकरण) ६ आवश्यक ७ शेषके गुण। जैसे— वस्त्रत्याग करना (दिगंवररूप नग्नवेष धारण करना), केशलुंच करना, यावज्जीवन स्नानका त्याग करना, दतौन नहीं करना, भूमिपर सोना बैठना, खड़े २ हाथ में आहार लेना, दिनमें एक वार अल्प शुद्ध आहार लेना। इनसे व्रत (प्रतिज्ञा) की रक्षा होती है अर्थात् ये बाह्य कर्त्तव्य निमित्त कारण हैं जो मुनिके लिये अनिवार्य हैं। इनके द्वारा मुनिकी पहिचान होती है। अन्तरंग लक्षण वाहर नहीं दिखते, वे कार्यानुमेय होते हैं अर्थात् जैसा अन्तरंग परिणाम (शुद्ध या अशुद्ध) होता है (उपयोगी होता है) उसके निमित्तसे वैसा ही योग (शरीरादिका व्यापार अर्थात् कार्य) होने लगता है जो नैमित्तिक है। उससे उन साधकोंके भावोंका पता (परिचय) लगा लिया जाता है कि वे कैसे हैं इत्यादि।

मुनिके ६ छठवाँ गुणस्थान (प्रमत्त नामका) होता है, जिसका सम्बन्ध मुख्यतया भावोंसे है, कारण कि गुणस्थान वगैरह सब जीवके ५ पाँच [1]भावोंपर ही निर्भर रहते हैं ऐसा नियम है। ६ वें गुणस्थानवाले मुनिके भावोंकी अपेक्षासे प्रमादरूप भाव रहा करता है। प्रमादका अर्थ च्युत हो जाना होता है अर्थात् प्रतिज्ञाका भंगकर देना माना जाता है, जो कि तीव्र कषायके उदयमें होता है अर्थात् जब जीवके (मुनिके) द्रव्य कषायका तीव्ररूपसे उदय होता है और उसके परिणाम विचलित होते हैं अर्थात् शुद्धोपयोग (वीतरागता) में स्थिर न रहकर पंचमहाव्रतादि धारण

---

१. औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥ अध्याय २ त० सू०।

करनेके (शुभ रागरूप) होते हैं तव वह प्रमादी कहा जाता है इसलिये कि उसने जो प्रारम्भमें दीक्षाचार्यसे अपने उपयोगको शुद्ध वीतरागतामें (अपने स्वरूपमें) लगानेकी प्रतिज्ञा की थी उससे वह च्युत होकर शुभ रागमें लाने लगा है, वस यही प्रमाद व शिथिलाचार है। (उस समय वह व्यवहार मोक्षमार्गमें लगा हुआ है) बाह्य वेश ज्योंका त्यों प्रायः वना रहता है। यही टाँका लगना कहलाता है अर्थात् जिस भाव (शुद्धोपयोगरूप वीतराग भाव अथवा श्रामण्यरूप निष्पक्ष भाव या माध्यस्थ्य भाव) से मुक्ति होती है, उसमें वट्टा लग गया होता है, जिससे मोक्ष जानेमें विलम्ब हो जाता है—वह जवतक नहीं छूटता अर्थात् रागभाव हटकर वीतरागभाव नहीं होता तवतक वह संसारमें रहता है मोक्ष नहीं जा सकता यह तात्पर्य है। अतएव प्रमादका छोड़ना मोक्षगामी को अनिवार्य है। उसके प्रत्याख्यानावरण कषायका अभाव (क्षयोपशम) रहता है तथा संज्वलन कषायका तीव्रोदय रहता है। फलस्वरूप मुनिपना और महाव्रतपना तो उत्पन्न हो जाता है (बाह्य आरम्भ व परिग्रहका त्याग हो जानेसे) किन्तु अन्तरङ्ग[1] परिग्रह के सद्भाव (मौजूद) रहने से मलोत्पन्न हुआ करता है। अर्थात् प्रमाद या अतिचार लगा करता है। इसीका नाम व्रतभंग या व्रतमें छेद होना है। तभी तो ६ छठवें गुणस्थानवाला मुनि ध्यान (वीतरागतारूप स्वरूप-स्थिरता) से च्युत होकर शास्त्र रचना, तीर्थ वन्दना, धर्मोपदेश, क्षेत्रविहार, भोजनार्थ चर्या, प्रायश्चित्त विधि आदि कार्य किया करता है, जो मोक्षमार्ग में बाधक हैं किन्तु शुभ रागवश या परोपकारार्थ धर्मानुराग होनेसे (अन्य धर्मात्माओंको धर्ममें लगानेका करुणाभाव होनेसे) वह विवश होकर—भीतरसे हेय जानता हुआ भी वाहिर में वैसा करता है इत्यादि विराग व रागरूप निश्चय व व्यवहाररत्नत्रयका एकत्र संगम (एकाधिकरणवृत्ति) पाया जाता है। इसीका नाम निश्चय और व्यवहारकी सन्धि है। अस्तु।

इस प्रकार चित्रलाचरण (कर्वुताचार) को हेय जानकर वह एकरूप शुद्ध वीतराग मार्गका ही अवलम्वन करनेका प्रतिसमय प्रयत्न करता रहता है (प्रतिक्रमणादि किया करता है) यह उसकी प्रमाद दशाकी प्रतिक्रिया है। अतएव जवतक अन्तरंग परिग्रह (१० वें तक) रहेगा तवतक पूर्ण वीतरागता प्राप्त न होगी न केवलज्ञानादि होंगे इत्यादि त्रुटि वनी रहेगी और मोक्ष न होगा। ऐसी स्थिति में उस अन्तरङ्ग परिग्रह अथवा मोहकर्म के २१ भेदों को हटानेके लिए वह सातवें गुणस्थानमें पूर्ण तयारी कर आठवें गुणस्थानसे कार्यवाही शुरू (प्रारम्भ) कर देता है अर्थात् श्रेणी माड़ने लगता है। परिणामोंकी दशाके अनुसार कोई विशुद्ध परिणामी (शुभोपयोगी) उन शेष मोहकर्मकी प्रकृतियोंको जड़से न निकालकर उन्हें दवा देता है—कुछ शक्ति हीन कुछ समयको कर देता है (उपशमरूप करता है) और कोई शुद्ध परिणामी (शुद्धोपयोगी) उन शेष मोहकर्मकी प्रकृतियोंको जड़से निकानकर क्षय या नष्ट कर देता है। फलस्वरूप जो आत्मशक्तिकी निर्मल या निखरी दशा (वीतरागता) से कार्य (उपयोग) लेता है (क्षपक श्रेणी माड़ता है) वह उन विवक्षित कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके विजय पा लेता है और थोड़े ही

---

१. मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ ये पाँच और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये नौ कुल मिलाकर १४ प्रकार होता है।

समय में ३ घातिया कर्मोंकी प्रकृतियोंका भी क्षय कर केवली सर्वज्ञ पीतरागी बन जाता है। और जो विशुद्ध या समल (मलीन) आत्मशक्तिका प्रयोग करता है (उपशम श्रेणी माड़ता है) वह उन कर्म प्रकृतियोंका क्षय नहीं कर सकने के कारण केवली सर्वज्ञ वीतरागी नहीं बन पाता व संसारमें बहुत समयतक निवास करता है। यह परिणामोंके भेदसे श्रेणी चढ़नेमें या प्रक्रिया (साधना) करनेमें व फल प्राप्त करनेमें भेद जानना। देखो! मुनिमार्ग सरल नहीं है बड़ा कठिन है—लोहेके चनां हैं, जिसको हर कोई प्राप्त नहीं कर सकता वह मोक्ष का मार्ग है—वीतराग परिणामरूप है, शुद्ध धर्म और चारित्ररूप है। उससे भिन्न जो सरागपरिणामरूप है, अशुद्ध धर्मरूप है, अचारित्र रूप है वह कभी मोक्षमार्ग नहीं हो सकता। अतएव शुभरागरूप चारित्रको—शुभप्रवृत्तिको चारित्र कहना या मानना व्यवहार है, निश्चय नहीं है किम्वहुना[1]। मुनिलिङ्ग या मुनिके स्वरूप वावत नीचे टिप्पणी में अन्य ग्रन्थोंका उद्धरण दिया गया है सो स्पष्ट समझ लेना। अस्तु।

उपधि (२४ चौवीस प्रकार प्ररिग्रह) का त्याग करना उत्सर्गमार्ग मुनिका है उसीसे वह मोक्ष जा सकता है, मोक्ष जानेका वही एक (अद्वितीय) उपाय या साधन है, किन्तु शक्तिके अभाव में देशकाल आदिके अनुसार अरुचिपूर्वक कुछ परिग्रहको भी मुनि रखता है जैसे आहारादि करना पीछी कमण्डलु आदि लेना वसतिकाका आश्रय लेना, आदि २। परन्तु वह अपवाद मार्ग है जो सदैव हेय है और उसमें भी प्रतिवन्ध है अर्थात् अपवाद मार्गमें भी जो लोकमर्यादा एवं चरणानुयोगके विरुद्ध (वदनामी करानेवाले) कार्य हैं उन्हें वह नहीं कर सकता। अन्यथा वह जयदत्ती कहलायेगी। सभी रसोंका ग्रहण करना, सभी पर्वोमें आहार लेना, द्रव्यकी याचना करना आदि अपवाद मार्गको दूषित (कलंकित-वदनाम) करनेवाले हैं अतएव वे यथायोग्य हेय हैं। तात्पर्य यह कि अपवादमार्गमें सभी की छूट (स्वतन्त्रता) नहीं है। जैसे कि चौथे गुणस्थानवाला सागार (गृहस्थसम्यग्दृष्टि) यद्यपि अव्रती या असंयमी होता है, जिसके त्रसस्थावर जीवोंकी हिंसाका भी त्याग नहीं होता, न इन्द्रियसंयम वगैरह वह पालता है (पंचेन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करता है) तथापि अप्रयोजनभूत (प्रयोजन रहित) सभी कामों के न करनेका प्रतिबन्ध (निषेध) उसके बरावर रहता है और उसका पालन उसके लिए अनिवार्य है, अन्यथा वह सम्यग्दृष्टि नहीं है ऐसा समझना चाहिए। उसी तरह व्रती भी प्रतिबन्ध रहित स्वेच्छाचारी कभी नहीं हो सकता यह न्याय व सिद्धान्त है, इसको सदैव ध्यानमें रखना चाहिए। उपधि (परिग्रह) वाला जीव मूर्च्छावान्, आरम्भवान्, असंजमी होता है ऐसा प्रवचनसारमें खुलासा लिखा है किम्बहुना।

---

१. भावो य पढमलिगं ण दव्वलिगं च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति ॥२॥ भावपाहुड़।
विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः, ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥ रत्नकरण्डश्रा०
वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थं समचित्तता, परीषहजयश्चेति पंचैते ध्यानहेतवः ॥ ॥ पूज्यपाद०
एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणम् ॥२३८॥ समयसारकलश। ज्ञान = आत्मा।

निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रय

१—वीतरागता सहित (स्वाश्रित अनुभवरूप) सम्यग्दर्शनादित्रय—निश्चयरत्नत्रय कहलाता है जो दसवें गुणस्थान तकके मुनियोंके आंशिक (कुछ) रहता है इसीलिए वे कथंचित् देशचारित्री कहलाते हैं पूर्ण या यथाख्यातचारित्री नहीं कहलाते। और

२—प्रशस्त रागसहित सम्यग्दर्शनादित्रय—व्यवहाररत्नत्रय कहलाता है वह भी दशवें गुणस्थानतक आंशिक (एक देश) रहता है। तभी वह चित्रलाचरणी (रागविरागरूप मिश्र भाववाला) कहलाता है। इस प्रकार निश्चय व्यवहारकी संधि (एकत्र सहावस्थिति) रहती है कोई विरोध नहीं आता, परन्तु वह मिश्रपना मोक्षका मार्ग नहीं है। मोक्षका मार्ग खालिश (शुद्ध) वीतरागरत्नत्रय है, दूसरा नहीं ऐसा समझना चाहिए। फलतः मोक्षमार्ग दो नहीं हैं कथनरूप मोक्षमार्ग, अर्थात् फरक बतानेके लिए शब्दों द्वारा अशुद्ध मोक्षमार्गका कथन करना (शब्दरूप) व्यवहार मोक्षमार्ग है क्योंकि शब्द जड़रूप हैं और जड़ पराश्रित है अतः वह व्यवहार या उपचार है। मोक्षमार्ग स्वाश्रित है जो चेतनता रूप है और वही अनिर्वचनीय है, उसकी प्राप्ति हो जानेपर मोक्ष प्राप्त हो जाता है, उसमें कोई सन्देह नहीं है। चाहे उसका कथन किया जाय या नहीं, वह बराबर जीवको मोक्ष पहुँचा देगा इत्यादि। निश्चय और व्यवहारका भेद समझना चाहिए। किम्बहुना। ज्ञान या चेतना मोक्षका मार्ग है जड़तारूप नहीं है, यह सारांश है। अस्तु।

न्यायपद्धति

यह है कि असलीकी पहिचान या भेद करनेके लिए, नकलीका भी कथन किया जाता है किन्तु वह नकली—नकली ही रहता है, अभीष्ट सिद्धि नहीं कर सकता व उसको आदर नहीं दिया जा सकता अर्थात् वह मान्य नहीं होता। तदनुसार निश्चय (सत्यभूतार्थ) मोक्षमार्गका महत्त्व दिखलानेके लिए, यदि व्यवहार (असत्य अभूतार्थ) मोक्षमार्ग का स्वरूप (फरक बतानेके लिए) बतलाया जाता है तो वह सत्यरूप नहीं हो जाता है, अपितु वह असत्य ही रहता है यह खुलासा है ॥१६॥ उक्तञ्च[1]।

धर्मप्रवर्त्तक दीक्षादायक मुनि (धर्माचार्य गुरु) का कर्त्तव्य

भारतीय सनातन शिष्ट परंपराके अनुसार धर्मोपदेशकों आचार्यों गुरुओं अर्थात् धर्मप्रवर्त्तकों-हितोपदेशकोंका यह कर्त्तव्य रहा है कि वे स्वयं धर्मात्मा (धर्मके नेता-प्रापक) बनकर दूसरोंके लिए धर्मोपदेश देते रहे हैं, तभी उनका प्रभाव दूसरों पर पड़ता रहा है। जिसके उदाहरण—तीर्थंकर-गणधर-आचार्य आदि हैं, जिन्होंने स्वयं मोक्षमार्गको प्राप्तकर दूसरोंको बताया है। दिव्य

---

१. एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः।
तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतसि॥
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्।
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥२४०॥ समयसारकलश।

ध्वनि द्वारा, ग्रन्थरचना द्वारा, जवानी उपदेश द्वारा, इधर-उधर जाकर प्रचार द्वारा धर्मोपदेश दिया है। पश्चात् श्री कुन्दकुन्दाचार्य, धरसेनाचार्य, समन्तभद्राचार्य, उमास्वामी आचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, पुष्पदन्त भूतवली आचार्य, पूज्यपादाचार्य, जिनसेनाचार्य-गुणभद्राचार्य आदि कितने ही चोटीके विद्वान् धर्माचार्यो ने स्वयं उदाहरण वनकर लोकमें कार्य किया है। तदनुसार (उसी परंपराके अनुकूल) अमृतचन्द्राचार्य आगेकी पीढ़ीके लिए सावधान कर रहे हैं (स्मरण दिला रहे हैं) कि तुम सब आगे होनेवालोंका भी यही कर्त्तव्य है कि पूर्व परंपराके अनुसार पेश्तर शिष्यको उच्च वीतराग धर्मका ही उपदेश देकर परंपरा कायम रखना, उसमें त्रुटि कर अपराध न करना अन्यथा दण्डका पात्र होना पड़ेगा इत्यादि।

आगे आचार्य दो श्लोकोंके द्वारा उपदेश देनेका क्रम वतलाते हैं—

बहुशः[1] समस्तविरतिं[2] प्रदर्शितां यो न जातु[3] गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः[4] कथनीयानेन बीजेन[5] ॥१७॥

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्[6] ॥१८॥

पद्य

वार-वार समझाने पर जो, सकल त्याग नहिं कर सकता।
इसीलिये आदेश[7] उसे है—एक देश[8] व्रत धर सकता॥
पर यह है अपवाद[9] मार्ग, जो शक्तिहीन जन अपनाते।
मिलता नहीं मोक्ष है उनको, व्यवहारी जन [10]पनपाते ॥१५॥

इस ही की पुष्टि में कहते—पहिले 'यती [11]धर्म कहना'।
नहीं वताना 'गृही [12]धर्म को' जिससे दण्डनीय होना॥
क्रमिक[13] भंग करने के कारण, अपराधी वह होता है।
चौर्य पाप सम उसको जानो, आज्ञा[14] लोप जु करता है ॥१८॥

---

१. वारंवार।
२. सकलत्याग (महाव्रत)।
३. यदि कदाचित्।
४. एकदेश त्याग (अल्पत्याग)।
५. हेतु (अगत्या)।
६. दण्डनीयपद (दण्डका पात्र)
७. आज्ञा।
८. अणुव्रत (देशव्रत अल्पत्याग)

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यः] जो शिष्य (दीक्षार्थी-उदासी) [बहुशः प्रदर्शितां समस्तविरतिं वारम्वार विस्तारके साथ कहे गये या समझाये गये सकल त्याग व्रतको अर्थात् महाव्रतको (मुनि धर्मको) [कदाचित्] किसी कारणवश-खासकर अपनी शक्तिहीनता (कमजोरी) के कारण [न गृह्णाति] नहीं ग्रहण कर सकता है (हो) [तस्य] उस जैसे शक्तिहीन शिष्यको [अनेन बीजेन] इस कमजोरी के सबब (हेतु से) [एकदेशविरतिः कथनीया] एक देशव्रत (अणुव्रत) धारण करनेका उपदेश देना चाहिए या अणुव्रतकी (श्रावक धर्मकी) दीक्षा देना चाहिये, ऐसी आज्ञा है, यह क्रम या पूर्व शिष्ट परंपरा है ऐसा न्याय समझना ॥१८॥

इसी कथनकी पुष्टिमें आगेका श्लोक लिखा गया है—(सम्बन्ध रखता है) [यः अल्पमतिः] जो कम वुद्धिका धारक दीक्षाचार्य (गुरु) यह गलती करता है कि पेश्तर [यतिधर्ममकथयन् गृहस्थ-धर्ममुपदिशति] उच्च यतिधर्म (मोक्षका कारण सकलव्रत या महाव्रत) को न कहकर अर्थात् मुनिधर्मका महत्त्वपूर्ण विवेचन या उपदेश न देकर गृहीधर्म अर्थात् श्रावकधर्म (अणुव्रत) का ही विवेचन करता है—महत्त्व दिखलाता है [तस्य भगवत् प्रवचने निग्रहस्थानं प्रदर्शितम्] उस कम वुद्धि दीक्षाचार्यका जैन शासनमें छोटा दर्जा अथवा दण्डके योग्य पद (स्थान) कहा गया है अर्थात् वह दण्डका पात्र है ऐसा वतलाया गया है। कारण कि वह स्वाश्रित अपराधी है, स्वयं गलती करनेवाला है, जिसका दण्ड (प्रायश्चित्) उसे अवश्य मिलता है या मिलना चाहिए। क्योंकि उसने जिनाज्ञा भंग करके चोरीका अपराध किया है, क्रम भंग किया है प्राचीन परंपराको तोड़ना जिनाज्ञाको भंग करनेवाला महान् अपराधी होता है ॥१८॥

भावार्थ—जैन शासनमें जिनाज्ञा पालनेका स्थान सर्वोपरि (पहला) है वह सच्चा जैन (आज्ञा सम्यक्त्वी) माना जाता है जो जिनाज्ञाकी अवहेलना नहीं करता—वही सपूत है (सम्यग्दृष्टि है) जो प्राचीन शास्त्रीय परंपरा (संस्कृति) के अनुसार सदैव चलता है व औरोंको भी चलाता है। इसके विपरीत जो चलता है—मनमाना वर्त्ताव करता है, प्राचीन सभ्यता (संस्कृति) की परवाह नहीं करता और उसको तोड़ता है तथा अन्य लोगोंको भी उसके तोड़नेका उपदेश देता है, उन्हें प्रेरित करता है वह कुपूत (मिथ्यादृष्टि) है। पूर्ण ज्ञानी वीतरागीकी आज्ञा या उपदेशको नहीं मानना और रागीद्वेषी कम वुद्धिवालोंकी आज्ञा मानना व महत्त्व देना महान् मूर्खता व अज्ञान है, उनके समझकी कमी है अस्तु। इन्हीं सव सारभूत वातोंको लक्ष्यमें रखकर उपर्युक्त श्लोक वनाये गये हैं जिनमें स्पष्ट निर्भयताके साथ मुनियों—धर्मप्रवर्त्तक आचार्योंके कर्त्तव्य-का निर्देश किया है और कर्त्तव्यच्युत होनेपर भय (भर्त्सना) वतलाया गया है अर्थात् उनको

---

९. अपराध मार्ग (दोषीक अवस्था)।

१०. पुष्ट करते या मानते या समर्थन करते।

११. मुनिधर्म (अनगार धर्म)।

१२. गृहस्थधर्म (सागारधर्म)।

१३. क्रमका उल्लंघन (प्राचीन परंपराका खण्डन)।

१४. आज्ञाका चुराना।

कर्त्तव्यहीन व निन्दाका पात्र बतलाया गया है ताकि (जिससे) कोई विरुद्ध कार्य न करे, जैन परंपरा अक्षुण्ण (निर्दोष) चली जाय इत्यादि। फलतः दीक्षार्थी शिष्यको पेश्तर उच्च और मोक्षदायक धर्मका ही महत्त्व बताकर उपदेश देना चाहिए, क्योंकि वही असली धर्म या चारित्र है, जिससे जीव संसारसे पार हो सकता है। परन्तु जब वह शिष्य सुन व समझ करके स्वयं अपनेको उसके योग्य न पावे (रागादिसहित शक्तिहीन माने) तब वह दीक्षाचार्यको उस धर्म पालनेसे स्पष्ट इन्कार कर देवे कि महाराज अभी हम इतने ऊँचे धर्म (यतिधर्म-महाव्रत) को नहीं पाल सकते, हमसे अभी निर्वाह होना असंभव है क्षमा करें और इससे छोटे धर्मकी हमें दीक्षा देवें इत्यादि। इसके विपरीत यदि उक्त क्रमको न जाननेवाला कोई नया अनुभवशून्य दीक्षाचार्य, पेश्तर ही एकदम श्रावकधर्मका निरूपण व महत्त्व बताकर (शिष्यकी परीक्षा किये बिना ही) श्रावकधर्मकी दीक्षा दे देवे तो वह दण्डका पात्र अवश्य हो जाता है क्योंकि उस अनभिज्ञने शास्त्रोंकी आज्ञा या परंपरा भंग की है अतः वह चौर्य कर्मका अपराधी सिद्ध होता है। यह विचार किया जाय। दीक्षाचार्य बनना सरल काम नहीं है, बड़ी भारी जिम्मेवारी उसके ऊपर है यह ध्यान रहे। यह स्वाश्रित अपराधका नमूना है। अस्तु। स्वयं गलती करना तथा दूसरोंको गलत उपदेश देना महापाप है किम्बहुना। व्रत या मोक्षमार्गके विषयमें हमेशा सावधानी व विवेकशीलताकी आवश्यकता है, अन्यथा पूर्वापरका विचार किये बिना कषायवश या अज्ञानतावश तीव्र अपराध होता है इत्यादि ॥१७-१८॥

आगेके श्लोकसे और भी पराश्रित अपराधका खुलासा किया जाता है

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽपि[1] दूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि संप्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

पद्य

जो उत्साह बहुत रखता है—धर्म दीक्षा लेने में।
उसको अक्रम कथनी करके, लुभा देत है थोड़े में ॥
ऐसा दीक्षाचार्य दण्ड का—पात्र होत है जिनमत में।
वंचित करता नकली देकर असल धर्म के बदले में ॥१९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अतिदूरमपि प्रोत्सहमानः शिष्यः] अत्यन्त (बहुत भारी) उत्साह रखनेवाला शिष्य (दीक्षार्थी) [यतः] जबकि [अक्रमकथनेन] आचार्य द्वारा बिना क्रमके यद्वातद्वा कथन करनेसे अर्थात् मुनिधर्मका कथन पेश्तर करना चाहिए था परन्तु वह न करके पेश्तर श्रावकधर्म (गृहिधर्म) का कथन किया, जिससे कि वह शिष्य [अपदेऽपि संप्रतृप्तः] हीनपद (श्रावकपद) में ही सन्तुष्ट हो गया अतः फलस्वरूप [तेन दुर्मतिना प्रतारितो भवति] वह उत्साही शिष्य, उस दुर्बुद्धि या अल्पबुद्धि (अज्ञानी) दीक्षाचार्य (गुरु) द्वारा ठगा जाता है—मुनिधर्मसे

१. अति पाठ ठीक बैठता है।

वंचित किया जाता है। अतः यह पराश्रित अपराध भी उसके ऊपर आता है अर्थात् उस आचार्यको लगता है ऐसा दुहरा अपराध (स्वाश्रित व पराश्रित) का भागी वह अज्ञानी गुरु होता है यह खुलासा है। गलती या भूलका फल सभीको मिलता है चाहे वह छोटा हो या वड़ा हो। लेकिन समझदारसे यदि छोटी भी गलती होती है तो वह वड़ी समझी जाती है और मूर्खसे यदि वड़ी भी गलती हो तो वह छोटी समझी जाती है ऐसा लोकका न्याय है जो गलत है। शास्त्रीय न्याय इसके विरुद्ध होता है, जो अभिप्राय पर निर्भर रहता है अन्य क्रिया आदि पर निर्भर नहीं रहता ऐसा समझकर परिणाम (भाव) हमेशा शुद्ध रखना चाहिए। यहाँ तक श्रमण संस्कृतिकी मुख्यता वतलाई गई। आगे यथावसर और अधिक वताया जायगा यहाँ। तो प्रसंगवश प्रकाश डाला गया है किम्वहुना ॥१९॥

श्रावकको धर्मकी आवश्यकता (रत्नत्रयरूप)

आचार्य कहते हैं कि यद्यपि मुनिधर्म मुख्य है और श्रावकधर्म गौण है तथापि मोक्षका मार्ग दोनों हैं। अतएव श्रावकको श्रावकधर्मके पालनेका उपदेश दिया जाता है।

उसको संतोषपूर्वक धारण करना चाहिए यह सामान्य कथन है—

एवं सम्यग्दर्शनवोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि[1] मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति[2] ॥२०॥

पद्य

मोक्षमार्ग है त्रिविधरूप, व्यवहानेत्र[3] से पहिचानो।
वह ही एक रूप होता है, निश्चयनयसे तुम जानो॥
पूर्ण अपूर्ण भेद दो होते, यथाशक्ति धारें वुधजन[4]।
एकदेश अरु सकलदेश, [5]चारित्र-धर्म कहते गुरुजन[6] ॥२०॥

अथवा

हो गुरु इतना विवेकी जो, पात्र अपात्र समझ सके।
अरु मोक्षमार्ग यथार्थ क्या है, ज्ञापना[7] भी कर सके॥

---

१. श्रावक (गृहस्थ)
२. योग्यतानुसार एकदेश (अणुव्रत) अर्थात् अल्प वीतरागतारूप धर्म (चारित्र) सकल देश (महाव्रत)
३. नय।
४. पंडित-वुद्धिमान्।
५. चारित्र वनाम धर्म।
६. आचार्य आदि।
७. वता सके—दूसरोंको उपदेश द्वारा समझा सके।

फिर शिष्य का कर्त्तव्य यह है, आत्मशक्ति विचार के ।
खुद मोक्षमार्ग संभालना, नहिं वंचना[1] में आय के ॥२०॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [एवं] पूर्वोक्त प्रकार [सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको मोक्षमार्गः] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीन भेदरूप मोक्षका मार्ग है [तस्यापि यथाशक्ति नित्यं निषेव्यो भवति] सो श्रावकको भी अपनी शक्तिके अनुसार उसका निरन्तर सेवन करना चाहिए अर्थात् शक्तिके अनुसार एकदेशरूप मोक्षमार्ग भी प्राप्तव्य है, उसे नहीं छोड़ना चाहिए—अमृत जितना मिल सके ले लेना चाहिए, इसीमें बुद्धिमानी है सिर्फ थोड़ा संतोषकी जरूरत है॥२०॥

भावार्थ—साधारण रूपसे, मोक्षमार्ग, निश्चय और व्यवहार (अभेद व भेद) के भेदसे दो प्रकार कहा गया है, जो कारण कार्यकी अपेक्षासे सत्य है (स्वभावरूप या सत् है) परन्तु यह व्यवस्था अभिन्न प्रदेशोंकी ही है, भिन्न प्रदेशोंकी नहीं है, जैसी कि बिना समझे अज्ञानीजन कहा करते हैं व मानते हैं। तदनुसार सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीनों आत्माके स्वभाव हैं और अभिन्न प्रदेशी हैं, एकात्माके प्रदेशोंमें ही व्याप्त रहते हैं, अतएव वे मोक्षके कारण (मार्ग) अवश्य हैं, किन्तु जबतक साधक या मुमुक्षु जीवकी उनमें भेददृष्टि रहती है अर्थात् उसके ज्ञानमें (उपयोगमें) विकल्प रहता है अथवा उपयोग निर्विकल्प या स्वस्थ नहीं होता तबतक संवर व निर्जरा नहीं होती अपितु आस्रव व बन्ध होता है, जिससे मोक्षका होना असंभव है। मोक्षका कारण उपयोगशुद्धि और योगशुद्धि है। अर्थात् उपयोग और योगकी अशुद्धता संसारका कारण है और उन्हींकी शुद्धता मोक्षका कारण है यह भेद है वास्तविकता है। फलतः सम्यग्दर्शनादिके विषयमें भेद या विकल्प होना व्यवहार दशा है और विकल्प नहीं होना निर्विकल्प दशा है (समाधि व ध्यान है—एकाग्रता है—सामयिक है) उसीसे मोक्ष होता है किम्बहुना। विकल्पका कारण रागद्वेषादि विकारी भाव हैं अतः उनके रहते आत्म-कल्याण कदापि नहीं हो सकता यह भाव है। अस्तु। व्यवहार नयकी दृष्टिसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके अनेक भेद बताये गये हैं परन्तु निश्चयकी दृष्टिसे सबमें अभेद है—विकल्प या प्रदेश भेद नहीं है।

व्रतादिक धारण करनेकी रुचि या अभिलाषा होना यह शुभोपयोग या धर्मानुराग है, जिससे पुण्यबन्ध होता है मोक्ष नहीं होता यह शुद्ध कथनी है किन्तु उक्त भाव कब होते हैं जब जीवका उपयोग निज स्वरूपमें स्थिर (एकाग्र) नहीं रहता याने शुद्धोपयोगसे च्युत होता है। इस च्युत होनेका नाम ही छेद है अर्थात् शुद्धोपयोगमें छेद हो जाता है (अखण्डमें खण्ड हो जाता है) जो एक अपराध है। कारण कि वह छेदका होना अर्थात् हिंसाका होना है—स्वभाव भावका घात है, जिसका फल बन्धकी सजाका मिलना है यह न्याय (निर्णय) है। ऐसी स्थितिमें प्रतिज्ञा भ्रष्ट होना अर्थात् प्रतिज्ञामें छेद करना, सम्यग्दृष्टि विरागीके लिए कभी इष्ट (उपादेय) नहीं होता उसका प्रयत्न हमेशा प्रतिज्ञापर दृढ़ रहनेका ही रहता है। यदि कहीं उसकी प्रतिज्ञा पर आँच आती है तो उसको असह्य विषाद (दुःख) होता है और तत्काल वह उसे हटानेका प्रयास करता

१. ठगोरी बातोंमें आकर।

है इत्यादि। यद्यपि चरणानुयोग या लोकपद्धतिसे (व्यवहार दृष्टिसे) ऐसा रूपक है कि गुरु शिष्यका उपकार करे, और शिष्य गुरुकी आज्ञाका पालन करे, अर्थात् एक दूसरे पर जिम्मेवारी आती है, जो उचित है वैसा करना ही चाहिए। किन्तु निश्चयनयसे अपनी-अपनी जिम्मेवारी अलग-अलग है, स्वयं ही समझदारीसे हेय उपादेयका ख्याल रखते हुए कार्य करना चाहिए। दूसरे पर छोड़ देनेसे एवं स्वयं प्रमादी अज्ञानी वन जानेसे कार्य सिद्ध नहीं होता उल्टा ठगाया जाता है ऐसा समझना चाहिए।

निश्चयनयसे मोक्षमार्ग एक और एकरूप (वीतरागतारूप) ही है। जिसका कथन व्यवहारियोंने सरागरूपसे किया है और निश्चयनयावलम्बियोंने वीतरागरूपसे किया है अर्थात् एक ही वस्तुका दो तरह से वर्णन किया है अतः वर्णन (कथन) दो तरह का है। वस्तु दो तरह की नहीं है यह सारांश है। इसका खुलासा अन्यत्र किया गया है देख लेना अस्तु ॥२०॥

नोट—श्रावकधर्मके भेद व उनका स्वरूप आगे प्रकरण ३७ वें श्लोक से लगाय विस्तारके साथ किया गया है (चारित्राधिकारमें तथा १२ वारह व्रतों से श्रावकको ११ ग्यारह प्रतिमाएँ (कक्षाएँ) बनती हैं, उनका कथन भी श्लोक नं० १७४ में किया गया है सो देख लेना। श्रावकको प्रतिमाओंका धारण करना अनिवार्य रहता है। व्रताचरण की नीव वहींसे डलती है, उसे नैष्ठिक श्रावक कहते हैं।

आचार्य कहते हैं कि मोक्षमार्गी (मुमुक्षु) का कर्त्तव्य है कि वह तीन भेदरूप मोक्षमार्गमेंसे पहिले सम्यग्दर्शन की आराधना (प्राप्ति) करे क्योंकि वह मूल है।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

पद्य

सम्यक्त्वको प्राप्तव्य जानो मूल श्रावक धर्मका।
जिस प्राप्त होते उदय होता ज्ञान अरु चारित्रका॥
इस भाँति क्रम है मार्गका जो 'मोक्षमार्ग' विख्यात है।
कर हस्तगत उसको प्रथम ही गुणी शिवपुर जात है॥२१॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [तत्र] तीन भेदरूप मोक्षमार्गमेंसे [आदौ अखिलयत्नेन सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयम्] सबसे पहिले हर तरह प्रयत्न करके सम्यग्दर्शनको प्राप्त करना चाहिए, (श्रावकका यह कर्त्तव्य है) [यतः] क्योंकि [तस्मिन् सति एव ज्ञानं चरित्रं च भवति] उस सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर अवश्य ही सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र प्रकट होता है अर्थात् ज्ञान और चारित्र दोनों सम्यक्पदवीको प्राप्त कर लेते हैं, यह सारांश है ॥२१॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन मोक्षमार्गकी पहली सीड़ी है, उसके विना ज्ञान और चारित्र सम्यक् नहीं होते किन्तु मिथ्या हो रहते हैं और जब सम्मग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तब वही ज्ञान व

चारित्र जो उस समय मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्रके रूपमें रहता है, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रके रूपमें परिणत हो जाता है अर्थात् उनका नाम व भाव (विशेषण) बदल जाता है, यह विशेषता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए सबसे पहिले उस सम्यग्दर्शनको ही मोक्षमार्गी भव्यात्माको प्राप्त करना चाहिये। तभी उसका पुरुषार्थ सफल समझा जाता है (समझा जायगा)। फलतः मोक्षमार्गका वही मूल है, उसके विना सब निष्फल हैं (साध्यके साधक नहीं हैं) और यह नियम है कि जिसको एक वार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है वह नियम से अर्धपुद्गल परावर्त्तन कालके भीतर मोक्ष चला जाता है आगे वह संसारमें नहीं रह सकता। सम्यग्दर्शनका लक्षण आचार्य श्री स्वयं आगे बतानेवाले हैं (२२ में)। अतएव यहाँ बताना व्यर्थ है। यहाँपर तो उसकी प्राथमिकता और आवश्यकता मात्र वतलाई गई है किम्वहुना।

इस श्लोकमें 'यत्नेन' इस पद विशेषके रखनेका क्या महत्त्व है? यह विचारणीय है। साधारणतः हर एक कार्य यत्न या पुरुषार्थ पूर्वक तो होते ही हैं—कोई नई बात नहीं है फिर 'यत्नेन' यह पद लिखनेकी क्या विशेषता है, सो बताते हैं। यत्नका अर्थ या प्रयोजन यह है कि कोई जीवनको सफल बनाना चाहता है तो उसको चाहिए कि वह मोक्षके कारणभूत 'सम्यग्दर्शन'को पहिले प्राप्त करे और जिस तरहसे भी हो प्राप्त करे चाहे उसके पीछे वर्त्तमान पर्यायको भी छोड़ना पड़े तो भी निर्मोह होकर छोड़ देवे। इसका तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनका मूल्य सबसे अधिक है, कारण कि उसके प्राप्त हो जानेपर सारी बलाएँ (जन्ममरणादि) छूट जाती हैं। लेकिन उसकी प्राप्तिका यही एक उपाय है कि वह मुमुक्षु भव्यजीव पेश्तर अपनी पर्याय बुद्धि (संयोगी पर्यायमें एकत्त्व बुद्धि व राग द्वेषादिभाव) छोड़ देवे, जो अनादिकालसे हो रही है तथा अपने शुद्ध ज्ञायक स्वभावमें उपयोगको लगावे अर्थात् पर्यायदृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करे अथवा अशुद्धदृष्टि छोड़कर शुद्धदृष्टि करे, तभी पुरुषार्थकी सफलता है। यह पुरुषार्थ जीवने अभीतक नहीं किया है जो सम्यक् पुरुषार्थ है और जिससे संसार छूटकर मोक्षकी प्राप्ति होना है। अतएव यत्न पद द्वारा उसीपर जोर दिया गया है। यद्यपि वस्तुका परिणमन स्वतन्त्र है, वह किसीके अधीन नहीं है—उसके लिये निमित्तकी आवश्यकता नहीं होती वह अपने आप होता रहता है तथापि व्यवहारनयसे उसको पुरुषार्थ (निमित्त) के अधीन कहा जाता व माना जाता है, उसी दृष्टिसे यहाँ यत्नको मुख्य बतलाया गया है। तथा हमेशा एक-सा उपयोग नहीं रहता बदलता रहता है, अतएव पर्यायकी दृष्टि होनेपर इस प्रकारकी रागबुद्धि (कषाय या कर्मधारा) स्वयं प्रकट होती है कि हम ऐसा पुरुषार्थ करें (निमित्त मिलावें) और उसी प्रकार योगोंकी प्रवृत्ति भी वह करने लगता है इत्यादि परन्तु श्रद्धामें परिवर्त्तन नहीं होता यह नियम है।

जव सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेकी वुद्धि जीव (आत्मा) को हो तब समझना चाहिये कि अब इसका भला (कल्याण) होने वाला है और उसकी सूचना उस जीवको स्वयं शुद्ध स्वसंवेदन द्वारा मिल जाती है, जिसे मानस प्रत्यक्ष या स्वानुभव कहते हैं, और उसका आलम्वन एकमात्र आत्मा ही रहता है। पश्चात् उसका संस्कार पड़ जानेसे बारम्वार स्मरण होकर उसीकी ओर उपयोग जाता रहता है, जिससे वह एकदम भूल नहीं जाता। फलतः सच्चा प्रकाश सम्यग्दर्शनके

प्राप्त होनेपर ही आत्मामें होता हैं, जिससे अनादिकालीन मिथ्यान्धकार नष्ट हो जाता है व सही २ दिखने लगता है उसकी बदौलत सुमार्ग पर चलनेसे अभीष्ट स्थानकी प्राप्ति हो जाती है अतएव सबसे बड़ा प्रथम उपकारी सम्यग्दर्शन ही है ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये। अस्तु ॥२१॥

सम्यग्दर्शन पहिला अधिकार

आचार्य निश्चय और व्यवहार दो नयोंकी अपेक्षा से सम्यग्दर्शनका स्वरूप बताते हैं—

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥२२॥

पद्य

विपरीतता से रहित जो श्रद्धान है जीवादि का ।
सम्यक्त्व उसीका नाम है जो रूप है व्यवहार का ॥
व्यवहार है इसलिए कि सम्बन्ध है परद्रव्यका ।
निश्चय उसे कहना जहाँ, सम्बन्ध हो निजद्रव्यका ॥२२॥

अन्वय अर्थ—[जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां] जीव अजीव आदि सात तत्त्वोंका जो [विपरीताभिनिवेशविविक्तं श्रद्धानं] विपरीत (मिथ्या) अभिप्राय (धारणा-मन्तव्य) से रहित श्रद्धान किया जाता है वह व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है, कारण कि वह पराश्रित है अर्थात् मोक्षमार्गोपयोगी जीवादि सात तत्त्वोंके श्रद्धानरूप है तथा [यत् आत्मरूपं] जो सिर्फ परद्रव्योंसे भिन्न एक अपनी (निज) आत्माका श्रद्धान है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है, । [तत् सदैव कर्त्तव्यम्] सो वह श्रद्धान सदैव करना चाहिए अर्थात् वह अनिवार्य है क्योंकि उसके विना आत्मकल्याण नहीं हो सकता ऐसा आचार्यदेव[1] कहते हैं ॥२२॥

भावार्थ—निश्चय सम्यग्दर्शनमें मिथ्या अभिप्रायसे रहित सिर्फ एकत्व विभक्तरूप (परसे भिन्न व अपने गुणोंसे अभिन्न) अपनी आत्माके श्रद्धानकी मुख्यता रहती है जो स्वाश्रित कहलाती है। और व्यवहार सम्यग्दर्शनमें मिथ्या अभिप्रायसे रहित पर द्रव्यों (सात तत्त्वों) श्रद्धानकी मुख्यता रहती है जो पराश्रित है, यह खास भेद समझना चाहिए। यद्यपि दोनों तरहकी श्रद्धामें प्रदेशभेद आत्मामें नही पाया जाता है—एक आत्मामें ही सभी तरहकी श्रद्धाएँ रहती हैं, अतएव भेद नहीं मानना चाहिए अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शनमें भेद मानना व्यर्थ हैं ऐसी आशंका हो सकती है ? तथापि विकल्परूप श्रद्धा होनेसे भेद

---

१. एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ॥
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं ।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमात्मायमेकोऽस्तु नः ॥६॥ समयसारकलश ।

अवश्य माना जाता है व मानना चाहिए। अर्थात् निश्चय श्रद्धामें कोई विकल्प नहीं होता और व्यवहारश्रद्धामें विकल्प होता है जो व्यवहारका रूप है। ऐसा होनेपर भी दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें सम्यक्श्रद्धा (विपरीताभिनिवेशरहित) होनेसे द्रोनों कथंचित् प्रामाणिक या मोक्षके मार्ग समझे जाते हैं—श्रद्धामें विपरीतता न होनेसे। यदि कहीं श्रद्धामें विपरीतता हो जाय तो निःसन्देह मोक्षमार्गता नष्ट हो जाय। जैसे द्रव्यलिंगीके श्रद्धामें विपरीतता होनेसे वह व्यवहारनयसे भी मोक्षमार्गी नहीं माना जा सकता। इत्यादि—

विशेषार्थ—यद्यपि यह पूरा लक्षण (विपरीताभिनिवेशरहित तत्त्वार्थ श्रद्धान) निश्चयसम्यग्दर्शनका है, तथापि कारणमें कार्यका अरोप होनेसे व्यवहार या उपचाररूप भी है, यह विशेषता है। इसके सिवाय जबतक सात तत्त्वोंका श्रद्धान विपरीत अभिनिवेश (श्रद्धान) से रहित न हो, तबतक मुख्यरूप कारणके सद्भावमें अकेले तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन मानना या कहना भी सरासर उपचार या व्यवहार समझना चाहिए। सारांश यह कि 'सम्यग्दर्शन रूप कार्य, तत्त्वार्थश्रद्धानरूप मुख्य कारण, तथा विपरीत श्रद्धानसे रहित नियमरूप (अविनाभावी) कारण, के सद्भावमें ही होता है अन्यथा नहीं। तब विपरीत अभिप्राय (श्रद्धान) रहित तत्त्वार्थ श्रद्धानमात्रको ही, जो कारणरूप है—उपचारसे या अभेद विवक्षासे, सम्यग्दर्शन (कार्य) मान लेना व्यवहार नहीं तो और क्या है ? विचार किया जाय !

नोट—विपरीताभिनिवेश रहितका अर्थ है, अगृहीत मिथ्यात्वका छूटना।

श्रद्धाभेद न होनेसे ही ४ चार भेद बताये गये हैं (विपरीत श्रद्धा नहीं होती) अर्थात् सम्यग्दर्शनके अनेक तरहसे शास्त्रोंमें भेद बताये गये हैं जैसे कि सर्वार्थसिद्धि टीकामें उपशम-क्षयोपशम-क्षायिक[1] तीन भेद बतलाये गये हैं, षट्खण्डागममें भी ये ही ३ तीनों भेद बतलाये गये हैं, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक सभी में इनका उल्लेख है तथा आत्मानुशासनमें १० भेद बतलाये गये हैं (आज्ञासम्यक्त्वादि) नाटक समयसार भाषाछन्दोवद्धमें ९ भेद वतलाये गये हैं। सराग वीतराग भेद तो सर्वत्र कहे गये हैं। इसके सिवाय निम्न ४ चार भेद भी वतलाये गये हैं। अस्तु। इन सबमें मूलकारण तो एक है और वह 'विपरीताभिनिवेशरहित है' अर्थात् विपरीताभिनिवेश (मिथ्या भाव या श्रद्धान) नष्ट हुए विना सम्यग्दर्शन नहीं होता अतः विपरीताभिनिवेशका क्षय (अभाव) होना ही चाहिए यह अनिवार्य है सो वह सभी तरहके सम्यग्दर्शनों में चाहे वह निश्चय सम्यग्दर्शन हो या व्यवहार सम्यग्दर्शन हो, रहना जरूरी है, उसमें विवाद (मतभेद) नहीं हो सकता यह ध्रुव है। सिर्फ प्रयोजन भेद बतानेके लिए ४ चार भेद, चार तरहके माने गये हैं सो समझना चाहिए।

---

१. क्षायिक सम्यग्दर्शन, कर्मभूमियां मनुष्यणी अर्थात् द्रव्य स्त्री मनुष्यके भी होता है पर्याप्तक दशामें, इसमें सन्देह नहीं करना। जीवकाण्ड गोम्मटसारकी गाथा नं० ७०४ तथा आगे ७१२ आदिमें भी देख लेना संस्कृत टीका एवं पं० टोडरमल्लजी कृत भाषा-टीकामें खुलासा लिखा है। लेखक।

सम्यग्दर्शनके चार भेद और उनका पृथक् २ प्रयोजन

(१) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । जीवाजीवादिक सात तत्त्वों (पदार्थों) की यथार्थ (सम्यक्) विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धा करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं, ऐसा स्थविर आचार्य उमास्वामि महाराज अपने तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थमें नं० २ अध्यायमें कहते हैं। इसका प्रयोजन सिर्फ इतना है कि अन्यवादियोंके द्वारा माने गये तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन नहीं कहलाता, कारण कि उनमें यथार्थता नहीं पायी जाती वे सब एकान्त द्वारा कल्पित किये गये हैं, उनका खण्डन हो जाता है। युक्ति आगम प्रमाणसे उनकी सिद्धि नहीं होती, अतएव वे निराधार सिद्ध होते हैं, जैसे कि सांख्य मतवालोंके २५ तत्त्व, नैयायिक मतवालोंके १६ तत्त्व, चार्वाक मतवालोंके ५ तत्त्व इत्यादि। फलतः जैनमतावलम्बियोंके द्वारा अनेकान्त (स्याद्वाद-कथंचित् कथन) न्याय (दृष्टि) से जो मोक्षमार्गोपयोगी जीव अजीव आदि सात तत्त्व सिद्ध किये गये हैं, उनका श्रद्धान करना ही 'सम्यग्दर्शन' है व हो सकता है—अन्यका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्यकी व्यावृत्ति करना मात्र, उक्त सूत्र द्वारा सम्यग्दर्शनका लक्षण बतानेका प्रयोजन (उद्देश्य) है ऐसा समझना।

(२) सच्चे देव गुरु शास्त्रकी श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। यह लक्षण भी पृथक् प्रयोजन रखता है। अर्थात् देवगुरु शास्त्रकी परीक्षा करके जो सिद्ध हों ऐसे सच्चे (वीतराग सर्वज्ञ) देवकी तथा उन्हींके द्वारा कहे गये सच्चे शास्त्रोंकी तथा उन्हींके अनुयायी (शिष्य) सच्चे तपस्वियोंकी श्रद्धा प्रतीति भक्ति आदि करनेको 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं किन्तु उनसे भिन्न (विपरीत) जो कुदेव (रागी द्वेषी अल्पज्ञ) हैं, उन्हींके द्वारा बनाये गये जो रागादिपोषक शास्त्र (कुशास्त्र) हैं तथा उन्हींके अनुयायी जो पाखण्डी तपस्वी (कुगुरु) हैं, उनकी श्रद्धा भक्ति स्तुति करना सम्यग्दर्शन नहीं है। ऐसा उनसे भेद करनेके लिए या उनके प्रति सेवाभाव या प्रवृत्ति हटानेके लिए उक्त लक्षण बताया गया है। यह पृथक् प्रयोजन है परसे व्यावृत्ति लक्ष्य है।

(३) स्वपरका भेद ज्ञान करना सम्यग्दर्शन है। अर्थात् आत्मा (जीव) क्या है और पर (शरीरादि) क्या है ? ऐसा पृथक् २ समीचीन (सम्यक्) ज्ञान व श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। जबतक प्रत्येक पदार्थकी भिन्नताका यथार्थ ज्ञान श्रद्धान न हो तबतक सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता। पदार्थकी स्वतन्त्रताका ज्ञान होना अनिवार्य है, आत्माकी स्वाधीनताका जानना जरूरी है। इसका मुख्य प्रयोजन यह है कि जब यह प्रतीति हो जायगी कि मेरा आत्मा सब परसे भिन्न है तब स्वयं वह परमें रागद्वेषादि विभाव भाव नहीं करेगा, उनसे विराग हो जायगा, जिससे उसका भला होगा, भूल मिटेगी जो कर्त्तव्य है एवं लक्ष्यभूत है, अर्थात् वही जीव प्रतिज्ञाका निर्वाह (पालन) कर सकेगा इत्यादि, परसे ममत्वका छुड़ाना इसका प्रयोजन है। अस्तु—

(४) आत्मश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। अर्थात् अपनी आत्माका जो कि एकत्व विभक्तरूप है, सम्यक् श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसका प्रयोजन सिर्फ अपना ही बल भरोसा करनेसे मोक्ष

होता है, परके बल-भरोसेपर मोक्ष नहीं होता। अतएव सदैव स्वावलम्बन करना चाहिये, यह बताना है। परावलम्बन छोड़ना और स्वावलम्बन करना ही उचित व हितकर है, यह सारांश है। जबतक संयोगी पर्यायमें परका आलम्बन व ग्रहण त्याग रहता है तबतक जीव संसार से पार नहीं होता, उसीकी चपेट में या धर-पकड़ में जीव उलझा रहता है यह नियम है, फिर भी समझसे काम लेनेपर वह संसारसे पार होता है कोई असंभव बात नहीं है इसलिए आगे शंका समाधान किया जाता है समझ लेना।

नोट—उपर्युक्त सभी सम्यग्दर्शनोंमें मूल बात 'विपरीताभिनिवेश रहितपना होना' अनिवार्य है ध्यान रहे।

सम्यग्दर्शन हो जानेका परिचय (ज्ञान) कैसे होता है ? इसका उत्तर निम्न प्रकार है।

> सम्यक्त्वं तत्त्वतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्।
> गोचरं स्वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३७५॥ पञ्चाध्यायी उत्तरार्ध।

अर्थ—सम्यग्दर्शन आत्माका अत्यन्त सूक्ष्म गुण है अतएव उसका परिचय (निश्चय या ज्ञान) प्रत्यक्षरूपसे पूरा तो केवलज्ञानके द्वारा होता है तथा अपूर्णरूपसे या थोड़ा २ प्रत्यक्ष (देश प्रत्यक्ष) अवधि (सर्वावधि-परमावधि) ज्ञान एवं मनःपर्यय ज्ञानसे भी होता है। इसके सिवाय उसका परोक्ष ज्ञान, मतिश्रुत ज्ञानसे भी होता है ऐसा समाधान समझना चाहिए। अर्थात् उसकी जानकारीका होना असम्भव नहीं है किन्तु येन केन प्रकारेण सभी जीवोंको हो सकती है किन्हींको प्रत्यक्षरूपसे व किन्हींको परोक्षरूपसे (अनुमानादिद्वारा) लेकिन प्रत्यक्षरूपसे, मतिश्रुत ज्ञान व देशावधिज्ञान द्वारा उसका परिचय नहीं हो सकता यह नियम है किम्बहुना।

हमारा (जीवका) आत्म कल्याण कैसे हो ?
इस प्रश्नका उत्तर

(१) संक्षेपमें उक्त प्रश्नका उत्तर एक ही है और वह 'सम्यग्दर्शन'को प्राप्त करना है, व मिथ्यात्वको छोड़ना है। यही एक अद्वितीय और सर्वोत्कृष्ट उपाय (मुख्य) है। दूसरा उपाय, चारित्रको धारण करना या परिग्रह तथा कषायको छोड़ना गौंण है—मुख्य नहीं है। कारण कि संसारकी मुख्य जड़ (नींव रूप) मिथ्यात्त्व ही है उसीके होनेपर कषायभाव व परिग्रह धारण करना होता है, ये सब उसीकी डाली पत्ते हैं। मिथ्यात्त्वकी बदौलत ही गति आदि सब प्राप्त हुआ करती हैं। और मिथ्यात्वके छूट जानेपर एवं सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर क्रमशः अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परावर्त्तनकालमें सभी तरहका संसार छूट जाता है और सदा स्थायी मोक्ष प्राप्त हो जाता है किन्तु मिथ्यात्वका अंश भी रहते संसार नहीं छूटता न जन्म, मरण, रोग, शोक आधि-व्याधि दुःख ही छूटते हैं न आकुलता छूटती है न परिग्रह व कषाय छूटती है तब निरन्तर जीव दुःखी ही रहता है किम्बहुना। इसीलिए आचार्य प्रवर स्थविर श्री कुन्दकुन्द महाराजने स्वविरचित द्वादशानुप्रेक्षामें एक ही मुख्य उपाय आतमकल्याणका बताया (कहा) है यथा—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झन्ति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झन्ति ॥१९॥ एकत्वानुप्रेक्षा

संस्कृतछाया—दर्शनभ्रष्टाः भ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् ।
सिध्यन्ति चारित्रभ्रष्टा दर्शनभ्रष्टा न सिध्यन्ति ॥१९॥

अर्थ—जो जीव सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट अर्थात् रहित हैं, जिनको सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता या होकर छूट जाता है, वे मिथ्यात्वके रहते हुए मोक्ष नहीं जाते न जा सकते हैं, तथा वे ही महाभ्रष्ट संसारमार्गी कहलाते हैं। ऐसा समझना चाहिए कि मिथ्यादृष्टि ही महाभ्रष्ट हैं—मोक्ष मार्गसे च्युत या महापातकी हैं। अतएव आत्मकल्याण के लिए 'सम्यग्दर्शन'को प्राप्त करना आद्य व मुख्य है—वही एक उपाय है। इसके विरुद्ध चारित्रको आत्मकल्याणका मुख्य उपाय मानना भ्रमपूर्ण है, इसलिए कि जो जीव सम्यग्दर्शन सहित होते हैं वे कदाचित् चारित्र (अन्तरंग वहिरंग या निश्चय व्यवहार) से भ्रष्ट भी हो जायें तो भी वे शुद्धि करके (छेदोपस्थान करके) मोक्षको जा सकते हैं किन्तु सम्यग्दर्शन रहित जो जीव हैं वे चारित्र सहित होनेपर भी (द्रव्यलिंगी जैसे मुनि) मोक्ष नहीं जा सकते, यह अकाट्य नियम है। सारांश—सम्यग्दर्शन ही आत्मकल्याणका मुख्य उपाय है—चारित्र व कषायका त्याग—परिग्रहका त्याग मुख्य उपाय नहीं है यतः वह पशुओं तकके पाया जाता है, परन्तु वे मोक्ष नहीं जाते, सम्यग्दर्शनकी कमी होनेसे यह भाव हैं।[1]

नोट—सम्यग्दृष्टि ही अन्य सव विकल्पोंको छोड़कर अपने ज्ञायक स्वभाव आत्मामें ही उपयोगको लगाता है उसीका आलम्वन लेकर आत्मकल्याण कर सकता है अन्य कोई जीव नहीं ऐसा समझना चाहिये और वही यथार्थ व्यवहार चारित्र धारण कर सकता है इत्यादि।

तव यहाँ प्रश्न होता है कि क्या चारित्रका महत्त्व कम है ? वह धारण नहीं करना चाहिये।

इसका सयुक्तिक समाधान

(२)—चारित्रका महत्त्व कमती नहीं है न उसके धारण करनेका निषेध है किन्तु वह सम्यग्दर्शनके साथ हो तो उसका महत्त्व है और वह धारण करने योग्य भी है क्योंकि उसीसे लक्ष्य (मोक्ष सुख) की सिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं यह नियम है। चारित्र धर्म है और उसका

---

१. उक्तञ्च—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्त्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४॥ रत्न० श्रा० समन्तभद्राचार्य।

अर्थ—तीन लोक और तीन काल में सम्यग्दर्शनके समान दूसरा कोई पदार्थ, आत्मा (जीव) का कल्याण करने वाला नहीं है वह अद्वितीय व अनुपम है। अतएव उसीकी प्राप्ति व सेवा करना चाहिए। और मिथ्यात्त्वके समान कोई दूसरा पदार्थ, आत्माका अकल्याण (अहित या बुरा) करनेवाला नहीं है अतएव जीवोंको चाहिये कि उसको छोड़ देवें इत्यादि ॥३४॥

मूल कारण सम्यग्दर्शन है[1]। फलतः सम्यग्दर्शनके सद्भाव (मौजूदगी) में ही ज्ञान व चारित्र पूजनीय (आदरणीय) होता है अर्थात् सम्यग्दर्शनके होनेपर ही वह ज्ञान व चारित्र सम्यक् (सत्य सही) कहलाता है, और मोक्षका मार्ग बनता है यह विशेषता उनमें आ जाती है। अन्यथा वे संसारका ही मार्ग रहते है। अतएव मूल व मुख्य सम्यग्दर्शन ही सिद्ध होता है। निश्चय और व्यवहार दो तरहका चारित्र होता है। निश्चय चारित्र तो निश्चय सम्यग्दर्शनके साथ ही आंशिक होता है जो मुक्तिका कारण है। किन्तु व्यवहार चारित्र जो शुभराग रूप होता है, गिरती अवस्थाका है जो पीछे होता है। अर्थात् जब जीव शुद्धोपयोग (वीतरागता) से च्युत होता है अर्थात् हटता है तब वह शुभमें लगता है अर्थात् व्रत संयमादि धारण करनेमें लगता है, सो उससे पुण्यका बन्ध ही होता है निर्जरा नही होती, जिससे वह संसारमें तबतक रुका ही रहता है—मुक्त नहीं होता। अतएव वह भी हेय माना गया हैं, जिसको अज्ञानी जीव उपादेय समझते हैं। लेकिन अपवाद मार्गके समय (शक्ति हीनताके समय) उसको अवश्य ही धारण कारना चाहिये, जिससे अशुभमें उपयोग न चला जाय, यह ध्यान रखना चाहिए व शंका मिटा देना चाहिये। वह भी कथञ्चित् महत्त्वकी चीज है—सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है अपेक्षणीय है। चारित्रके प्रकरणमें (३७ में) इसपर विस्तारसे प्रकाश डाला जायगा इत्यादि। सम्यग्दर्शनका आनुषंगिक या अविनाभावी सम्यक्चारित्र माना गया है। कोई भी सम्यग्दृष्टि ऐसा न मिलेगा जिसको सम्यक्चारित्र न हुआ हो व मोक्ष न गया हो ऐसा यथार्थ समझना चाहिये। अस्तु। सम्यग्दर्शनादि तीनों रत्नत्रयरूप धर्म माने गये हैं जो परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। इसके सिवाय—

सम्यग्दर्शनके दूसरी तरहसे भेद

(१) निसर्गजभेद, (२) अधिगमज, भेद अथवा सराग व वीतरागभेद।

(१) (क) जो सम्यग्दर्शन, विना किसीके उपदेशसे स्वतः ही विपरीत अभिप्रायसे रहित प्रकट हो, उसको निसर्गज या स्वभावज कहते है। इसमें मुख्यता, निमित्तकी नहीं होती और खासकर उपदेश या शिक्षाकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे भेड़िया, शेर वगैरह पशुओं में क्रूरता शूरता स्वतः जन्मजात होती है, पक्षियोंमें उड़ना (आकाशमें गमन करना) आदि स्वभावतः होता है, कोई उन्हें सिखाता नहीं है। इसी तरह निसर्गज सम्यग्दर्शन समझना, यह तो आत्माका गुण है अतः वह कभी भी विकसित हो सकता है, कोई आश्चर्य नहीं है। यद्यपि अन्तरंग (दर्शन-मोहका उपशमादि) और बहिरंग (जिनबिम्बदर्शनादि) निमित्त उस समय रहते हैं तथापि उनसे वह नहीं होता इत्यादि, किन्तु स्वकीय योग्यता (उपादान) से ही वह होता है यह खुलासा है।

(२) (ख) जो सम्यग्दर्शन, दूसरेके उपदेश या शिक्षाकी मुख्यतासे उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसीका नाम देशना सम्यक्त्व हैं, अथवा आज्ञा सम्यक्त्व है। इसमें परके उपदेश आदिकी मुख्यता रहती है खुदकी जानकारीकी मुख्यता नहीं रहती। ऐसा जीव, केवल इतना ज्ञान व श्रद्धान रखता है कि 'जिनेन्द्र भगवान्‌का कहा हुआ सभी सत्य

---

१. उक्तञ्च—दंसणमूलो धम्मो व चारित्तं खलु धम्मो इत्यदि।

है—प्रमाणिक है' इत्यादि। अतः श्रद्धामात्रसे वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है। अर्थात् एक श्रद्धान, स्वयं जानकर करना, और एक श्रद्धान, विना स्वयं जाने, आज्ञा मात्रसे करना, इनमें भेद है। लेकिन सामान्यतः श्रद्धानकी अपेक्षा दोनों ही सम्यग्दृष्टि हैं। इसी आधार पर निसर्गज व अधिगमज दो भेद किये गये हैं। 'पुरुषप्रामाण्यात् वचनप्रामाण्यं' ऐसा न्याय है अस्तु। पुरुषमें प्रमाणता परीक्षापूर्वक विरोध रहित वचन (कथन या उपदेश) से ही होती है अतएव वह भी आवश्यक है—करना चाहिये इत्यादि। किन्तु विपरीत अभिप्राय (मिथ्यात्व) से रहित होना सर्वत्र अनिवार्य है। निसर्गजका अर्थ, स्वयंवुद्ध, और अधिगमजका अर्थ वोधितवुद्ध, भी होता है किम्बहुना—

सराग व वीतराग भेद

(ग) रागके साथ जो सम्यदर्शन रहता है अर्थात् जो राग से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वीतरागसे उत्पन्न होता है, परन्तु उसके साथ २ राग रहता है, उसको सराग सम्यग्दर्शन कहते हैं। फिर भी श्रद्धानमें अन्तर नहीं रहता, अतएव वह मोक्षका मार्ग (उपाय) माना जाता है। अन्तर सिर्फ देरीसे मोक्ष जानेका है, अर्थात् वह जवतक—सराग सम्यग्दृष्टिको वीतरागता प्राप्त न होगी तवतक संसारमें ही रहेगा मोक्ष न जायगा इत्यादि।

(घ) रागके साथ जो सम्यग्दर्शन नहीं रहता रागको छोड़ देता है विरागके साथ रहता है, उसको वीतराग सम्यग्दर्शन कहते हैं वह जल्दी से जल्दी जोवको मोक्ष पहुँचा देता है यह भेद है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त न होनेकी योग्यता (सामग्री)
(पंचलब्धियोंका स्वरूप)

सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके लिये पाँच लब्धियाँ (प्राप्तियाँ) वतलाई गई हैं, जिनके प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। उनके नाम १—क्षयोपशम, २—विशुद्धि, ३—देशना, ४—प्रायोग्य, ५—करण इति।

(१) [1]क्षयोपशमलब्धि—ज्ञानावरणादि कर्मोंका विशेष क्षयोपशम होना, जिससे तत्त्व-विचार किया जा सके अर्थात् तत्त्वविचारके योग्य वुद्धिविशेषका उत्पन्न होना, जो संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके ही हो सकता है, नीचेवाले जीवोंके नहीं हो सकता यह नियम है। ऐसी योग्यता प्राप्त हो जाना क्षयोपशमलब्धि है।

---

१. क्षयका अर्थ—वर्त्तमानकालमें उदय आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयमें न आना (रुक जाना) तथा आगे उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके निषेकोंका उपशमरूप हो जाना, उदयमें नहीं आना तथा शेष देशघाती स्पर्धकोंका उदयमें मौजूद रहना, क्षयोपशमदशा कहलाती है। वर्त्तमानमें सभी स्पर्धकोंका दव जाना, उपशम अवस्था कहलाती है। वर्त्तमानमें सभी स्पर्धकोंका क्षय हो जाना क्षय अवस्था कहलाती है, जो कर्माणद्रव्यकी है अस्तु।

२—विशुद्धिलब्धि—मोहका अर्थात् मिथ्यात्व आदि प्रकृतिका मन्द उदय होनेसे मन्दकषाय-रूप परिणामोंका होना, विशुद्धिलब्धि कहलाती है जहाँ तत्त्व विचारका भाव (रुचि) हो सकता है अथवा सामान्यतया 'मोहनीकर्म' का मन्द उदय होना लिया जा सकता है।

(१) देशनालब्धि—देवगुरु आदिका उपदेश मिलना अथवा उसकी धारणाका होना, देशनालब्धि कहलाती है। वह साक्षात् मिलता है व पूर्वका संस्कार रहता है। जो समय पर काम आता है।

(४) प्रायोग्यलब्धि—विशेष योग्यताकी प्राप्ति होना, प्रायोग्यलब्धि कहलाती है। जैसे कि—पूर्वबद्ध कर्मोंकी स्थिति घटकर, अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरके बराबर रह जाय (एक करोड़को एक करोड़ से गुणित करना, कोड़ाकोड़ी कहलाता है, उससे कम ही स्थिति रह जाय, तथा आगे बंधनेवाले कर्मोंकी स्थिति—अन्तः कोड़ाकोड़ीके संख्यातवें भाग बराबर कम होती जाय, अधिक न पड़े) अर्थात् उस समयसे लगाकर आगे २ स्थिति घटती ही जावे, जबतक सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो, और सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जानेके बाद भी वही क्रम जारी रहे। इसके सिवाय प्रायोग्य लब्धि में—कितनी ही पाप प्रकृतियोंका नया बंध होना भी मिट जाय (प्रकृतिबंधापसरण)। ऐसी अवस्थाका प्राप्त हो जाना ही प्रायोग्यलब्धि कहलाती है। इसीको काललब्धिके नामसे भी कहा जाता है। उसके अनेक भेद, सर्वार्थसिद्धिमें बतलाये गये हैं देख लेना। ३४ प्रकृतिबंधापसरण होते हैं ऐसा लब्धिसारमें लिखा है किम्बहुना।

तब प्रश्न होता है कि क्या स्थितिका घटना सम्यग्दृष्टि प्राप्त होनेके पहले ही (मिथ्यात्व के कालमें) होने लगता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जानेके बाद (पश्चात्) होता है? क्योंकि पंचलब्धियोंका काल तो मिथ्यात्वका काल है।

इस प्रश्नका उत्तर निम्न प्रकार है—
(पहिलेसे ही होने लगता है)

सम्मत्तहिमुहमिच्छो विसोहिवड्ढीहिं वड्ढमाणो हु।
अंतोकोडाकोडिं सत्तण्हं बंधणं कुणई ॥ ९ ॥ लब्धिसार।

अर्थ :—जो जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके सन्मुख होता है अर्थात् है तो मिथ्यादृष्टि किन्तु सम्यग्दर्शनकी प्रागभाव दशामें अवस्थित है, वह परिणामोंकी विशुद्धता बढ़नेके सबब (प्रति समय निर्मलता या मन्दता बढ़ती जाती है) आयु कर्मको छोड़कर बाकी ७ सात कर्मोंका बंध, अंतः कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थितिवाला द्वितीयादि समयोंमें अर्थात् आगे २ पल्यके संख्यातवें भाग स्थिति घटाता हुआ करता है और ऐसा करता हुआ अन्तर्मुहूर्त्त मात्र तककी स्थिति अन्तमें कर देता है। यह प्रायोग्यलब्धिका फल या माहात्म्य है, इसमें परिणामोंकी मुख्यता है।

यह पहिला क्रम (प्रक्रिया) स्थितिबंधको कम करनेका है। इसीका दूसरा नाम (१) पहिला स्थितिबंधापसरण है। परन्तु इसमें यह विशेषता है कि जब कोई सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्या-

दृष्टि जीव ७ सात सौ या ८ आठ सौ सागर प्रमाण (उतनी वार) प्रारंभ जैसा क्रम पूरा करले अर्थात् स्थितिवंधापसरण पूरे करले तव कहीं एक प्रकृतिवंधापसरण होता है अर्थात् एक प्रकृति का वंध होना मिट जाता है अर्थात् वंध नहीं होता। और उक्त क्रम (धारा या शृंखला) के अनुसार ही पेश्तर स्थितिवंधापसरण करते हुए ३४ चौंतीस प्रकृतिवंधापसरण करता है, प्रायोग्यलव्धिके कालमें ही ऐसा नियम है।

यह प्रायोग्यलव्धि कव होती है ?

जव सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीवके परिणाम मध्यम दरजेके होते हैं। अर्थात् जव न तो क्षपक श्रेणी चढ़नेवाले की तरह ऊँचे दरजेके विशुद्ध परिणाम हों, जिससे नवीन वंधकी स्थिति सर्व जघन्य पड़ रही हो तथा पूर्ववद्ध कर्मोंकी स्थिति, अनुभाग, प्रदेशसत्त्व, भी अति जघन्य (सूक्ष्म) न रह गया हो। इसी तरह तीव्र संक्लेश परिणामवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवकी तरह, नवीन वंधकी उत्कृष्ट स्थिति न पड़ रही हो, और पूर्ववद्ध कर्मोंकी स्थिति-अनुभाग-प्रदेशसत्त्व भी उत्कृष्ट नहीं होना चाहिये। ऐसी मध्यम योग्यतावाले परिणामको ही 'प्रायोग्यलव्धि' कहते हैं तभी वह होती है। गाथा नं० ७।८ लव्धिसार। यह सव सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेकी सामग्री है। यह वार २ मिल जाती है, परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता। क्योंकि विना करणलव्धि (५ वीं) प्राप्त हुए, सम्यग्दर्शन नहीं होता यह नियम है। और करणलव्धिरूप परिणामोंके होने पर उसे कोई रोक नहीं सकता; नियमसे वह हो जाता है। तथाहि आगे कहा जाता है—

(५) करणलव्धि—कारणका अर्थ परिणाम है। अतः सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके योग्य परिणामोंका प्रकट होना, करणलव्धि कहलाती है। वे परिणाम जव ऊँचे दरजेके विशुद्ध होते हैं, जो अनुपम और अपूर्व हों, जिनका मिलान न पीछेवालोंसे हो न आगेवालोंसे हो अर्थात् पहिले करणलव्धि माँड़नेवाले और पीछे करणलव्धि माँड़नेवाले सभी सदृश जीवोंसे जव सदृश या विसदृश परिणाम हों तथा सम समयवाले अर्थात् साथ २ करणलव्धिवाले जीवोंके परिणाम सदृश या समान हों अथवा उनमें भेद न हो सके, तव सम्यक्त्वके घातक कर्मों (७ या ५ प्रकृतियों) का उपशम क्षयोपशम या क्षय होता है और सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है यह नियम है।

वे परिणाम तीन तरहके होते है (१) अधःकरण (२) अपूर्वकरण (३) अनिवृत्तिकरण। अधःकरणमें नीचे-ऊँचे वालोंके परिणाम समान मिलते हैं। अपूर्वकरणवालोंके परिणाम कभी एकसे नहीं मिलते। अनिवृत्तिकरण वालोंके परिणाम समान (एकसे) ही होते हैं—भिन्न प्रकार नहीं होते यह तात्पर्य है। यही पाँचवीं लव्धि सर्वोत्कृष्ट है जिससे साध्यकी सिद्धि होती है। शेष चार लव्धियाँ अनन्तवार होती व छूट जाती हैं, परन्तु मिथ्यात्त्व नहीं छूटता इति।

मिथ्यादृष्टि दो तरहके होते हैं (१) सादि मिथ्यादृष्टि (२) अनादिमिथ्यादृष्टि। सादि मिथ्यादृष्टि उनको कहते हैं, जिनको एक वार सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट जाय और मिथ्यादर्शन पुनः प्राप्त हो जाय। यदि वह थोड़े ही काल रहे तो उसका वाह्य आचरण नहीं वदलता और यदि अधिक समय रहे तो वदल जाता है। उसका उत्कृष्टकाल संसारमें रहनेका कुछ कम अर्धपुद्गल

परावर्त्तन मात्र है (अधिककी म्याद नहीं है) उतनेमें योग्यता प्राप्त कर कभी भी मोक्ष जा सकता है। इस तरह वार-वार सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर बार २ छूटनेपर अर्धपुद्गल परावर्त्तन-कालमेंसे घटती होता ही जायगा ऐसा समझना चाहिए। पूरा अर्धपुद्गल परावर्तनकाल, पहली वार सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवके माना जाता है, सभीके नहीं यह तात्पर्य है। जघन्यकाल मध्यम अन्तर्मुहूर्तका है।

नोट—अन्त: कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति प्रायोग्य लब्धिसे लेकर सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जानेतक होती है अर्थात् आगे भी होती है और पीछे भी होती है कोई एक नियम नहीं है। लेकिन कारण-कार्यभाव करण लब्धिके साथ ही सम्यग्दर्शनका है अन्यके साथ नहीं यह तात्पर्य है इति।

सम्यग्दर्शनका महत्त्व (निष्कर्ष)

आ संसारत एव धावति परं, कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः ॥
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्।
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः? ॥५५॥ समयसारकलश।

करणलब्धिके द्वारा किस प्रकार मिथ्यात्व द्रव्य नष्ट होता है? इसका प्रदर्शन किया जाता है।

(निमित्त कर्त्तृत्वकी अपेक्षा चर्चा है)

जिस भव्य योग्यता सम्पन्न जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेवाला होता है, उसके पाँचवीं करणलब्धि (योग्यपरिणामोंकी प्राप्ति) होती है अर्थात् जिन विशेष परिणामोंके निमित्तसे मिथ्यात्व-द्रव्य हटकर सम्यग्दर्शन प्राप्त होना है वे सर्वोत्कृष्ट नम्बर ३ के 'अनिवृत्तिकरण' नामके अति-निर्मल परिणाम उत्पन्न होते हैं। उनके निमित्तसे, क्रमश: ७ सात आवश्यक कार्य पूर्वमें होते हुए—आठवाँ कार्य [1]अन्तरकरण (दूर करना या यहाँ वहाँ हटाना) और नवमाँ कार्य, उपशम करना रूप किया जाता है या होता है। तव उदयकालमें मिथ्यात्त्व द्रव्यके निषेक मौजूद न

---

१. किमन्तरकरणंणाम ? विवक्खिय कम्माणं हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अन्तोमुहुत्तमेत्ताणं।
ट्ठिदीणं परिणामविससेण णिसेगाणामभावीकरणमंतकरणमिदि भण्णदे ॥

जयधवल अ० प० ९५३

अर्थ : विवक्षित कर्मोंके निषेक, जो आगे समयोंमें उदयमें आवेंगे तथा पिछले समयोंमें उदयमें आ चुके हैं, उनको छोड़कर वर्त्तमान कालमें जो उदयमें आने योग्य हों, उनको अन्तर्मुहूर्त्तके लिये उदयके अयोग्य कर देना या दूर हटा देना अन्तरकरण कहलाता है। उसमें निमित्तकारण जीवके विशेष निर्मल परिणाम होते हैं इति।

अथवा—अधिक स्थितिवाले और कम स्थितिवाले (उत्कृष्ट व जघन्य स्थितिवाले) निषेकोंको छोड़कर मध्य स्थितिवाले (मध्यवर्ती) कर्मोंको उदयके अयोग्य करना अन्तरकरण कहलाता है समझ लेना।

रहनेके कारण उनका अभाव (कार्यहीनता) हो जाता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्त तक मिथ्यात्वका द्रव्य दवा रहता है अथवा उदयमें आनेसे दूर (अन्तर या वंचित) रहते हैं (उदयाभावी क्षय) यह तात्पर्य है। अन्तरकरण और उपशमकरण का स्वरूप नीचे टिप्पणी में लिखा है सो समझ लेना। अभी यहाँ पर करणलब्धिके ३ भेद (जातियाँ) और उनमें होनेवाले आवश्यक या ९ नव प्रकारके विशेप कार्य वतलाए जाते हैं यथा—

(१) अधःकरणमें ४ चार आवश्यक होते हैं। १—समय २ अनंतगुणी विशुद्धता (निर्मलता) का होना (२) स्थितिवंधापसरणका होना अर्थात् नवीन वंधकी स्थिति एक २ अन्तर्मुहूर्त्त कमती होते जाना (३) प्रशस्त (पुण्य) प्रकृतियों (कर्मों) का अनुभाग (रस) अनंतगुणा वढ़ते जाना (अनुभाग वर्धन) ४—अप्रशस्त (पाप) प्रकृतियोंका अनुभाग, समय २ अनंतवें भाग घटते जाना कुल ४ आवश्यक।

(२) अपूर्वकरणमें ३ तीन आवश्यक होते हैं। १—पूर्ववद्ध कर्मोंकी स्थितिको अन्तर्मुहूर्त्त घटाना, अर्थात् स्थितिकांडक घात करना, २—पूर्ववद्ध कर्मोंके अनुभागको अन्तर्मुहूर्त्त तक घटाना अर्थात् अनुभागकांडक घात करना, ३—गुणश्रेणी निर्जरा करना अर्थात् असंख्यात गुणित कर्मों को निर्जराके योग्य करना कुल ३ हुए।

(३) अनिवृत्तिकरणमें २ दो आवश्यक होते हैं। १—अन्तकरण करना (वर्त्तमानमें उदय आनेवाले मिथ्यात्वके निपेकोंको दूरकर देना या हटा देना अथवा उदयमें न आने देना या उसके अयोग्य कर देना (उदयाभावी क्षय करना) २—उपशमकरण करना अर्थात् अगले समय में उदय आनेवाले मिथ्यात्वके निषेकोंका उपशम कर देना। इस तरह सव तरहकी वंदिश (रुकावट) हो जानेसे ही मिथ्यात्व द्रव्य नष्ट होता है यह विधि है अस्तु।

अर्थ—अनादि कालसे संसारी जीवोंको, परद्रव्यके कर्त्तापनेका (कि हम सभीके कर्त्ता हैं) मिथ्या अहंकार हो रहा है, यही अज्ञानरूपी अन्धकार छाया हुआ है, अतएव सत्यार्थ नहीं सूझता, (यथार्थ नहीं दिखता) यह दुःखकी वात है। आचार्य कहते हैं कि यदि निश्चयके ज्ञान या आलम्वनसे एक वार भी (अन्तर्मुहूर्त्तको) मिथ्यात्व छूटकर सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय (सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन रूप सूर्यका प्रकाश हो जाय) तो फिर किसी प्रकार भी वह जीव संसारमें वँधा या रुका नहीं रह सकता—अधिक से अधिक उसका निवास संसारमें अर्धपुद्गल परावर्त्तन काल तक ही रहेगा यह नियम है। वस, यही सम्यग्दर्शनका अन्तिम निष्कर्ष (निचोड़) है ऐसा समझना चाहिये और यह आश्चर्य या कुतूहलसे भी नहीं कहा जा सकता कि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर 'सम्यग्दृष्टि' संसारमें हमेशा वंधा रहता है। वैसा कहना गलत है, अज्ञानता है। तथा—

इसी तरह यह कहना भी गलत (असत्य) है कि सम्यग्दृष्टिके वंध नहीं होता। यथार्थ वात (सत्य कथन) यह है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके कालसे सम्यग्दृष्टिके अनंत संसारका वन्ध नहीं होता। उत्कृष्ट स्थितिवाले कर्म (मोहादि) नहीं वँधते किन्तु अल्प स्थितिवाले (अन्तः कोड़ाकोड़ीसे कम स्थितिवाले) कर्म वरावर वँधते हैं, सर्वथा निर्वन्ध वह नहीं हो जाता, जवतक

संयोगीपर्याय मौजूद रहती है, यह विशेषता बतलाई गई है। द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे तो कभी जीव (आत्मा) वंधता ही नहीं है, वह अबंध—परसे भिन्न शुद्ध है इत्यादि। सम्यग्दर्शन संसारकी जड़ (मिथ्यात्व) को नष्ट करता है। मिथ्यादृष्टिका संसार अनादि अनंत रहता है, अस्तु।

क्रमवद्धपर्यायिका ज्ञान व श्रद्धान किसको हो सकता है? इसका उत्तर—सम्यग्दृष्टिको ही हो सकता है जो ज्ञायक स्वभावका आलम्बन करता है, सर्वज्ञताका[1] अस्तित्व अपनेमें निश्चित करता है अर्थात् जो आस्तिक है वही क्रमवद्ध पर्यायिका विश्वास कर सकता है किन्तु जो नास्तिक है वह नहीं कर सकता यह नियम है, ऐसा जानना अस्तु। पर्याएं मात्र क्रमसे होती हैं, जिस क्रमसे सर्वज्ञ केवलीने देखी हैं, उसी क्रमसे वे होती हैं अन्यथा (क्रम भंग करके) नहीं होती चाहे कोई कुछ भी करे, सव व्यर्थ है, मिथ्या मान्यता है। अथवा पूर्व पर्यायिका व्यय होकर ही उत्तर पर्यायिका उत्पाद होता है, यह क्रम हमेशा अटल रहता है। अर्थात् वह नहीं वदलता यह क्रमवद्धता पाई जाती है इसको समझना चाहिये।

अधिगमज सम्यग्दर्शन के भेद

(१) स्वाधिगमज, (२) पराधिगमज।

(क) जो सम्यग्दर्शन स्वयं ही जीवादि तत्त्वों की प्रमाणनयादिके द्वारा जानकारी प्राप्त करके उत्पन्न होता है, उसको स्वाधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह महान् दृढ़ या पक्का होता है, अर्थात् उसमें भ्रम या सन्देह नहीं होता इत्यादि, उसमें भारी विशेषता रहती है। यदि कदाचित् कोई ऐसी दृढ़ श्रद्धावाले सम्यग्दृष्टिको भुलाना हो तो वह कदापि नहीं भूल सकता। तभी तो वड़े २ उपसर्ग घोर दुःख दारिद्र आदि उपस्थित होनेपर भी वह विचलित नहीं होता मेरुकी तरह अटल रहता है अतः यह सर्वोत्कृष्ट है, प्रथम उपासनीय है।

(ख) जो सम्यग्दर्शन, परके उपदेश आदिके द्वारा जीवादि तत्त्वोंका कथंचित् (कुछ) ज्ञान होनेपर या न होनेपर खाली आज्ञा या उपदेश पर निर्भर रहकर उन जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करता है व कराता है, उसको पराधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं, जो अपेक्षाकृत कमजोर होता है। अर्थात् वह संभवतः कुछ विकृत हो सकता है, रूप बदल सकता है। वह विवेक रहित तोता जैसा है।

जैसे किसी कमवुद्धि विद्यार्थीको, जो स्वयं परीक्षा नहीं कर सकता, मास्टर (शिक्षक) वताता है कि दो और दो २+२ मिलाकर ४ चार होते हैं। वह विद्यार्थी उसको सत्य मान लेता है कि गुरूजीका वताना सही व सत्य है और वैसा विश्वास या श्रद्धान भी वह कर लेता है। फिर कुछ समय वाद कोई इन्स्पेक्टर (निरीक्षक परीक्षक) शाला (विद्यालय) में आकर परीक्षा लेता

---

१. सर्वज्ञता आत्माका स्वभाव है वह ज्ञेयके निमित्तसे नहीं होती स्वतः होती है। पंचास्तिकाय गा० ४१ टीका।

है और पूछता है कि विद्यार्थिन् ! २ और २ दो कितने होते हैं ? विद्यार्थी तुरन्त उत्तर देता है कि साहब ! ४ चार होते हैं। इसपर वह परीक्षक उसकी बुद्धिकी परीक्षा करने को पुनः पूछता है कि विद्यार्थिन् ! तुमारा उत्तर गलत है, तीन और एक ३ + १ = ४ मिलाकर चार होते हैं। यह सुनकर विद्यार्थी भ्रममें पड़ जाता है कि गुरूजीका वताया सत्य है कि आफीसर साहवका वताया सत्य है ? यह निर्धार न कर पाने से निरुत्तर रह जाता है व अचक जाता है अथवा कह देता है कि हमें तो गुरूजीने ऐसा ही वताया था कि दो और दो चार होते हैं। तव साहव (परीक्षक) समझ जाता है कि यह विद्यार्थी कमवुद्धि है, स्वयं परीक्षा (निर्णय) नहीं कर सकता, खाली रट लेता है इत्यादि। पश्चात् जव वही वात (प्रश्न) दूसरे तीव्र वुद्धिवाले छात्रसे परीक्षक पूछता है तव वह निःशंक होकर जवाव देता है कि साहव दोनों सही हैं २ दो में २ दो मिलाने पर भी चार ४ होते हैं और ३ तीन में १ मिलाने पर भी ४ चार होते हैं, कारण कि वह जोड़ आदि हिसाव खुद जानता था। साहव उसको वुद्धिमान समझकर खुश होता है व इनाम भी देता है। वस ऐसा ही हाल स्वाधिगमज व पराधिगमजका है। स्वयं परीक्षा करना या जानना श्रेष्ठ होता है।

जीवतत्त्व द्रव्यके भेद

१ संसारी, २ सिद्ध (मुक्त)। संसारियों में त्रस व स्थावर। त्रसोंमें दो इन्द्रीसे पञ्चेन्द्री तक ४ भेद। अथवा भव्य या अभव्य। भव्योंमें निकट भव्य, व दूर भव्य, व दूरानदूर भव्य, ये तीन भेद होते हैं। निकट भव्य (व्यक्त सम्यग्दृष्टि) तद्भव मोक्षगामी या दो-चार भवमें ही मोक्ष जानेवाले होते हैं। दूर भव, (अव्यक्त सम्यग्दृष्टि) कई भवों के वाद मोक्ष जाने वाले होते हैं। दूरानदूर भव्य, कभी मोक्ष नहीं जाते सिर्फ उनके मोक्ष जानेकी शक्ति मात्र रहती है जिससे वे भव्य कहलाते हैं किन्तु उनकी शक्ति कभी व्यक्त नहीं होती अर्थात् कार्यपर्याय प्रकट नहीं होती अतएव वे सदाकाल अभव्योंकी तरह संसारमें ही निवास करते हैं। अभव्य जीवोंके उस जातिकी शक्ति ही नहीं रहती, जिससे वे मोक्ष जा सकें। ये सब शक्तियाँ पारिमाणिक भावरूप हैं—स्वाभाविक व अकृत्रिम हैं, नैमित्तिक या औदयिकादि रूप नहीं हैं, यह वस्तुका स्वभाव है इत्यादि। संयोगी पर्यायमें शुद्ध व अशुद्ध दो भेद माने जाते हैं। अशुद्ध भेदोंमें वहिरात्मा जीव हैं। और शुद्ध भेदोंमें अपूर्ण शुद्ध—अन्तरात्मा हैं और पूर्ण शुद्ध—परमात्मा हैं। परमात्मामें सकल परमात्मा अरहन्त हैं और निकल परमात्मा सिद्ध हैं इत्यादि। तथापि सभी द्रव्योंमें जीव द्रव्य, ज्ञानवान् चेतन, होनेसे श्रेष्ठ द्रव्य है किम्बहुना।

द्रव्योंके भेद

१ जीवद्रव्य, २ पुद्गल द्रव्य, ३ धर्म द्रव्य, ४ अधर्म द्रव्य, ५ आकाश द्रव्य, ६, काल द्रव्य, इनमें जीव द्रव्यको छोड़कर शेष ५ द्रव्यें अजीव द्रव्यें हैं (ज्ञानशून्य जड़ हैं)। इनका लक्षण निम्न प्रकार है।

१—पुद्गल द्रव्य—जो द्रव्य घटती-बढ़ती है अर्थात् मिलती विछुड़ती है, उसको पुद्गल द्रव्य कहते हैं। या संयोगी पर्याय जिसके होती है या विकार रूप होती है।

२—धर्मद्रव्य—जो जीव व पुद्गल दोनों क्रियावान् द्रव्योंके चलनेमें सहायता देती है, उसको धर्मद्रव्य कहते हैं। जैसे मछलीके चलनेमें जल सहायता देता है।

३—अधर्मद्रव्य—जो जीव पुद्गल दोनोंको स्थित होनेमें सहायता देती है, उसको अधर्म द्रव्य कहते हैं। जैसे पथिकको छाया मदद देती है।

४—आकाश द्रव्य—जो सभी द्रव्योंको ठहरनेके लिए स्थान देती है, उसको आकाश द्रव्य कहते हैं।

५—काल द्रव्य—जो सभी द्रव्योंको परिणमन या परिवर्तन करनेमें सहायता देती है, उसको कालद्रव्य कहते हैं।—पञ्चास्तिकायके भेद।

नोट—उपर्युक्त छह द्रव्योंमेंसे कालद्रव्यको छोड़कर शेष पाँच द्रव्यें अस्तिकाय कहलाती हैं कारण कि उनके प्रदेश परस्पर मिले हुए सदैव रहते हैं, पृथक् नहीं होते। कालद्रव्यके प्रदेश, एक २ पृथक् रहते हैं—इकट्ठे नहीं रहते इत्यादि।

आकाशद्रव्यके भेद

१—लोकाकाश, २—अलोकाकाश। आकाशद्रव्य के प्रदेश यद्यपि अखंड (मिले हुए) रूप रहते हैं तथापि आधेय भूत पदार्थोंके सद्भावसे दो भेद माने जाते हैं। जहाँ पर छहों द्रव्यें संयोगरूपसे रहती हैं, उसको लोकाकाश कहते हैं और जहाँ पर एक अकेला आकाश ही रहता है, उसको अलोकाकाश कहते हैं।

कालद्रव्यके भेद

१—निश्चयकाल द्रव्य २—व्यवहारकाल द्रव्य।

निश्चयकाल द्रव्य—जो परिणमनस्वभाववाले मूल कालाणु हैं, उनको निश्चयकाल द्रव्य कहते हैं। जैसे रत्नोंकी राशि (ढेर रूप) पृथक् २ रूप।

२—व्यवहारकाल द्रव्य—जो मूल द्रव्य (कालाणु) की पर्याएँ होती हैं समयादि रूप, उनको व्यवहारकाल द्रव्य कहते हैं, जिसके अनेक भेद होते हैं।

पुद्गलद्रव्यके भेद

१—अणुरूप, २—स्कन्धरूप।

१ अणुरूप—जिसका परिमाण एक प्रदेशमात्र होता है, कम या बढ़ नहीं होता, उसको अणुरूप पुद्गलद्रव्य कहते हैं। उसमें रूप रस गंध स्पर्श रहता है। उसमें बहुप्रदेशी बननेकी शक्ति, संभावना सत्यरूप मानी जाती है। अर्थात् उसकी बहु प्रदेशरूप कार्यपर्याय प्रकट् नहीं होती। फलतः स्कंध अवस्थामें भी उसका पृथक् २ (मूल) परिमाण उतना (एक प्रदेशमात्र)

ही रहता है, वह अधिक क्षेत्र नहीं घेर लेता। हाँ, संकोच विस्तार शक्ति उसमें मानी गई है जो स्कंध पर्यायके समय कार्य करती है अर्थात् अपना परिचय देती है—स्कंध अवस्थामें ही संकोच विस्तार होता है, पृथक् अवस्थामें नहीं यह तात्पर्य है अस्तु

२—स्कंधरूप पुद्गल—अनेक परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे अर्थात् अपने २ रूप रस गंध स्पर्श के द्वारा परस्पर संयोग होनेसे, जो स्कंधरूप पिंड अवस्था उनकी होती है, उसको स्कंधरूप पुद्गलद्रव्य कहते हैं।

सामान्यतः पुद्गलद्रव्यके ६ छह भेद

१—सूक्ष्मपुद्गल—जो पुद्गलद्रव्य (परमाणु या स्कंधरूप) दृष्टिगोचर न हो अर्थात् देखनेमें न आवे, उसको सूक्ष्मपुद्गल कहते हैं, जैसे कार्माणद्रव्य आदि।

२—स्थूलपुद्गलद्रव्य, जो दृष्टिगोचर हों व अन्यत्र ले जाये जा सकें, उनको स्थूल पुद्गल कहते हैं जैसे घृत, दूध, पानी आदि।

३—सूक्ष्मस्थूल पुद्गलद्रव्य—जो दृष्टिगोचर तो न हों (आँखोंसे न दिखें) किन्तु कानों आदिसे सुने जाँय, ग्रहण किये जाँय, या जाने जाँय, उनको सूक्ष्मस्थूल पुद्गलद्रव्य कहते हैं। जैसे शब्द गंध आदि।

४—स्थूलसूक्ष्म पुद्गलद्रव्य—जो दृष्टिगोचर तो हों किन्तु पकड़नेमें न आवें उनको स्थूलसूक्ष्म पुद्गलद्रव्य कहते हैं। जैसे प्रकाश छाया अन्धकार आदि।

५—स्थूलस्थूल पुद्गलद्रव्य—जो दृष्टिगोचर हों, तोड़ेफोड़े जाँय एवं अन्यत्र लेजाये जा सकें किन्तु पुनः जुड़ न सकें, उनको स्थूलस्थूल पुद्गलद्रव्य कहते हैं। जैसे पत्थर काष्ठ इत्यादि।

६—सूक्ष्मसूक्ष्म पुद्गलद्रव्य—जिनकी शक्तिका अर्थात् अविभाग प्रतिच्छेदों का और दूसरा भेद न हो सके न किया जा सके, उन पदार्थों को सूक्ष्मसूक्ष्म पुद्गलद्रव्य कहते हैं। जैसे परमाणु जघन्य गुणवाले, जिनका बंधन न हो सके (बंधके अयोग्य पुद्गलके निर्बंध परमाणु) दो गुण कम से कम अधिक हों तो बंध होता है अन्यथा नहीं।

नोट—पुद्गलद्रव्यके अनेक तरहके परिणमन (पर्यायें) होते हैं जैसे कि कभी स्थूल कभी सूक्ष्म, कभी कठोर, कभी कोमल, कभी तरल, कभी जमा हुआ ऐसा समझना चाहिये यह वस्तुका स्वभाव है किम्बहुना।

संक्षेपमें निश्चय और व्यवहारका निर्धार-जीवद्रव्यमें

(१) रागद्वेषादिक विकल्पोंसे रहित-निर्विकल्प वीतरागमय 'निर्णयात्मक दशा' का नाम निश्चय है। जो स्वाश्रित स्वभावरूप है।

(२) रागद्वेषादि विकल्पों सहित विकल्प सरागतामय 'निर्णयात्मक दशा' का नाम

व्यवहार है। जो पराश्रित विभावरूप हैं। कारण कि आगे दोनों प्रकार से वस्तु (पदार्थ-तत्त्व) का निर्णय करना अभीष्ट है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र और उनके विषय भूत पदार्थ तथा उनके अंगोंका वर्णन उभयरूपसे किया जानेवाला है। अतएव भ्रमनिवारणार्थ भूमिका तैयार की जा रही है। निश्चय और व्यवहार दोनोंका स्वरूप पृथक् २ है तथा मान्यता भी पृथक् २ रूप है। फलतः संयोगीपर्यायमें उभय दशाएँ हुआ करती हैं। उनको यथार्थ पृथक् २ समझना अत्यन्त जरूरी है तभी आत्मकल्याण हो सकता है अन्यथा नहीं।

उपसंहार कथन

सम्यग्दर्शनके सम्बन्धमें पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है, जिसका उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। यों तो सम्यग्दृष्टिके समुदायरूपसे ६३ गुण होते हैं जो स्वामिकार्तिकेय मुनिने अपने महान ग्रन्थमें लिखा है। यथा—

सम्यग्दृष्टिके ६३ गुण

१—संवेग, २ निर्वेद, ३ निन्दा ४ गर्हा ५ उपशम ६ भक्ति ७ अनुकंपा ८ वात्सल्य ये आठ मूलगुण होते हैं (धर्म व धर्मके फूलमें अनुराग होना संवेग कहलाता है) अस्तु। शंका आदि पाँच अतिचारोंका छूटना (अभाव होना) रूप ५ गुण, सात भयोंका छूटना रूप ७ गुण, तीन शल्योंका छूटना रूप ३ तीन गुण, पच्चीस दोषोंका छूटना रूप २५ गुण। आठ मूलगुणपालना रूप ८ गुण, सात व्यसनोंका त्यागना रूप ७ गुण कुल ६३ गुण होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव उन्हें प्राप्त करता है व करना अनिवार्य है। इसके सिवाय सम्यग्दृष्टिके सम्यग्दर्शनके आठ अंग (अवयव या चिह्न) भी होते हैं, जिनके विना सम्यग्दर्शन अधूरा रहता है या पहिचान नहीं होती, और फलस्वरूप वह सम्यग्दर्शन जीवको मोक्ष नहीं पहुँचा सकता, ऐसी स्थितिमें उनका संचय करना अनिवार्य है। परन्तु वे आठों ही अंग निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो २ प्रकारके होते हैं। इसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शनके स्वामी दो तरहके जीव होते हैं (१) सरागी जीव (२) वीतरागी जीव। अतएव सरागी जीव, व्यवहाररूप आठ अंग पालता है और वीतरागी जीव, निश्चय रूप आठ अंग पालता है यह निर्धार है॥ २२॥

परमार्थदर्शियोंने शुद्ध-निश्चयनयसे वीतरागता रूप अंगोंको महत्त्व दिया है और अपरमार्थदर्शियोंने व्यवहारनयसे सरागतारूप अंगोंको महत्त्व दिया है[1]। फिर भी दोनों नयोंकी अपेक्षासे आगे आठ अंगोंका कथन आचार्य कर रहे हैं। उनमें पहिले—

---

१. सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं। व्यवहारदेसितः पुणये हु अपरिमेट्ठिदाभावे॥ १२॥

—समयसार

अर्थ : परमार्थदर्शी वीतरागियोंने (निश्चयसम्यग्दृष्टियोंने) शुद्ध वीतरागताके आलम्वन लेनेका उपदेश दिया है क्योंकि उसीसे आत्मकल्याण होता है यह निश्चयनयका उपदेश है। और अपरमार्थ-दर्शियों-सरागियोंने (व्यवहारसम्यग्दृष्टियोंने) अशुद्ध सरागताके आलम्वन करनेका उपदेश दिया है।

१—निशंकित (संशय रहित) अंगका स्वरूप बताते हैं

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः ।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या ॥ २३ ॥

पद्य

सर्वज्ञाभाषित ज्ञेय[2] सब बहु धर्मवाले[1] हैं स्वतः ।
सर्वज्ञबोध विरागता से पा लिया सच्चा पता ॥
उसमें नहीं संभव अहो ! शंका[3] करन की योग्यता ।
अतएव निःसन्देह रहना, अंग है निःशंकिता ॥२३॥

अन्वय अर्थ—[अखिलज्ञैः] विश्वदर्शी सर्वज्ञ वीतराग भगवान् ने [इदं सकलं वस्तुजातं अनेकान्तात्मकं उक्तं] यह कहा है कि संसारमें मौजूद तमाम पदार्थ (जीवाजीवादि तत्त्व) अनेक धर्मवाले हैं, कोई भी एक धर्मवाला नहीं है। इस प्रकार वस्तुकी व्यवस्था है, जो स्वतः सिद्ध है और सत्य है। ऐसा जिनवाणीमें या दिव्योपदेशमें दृढ़ विश्वास करना अथवा श्रद्धान रखना ही निश्चय सम्यग्दर्शनका पहला अंग कहलाता है (निःसंशयरूप)। अतएव उसमें [किमु सत्यं वा असत्यं इति जातु शंका न कर्त्तव्या] यह शंका या संशय कभी नहीं करना चाहिए कि यह भगवान्का कथन (सर्वपदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं) सत्य है कि असत्य है इत्यादि। तभी निःशंकित अंग (चिह्न) चल सकता है अर्थात् सम्यग्दर्शनका निःशंकित अंग (अवयव चिह्न) माना जा सकता है अन्यथा नहीं, यह मूल श्रद्धा है। यहाँ पर शंकाका अर्थ सन्देह या संशय लेना चाहिए, दूसरे भय या प्रश्न नहीं लेना चाहिए क्योंकि जहाँ जैसा प्रकरण होता है वहाँ वैसा ही अर्थ लिया जाता है यह नियम है। परन्तु यह विशेषता खासकर मोक्षमार्गोपयोगी सात तत्त्वोंके विषयमें समझना चाहिए ॥ २३ ॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनका मूलमंत्र (चिह्न) जिनवाणी या जिनागम या जिनोपदेशमें या सात तत्त्वोंमें शंका या संशयका नहीं करना है। यदि निःसंशयपना श्रद्धामें रहता है कि 'नान्यथावादिनो जिनाः[4]' जिनेन्द्र भगवान्का उपदेश (तत्त्वोपदेश) कभी अन्यथा अर्थात् असत्य नहीं

ऐसा कुन्दकुन्द महाराजका कहना है। शुभरागको अशुद्ध निश्चयसे उपयोगी कहा है शुद्ध निश्चयनयसे उपयोगी नहीं है यह सारांश है।

१. अनेक धर्ममय ।
२. ज्ञेय या पदार्थ या वस्तु ।
३. शंकाके ३ तीन अर्थ होते हैं, एक संशय या सन्देह अर्थ, दूसरा भय अर्थ, तीसरा प्रश्न या जिज्ञासा अर्थ । इनमेंसे यहाँ संशय या सन्देह अर्थ प्रयोजनीय है ।
४. सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव बाध्यते । आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥

होता, तो वह अखंड सम्यग्दृष्टि माना जाता है व रहता है अर्थात् उसका सम्यग्दर्शन खंडित कभी नहीं होता (अटल रहता है) और कदाचित् उक्त मूलमन्त्रमें ही कोई शंका या संशय करता है, तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता, किन्तु वह मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना। सम्यग्दृष्टिकी मुख्य पहिचान (चिह्न) जिनवाणीमें पक्की श्रद्धा करना है, इसीके आधार पर सारा दारोमदार है। ऐसी स्थितिमें यह ध्यान रखना चाहिए।

नोट—मूलकी रक्षा करते हुए (जिनेन्द्रके कथनपर अटल श्रद्धान रखते हुए) यदि लौकिक तत्त्वोंमें किसी कारणवश सराग सम्यग्दृष्टि, स्वार्थ पूर्तिके लिए या पराधीनतामें आकर या अज्ञानतामें या असमर्थतामें कोई गलती कर बैठे तो वह सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट (च्युत या खंडित) नहीं हो जाता किन्तु वह सम्यग्दृष्टि रहता हुआ अपराधी या अतिचार सहित अवश्य माना जाता है। इसका कारण यह है कि उसकी श्रद्धा जिनोपदेशके विपरीत (विरुद्ध) नहीं होती और अपनी गलतीको गलती वह मानता है व उसे हेय समझता है इत्यादि। उसके अन्दर जिनवाणी या जिनोपदेशके प्रति सत्यनिष्ठा है, यही उसकी सम्यग्दृष्टि है (विचारधारा है) जिसकी सम्यग्दृष्टि को खास आवश्यकता है। वह गलती पर दुःख मानता है (पश्चात्ताप या खेद करता है) तथा यथाशक्ति उसको छोड़नेका प्रयत्न भी करता है ये शुभ लक्षण उसके होते हैं।

निःशंकित अंगमें निश्चय और व्यवहारपना बताया जाता है
(निरतिचार व सातिचारपनाका स्पष्टीकरण)

(क) निश्चयपना—जवतक निःशंकपना शुद्ध रूपमें रहता है अर्थात् उसमें सिर्फ रागादिसे रहितपना अथवा निर्विकल्पपना रहता है, तबतक उस निःशंकित अंगकी निश्चय दशा समझना चाहिए। संक्षेपमें वही निरतिचारता व वीतरागता है ऐसा समझना चाहिए, शुद्ध दशा वह है।

(ख) व्यवहारपना—जब निःशंकपना होनेके बाद, उस निःशंकपनेमें रुचि या भक्ति या आदर वुद्धि—शुभ प्रवृत्ति या उसको प्राप्त करनेकी वांछा अभिलाषा आदि होती है तब उसकी व्यवहार दशा समझना चाहिए। वह अशुद्ध दशा है सराग दशा है इत्यादि। परन्तु मोक्षमार्गोपयोगी सात तत्त्वोंमें निश्चय और व्यवहार दोनों सम्यग्दृष्टियोंकी श्रद्धामें अन्तर (फरक) नहीं होता यह नियम है—मूलमें भूल कदापि नहीं होती अन्यथा मिथ्यादृष्टि तुरन्त वन जाय ध्यान रखना किम्बहुना।

नोट—निश्चयनयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीनों रत्न (गुण) शुद्ध वीतरागता रूप हैं तथा उनके अंग (चिह्न) भी शुद्ध वीतरागता रूप होना चाहिए, परन्तु जब उनके साथ अशुद्धता या रागादिका संयोग सम्वन्ध हो जाता है तब वे सब मूल व अंग व्यवहार रूप हो जाते हैं—शुद्ध रूप नहीं रहते, यह तात्पर्य है। तभी तो सम्यग्दृष्टिके यहाँ ५ अतिचार वतलाये हैं।

१. शंका करना, २. आकांक्षा करना, ३. ग्लानि करना, ४. अन्य दृष्टि (मिथ्यादृष्टि) की प्रशंसा करना, ५. उसकी स्तुति करना।

इसका मतलव यह है कि मूलमें (जिनोपदेश या कथनमें) अटूट श्रद्धा रखते हुए अर्थात् उसमें शंका या संशय न करते हुए जव अपनी अज्ञानता या असमर्थताके कारणसे किसी (सूक्ष्मादि) तत्त्व या पदार्थ में स्वयं कोई शंका अर्थात् जिज्ञासा (जाननेकी इच्छा) भ्रम या संशय उत्पन्न हो जाता है या हो जाय, उसको दूर करनेके लिए अपनी खुद की त्रुटि समझते हुए जव कुछ विशेष ज्ञानियोंसे पूछता है या प्रश्न या शंका करता है तव उसका सम्यग्दर्शन (पूर्वोक्त अटल श्रद्धा जिनवाणीमें) तो खंडित नहीं होता किन्तु शुभ राग–जिज्ञासा रूप अवश्य होता है, जिससे निर्मल वीतरागता रूप सम्यग्दर्शन, मलीन अर्थात् रागादिसहित हो जाता है, अतएव वह दोप या अतिचार है लेकिन अनाचार या मिथ्यात्त्व नहीं है, यह वास्तविक भेद है। अनाचार या मिथ्यात्त्व में मूल श्रद्धा ही (जिनवाणीके प्रति) नष्ट हो जाती है किम्वहुना मूल श्रद्धा हर समय उपादेय और ग्राह्य है—सम्यग्दृष्टिका वह प्राण है (अस्तित्त्व रूप जीवन है) इति। चाहे वह निश्चय सम्यग्दृष्टि हो या व्यवहार सम्यग्दृष्टि हो, सभीको मूल सात तत्त्वोंमें या वस्तुके मूलस्वरूप (एकत्त्व विभक्त) में अटल श्रद्धा रहना चाहिये। अस्तु।

निष्कर्ष

(१) यह कि जिस तरह पतंगकी डोर (रस्सी) हाथमें रहनेसे पतंग गुमती नहीं है न कोई हानि होती है, उसी तरह सम्यग्दर्शन (जिनवचमें दृढ़ श्रद्धान) के साथ रहते हुए जीव (आतमा) भ्रष्ट या वरवाद अर्थात् मिथ्यादृष्टि अनन्त संसारी नहीं होता—वह भव्य संसारसे पार जल्दी या देर-अवेरमें अवश्य होता है। वीचमें यदि क्षणिक रागादिरूप विकारीभावोंसे वह कथंचित् विगड़ भी जाय तो भी वह अपना विगड़ेका सुधार कर लेता है अर्थात् गलतीको सुधार कर निर्दोष वन जाता है और पश्चात् मोक्ष चला जाता, सिर्फ सम्यग्दर्शन सुरक्षित रहना चाहिए (नष्ट होकर मिथ्यात्त्व नहीं हो जाना चाहिए, यह शर्त्त है।)

(२) क्षणिक राग और स्थायी रागमें वड़ा अन्तर है। स्थायी राग मिथ्यादृष्टिके होता है, जो रागादि परको अपना मानता है व उसको दूर नहीं करना चाहता है अर्थात् उसको त्यागता नहीं है इत्यादि, उसीमें तन्मय रहता है। और क्षणिक राग, सम्यग्दृष्टिके होता है, जो रागादिको भिन्न समझकर उनसे पृथक् होनेका या उनको पृथक् करनेका प्रयत्न (पुरुषार्थ) करता है। वह रोग मिटाने को दवाई की तरह परद्रव्यमें क्षणिक रागादि करता है वह भी अरुचि पूर्वक जैसे काँटेको निकालनेके लिए दूसरे काँटेसे क्षणिक (कुछ समयको) राग करता है। फिर सब छोड़ देता है इत्यादि[1]। जवतक इच्छा या कषाय पूर्ण नहीं होती तब तक ही वह अपवादमार्गको

---

१. पंचास्तिकाये—गाथा नं० १३६ 'अयं हि (प्रशस्तरागः) उपरितनभूमिकायामलव्धास्पदस्यास्थान-रागनिपेधार्थं, तीव्ररागज्वरविमोदार्थं वा कदाचिद् ज्ञानिनोऽपि भवतीति।' इसका अर्थ यह है कि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवको जवतक ऊपरके गुणस्थान अर्थात् १० के वाद के गुणस्थान प्राप्त नहीं हो जाते अथवा पूर्ण वीतरागी वह नहीं वन जाता तवतक अशुभ रागसे वचनेके लिए (पाप वन्धसे रक्षा करनेके लिए एवं तीव्र राग ज्वरको शान्त करनेके लिए) वह (सराग सम्यग्दृष्टि) ज्ञानी भी अरुचिपूर्वक

अपनाता है चाहे वह मुनि हो या गृहस्थ (श्रावक) हो, संयोगी पर्यायका वह तकाजा (फल) है। इसमें क्षेत्र काल आदि भी निमित्त रहा करते हैं। परन्तु वह सव दोषरूप या अतिचार रूप ही रहते हैं अनाचार रूप नहीं होते जवतक कि दृढ़ सम्यग्दर्शन मौजूद रहता है। वे अनन्त संसार के कारण (हेतु) नहीं होते जवतक साथमें मिथ्यादर्शन न हो तवतक महावंध होता ही नहीं है। अनाचारका अर्थ खंडित हो जाना या छूट जाना होता है। फलतः सम्यग्दर्शनकी रक्षा सेवा आराधना सदैव करना अनिवार्य है। उसके साथ अपराध भी होंगे व होते हैं परन्तु वे सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट नहीं कर सकते अर्थात् सम्यग्दर्शनको नहीं छुड़ा सकते और इसीलिये वे संसारमें रखनेको समर्थ मुख्यतया मिथ्यादर्शन (मोह) ही है और सहायक अनन्तानुबंधी कषाय भी है। क्योंकि उसके उदयमें ही मिथ्यात्त्व कर्मका वंध होता है। अतः वह संसारका परम्परया कारण (हेतु या निमित्त) है ऐसा समझना चाहिये। क्षणिक रागको अपना मानना और क्षणिक रागरूप उपयोगका होना ये दोनों पृथक्-पृथक् चीजें हैं। क्षणिक रागको अपना (आत्माका) मानना मिथ्यादर्शन है और क्षणिक रागरूप उपयोगका होना सम्यग्दृष्टिका विकारी भाव है—मिथ्यादर्शन नहीं है, उसे वह भिन्न और हेय ही समझता है। अतएव उसके अनन्त (अक्षय अनन्त) संसार का वंध नहीं होता, कारण कि उसके संसार में रहनेका काल सिर्फ अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गल परावर्त मात्र (परिमाण) ही रहता है जिसमें अनेक तरह के अनंतका बंध होता है, अनंत छोटे वड़े अनन्त किस्मके होते हैं। ऐसा समझना चाहिये किम्बहुना।

निश्चय सम्यग्दर्शनके प्रकार—

(१) जिनवाणी या जिनागमके कथन या उपदेश पर पूर्ण विश्वास करना यह निश्चय आज्ञा सम्यग्दर्शन है। यह एक प्रकार है।

(२) पर द्रव्योंसे भिन्न गुणपर्याय वाला उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त चैतन्य स्वरूप आत्मा है, ऐसा विश्वास करना भी निश्चय सम्यग्दर्शन है। यह दूसरा प्रकार है। थोड़ा बहुत रद्दोबदल (हेरफेर) लक्षणमें होने पर भी जवतक श्रद्धान नहीं वदलता अर्थात् वह विपरीत अभिप्राय सहित नहीं होता, तवतक कोई हानि नहीं होती वह मोक्षमार्गी रहता है, मूल चीज नहीं बदलना चाहिये यह खास समाधान है विचार किया जाय अस्तु।

सामान्यापेक्षया—लौकिक पदार्थोंमें संशयादि करना, मिथ्यात्वका सूचक नहीं होता किन्तु

विशेषापेक्षया—मोक्षमार्गोपयोगी पदार्थोंमें, संशयादि करना मिथ्यात्त्वका सूचक हो

प्रशस्त राग करता है अर्थात् उसके भी प्रशस्त राग हुआ करता है, परन्तु वह उसकी मजवूरी की दशा है—पराधीन (संयोग की) विवशता है—शौकिया नहीं है अर्थात् विना चाह के होता है, और उसे वह हेय ही (बलात्कार) समझता है वह उसमें प्रेम (राग या हर्ष) नहीं करता विगारी की तरह वह उस कार्य को करता हैं। जैसे कि किसी दीन दुःखी प्राणी को देखकर उसके प्रति विशेष करुणाभाव (दयालुता) और उसका उपचार वह अवश्य २ करता है, उससे रहा नहीं जाता इत्यादि समझना यह अपवाद अवस्था है किम्बहुना।

सकता है। मोक्षमार्गोपयोगी तत्त्वोंमें संशयादि करना मिथ्यात्त्वका सूचक हो सकता है ऐसा निर्णय समझना चाहिये[1]। यहाँ पर श्रद्धान कारणरूप है और सम्यग्दर्शन कार्यरूप है—ऐसा परस्पर कार्यकारणभाव है इसको नहीं भूलना चाहिये।

कार्यकारणभावमें भ्रमबुद्धि और उसका निराकरण (खंडन)

किसी भी कार्य (नवीन पर्याय) की उत्पत्तिमें निश्चयनयसे मूलद्रव्य या शक्ति, तथा उसकी पर्यायका व्यक्ति, (प्रकटता) कारण होती है, दूसरा कोई कारण नहीं होता, यह अटल (ध्रुव) नियम है। इस तथ्यको समझनेवाला व्यक्ति ही सम्यग्दृष्टि है व हो सकता है। तदनुसार कार्यकारण भाव सही आंका जा सकता है उसमें कोई भ्रम या संशय नहीं हो सकता। फलतः द्रव्य और पर्याय दोनों ही नई २ कार्यरूप पर्यायोंकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं अर्थात् अपने अपने में ही सच्चा कार्यकारणभाव सिद्ध होता है परके साथ सिद्ध नहीं होता वह केवल भ्रमबुद्धि है। द्रव्यमें शक्ति व व्यक्ति (पर्याय) दोनों चीजें रहती हैं। जीव द्रव्यमें, सम्यग्दर्शनकी शक्ति (योग्यता) व व्यक्ति (पर्याय) अर्थात् सम्यग्दर्शनका प्रकट होना, यह जब संगम होता है, तभी उस जीवको मोक्षपर्याय मिलती है। अकेले एक कारण (द्रव्य या शक्ति) से अथवा पर्याय या व्यक्ति मात्रसे, मोक्षकी प्राप्ति कदापि नहीं होती न हो सकता है। जिसका खुलासा यह है कि जिस जीव द्रव्यमें मोक्ष जानेकी योग्यता (भव्यत्त्व) रहती है, उसी जीवके सम्यग्दर्शनरूप पर्याय प्रकट (व्यक्त) होती है और वही पर्याय, जव मोक्ष जानेके योग्य (अनुकूल) शुद्ध परिग्रह रहित वीतरागतारूप होती है तभी वह साक्षात् मोक्ष पर्यायके प्राप्त होनेमें कारणरूप होती है उसके पहिले नहीं। फलतः द्रव्य सहित अव्यवहित पूर्वपर्याय, उत्तरपर्याय (मोक्षरूप) में कारण पड़ती है यह निष्कर्ष निकलता है, जो सत्यरूप ही है, भ्रम या अन्यथारूप नहीं है। ऐसी स्थितिमें सब बातोंकी योग्यता कर्मभूमियाँ पुरुष (मर्द) में ही पाई जाती है, स्त्री पर्यायमें नहीं, अतः वह मोक्ष नहीं जा सकती, साक्षात् कारण (नग्नत्त्वादि वीतरागभाव) की कमी (त्रुटि) होनेसे वह असंभव है। कारण कि उतना आत्मवल उसके नहीं होता उसको ढकनेवाले विकारीभाव (लज्जा आदि उसके विशेष पाये जाते हैं, जिससे वह वल प्रकट नहीं हो पाता, दवा रहता है इति भावः।

---

१. इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा। इत्यकंपायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥ ११॥

—रत्नकरंड श्रा० समन्त०

अर्थः—जैसा जिनवाणीमें तत्वका स्वरूप (अनेकान्तात्मक) कहा गया है वैसा ही है अन्य नहीं है अन्य प्रकार भी नहीं है इत्यादि संशय या शंका रहित श्रद्धान करना निःशंकित अंग होता है जैसाकि खड्ग का पक्का पानी अटल या स्थिर या विश्वासनीय होता है, उसमें संशय नहीं रहता वह नहीं वदलता इत्यादि जानना।

जीवाजीवास्त्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥ त० सूत्र।

ये ही मोक्षमार्गोपयोगी सात तत्त्व हैं, दूसरे नहीं हैं, ऐसा दृढ़ श्रद्धान करना—संशयादि नहीं करना पहिला अङ्ग है ॥११॥ इति,

नोट—यहाँ पर, उपादान व निमित्त दोनों कारण सिद्ध हो जाते हैं जो अभिन्न रूप हैं। द्रव्य उपादान है और निमित्त (अन्तरंग) उसकी अव्यवहित (समर्थ) पूर्वपर्याय है। इसमें कोई विरोध नहीं आता, किन्तु वाह्य या भिन्न चीजोंको निमित्त मानना, व उसके जरिये कार्यका होना, मानने में स्पष्ट विरोध उपस्थित होता है किम्बहुना इसे समझना चाहिये तभी सम्यग्दर्शन शुद्ध व निर्मल-भूल-भ्रम रहित हो सकता है अन्यथा नहीं यह पक्का है अस्तु। प्रतिकूल-विसदृश-विजातीय, पर्यायसे कभी अनुकूल सजातीय पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकती। जिस प्रकार दूध या दही पर्याय (अनुकूल) से ही घी पर्याय उत्पन्न हो सकती है किन्तु पानी जैसी प्रतिकूल पर्यायसे घृतपर्याय उत्पन्न कदापि नहीं हो सकती ऐसी वस्तु व्यवस्था है। उसी तरह अशुद्ध या रागद्वेषरूप पर्यायसे अशुद्ध रागद्वेषरूप ही पर्याय उत्पन्न होगी, विरागरूप शुद्धपर्याय प्रकट न होगी।

'उपादानकारणसदृशं हि कार्यं भवति इति नियमात्'

ऐसी स्थिति में 'हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा—अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयंम्' यहाँ पर हेतुद्वय पदसे दो हेतु अवश्य लिये जाते हैं किन्तु वे दो हेतु कौन हैं? इसके उत्तर में—द्रव्य और पर्याय ये दोनों ही हेतु कहना पड़ेंगे, (जो उपादान व निमित्तरूप हैं) इत्यादि। विचार किया जाय! व भ्रम या विवाद मिटा जाय किम्बहुना।

१—अपने एकत्त्वविभक्तचैतन्य रूप अशुद्ध स्वरूपमें सन्देहादि नहीं करना, निश्चय निःशंकित अङ्ग है, जो स्वाश्रित है।

२—जिनवाणी, जिनदेव, आदिमें सन्देह नहीं करना, व्यवहाररूप, निःशंकित अङ्ग है जो पराश्रित है। अथवा मृत्यु आदि पर पदार्थका भय (शंका) नहीं करना सो व्यवहार निःशंकित अङ्ग है अर्थात् सातों प्रकारका भय नहीं करना (त्यागना) व्यवहार निःशंकित अङ्गका पालना कहलाता है यह तात्पर्य है ॥ २३ ॥

२—सम्यग्दर्शनका निःकांक्षित अंग बतलाया जाता है
(जिनाज्ञाके विरुद्ध परद्रव्यकी आकांक्षा नहीं करना)

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र[1] चक्रित्वकेशवत्[2]वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयान्[3]अपि च नाकांक्षेत् ॥२४॥

पद्य

निःकांक्षित वह अंग सही है, जिसमें वांछा नहिं परकी।
धन चक्री नारायण पदवी, इह भव परभव नहिं जियकी॥

---

१. परलोक।

२. नारायण।

३. अन्य धर्म व अन्य शास्त्र (जैन धर्म व जैन शास्त्रोंसे भिन्न धर्म व शास्त्र)।

जाति धर्म अरु शास्त्रादिक जे, एक पक्ष के पोषक हैं।
आकांक्षा उनकी नहिं करना, तब निःकांक्षित पालक हैं ॥२४॥

अन्वयअर्थ—आचार्य कहते हैं कि [इह जन्मनि विभवादीनि] इस जन्म या इस भवमें वाह्य धनधान्यादिक परिग्रहकी तथा [अमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्] परभवमें (परजन्ममें) चक्रवर्त्ती-नारायण आदि महान् पदवियोंकी [च] और [एकान्तवाददूषितपरसमयानपि] एकान्त पक्ष या एक धर्मकी पुष्टि करनेवाले (वस्तु अनेक धर्मात्मक नहीं है एक धर्मवाली है ऐसा समर्थन करने-वाले) अन्य धर्म (वैदिकादि) तथा अन्य शास्त्रों (वेदादि) की [नाकांक्षेत्] आकांक्षा या प्राप्तिकी इच्छा नहीं करना वही निःकांक्षित अङ्ग है। ऐसी दृढ़ निरपेक्ष श्रद्धावालेसे ही—निः-कांक्षित अङ्ग पल सकता है। अर्थात् परद्रव्य हेय (वर्जनीय) है ऐसी जिनवाणीकी आज्ञा है, उसको माननेवाला ही निःकांक्षित अङ्गका धारी हो सकता है। और उस आज्ञाके विरुद्ध परद्रव्यकी आकांक्षा करनेवाला एवं उसका संग्रह करनेवाला कैसे निःकांक्षित अङ्गको पाल सकता है ? नहीं पाल सकता । क्योंकि परद्रव्य आत्माकी है ही नहीं, आत्मा उससे भिन्न है (अतादात्म्यरूप है) इत्यादि ॥२४॥

भावार्थ—जीव (आत्मा) परद्रव्यसे भिन्न एकत्त्व विभक्तरूप शुद्ध अद्वितीय है इसलिये उसको सदैव अपने स्वरूपमें ही स्थिर रहना चाहिए तथा परकी आकांक्षा नहीं करना चाहिये अन्यथा वह अपराध करना कहलायागा, और उसकी वरावर सजा मिलेगी, तव संसारसे वह पार न होगा (संसार नहीं छूटेगा), जिनेन्द्रदेवका सत्य उपदेश तो यह है। इसके विरुद्ध जो चलते हैं वे जिनाज्ञाको न माननेके कारण मिथ्यादृष्टि हैं, सम्यग्दृष्टि नहीं है, क्योंकि जिनाज्ञा (उपदेश) को माननेवाला ही सम्यग्दृष्टि हो सकता है। तव आत्मकल्याणके इच्छुक जीवोंको चाहिए कि वे पहिले 'जिनवाणीकी ही श्रद्धा करके सम्यग्दृष्टि वनें अर्थात् सम्यग्दर्शनको प्राप्त करें। यहीं एक सच्चा और पहिला (मुख्य) उपाय है। इसके सिवाय परद्रव्यकी न आकांक्षा करें न उसका वल भरोसा रखें। न उसका संग्रह करें, सिर्फ अपना ही वल भरोसा रखकर अपने ज्ञायक स्वभावका ही आलम्बन करें उसीमें लीन (तन्मय) होवें तथा जो परद्रव्यका संयोग अनादिकालसे है उसका यथा शक्ति पदके अनुसार त्याग करें, व अरुचि रक्खें (संसार शरीर भोगोंसे विरक्त रहें) संक्षेपमें सांसारिक सुखोंकी वांछा या अभिलाषा नहीं करना निःकांक्षित अङ्ग कहलाता[1] है।

---

१. कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तितोदये पापवीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥ रत्न०।

अर्थः—सांसारिक सुखोंकी अर्थात् परद्रव्योंकी जो आत्मासे भिन्न है (विकाररूप हैं) पराधीन हैं (वेदनीय आदि कर्मोंके अधीन हैं—निमित्ताधीन हैं) विनश्वर हैं (अनित्य हैं) आकुलता (दुःख) रूप हैं और दुःख या आकुलताका वीजरूप हैं (निमित्तरूप हैं) उनमें उपादेयताकी श्रद्धा नहीं करना—अर्थात् उन्हें इष्ट हितकारी नहीं मानना न उनकी आकांक्षा करना। यही निःकांक्षित अंग है। जिनाज्ञाका पालना है कि परद्रव्य अपना नहीं उसकी आकांक्षा मत करो।

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३९॥ समयसारकलश ।

अर्थ—स्वाश्रित स्वभाव दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीन ही आत्माके स्वभाव (वैभव) हैं, अन्य परद्रव्य कुछ भी आत्माका नहीं है । अतएव मोक्षमार्ग तीनोंका· समुदायरूप एक ही है, दूसरा नही है । अतएव मुमुक्षु उसीका सेवन करे या करना चाहिए ॥२३९॥

निःकांक्षित अङ्गके निश्चय और व्यवहार दो रूप

(१) जबतक सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्ध स्वरूपमें लीन रहता है अर्थात् मैं परद्रव्यसे भिन्न हूँ (एकत्व विभक्तरूप) अतः मुझे परद्रव्यकी वांछा (रागादि) नहीं करना चाहिए 'यह भगवान्‌की आज्ञा है उसपर मैं दृढ़ हूँ' ऐसा विचार कर जबतक वह शुद्धात्म स्वरूपमें—सब विकल्पों व रागादिकोंको छोड़कर अचल या स्थिर अथवा निर्विकल्प होता है कोई रागादि नहीं करता तबतक उसे निश्चय निःकांक्षित अङ्ग समझना चाहिये (वीतरागताके समय) क्योंकि यह स्वाश्रित है ।

(२) और जब निःक्रांक्षित अङ्गको पालनेकी वांछा या अभिलाषा होती है या उसमें भक्ति पूज्यता आदिकी भावना होती है (शुभराग होता है) तथा परकी उच्च पदोंकी वांछा नहीं होती । तब उसको व्यवहार निःकांक्षित अङ्ग कहते हैं (सविकल्प या सरागताके समय) यतः यह पराश्रित निःकांक्षितपना है । अर्थात् पर वस्तुकी आकांक्षा या चाहको छोड़ देना निःकाक्षित अङ्ग है ।

मिथ्या धारणा

अपने खातिर (लिए) सुखादिककी या विषय सुख प्राप्त होनेकी वांछा नहीं करना, निश्चयनिःकांक्षित है तथा दूसरोंको सुखादि होनेकी वांछा करना उनका भला चाहना, व्यवहार निःकांक्षित है । यह गलत या विरुद्ध धारणा है—क्योंकि जिनाज्ञाके विरुद्ध है । जिनाज्ञा तो उत्सर्ग रूप यही है कि 'परद्रव्यकी आकांछा (राग या विकार) नहीं करना' (अपने लिये या परके लिए) बस वही सच्चा निःकांक्षित अङ्ग है । उक्त आज्ञामें कोई अपवाद (शर्त) नहीं है ऐसा समझना चाहिये इति । जैन न्याय यह है कि जबतक जीव परद्रव्यको ग्रहण विसर्जन करता है तबतक वह विशुद्ध नहीं है, संसारसे पार नहीं हो सकता न कर्मक्षय कर सकता है, जिससे मोक्ष प्राप्त होता है । ऐसी स्थितिमें वह मूर्च्छावान् (परिग्रह वाला) आरम्भवान् और असंजमी रहता है, तभी वह संसारी होनेसे मोक्ष नहीं जा सकता यह खुलासा है । इसके सिवाय जब आत्मा अकेला है तब परपरिग्रहादिका संग्रह करना मूर्खता है, उसकी चाह करना प्रतिज्ञाभङ्ग दोष है इत्यादि । अत-एव आत्मार्थी मुमुक्षुको परकी आकांक्षा करना निषिद्ध है किम्बहुना । निश्चयनयसे किसी किस्मकी आकांक्षा नहीं करना, रागद्वेषरहित निर्विकल्प रहना निःकांक्षित अङ्ग है । और व्यवहारनयसे सांसारिक सुखोंकी (दृश्यमानबाह्य) चक्रवर्तित्व आदि पदोंकी, धनादि वैभवोंकी, परसमय (शास्त्र वेदादि) और परधर्म (वैदिकादि) की वांछा नहीं करना सब निःकांक्षित अङ्ग है, ऐसा समझना

चाहिए। आकांक्षा भयको सूचित करती है अर्थात् जब किसी तरह का पर्यायाश्रित भय रहता है या लज्जा रहती है तब उसको निवारण करनेके लिए तरह २ के विकल्प, या रक्षाका उपाय यह जीव करता है। यह जब निर्भय हो जाता है तब न कोई विकल्प करता है न प्रतीकारका उपाय ही करता है यह नियम है। और तभी यह जीव निर्द्वन्द होता हैं, वही दशा हितकारी है इति। आकांक्षा या चाह बुराई है (अवगुण है) अनाकांक्षा निर्मोहता भलाई है—हितकारी है (गुण है) इति। भय व आकांक्षाका होना पर्याय (अशुद्ध) दृष्टि है जो क्षणिक है त्याज्य हैं। जीवन, मरण, दवाई सेवन, अनादि ग्रहणका राग भी हानिकारक माना गया है अस्तु, द्रव्यदृष्टि करनेपर आकांक्षा, भय, आदि कुछ विकल्प नहीं होता और पर्यायदृष्टि करनेपर आकांक्षा भय आदि सभी होता है ऐसा समझना चाहिये। इस तरह निश्चय और व्यवहार दो तरहका निःकांक्षित अङ्ग बताया गया है ॥२४॥

३—निर्विचिकित्सित अंग का स्वरूप व कर्त्तव्य

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु[1] ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

पद्य

क्षुधा तृषादिक ये सब पुद्गल की पर्याएँ हैं।
जीव पृथक् हैं इनसे तौ भी युक्तदशा अपनाए हैं ॥
इससे बुधजन नहिं करते हैं, ग्लानि द्वेषता उन सब से।
द्रव्यरूप विष्टादिक से भी ग्लानि छोड़ते बुधिबल से ॥२५॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु पुरीषादिषु द्रव्येषु] भूख-प्यास जाड़ा गर्मी इत्यादि तरह २ की पुद्गलकी पर्यायोंमें अथवा संयोगीपर्यायमें होनेवाले भूख-प्यासादिक रूप विकारीभावों (परिणामों) में तथा टट्टी आदि पुद्गलद्रव्यमें भी (सबको पर जान करके) [विचिकित्सा नैव करणीया] ग्लानि घृणा या संक्लेशता नहीं करना, वही निर्विचिकित्सित अङ्ग कहलाता है। वस्तुस्वभावका ज्ञाता वैसा नहीं करता, उसको वह दोष मानता है ॥२५॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि भेदज्ञानीको जब सब द्रव्यों और उनकी क्षणिक विकारी (अशुद्ध) व अविकारी (शुद्ध) पर्यायोंका भिन्न २ ज्ञान हो जाता है तथा अपने स्वभाव विभाव भावोंका भी यथार्थ ज्ञान हो जाता है और उन भावोंके फल (कार्य) का भी पता लग जाता है, (बोध

---

१. उत्पन्न होते या प्रकट होते।

२. विकारी परिणाम—तरह २ की इच्छाओंका होना व रागद्वेष आदिका होना सब जीवद्रव्यके विकारीभाव हैं जो संयोगीपर्याय में हुआ करते हैं।

हो जाता है) इतना ही नहीं, सब द्रव्यगुण पर्यायें स्वतन्त्र हैं—सब अपनी २ योग्यता (स्वभाव या उपादान) से ही होते व मिटते हैं—उनको कोई निमित्त (कर्मोदयादि) उत्पन्न नहीं करता न मिटाता है। ऐसी स्थिति में यदि हमारी (जीवकी) इस संयोगीपर्यायमें कोई क्षुधा तृषादिकके विकारीभाव (पर्याय) अनचाहे भी अपनी स्वतन्त्रतासे स्वयं ही उत्पन्न हो जायँ या हमारा (आत्मद्रव्यका) उन पर कोई दवाउरा (प्रभाव) नहीं हैं वे स्वयं हो सकते हैं। फलतः न हम उनका कुछ कर सकते हैं न वे हमारा कुछ कर सकते हैं ऐसा दृढ़ श्रद्धान सम्यग्दृष्टिको होनेसे वह विकारीभावोंके होते समय अधीर खेद-खिन्न, चिन्तातुर व संक्लेषित नहीं होता, उसे वस्तुस्वभाव मानकर वह सन्तोष ही धारण करता है तथा वह यह भी जानता है कि ये तो विकारीभाव हैं और विनश्वर हैं नष्ट हो जावेंगे, अगर हम इनमें रागद्वेषादिक करते हैं तो हम और भी नये विकारोंसे और तज्जन्य कर्मबन्धसे बँध जावेंगे, जिससे हानि ही होगी। अतएव हमको विकल्प या संक्लेषता आदि न करके सन्तुष्ट हो रहना चाहिए जिससे नई आपत्ति न आने पावे और आत्मरक्षा रहे, बन्धका होना बन्द हो जावे, ऐसे बुद्धिमत्ता पूर्ण उच्च विचारोंसे ही सम्यग्दृष्टि कोई ग्लानि वगैरह विकारीभाव (संक्लेशता दुःख) नहीं करता, स्वभाव भावमें स्थिर रहता है तभी आत्मकल्याण होना सम्भव है। यही ज्ञायक स्वभावमें लीन होना है। शरीरादिक सब संयोगी-पर्यायरूप हैं अशुचि हैं अतः उनमें आस्था नहीं रखना चाहिए इत्यादि निर्विचिकित्सित अङ्गको समझना।

नोट—संयोगी अवस्थामें, भूख-प्यास आदिका लगना अर्थात् वैसा भाव होना पुद्गलकी पर्याय है तथा जीवके विकारीभाव (पर्याय) हैं और टट्टी आदि मल, सब पुद्गलकी पर्याय है (जड़ रूप है) यह वास्तविक भेद है।

निश्चय और व्यवहारको दो रूप निर्विचिकित्सित अंगके निम्नप्रकार हैं।

(१) निश्चयनिर्विचिकित्सित अङ्ग—वह है जिसमें कोई विकारीभाव न हो अर्थात् संयोगी-पर्यायमें विकारीभावों (क्षुधादिक के होनेपर भी स्वस्थ रहे, अपनी वीतरागता न छोड़े, शुद्ध स्वरूपमें लीन व तन्मय रहे, कोई रागादि व संक्लेशता आदि न करे इत्यादि। कारण कि उनको पर जानकर रागद्वेष नहीं करता न करना चाहिए तभी वीरता है अस्तु।

नोट—क्षुधा तृषादिक ये सब पुद्गलकी पर्यायें हैं, उसीमें होती व मिटती हैं तथा जीव-द्रव्यमें भी वैसे रागादिरूप विकारीभाव होते हैं ऐसा निर्धार समझना चाहिये।

(२) व्यवहार निर्विचिकित्सिता—वह है कि बाहिर शरीरादि अशुचि वस्तुओंसे घृणा या ग्लानि नहीं करना, इसमें पराश्रितता है। शरीर आत्मासे भिन्न है अतः उससे द्वेष या ग्लानि नहीं करना ऊपरी बात है। भीतरी बात भी तब है जब रागादिक विकारीभाव आत्मामें से निकलें, न होवें अर्थात् रागादिक बुरे हैं ऐसा द्वेष रूप विकल्प भी भीतर न होवे, इत्यादि। क्योंकि लोकाचारमें कोई बाहिर जाति-पांतिकी ग्लानि छोड़ देते हैं, परन्तु ग्लानि या दुश्मनी बराबर रखते

हैं, धनी गरीबोंसे घृणा करते हैं इत्यादि बुराइयाँ नहीं छूटतीं अतएव वह पाखण्ड ढोंग या वेष समझा जाता है [1]इत्यादि।

अन्यत्र

निर्विचिकित्सिताका अर्थ निर्दयतारहित किया है अथवा दयासहित होना निर्विचिकित्सिता कहलाता है। विचिकित्सिता = निर्दयता, उससे रहित इति।

नोट—व्यवहार दृष्टि या रुचिके समय भी यदि निश्चयदृष्टि (अन्तर्दृष्टि) रहे या रखी जाय तो वह सम्यक् व्यवहार होनेसे कथंचित् उपादेय होता है अर्थात् मन्द रागादिकके उदयमें वैसे भाव व शारीरिक क्रिया हो सकती है, परन्तु उसको भिन्न व हेय जानता हुआ (अरुचिपूर्वक) यदि करे तो दोषाधायक नहीं होता (मिथ्यादृष्टि नहीं हो जाता) कारण कि वह विवशता (मजबूरी) की अवस्था होनेसे चिरस्थायी नहीं होती, सदैव अरुचिरूप रहती है क्योंकि पर होनेके कारण एकत्व विभक्त दृष्टिवाला उसमें रुचि प्रीति उपादेयता कभी स्थायी नहीं कर सकता यह निश्चित है। ऐसा जीव (सम्यग्दृष्टि) ही यथार्थमें निर्विचिकित्सित अङ्ग पाल सकता है जो जिनवाणीमें श्रद्धा रखता है—कि विकार या विभाव सब पर हैं, अतएव उनको मत अपनाओ अर्थात् अपनी आत्मामें उन्हें यथासम्भव स्थान मत देओ—सदैव पृथक् रहो, बाह्य वस्तुएँ तो दृश्यमान पृथक् हैं ही ऐसा समझना चाहिये, परके संयोगसे कोई अपवित्र या पवित्र नहीं होता यह वस्तुव्यवस्था (स्वभाव) है किम्बहुना। शेष सब भ्रम है इति[2]।

संयोगी पर्यायमें अनादि कालसे निश्चय और व्यवहारनयमें परस्पर सापेक्षता अर्थात् कथंचित् निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धता चली आती है, तब परस्पर सर्वथा (अत्यन्ताभावरूप)

---

१. स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते, निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥१३॥ रत्न० श्रा०

अर्थः—स्वभावसे अपवित्र (नवद्वार मलवाही) किन्तु रत्नत्रय (सम्यग्दर्शनादित्रय) के संयोगसे पवित्र (उपचरित) ऐसे शरीरमें ग्लानि नहीं करना, निर्विचिकित्सित अंग कहलाता है यह व्यवहारनयका लक्षण है क्योंकि पराश्रित (शरीराश्रित) है अतः उपचार है। निश्चयसे आत्मामें रागादिक (ग्लानि वगैरह) का न करना निर्विचिकित्सित अंग है यह स्वाश्रित है। छहढालामें 'मुनि तन मलिन न देख घिनावे' यह भी व्यवहारका कथन है अस्तु।

२. मूलाचार ग्रन्थ गाथा ५७।५८ पंचाचार अधिकार। छुह तण्हा सीदुण्हा दंसमसयमचेलभावो य। अरदिरदिइत्थिचरियाणिसीधियासेज्जअक्कोसो ॥५७॥ वधजायणं अलाहो रोगतणप्फासजल्लसक्कारो। तह चेव पण्णपरिसह, अण्णाणमदंसणं खमणं ॥५८॥ उक्त २२ परीषहोंको ग्लानिद्वेष संक्लेशता रहित परिणामोंसे जीतना सहन करना, धर्म या चारित्र है, उससे सम्यग्दर्शन गुण निर्मलविचिकित्सारहित होता है यह तात्पर्य है।

बृहत् द्रव्यसंग्रह गाथा ४१ 'जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणं तं तु। दुरभिनिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि ॥४१॥'

असम्वन्धता नहीं कही जा सकती किन्तु तादात्म्य सम्वन्ध परस्पर न होनेसे कथंचित् असम्बन्धता कही जा सकती है यह तात्पर्य है। निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध तो लोकमें (समुदायावस्थामें अशुद्धोपयोग तक) प्रायः सभीका है अन्यथा लोकव्यवस्था ही सब बिगड़ जायगी ऐसा समझना चाहिए। हाँ, जन्यजनकता परस्पर नहीं होती, उपादानउपादेयता नहीं होती यह तात्पर्य है किम्वहुना। परस्पर सापेक्षता इसीका नाम है अर्थात् साथ २ रहना और यथासम्भव एक दूसरेको मदद या सहायता देना वाधा या विघ्न खड़ा नहीं करना इत्यादि। गौण और मुख्य रूपसे अपनी २ सत्ता जुदी २ कायम रखना यह भी उसीमें शामिल है अस्तु। आठों कर्मोंका व नोकर्म, भावकर्मोंका अनादिसे ऐसा ही तो निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध चल रहा है इति। तथापि भेद दोनोंमें रहा है, पर्यायें भी जुदी २ होती हैं परन्तु संयोग अवस्थामें वे विकारी पर्यायें कहलाती हैं। खाने-पीने आदिके भाव होना जीवके विकारी भाव हैं पर्याय हैं तथा टट्टी पेशाब आदि पुद्गलके भाव (पर्याय) हैं ऐसा समझना चाहिए किम्वहुना। निश्चय व्यवहार निर्विचिकित्सित अङ्गका संक्षेप रूप नीचे देखो[1]।

४—अमूढ़दृष्टि अंगका स्वरूप बताया जाता है
(अज्ञानता निकालना रूप)

लोके शास्त्राभासे समयाभासे[2] च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढ़दृष्टित्वम्[3] ॥२६॥

पद्य

रुचिवन्त सम्यग्दृष्टि को नहिं मूढ़ता करनी कभी।
जोहों कुशास्त्र कुधर्म अरु जो हों कुदेवादिक सभी॥
निर्मूढ़ता वह अंग है सम्यक्त्वका सूचक तदा।
इसके विना खण्डित कहा सम्यक्त्वका दरजा सदा॥२६॥

अन्वय अर्थ—[तत्त्वरुचिना] वस्तुके स्वरूपमें रुचि या श्रद्धा रखनेवाले—सम्यग्दृष्टि जीवको [लोके शास्त्राभासे समयाभासे देवताभासे च] लोकाचारमें अर्थात् लौकिक प्रवृत्तिमें (दूसरोंकी देखा-देखीसे) तथा खोटे (एकान्तपक्षी हिंसादि पोषक) शास्त्रोंमें (कुशास्त्रोंमें) कुधर्मोंमें और कुदेवोंमें [नित्यमपि] हर समय [अमूढदृष्टित्वं कर्त्तव्यम्] मूढ़ता नहीं करना चाहिये अर्थात् परीक्षा और विवेकके साथ (सावधानी पूर्वक) मान्यता और सेवा करनी चाहिये, तभी उसके

---

१. आत्मामें होनेवाले (अन्तरंग) रागादि विकारीभावोंसे भी घृणा या द्वेष नहीं करना कि ये बुरे हैं इत्यादि, निश्चयनिर्विचिकित्सित अंग है (स्वाश्रित है) तथा वाहिर पुरीषादि या शरीरादि परद्रव्यमें ग्लानि या द्वेष नहीं करना, व्यवहारनिर्विचिकित्सित अंग है ऐसा खास भेद समझना चाहिए॥२५॥

२. कुधर्म।

३. निर्मूढ़ता—मूढ़ताका त्याग करना। अर्थात् अज्ञानता को छोड़ना व ज्ञानको उत्पन्न करना।

अमूढ़दृष्टि अङ्ग पल सकता है यह व्यवहारनयकी अपेक्षा कथन है ॥२६॥ × निश्चयनयसे अपनी आत्माका अज्ञान (मिथ्याज्ञान) निकालना, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना, अमूढ़दृष्टि अङ्ग है।

भावार्थ—जीवनमें लोकाचार (चाल-चलन) देव, शास्त्र, धर्म ये चारों बातें बड़े महत्त्व की हैं। इनके सम्बन्धमें कभी असावधानी या देखा-देखी वर्त्ताव नहीं करना चाहिये, यह साधारण शिक्षा (उपदेश) है, जो सभी भव्य जीवोंको मानना चाहिये। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवके लिए तो खासकर यह निषेध (प्रतिबन्ध) है कि वह उक्त चारों वातोंमें पर्याप्त सावधानी रखे, मूर्खता या अज्ञानता न करे अर्थात् विना परीक्षा किये (सत्य असत्यका निर्णय न करके) यद्वातद्वा प्रवृत्ति न करे तभी वह सम्यग्दर्शनकी रक्षा कर सकता है अन्यथा नहीं यह विशेष उपदेश है।

(१) निश्चयनयसे आत्माके शुद्ध (वीतराग) स्वरूपमें भूल नहीं करना चाहिये अर्थात् उसको समझकर यथासंभव निर्विकल्प होकर उसीमें उपयोगको लगाना चाहिए वैसा करनेका नाम ही निश्चय अमूढ़दृष्टि अङ्ग है। यह स्वाश्रित है।

(२) व्यवहारनयसे वाह्य पदार्थोंमें अर्थात् लोकप्रवृत्तिमें गलती (मूढ़ता) नहीं करना (मनमानी स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं करना) अर्थात् लोकविरुद्ध कार्य नही करना, लोक मर्यादाको वनाये रखना (भङ्ग नहीं करना) शिष्टता बुद्धिमत्ता व सदाचार है। इसी तरह सच्चे सुमार्ग प्रदर्शक शास्त्रोंका अभ्यास करना, उनकी बातको मानना। सच्चे धर्मको अपनाना (कुधर्मको छोड़ना) सच्चे देव (वीतरागी सर्वज्ञ) को पूजना मानना आदि (झूठोंको नहीं पूजना मानना) उनका त्याग करना, अर्थात् उनका त्यागना, यह सब पराश्रित होनेसे व्यवहारकोटिका अमूढ़ दृष्टि अङ्ग है ऐसा समझना चाहिए। समय समयपर योग्यतानुसार दोनों उपयोगी होते हैं किन्तु अन्तमें निश्चयके आलम्बनसे ही कल्याण होता है—दूसरेसे नहीं यह निष्कर्ष है।

अमूढ़ता (निर्मूढ़ता) के दो भेद

(१) निश्चय अमूढ़ता—वस्तुके शुद्ध स्वरूपमें नहीं भूलना, ज्यों-का-त्यों जानना व श्रद्धान रखना। जैसे कि अध्यात्मकी भाषा (बोली या शैली) में आत्माके शुद्ध स्वरूपको जानना स्वाश्रित या स्वाधीन मानना व कहना निश्चय अमूढ़ता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन स्वयं होनेवाला (स्वाश्रित) आत्माका गुण (स्वभाव) है, वह पराश्रित (निमित्ताधीन) नहीं है इत्यादि सत्य है। अपने स्वरूपमें अज्ञानताको निकालना रूप है, अन्य या परके बावत अज्ञानताको निकालनेकी वात नहीं है अस्तु।

(२) व्यवहार अमूढ़ता—अन्य वस्तुके स्वरूपको आगमकी भाषामें पराश्रित या निमित्ताधीन कहना व्यवहार अमूढ़ता है, क्योंकि लोकमें वैसा मानते हैं। अर्थात् जैसे सम्यग्दर्शन, दर्शनमोहकर्मके उपशमादि होनेसे ही होता है अन्यथा नहीं होता इत्यादि। लोक व्यवहारमें जैसा चलन व्यवहार है वैसा ही मानना व करना सब व्यवहार अमूढ़ता है—उसको भूलना नहीं चाहिये।

× कापथे पथि दुःखानां कापस्थेऽप्यसंमतिः। असंपृक्तिरनुत्कीर्त्तिरमूढ़ा दृष्टिरुच्यते ॥१४॥—रत्न० श्रावकाचार।

लेन-देन रिश्तेदारी आदि जैसी मानी जाती है वैसी ही मानना, लोकमें असत्य नहीं मानी जानी सत्य मानी जाती है। इसका नाम व्यवहार कुशलता है। सम्यग्दृष्टि दोनों नयोंको समझता व वर्त्तता है कदाचित् भूल हो जानेपर पछताता है, उसमें दुःख मानता है, भूलको मिटानेका प्रयत्न करता है इत्यादि। व्यवहारमें लोकव्यवस्था व आस्था नहीं विगड़ती वह लोकव्यवहारी चतुर जीव, सवको ज्यों-का-त्यों (हेय उपादेय) समझता हुआ प्रवृत्ति करता है (श्रद्धा जुदी २ रहती है—उसीका उसे फल लगता है क्रियाका नहीं) किम्वहुना। मूढ़ता अज्ञान है अपराध है और वह वन्धका कारण हैं। लेकिन वहाँपर व्यवहारनयसे अमूढ़ता रखना अर्थात् मूढ़ता नहीं करना। इसका मतलव, कुदेव, कुगुरु, कुधर्म, कुशास्त्रके (परके) वावत भूल या अज्ञान निकालनेका है, जिससे उनका आदर आदि न किया जाय, छोड़ दिया जाय—सम्यग्दर्शनमें दोष न लगे इत्यादि वचत होती है जो इष्ट है ऐसा समझना इति।

५—उपगूहन अंगका स्वरूप वताते हैं

[1]धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो [2]मार्दवादिभावनया।
परदो[3]षनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥ २७ ॥

पद्य

आतम धर्म वढ़ाना निश्चय उपगूहन कहलाता है।
मार्द्दव आदि भावना वलसे परके दोष दवाता है॥
वह उपगूहन व्यवहारनयका—दोनों भेद जान करके।
सम्यग्दृष्टि अपनाता है—यथायोग्य पदमें रहके॥ २७॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [सदा आत्मधर्मः वर्द्धनीयः] सम्यग्दृष्टिको हमेशा आत्मधर्मको—वीतरागता रूप भावको वढ़ाना चाहिये। तथा [मार्दवादिभावनया उपबृंहणगुणार्थं

---

१. वीतरागतारूप, निश्चय धर्म तथा कषायकी मन्दतारूप शुभ धर्म, व्यवहार धर्म।
२. मान या अहंकार न करनेसे विनय प्रकट् होनेसे-धर्मानुराग होनेसे।
३. ढकना-प्रकट न करना, यह भी कषायकी मन्दतामें हो सकता है। अपने गुणोंको प्रकट या जाहिर नहीं करना, मान कषायकी मन्दताका फल है। और दूसरोंके औगुणोंको प्रकट नहीं करना यह भी कषाय की मन्दताका फल (कार्य) है—दोनों ही कषायकी मन्दतासे होते हैं।
४. विकार या दोप।
५. आत्मधर्म।
६. वढ़ाना-पूर्ण करना।
७. पंडित विद्वान्।
८. उपगूहन अंग पालना।

अज्ञानका संस्कार हटानेसे ही उपयोग स्थिर हो सकता है—दूसरी तरहसे नहीं यह नियम है, सो करो।

(१) व्यवहार उपगूहन—शुभ रागरूप है, मार्दव आदि धर्मकी भावनारूप है अर्थात् कषायकी मन्दतारूप—पुण्यबन्धके कारणरूप है ऐसा भेद समझना चाहिए। परन्तु इसमें भी हेय बुद्धि रखनेवाला ही मोक्षमार्गी कहलाता है किम्बहुना सर्वत्र विरागभाव और रागभावका ही मूलभेद है ऐसा समझना, परन्तु संयोगीपर्यायमें दोनों तरहके भाव होते हैं कोई नई या अपूर्व या अनहोनी चीज नहीं है। अतः कोई भ्रम या संशय नहीं करना चाहिये, सभी नियत है—अनियत कोई नहीं है। वस्तुका स्वभाव व परिणमन सब स्वतन्त्र है सम्यग्दृष्टि, इस सबको आगम द्वारा जानता व श्रद्धान करता है क्योंकि वह केवलीकी वाणीका पूर्ण श्रद्धालु होता है अस्तु। इस प्रकार निश्चय व व्यवहार उपगूहनका कथन किया गया है ॥२७॥

६. स्थितिकरण अंगका स्वरूप बताते हैं

कामक्रोधमदादिषु[1] चलितुमुदितेषु वर्त्मनो[2] न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥२८॥

पद्य

धर्म मार्ग से विचलित करने वाले कामादिक होते।
उदय अवस्था होने पर वे विचलित धर्महि से करते ॥
उसी समय जो युक्ति से या शास्त्रदेशना से करते।
स्थिर निज पर को धर्महि में, छटवां अंग पाल सकते ॥२८॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [न्यायात् वर्त्मनो] न्यायमार्ग अर्थात् धर्ममार्गसे [चलितुं] विचलित करनेके लिए या विचलित करने वाले [कामक्रोधमदादिषु उदितेषु] वेददत्रय, क्रोध मान आदि कषायोंके उदय होने पर, परिणामोंमें विकार हो ही जाता है अतएव सम्यग्दृष्टिको [आत्मनः परस्य च] स्वयं अपनी आत्माको तथा परकी आत्माको [श्रुतं युक्त्या अपि] शास्त्र या आगमके उपदेश द्वारा अथवा युक्तिके द्वारा अथवा आर्थिक सहायता द्वारा [स्थितिकरणं कार्यम्] न्यायमार्गमें स्थिर करना चाहिये। तभी छटवाँ स्थितिकरण अङ्ग पल सकता है ऐसा जानना[3] ॥२८॥

---

१. वेदत्रय।

२. धर्म या स्वभाव।

३. दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः। प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥१६॥ र० श्रा०

अर्थ—दर्शन ज्ञान चारित्ररूप धर्म (न्याय) से विचलित होनेवाले जीवोंको धर्मसे प्रीति रखनेवाले जीवोंके द्वारा जो पुनः धर्ममें स्थिर किया जाता है, उसको विद्वानोंने स्थितिकरण अंग कहा है ऐसा समझना चाहिये ॥१६॥

यहाँ पर निश्चय व्यवहार दोनों भेद कहे गये हैं।

भावार्थ—जब संसारी जीवोंके कर्मोंका और खासकर मोहनीय कर्मका या उसके भेद क्रोधादि २५ का तथा मिथ्यात्त्वादि ३ का कुल २८ का उदय आता है तब जीवोंके मन या क्षयोपशम ज्ञान उपयोगमें विकार उत्पन्न होता है अथवा रागादिरूप विकारीभाव प्रकट होते हैं (सत्तामें रहनेपर कुछ नहीं होता यह नियम है)। ऐसी स्थितिमें जीव, धर्म (स्वभाव-न्याय) से विचलित या भ्रष्ट अवश्य हो जाते हैं। उस समय विवेकी जीवोंका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह स्वयं अपनेको आगमके स्वाध्याय या तत्त्वचिन्तवनके द्वारा (परिणामोंको) सुधारे—उपयोगको विकारकी ओरसे हटाकर स्वभावमें लगावे और दूसरे जीवोंको भी समझावे (उपदेश देवे) अथवा आवश्यकताके अनुसार विपत्तिकालमें धनादिक (पूँजी) की सहायता देकर धर्ममें स्थिर करे, यह एक उपाय धर्म साधन का है। कारण कि संयोगीपर्यायमें कर्म उदयमें आते हैं—शरीर बेकाम होता है धनादिक समाप्त हो जाला है तब रागीद्वेषी मोही जीवको आकुलता हो जाती है चित्त विक्षिप्त हो जाता है गृहस्थाश्रमके चलानेकी जिम्मेवारी उसपर रहती है इत्यादि, अतः सब द्वारे बन्द हो जाने पर चिन्ता व धर्ममें शिथिलाचार होना संभव है। तथा 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' धर्मके चलानेवाले धर्मात्मा जीव ही होते हैं उनके बिना धर्म नहीं चल सकता। ऐसी कठिन परिस्थितियोंमें धर्मवत्सल दयालु धर्मात्माको धर्मसे एवं उसके पालनेवाले धर्मात्मासे निरपेक्ष वात्सल्य होना ही चाहिए। तभी वह स्थितिकरण अङ्गको पालनेवाला हो सकता है इत्यादि। सर्वत्र विवेककी महती आवश्यकता है। सूत्रकार उमास्वामी महाराजने भी 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' ऐसा सूत्र लिखा है।

स्थितिकरण अंगके २ भेद

(१) निश्चय स्थितिकरण—रत्नत्रय धर्ममें निर्विकल्प होकर उपयोगको लगाना अर्थात् यथासंभव वीतरागतारूप स्वभावमें दत्तचित्त होना, निश्चय स्थितिकरण कहलाता है यह स्वाश्रित है। वास्तवमें वस्तुका स्वभाव 'उत्सर्गरूप' है अर्थात् परके त्यागरूप परसे भिन्न रहना[1] है, अपवाद वस्तुका स्वभाव नहीं है विभाव है ऐसा जानना चाहिए। कदाचित् कर्मोदयके समय परिणाम धर्मसे विचलित हों तो उनको धर्ममें पुनः लगाना स्वकीय स्थितिकरण है वह अनिवार्य व निश्चय रूप है अस्तु।

(२) व्यवहार स्थितिकरण—जब जीवका उपयोग शुद्ध स्वरूपसे हटता है तब जो कोई दूसरा धर्मात्मा, धर्मसे च्युत हो रहे अन्य जीवको देखकर उसके निवारणार्थ मनमें एक करुणाभाव या दयापरिणाम उपस्थित करता है वह शुभराग रूप है। उसके बलसे प्रेरित होकर वह उन अन्य

---

१. प्रवचनसार गाथा २२४ देखो।

किं किंचणत्तितक्कं अपुणब्भवकामिणोऽधदेहेवि।
संगत्ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्तिमुद्दिट्ठा ॥२२४॥

अर्थ—जब देह भी साथी आत्मासे भिन्न है—आत्मा अकेला है तब अन्य चीजोंकी भिन्नताका क्या प्रश्न या तर्क है ? वे तो सब प्रत्यक्ष जुदे हैं ही ऐसा सत्य समझना चाहिए यह जिनेन्द्रदेवका कहना है।२२४।

परदोषनिगूहनमपि विधेयम्] मानादि कषायको छोड़कर गुण या धर्मको वढ़ानेके लिये ही—दूसरों के दोषोंको भी ढकना चाहिये, जिससे अपना व पराया धर्म वढ़ जाय या वढ़ सके ॥ २७ ॥

यहाँ पर निश्चय उपगूहन व व्यवहार उपगूहनका निरूपण किया है (स्वाश्रित व पराश्रित) इति ।

भावार्थ—पुण्यवंधका कारण विशुद्धता रूप धर्म (व्यवहार धर्म) मानादि कषायोंकी मन्दतासे ही वढ़ सकता है अन्यथा नहीं। कारण कि जवतक मान आदि कषायोंका तीव्र उदय रहता है तवतक वहुत अहंकार (गर्व-घमंड) आदि विकारीभाव जीवके होते रहते हैं। वह जीव संसारमें नामवरी उच्चता ख्याति आदि वहुत चाहता है एवं अपने सामने दूसरोंको तुच्छ (नगण्य) लेखता है अर्थात् मानके पहाड़ पर चढ़ा रहता है। ऐसी स्थितिमें तीव्र मान कषायवश अपने में मौजूद व गैर मौजूद गुणोंको प्रकट करता है—उन्हें दूसरोंसे प्रकट करवाता है तथा अदेखसकाभावसे दूसरोंके थोड़ेसे दोषोंको चढ़ावढ़ाकर प्रकाशित करता है, उन्हें नीचा दिखाता है, जिससे दोनोंमेंसे किसीके भी गुण या धर्म नहीं वढ़ पाते, कारण कि पापकर्मका वंध होनेसे विघ्न आ जाता है इत्यादि हानियाँ होती हैं। अर्थात् चाह या चिन्तवनके अनुसार पदार्थोंका परिणमन या कार्य कभी नहीं होता यह तात्पर्य है।

(१) कषायकी मन्दतारूप धर्मको उपगूहन अङ्ग कहना व्यवहारनयका विषय है। (वह पराश्रित है)।

(२) निश्चयनयकी अपेक्षा कषायोंका अभाव होना वीतरागतामें स्थिर होना सच्चा उपगूहन है। जिससे जीवकी पाप व पुण्य दोनोंका वंध न होनेमें पूर्ण रक्षा होती है ऐसा समझना चाहिये[1]।

धर्मके दो रूप माने जाते हैं

(१) निश्चय रूप—वीतरागतामय, पुण्यपाप परिणामोंसे रहित पूर्ण शुद्ध। (मोक्षका कारण)

(२) व्यवहार रूप—शुभरागमय, पुण्यपरिणाम सहित, अपूर्ण शुद्ध। (संसारका कारण) फलतः मोक्षका मार्ग एक ही है और वह निश्चय रूप पूर्ण शुद्ध है ऐसा समझना चाहिये।

---

१. स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य वालाशक्तजनाश्रयां। वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद् वदन्त्युपगूहनम् ॥ १५ ॥

—रत्न० श्रा०

अर्थ : स्वभावसे शुद्ध दोष रहित वीतराग मोक्षके मार्गमें (रत्न-त्रय) में यदि किन्हीं अज्ञानी या असमर्थ लोगोंके द्वारा दोष (वाच्यता) लग जाय या लगा दिया जाय तो उसको दूर करना या ढक देना उपगूहन अंग कहलाता है। यहां पर भी अपने दोषोंको दूर करना वीतरागता धारण करना, निश्चय उपगूहन है (स्वाश्रित) और दूसरोंके दोषोंको दूर करना या वैसी भावना रखना, व्यवहार उपगूहन है (पराश्रित है) यह भेद समझना चाहिये ॥ १५ ॥

उसको कलंकित करना महान् अधर्म है या धर्मका व्याघात है। उसकी शुद्धि करना धर्मात्माओं का कर्त्तव्य है। धर्म स्वभावको (वस्तुस्वभावो धर्म्मः) कहते हैं तदनुसार स्वभाव (प्राण-भूत गुण) का घात यथासंभव नहीं करना चाहिये अथवा विभावभाव (विकारी परिणाम) नहीं-करना चाहिये और उसके लिये आत्मवलका प्रयोग करना चाहिये। अन्यथा पुरुषार्थहीनता समझी जावेगी किम्वहुना। मोक्ष पुरुषार्थको हीनता जीवनका सबसे बड़ा अपराध है, इसको कभी नहीं भूलना।

सामाजिक व्यवस्था या लौकिक व्यवस्था का स्थान

धार्मिक व्यवस्थासे भिन्न रहता है। उसमें निग्रहानुग्रहका समावेश रहता है (रागद्वेषका भाव रहता है) तथापि उसमें भी विवेकी जीव शुद्ध भावसे भाग लेते हैं। लोकरीतिके अनुसार सच्चा न्याय (शासन) करते हैं। अर्थात् शुद्ध हृदयवाला जीव शंकाभय, लोभलालच, उच्चता-नीचता (जातिपांति) अज्ञानता, अरक्षा (कठोरता या निर्दयता) स्वार्थपरता (लापरवाही) अप्रीति, अनुन्नति (उपेक्षा) आदि निम्न या क्षुद्र विचारोंसे सर्वथा दूर रहता है, तभी वह श्रेष्ठ व आदरणीय वनता है। सत्य निर्णय करनेके लिये कोई दवाउरा या स्वार्थ नहीं होना चाहिये, न भय व घृणा होना चाहिये। तभी समाजोन्नति व देशोन्नति कर सकता है व हो सकती है। अर्थात् उसके लिये भी बाहिर आठों अङ्ग होना चहिये इति।

समाजशास्त्र (लोक शासन) में भी दंडव्यवस्थाका होना अनिवार्य है अन्यथा वगावत या गड़वबड़ी (अराजकता) का होना संभव व शक्य है। धार्मिक व्यवस्थामें भी ऐसा ही नियम है[1]।

(१) निश्चय उपगूहन—अपने शुद्ध वीतरागतारूप धर्मको बढ़ाना—उसमें चित्तको लगाना दृढ़ रखना, उपयोग हटने पर पुनः पुनः आत्मवल द्वारा उसीमें लगाना। वस, यही निश्चय उपगूहन अंग कहलाता है। इसके विषयमें पूज्यपाद स्वामी कहते हैं यथा—

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः, तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥१२॥

(समाधिशतक)

अर्थात्—अनादिकालके अज्ञानका संस्कार (वासना) होनेसे जीवोंका चित्त स्थिर नहीं होता वार २ चल चूक हो जाता है, अतएव भेदज्ञानके द्वारा ज्ञानका संस्कार डालनेसे तथा

---

१. दंसणचरणविवण्णे जीवे दट्ठूण धम्मभत्तीए।
उपगूहणं करितो दंसणसुद्धो हवदि एसो ॥६४॥ पंचाचार अवि० मूलाचारे।

अर्थ—जो जीव अपनी आत्मामें या दूसरोंकी आत्मामें मौजूद दर्शन वा चारित्रगुणको मलीन (विवर्ण) या अशुद्ध देखकर, उसको निकाल देता है—शुद्ध व निर्मल कर देता है (दोषरहित वना देता है) अर्थात अपने आत्माकी अशुद्धतासे रक्षा करता है वही जीव शुद्ध सम्यग्दृष्टि अर्थात् उपगूहन अंगका पालनेवाला होता है ऐसा जानना ॥६४॥

जीवोंको धर्ममें लगानेका जो प्रयत्न करता है, उसको व्यवहार स्थितिकरण अङ्ग कहा जाता है यतः वह पराश्रित है पुण्यवन्धका कारण है। इसमें विराग व शुभ रागका असली भेद है किम्बहुना। स्वाश्रित पराश्रितका भी वड़ा भेद है अस्तु ॥२८॥

७—वात्सल्य अङ्गका स्वरूप बताते हैं

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिवन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ॥२९॥

पद्य

मोक्षलक्ष्मी संगम[1] कारण—धर्म अहिंसारूप हि है।
अरु उसके पालनहारे भी, प्रीति योग्य कर्त्तव यह है॥
अङ्ग सातवाँ सम्यग्दर्शन, रक्षक वत्सल होता है।
इसीलिए वह धरण योग्य है—सम्यग्दष्टि धरता है ॥२९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अनवरतं] निरन्तर सम्यग्दृष्टिको [शिवसुखलक्ष्मीनिवन्धने अहिंसायां धर्मे] मोक्ष लक्ष्मीके सुखकी प्राप्तिके कारणभूत अहिंसा परम धर्ममें [अपि] और [सर्वेषु सधर्मिषु परमं वात्सल्यं आलम्ब्यम्] अहिंसा धर्मके पालनेवाले धर्मात्मा जीवोंमें निःस्वार्थ वात्सल्य करना चाहिए (प्रीतिका वर्त्ताव या प्रदर्शन करें) यही वात्सल्य अङ्ग कहलाता है ॥२९॥

भावार्थ—साधारणतः वात्सल्य, प्रेम या प्रीति करनेको कहते हैं। परन्तु उसके दो रूप होते हैं। (१) प्राणिमात्रसे प्रीति करना[2]। (२) धर्मात्माओं व धर्मसे प्रीति करना। साधारण प्रीति तो स्वार्थ या रागादिके कारण संसारी जीव किया ही करते हैं—स्त्री पुरुषसे पुरुष स्त्रीसे, तन धन जन सभीसे यह प्राकृतिक है। परन्तु यह अशुभराग (प्रीति) कहलाता है जो पापबंधका कारण माना गया है। किन्तु जो धर्मानुराग निःस्वार्थ होता है, उसको शुभराग कहते हैं, उससे पुण्यवन्ध होता है। अतः वह अशुभकी अपेक्षा अच्छा माना जाता है। इसी अभिप्राय (दृष्टिकोण) को मुख्यता देते हुए आचार्य महाराजने मोक्षके या उत्तम सुखके कारणभूत अहिंसा धर्ममें अथवा उसके सेवकोंमें रुचि या वात्सल्य करनेका उपदेश सराग अवस्थामें दिया है जो उचित ही है। संसारमें और तन-धन आदि संयोगी पर्यायमें रहते हुए यदि कोई पापवन्धसे वच जाय यही वड़ा लाभ व हित है। आजकल अधिकांश लोगोंकी विषय-कषायको वढ़ानेकी प्रवृत्ति हो गई है। धर्म और सच्चे धर्मात्माओंसे प्रीति हटती जा रही है। ऐसे अज्ञानी जीव, इस असार संसारमें ही मोक्षका व सुखका ख्वाव (स्वप्न) देख रहे—ख्यातिलाभ पूजा आदिकी चाहमें ही मग्न हो रहे है यह वड़े दुःखकी वात है, कैसे उद्धार हो यह चिन्ता है। जवतक विपरीत वुद्धि (विचारधारा) नहीं छूटती तवतक

---

१. प्राप्ति।
२. सत्त्वेषु मैत्रीम्।

कल्याण होना असम्भव है[1]। सम्यग्दर्शनके प्राप्त हुए बिना तथा उसके अङ्ग पाले विना कल्याण कदापि नहीं हो सकता यह नियम है। आत्म-कल्याणका कर्त्ता उसका स्वभाव या धर्म ही है जो उसीमें रहता है और वह 'उत्सर्गरूप' है। अर्थात् सबके त्यागरूप अथवा सबसे पृथक् स्वतन्त्ररूप सदा स्थायी (नित्य) स्वस्थ—हर वस्तुमें रहता है, वह कभी अपवादरूप नहीं होता (पराश्रित या बदनाम नहीं होता) ऐसा नियम है। आत्माको लक्ष्य करके कहा जाय तो, आत्मा भी जबतक अपवाद मार्गको (शिथिल व सदोष मार्गको) अपनाये रहता है— उसको छोड़कर अपना शुद्ध या उत्सर्ग सनातन मार्गको नहीं अपनाता, तबतक वह संसारमें ही भटकता रहता है किम्बहुना वह मार्ग शुद्ध अहिंसा या वीतरागतारूप है अन्य रूप नहीं है इति।

उसके निश्चय और व्यवहार रूप

(१) वीतरागतारूप या अहिंसारूप निजस्वभावमें रत या लीन रहना उसीमें दत्तचित्त रहना तन्मय होना, निश्चय वात्सल्य है वह अपेक्षारूप है। तथा स्वाश्रित या स्वाधीन है।

(२) साधक धर्मात्माओंसे अनुराग करना, उनमें भक्ति, आदरभाव रखना उनके प्रति उत्सुक होना—हर्ष मनाना, इत्यादि व्यवहार वात्सल्य है जो उपेक्षारूप है (पराश्रित है)। इनमें से पद व योग्यताके अनुसार पालन करना उचित होता है। परन्तु विवेकदृष्टि जागृत रहना चाहिये अस्तु। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दो रूप वात्सल्य अङ्ग कहा गया है इसको समझना चाहिये ॥२९॥

८—प्रभावना अङ्गका स्वरूप बताते हैं

आत्मा प्रभावनीयः रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

पद्य

रत्नत्रय सम्पादन करके जीव[2] प्रभावित होता है।
दानादिकके करनेसे, जिन धर्म प्रभावित होता है॥
निश्चय अरु व्यवहार प्रभावन समझ करो निश दिन प्यारे।
अतिशय नाम प्रभावनका है, उससे होत करम न्यारे ॥३०॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि विवेकीको चाहिये कि वह [सततमेव] निरन्तर [रत्नत्रयतेजसा आत्मा प्रभावनीयः] रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका उजेला करके अर्थात् उन्हें प्राप्त करके अपनी आत्माकी प्रभावना करे, अर्थात् मिथ्यादर्शन,

---

१. आतमके अहित विषयकषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय। —पं० दौलतरामजी कृत विनती
२. निज आत्माकी प्रभावना होती है—आत्मामें अतिशय या विशेषता प्रकट होती है।

मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रके द्वारा अनादिकालसे व्याप्त प्रबल अन्धकार को नष्टकर स्वच्छ बनावे, (निर्मल करे) [च] और [दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः जिनधर्मः प्रभावनीयः] बड़े २ दान देकर अर्थात् चारों[1] प्रकार के अनुपम दानोंसे, पंचकल्याणकादि [2]चतुर्विध महापूजाओंसे तथा उच्चकोटि का तपश्चरण धारण करके, उच्च ज्ञान प्राप्त करके या मन्त्रादि विद्या साधन करके 'जैन धर्म' या जैनशासनकी प्रभावना (महत्त्व) संसारमें प्रकट करे—बढ़ावे। इसीका नाम आठवाँ प्रभावना अङ्ग है। लोकमें अपने उत्कृष्ट धर्मको हर तरहसे जाहिर करना प्रभावना कहलाती है, गृहस्थका या अनगारका यह भी कर्त्तव्य है ॥३०॥

भावार्थ—दानादि देनेके भाव व क्रियाएँ सब शुभराग हैं। कषायकी मन्दता होनेपर वे हुआ करते हैं, उससे लोकमें प्रतिष्ठा बढ़ती है—नामवरी होती है, परलोकमें सहायक पुण्य बन्ध होता है, मनमें प्रसन्नता होनेसे पापका आस्रव नहीं होता, इत्यादि लाभ होता है[3]। यद्यपि यह भी हेय माना गया है किन्तु पदके अनुसार उसका होना अनिवार्य है। समय २ पर सभी तरहका विकास आत्मामें होता है कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। सम्यग्दृष्टि सरागी और विरागी दोनों तरहके होते हैं फलतः सराग अवस्थामें पुण्य भी कथञ्चित् उपादेय है (पापसे बचनेके लिए और संसारमें सुखद जीवन बितानेके लिए) अनादिसे ऐसा ही होता चला आ रहा है। पुण्यको उपादेय मानना यह व्यवहारनय का कथन है—निश्चयनयका नहीं है। जो बन्धका कारण और अपवादमार्गरूप हो वह अकिंचनरूप (परिग्रह रहित) कदापि नहीं हो सकता इत्यादि, वह उत्सर्ग मार्गी नहीं माना जा सकता इति।

आठवें अङ्ग के दो प्रकार (भेद)

(१) निश्चय प्रभावना—वीतराग सम्यग्दर्शनादिकी प्राप्ति करना रूप निर्विकल्प दशा (पक्षपात रहित अवस्था) का होना है जो निश्चय प्रभावना कहलाती है। उससे निजधर्म (आत्मधर्म) की प्रभावना होती है तथा अप्रभावना (मिथ्यात्त्वादि) नष्ट होती है इत्यादि। यह स्वाश्रित (अपनी) प्रभावना है।

(२) व्यवहार प्रभावना—लोकमें जिनधर्म या जिनशासनकी प्रभावना करना और उसके लिए दान, तप, जिनपूजा करनेरूप शुभरागका आत्मामें होना यह सब शुभ उपयोग और शुभ योग दोनों व्यवहार प्रभावनाके अङ्ग (सूचक) हैं ऐसा समझना। यह पराश्रित होने से व्यवहाररूप प्रभावना है। दान, परद्रव्य (धनादि) से होता है तप, शरीररूप परद्रव्यसे होता है, पूजा, अष्ट-द्रव्य (जलादि परद्रव्य) से होती है इत्यादि समझना।

---

१. आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान, अभयदान।

२. नित्यपूजन, आष्टाह्निक पूजन, चतुर्मुख पूजन, कल्पद्रुम पूजन।

३. अकीर्त्या तप्यते चेतश्चेतस्तापोऽशुभास्रवः। तत्तत्प्रसादाय सदा श्रेयसे कीर्तिमर्जयेत् ॥८५॥

—सागारधर्मामृत २ अध्याय

उपसंहार रूपमें—(इस प्रकरणमें श्लोक नं० २३ से ३० तक ८ श्लोक हैं)

सम्यग्दृष्टिसे रागद्वेष मोहका ही भिन्न २ प्रकार से त्याग कराया गया है यथा पहले श्लोकमें मोहका त्याग करना बतलाया गया है। २—श्लोकमें रागका त्याग करवाया गया है। ३—श्लोकमें द्वेषका त्याग करवाया गया है। ४—श्लोकमें अन्य धर्मियोंसे सम्पर्क छोड़ना बताया गया है (उनमें रुचि करनेका निषेध है)। ५—वें श्लोकमें धर्मरक्षा करना बतलाया गया है (रागद्वेष छुड़ाया गया है। ६—श्लोकमें अटल या दृढ़ रहनेको कहा गया है (घबड़ाने का निषेध है)। ७—श्लोकमें धर्म और धर्मातमाओंसे निष्काम प्रीति करनेका उपदेश है। ८—वें श्लोकमें प्रभावना करनेका उपदेश है। विना प्रभावनाके उत्कर्ष नहीं हो सकता इत्यादि। सबका सारांश आत्मोन्नति करनेका ही है--अवनतिके कारणोंको छोड़नेका है किम्बहुना। इस प्रकार आचार्यदेवने अङ्गी सम्यग्दर्शनके प्रत्येक अङ्गों (निशंकितादि ८) का वर्णन बहुत ही महत्त्वके साथ निश्चय व्यवहार द्वारा किया है जो एक अनुपम चीज है, परन्तु उसका अनुगम हर एक मुमुक्षु जीवको होना चाहिए, तभी वह अभीष्ट सिद्धि कर सकता है। अन्यथा नहीं यह नियम है। हमने यथा-शक्ति रहस्यको समझ कर कुछ प्रकाश, विशेषार्थके रूपमें आगेके पेजमें डाला है सो समझना चाहिये ॥३०॥

इति सम्यग्दर्शन अधिकार (श्रावकधर्मान्तर्गत)।

विशेषार्थ (मीमांसा)

सम्यग्दृष्टिके सम्यग्दर्शनमें निश्चयपना व्यवहारपना किस तरह घटित (सिद्ध) होता है ? इसका खुलासा किया जाता है।

तथा

वैसा न माननेसे क्या हानि व लाभ होता है यह भी बताते हैं।

मूल या प्रारंभमें, मोक्षमार्गके उपयोगी सात तत्त्वोंकी अपेक्षा (आधार) लेकर या उनके सम्बन्धमें विचार करना अनिवार्य है, कारण कि उन्हींके माध्यमसे निश्चय और व्यवहारका निर्धार मुख्य है और लाभदायक भी है। उनसे भिन्न लौकिक तत्त्वोंकी अपेक्षा विचार करनेसे अभीष्ट सिद्धि नहीं होती। अतएव उनका विचार करना गौण माना गया है अस्तु।

सम्यग्दर्शनका लक्षण

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥ सूत्र, उमास्वामी आचार्य।'

अर्थ—जीवादि सात तत्त्वोंका सम्यक् अर्थात् विपरीत अभिप्राय या श्रद्धान रहित (यथार्थ-भूतार्थ) श्रद्धान होना या करना 'सम्यग्दर्शन' कहलाता है। इसीका नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है। तथा इसके विरुद्ध या अतिरिक्त प्रकार श्रद्धान करना, मिथ्यादर्शन कहलाता है यह सारांश है। इसी प्रसंग या सिलसिलेमें, निश्चयपना और व्यवहारपना-सम्यग्दर्शनमें निम्न प्रकार माना जाता है—

(१) जिस समय जीव (आत्मा) को विपरीत अभिप्राय रहित (सम्यक्) तत्त्वोंका पूर्ण अर्थात् आठ अंगों (निःशंकितादि) सहित अष्टांगी ज्योंका त्यों श्रद्धान होता है उस समय उसको निश्चय सम्यग्दर्शन अथवा अष्टांगी सम्यग्दर्शन वाला सम्यग्दृष्टि जीव कहते हैं यह निष्कर्ष है। तथा

(२) जिस समय जीवको विपरीत अभिप्राय रहित उक्त सात तत्त्वों का ही अपूर्ण अर्थात् कुछ अंगों सहित या एक दो अंगों सहित सम्यग्दर्शन होता है, उस समय उसको उपचार या व्यवहारसे सम्यग्दर्शन वाला (अष्टांग विना भी) सम्यग्दृष्टि कहते हैं। अर्थात् आंशिक सम्यग्दर्शन के समय भी पूर्ण सम्यग्दृष्टि जैसा उसको कहना या मानना, यही सम्यग्दर्शनमें व्यवहारपना या उपचारपना है। जैसे कि मोक्षमार्गोपयोगी तत्त्वोंमें अकेला संशय (शंका) न होने पर या अकेली आकांक्षा न होने पर या दोनोंके न होने पर भी वह सम्यग्दृष्टि तो कहलायेगा (सम्यक् श्रद्धा मूल में होनेसे) किन्तु आंशिक सम्यग्दर्शन होनेसे उसका नाम व्यवहार सम्यग्दृष्टि होगा। यह खास भेद समझना चाहिये। इसी तरह सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चरित्रमें भी निश्चय और व्यवहारका रहस्य (प्रयोजन-अर्थ) समझना अनिवार्य है।

भावार्थ—जबतक पूर्ण या सर्वांग न होवे तबतक अपूर्णतामें अंगी कहना या मानना, उपचार या व्यवहार है। और जब पूर्ण या सर्वांगी हो जाय, तब अंगी कहना निश्चय या भूतार्थ है। इस तथ्यको हृदयंगम करना विवेकी या सम्यग्दृष्टिका कर्त्तव्य है। देखो, इसी सिद्धान्तको लेकर चौथेसे तेरहवें गुणस्थानके पहिले तक ९ गुणस्थानोंमें पूर्ण मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शनादित्रय) नहीं होता अपितु आंशिक या अपूर्ण होता है, परन्तु वह आंशिक निश्चय होनेसे प्रामाणिक होता है—माना जाता है। फलतः उसको व्यवहारनयसे पूर्ण मोक्षमार्गवाला या मोक्षमार्गी कहा जाता है। इस तरह सम्यग्दर्शनादि तीनोंमें निश्चय-व्यवहारपना घटित होता है। उसके माननेसे धोखा नहीं होता—भ्रम या मिथ्यात्त्व मिट जाता है यह लाभ तो बराबर होता है किन्तु जबतक पूर्णता न हो (अधूरापन रहे) तब तक कार्य सिद्ध नहीं होता यह नियम है। तदनुसार व्यवहार या अधूरापनका मिटाना अनिवार्य है अर्थात् पूर्णता (निश्चयपना) को प्राप्त करना परम कर्त्तव्य है या सिद्धिका साधक है। फलतः निश्चय उपादेय है और व्यवहार हेय है किम्बहुना इसे समझना चाहिये।

इसके पहिले भी भेद बताया गया है

श्लोक नं० ५ आदि में व श्लोक नं० २२ में खासकर निश्चय व्यवहारके भेद बताए गये गये हैं कि व्यवहार तीन तरहका होता है (१) भेदाश्रित अर्थात् खंड रूप या अखंडमें खंड करना रूप। अथवा खंडको पूर्ण वस्तु मानना रूप। पराश्रित अर्थात् वस्तुको पराधीन मानने रूप। (३) पर्यायाश्रित अर्थात् पर्यायके भेदसे वस्तुको भेद मानने रूप। इत्यादि सब उपचार या कल्पना मात्र है, सत्य नहीं है। किन्तु यथार्थ श्रद्धान व ज्ञानके होते हुए यदि वैसा विकल्प हो तो वह व्यवहार रूप माना जाता है, उसमें हेय बुद्धि रहती है अतः वह कथंचित् उपादेय रूप है। लेकिन यदि विपरीत श्रद्धान ज्ञानरूप हो तो वही मिथ्यारूप है सर्वथा हेयरूप है हानिकर है

ऐसा समझना चाहिये इत्यादि, निश्चय और व्यवहार तथा सम्यग्व्यवहार व मिथ्या व्यवहारमें फरक जानना सम्यग्ज्ञान है। सर्वत्र संगति या एकार्थताका बिठालना बुद्धिमानी है। निश्चय और व्यवहारके स्वरूपमें एवं निर्धारमें बहुधा लोग भूले हुए हैं जैसा कि श्लोक नं० ५ में आचार्य देवने कहा था, अस्तु। पुनः संक्षेपमें एक बार दोनोंका स्वरूप ऐसा है कि—

१—जो पदार्थ जैसा या जितना है, उसको वैसा या उतना ही जानना व मानना निश्चय है। उपचार और व्यवहारमें अभेद विवक्षा मानी गई है यथा

२—जो पदार्थ जैसा व जितना है, उससे कमको भी वैसा उतना मानना व्यवहार है। और

३—जो पदार्थ जैसा है, उससे उल्टा (विपरीत) उसको मानना मिथ्यात्त्व है, इसमें मिथ्या श्रद्धान मुख्यतया पाया जाता है यह भेद है किम्बहुना लोकाचारका निश्चय व्यवहार दूसरे तरहका होता है।

नोट—निश्चय सम्यग्दर्शनके निश्चय रूप आठ अंग होते हैं और व्यवहार सम्यग्दर्शनके व्यवहार रूप आठ अंग होते है। ऐसी स्थितिमें व्यवहार सम्यग्दर्शनको निश्चय सम्यग्दर्शन मानना भी उपचार है तथा व्यवहार सम्यग्दर्शनके एक अंगसे सम्पूर्ण व्यवहार सम्यग्दर्शन मानना भी उपचार है एवं निश्चय सम्यग्दर्शनके एक अंगसे सम्पूर्ण निश्चय सम्यग्दर्शन मानना भी उपचार है इत्यादि सर्वत्र जानना चाहिये। सारांश थोड़ेको वहुत मानना या बहुत को थोड़ा मानना यह सब उपचारका रूप है अस्तु ॥ ३० ॥

(२) सम्यग्ज्ञान अधिकार

आचार्य, आठ अंग सहित सम्यग्दर्शनका निरूपण करनेके पश्चात् आठ अंग सहित सम्यग्ज्ञानका कथन प्रारंभ कर रहे हैं क्योंकि वह मूलभूत है उसको पहिले प्राप्त करना चाहिये (अवश्य प्राप्तव्य है) यह वताते हैं—

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥३१॥

पद्य

पूर्वविधि से सम्यग्दर्शन, प्राप्त जिन्हों को हो जाता।
फिर भी अपने हित के खातिर, सम्यग्ज्ञान शेष रहता ॥
अतः उसे भी प्राप्त करत वे, स्वरूप निश्चित कर पेश्तर।
आम्नायादिक द्वारा उसका स्वरूप होत हैं अतिदृढ़तर[1] ॥३१॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जिन्होंने [इत्याश्रितसम्यक्त्वैः आत्महितैः] पूर्वोक्त आठ अंग सहित सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया है और आत्मकल्याण के इच्छुक हैं, उनको चाहिए

१. वहुत मजबूत अटल।

कि [आम्नाययुक्तियोगैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य] पेश्तर आगम (आम्नाय) अनुमान (युक्ति) प्रत्यक्ष (योग-स्वानुभव) इन तीन प्रमाणोंके जरिये सम्यग्ज्ञानका निर्णय (निश्चय) करके, [यत्नेन नित्यं समुपास्यम्] बड़े प्रयत्न या पुरुषार्थके साथ उसको हमेशा अपनावें अर्थात् उसकी आराधना या सेवा अवश्य करें यह जरूरी है क्योंकि उसके बिना आत्मकल्याण (साध्य) की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ३१ ॥

भावार्थ—विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंमें ज्ञानका दर्जा और महत्त्व सबसे ऊँचा है कारण कि उसके बिना कोई व्यवस्था हो ही नहीं सकती। कौन पदार्थ किस प्रकारका है, किस कामका है ? इत्यादि बातोंका पता लग ही नहीं सकता। तब अन्धकार में रहना जैसा लोक में रहना सिद्ध होता है। अतएव ज्ञान तो उत्कृष्ट है ही किन्तु उसमें भी 'सम्यग्ज्ञान' सर्वोत्कृष्ट वस्तु है, जो अभीष्ट (साध्य) सिद्धि करता है क्योंकि उसके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थमें यह शक्ति (सामर्थ्य) नहीं है कि वह अभीष्ट सिद्धि कर सके इत्यादि। अतएव उस सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करना अनिवार्य है, परन्तु उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है ? उसके उत्तर में आचार्य महाराज कहते हैं कि 'युक्ति' अर्थात् प्रमाण व नयसे अथवा अनुमानसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है अथवा 'आम्नाय' से अर्थात् पूर्व परम्परासे (गुरु आदिके उपदेश द्वारा) अथवा 'योगोंसे' अर्थात् प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोगोंके द्वारा अथवा स्वानुभव प्रत्यक्ष द्वारा उत्पन्न होता है इत्यादि अनेक साधन हैं, जिनसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है। युक्ति आदिका स्वरूप नीचे टिप्पणी में देखो[1]। ऐसा समझना चाहिये।

नोट—इस श्लोकमें मुख्यतया सम्यग्ज्ञानके उत्पादक निमित्त कारणोंका उल्लेख किया गया है भेदोंका उल्लेख नहीं है तथापि थोड़ा प्रकाश डाल देना संगत प्रतीत होता है, उससे आगे लाभ ही होगा, अतएव निम्न प्रकार भेद समझना चाहिये। सम्यग्ज्ञानका लक्षण भी आगे श्लोक नं० ३५ में कहा जायगा सो जानना।

सम्यग्ज्ञानके २ भेद

(१) प्रत्यक्ष भेद, (२) परोक्ष भेद, अथवा (१) निश्चयसम्यग्ज्ञान (२) व्यवहार सम्यग्ज्ञान।

[2]प्रत्यक्षज्ञानके २ भेद

(१) सकल या सर्वप्रत्यक्ष, जैसे केवलज्ञान। (१) विकल या [3]एकदेश प्रत्यक्ष, जैसे

---

१. नयप्रमाणाभ्यां निश्चयः 'युक्तिः'। तत्त्वोल्लेखि ज्ञानं 'स्मृतिः'। इन्द्रियग्राहिवर्त्तमानकालावच्छिन्नपदार्थ-ज्ञान 'मनुभवः'। एतदुभयं संकलनात्मकं ज्ञानं 'प्रत्यभिज्ञानं'। व्याप्तिज्ञानं 'तर्कः'। व्याप्यव्यापक-सम्बन्धो हि 'व्याप्तिः'।

२. जो सिर्फ आत्माकी सहायतासे उत्पन्न हो, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। जो इन्द्रिय व मनकी सहायता से उत्पन्न हो, उसको परोक्ष कहते हैं।

३. जिसमें मनकी अकेलेकी कुछ सहायता हो व कुछ अकेले आत्माकी सहायता हो, उसको एकदेश (आंशिक) प्रत्यक्ष कहते हैं। जिसमें अकेले आत्माकी सहायता हो, वह सर्वदेश (सकल) प्रत्यक्ष कहलाता है।

अवधि व मनःपर्ययज्ञान। जिनमें थोड़ी सहायता इन्द्रिय व मनकी रहती है और थोड़ी सहायता आत्माकी रहती है, उन्हें एकदेश प्रत्यक्ष कहते हैं। जिसमें (केवलज्ञानमें) सिर्फ अकेले आत्माकी ही सहायता रहती है, वह सर्वदेश या सकल (पूर्ण) प्रत्यक्ष कहलाता है, यह भेद है। अथवा प्रत्यक्षके दूसरे भेद—

(१) पारमार्थिक प्रत्यक्ष, (२) सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष।

(क) जो ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थोंको अपनी ही (आत्माकी ही) सहायता से स्पष्ट जाने या जानता हो, उसको पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

(ख) जो ज्ञान इन्द्रियादिक की सहायतासे वर्त्तमान अवस्थामें मौजूद पदार्थोंको कुछ स्पष्ट जाने या जानता हो, उसको व्यवहारनयसे प्रत्यक्ष कहते हैं अर्थात् वह सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। जैसे कि हमने उस चीजको प्रत्यक्ष देखा है ऐसा लोकमें कहा जाता है, जो सच (सत्य) माना जाता हैं। ऐसे ज्ञान, मति और श्रुत दोनों हैं। जो इन्द्रिय और मनकी सहायता विना नहीं हो सकते यह नियम है।

(१) निश्चय सम्यग्ज्ञान—परद्रव्यों से भिन्न पुष्करपलाशवत् निर्लेप अपनी आत्मा मात्रका यथार्थ (विपरीत अभिप्राय रहित) ज्ञान होना, निश्चयसम्यग्ज्ञान कहलाता है। यतः यह स्वाश्रित है, विषय-विषयीका भेद नहीं है। शुद्ध स्वरूपका स्वानुभव रूप है इति।

(२) व्यवहार सम्यग्ज्ञान—अपनी आत्मासे भिन्न परपदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होना, व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहलाता है क्योंकि वह पराश्रित है—विषय-विषयीका भेद है।

नोट—नयोंका स्वरूप पेश्तर (श्लोक नं० ५ में) कहा जा चुका है अतएव उसको पुनः न कहकर अभी प्रमाणोंका स्वरूप व भेद कहा जाता है। सम्यग्ज्ञान (प्रमाण) के ५ भेद हैं, उनमेंसे पहिले—

(१) मतिज्ञान—विषय और विषयीके सन्निपात (सन्मुख या संयोगी) होनेपर जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे विशेष ज्ञान होता है, उसको मतिज्ञान कहते हैं। वह परोक्ष ज्ञान है। उसके चार भेद (अवग्रहादि) होते हैं। यथा—

(क) अवग्रह ज्ञान—विषय और विषयी (इन्द्रियादि) के सन्निपात होनेपर जो प्रथम (आद्य) ज्ञान होता है, उसको अवग्रह ज्ञान कहते हैं। जैसे 'यह मनुष्य है' इत्यादि।

(ख) अवग्रह ज्ञानसे जाने हुए पदार्थको विशेष जाननेकी इच्छा (जिज्ञासा) का उत्पन्न होना उसे (२) ईहाज्ञान कहते हैं। जैसे कि यह ननुष्य कहाँका है इत्यादि।

(ग) विशेष लक्षणोंसे उस जिज्ञासित पदार्थका यथार्थ ज्ञान हो जाना (३) अवाय ज्ञान कहलाता है, जैसेकि वोली या रहन-सहनसे ऐसा निश्चय होजाय कि यह मनुष्य दक्षिणी है या गुजराती है इत्यादि।

(घ) पक्के या मजवूत ज्ञान होनेको (४) धारणा ज्ञान कहते हैं, जो बहुत कालतक न भूले (विस्मृत न हो) इसमें आत्मवलकी विशेष आवश्यकता रहती है इत्यादि।

नोट—ये सव ज्ञान वीर्यान्तराय कर्म, व ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशम होनेपर ही होते हैं, विना उनके नहीं होते ऐसा नियम है अस्तु।

(२) श्रुतज्ञान—मतिज्ञानसे जाने हुये पदार्थोंकी विशेषताओंको जाननेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। जैसे सूर्यका ज्ञान होनेपर दिनका ज्ञान होना या चन्द्रमाका ज्ञान होनेपर रात्रिका ज्ञान होना इत्यादि।

श्रुतज्ञानके दो भेद

(१) अक्षरात्मक (शव्दज)। (२) अनक्षरात्मक (लिंगज)।

अक्षरात्मक श्रुतज्ञानके दो भेद

(१) अंगवाह्य (अनेक भेद रूप) (२) अंगप्रविष्ट (१२ भेद रूप)।

अथवा

(१) द्रव्यश्रुत (२) भावश्रुत

नोट—इसका विशेष कथन इसी श्लोकके अन्तमें किया गया है सो समझ लेना।

(३) अवधिज्ञान—जो ज्ञान, द्रव्य क्षेत्र काल भावकी सीमा सहित रूपी पदार्थोंको एकदेश स्पष्ट जाने या जानता हो, उस ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। उसके सामान्यतः ३ तीन भेद होते हैं (१) देशावधि (२) परमावधि (३) सर्वावधि।

अथवा

(१) भवप्रत्यय अवधि क्षयोपशम निमित्तिक अवधि।

(क) भवप्रत्यय (निमित्तक) अवधि—देवनारकी और किसी २ मनुष्य तिर्यंचके भी होता है।

(ख) क्षयोपशम निमित्तक अवधि—मनुष्य और तिर्यंचोंके ही होता है। उसके ६ छह भेद होते हैं यथा वर्तमान-हीयमान-अनुगामी-अननुगामी-प्रतिपाती-अप्रतिपाती इति

(१) जो समय २ वढ़ता ही जाय, उसको वर्द्धमान कहते हैं। जैसे सूर्यका प्रकाश।

(२) जो समय २ घटता ही जाय, उसको हीयमान कहते हैं। जैसे आयु कर्मके समय।

(३) जो एक भवसे दूसरे भवमें भी साथ चला जाय, उसको अनुगामी कहते हैं जैसे कर्म।

(४) जो साथ न रह जाय, उसी पर्यायमें साथ छोड़ देवे, उसको अननुगामी कहते हैं जैसे शरीर।

(५) जो नष्ट हो जाय अर्थात् छूट जाय, उसको प्रतिपाती कहते हैं, जैसे रागादिक।

(६) जो नष्ट न हो अर्थात् छूटे नहीं, उसको अप्रतिपाती कहते हैं, जैसे ज्ञानादिकगुण।

नोट—उपर्युक्त विशेषता सिर्फ अवधिज्ञानमें बतलाई गई है। अतः वह पूर्वोक्त अनेक प्रकारका होता है दृष्टान्त तो समझनेके लिए दिये जाते हैं। अवधिज्ञानमें स्वयं वैसा परिणमन होता है सो जानना।

(४) मनःपर्ययज्ञान—जो ज्ञान, दूसरेके मनमें स्थित रूपी पदार्थको जाने व जानता हो, उसको मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। यह देश प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके (१) ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान, (२) विपुलमति मनःपर्ययज्ञान, ऐसे दो भेद होते हैं।

नोट—मनःपर्ययज्ञानमें अवधिज्ञानसे अधिक विशुद्धता (निर्मलता) होती है और उत्कृष्ट देशावधिसे लेकर मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान संयमी जीवोंके ही होते हैं तथा वे तद्भव मोक्षगामी भी हुआ करते हैं। आगे २ के ज्ञानोंका विषय सूक्ष्म २ है इति।

(५) केवलज्ञान—जो ज्ञान तीन लोक स्थित सम्पूर्ण ज्ञेयों (पदार्थों) को उनकी त्रैकालिक पर्यायों सहित युगपत् स्पष्ट हस्तामलककी तरह जाने या जानता हो, उसको केवलज्ञान कहते हैं, वह अनुपम व अद्वितीय सदा स्थायी है ऐसा समझना चाहिये। इसके निश्चय और व्यवहार दो भेद होते हैं। अपनेको जानना निश्चय और परको जानना व्यवहार है ऐसा समझना चाहिए।

परोक्षज्ञानके ५ भेद

(१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान, (५) आगम। परन्तु ये श्रुतज्ञानमें अन्तर्भूत होते हैं ऐसा समझना चाहिये[1]। इसके दूसरे नाम भी नीचे लिखे गये हैं।

लक्षण व स्वरूप

(क) स्मृतिज्ञान—पूर्वमें जाने हुए पदार्थका स्मरण होनेपर जो वर्तमानमें ज्ञान होता है उसको स्मृतिज्ञान कहते हैं। वह स्मरण संस्कारके रहनेपर होता है—विना संस्कार पड़े नहीं होता— जैसे हमने उसे देखा है इत्यादि।

(ख) प्रत्यभिज्ञान—जो ज्ञान स्मृति और अनुभव (प्रत्यक्ष) दोनोंके मेलसे जोड़रूप होता है, उसको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे किसीके मुँहसे यह सुना था कि गवय (गुरांयपशु) गायके समान होता है। उसके बाद किसी जंगलमें गवय (नीली गाय-गुरांय) को देखा, देखते ही पहिली बात याद आगई कि अहो ! यही गवय है या होना चाहिये जो पहिले सुन रखा था इत्यादि।

यहाँपर 'वह' स्मृतिज्ञान है 'यह' अनुभव ज्ञान है। ऐसा जानना अथवा किसीको छुटपनमें देखा था फिर बहुत समयके बाद मिलाप हुआ उस समय 'यह तो वही है जिसे छुटपनमें देखा था, ऐसा जोड़रूप ज्ञान, प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। उसके सादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि अनेक भेद होते हैं।

---

१. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

—सूत्र प्रथम अध्याय, ये दूसरे नाम मतिज्ञानके हैं।

(ग) [1]तर्कज्ञान—व्याप्ति (अविनाभाव) के ज्ञानको तर्कज्ञान कहते हैं। व्याप्तिका अर्थ अविनाभाव है, अर्थात् एकके बिना दूसरा न रह सके ऐसे सम्बन्धको व्याप्ति कहते हैं, उसका ज्ञान हो जाना 'तर्कज्ञान, कहलाता है। जैसेकि अग्निके बिना धूम नहीं रहता, आत्माके बिना चेतना नहीं रहती यह व्याप्ति है। इसीका नाम साहचर्यनियम या अविनाभाव है ऐसा समझना।

(घ) अनुमानज्ञान—साधन (हेतु) से साध्य (अभीष्ट) का ज्ञान होना, अनुमानज्ञान कहलाता है जैसेकि धुआँसे अग्निका ज्ञान हो जाना कि यहाँ अग्नि अवश्य होगी इत्यादि।

(ङ) आगमज्ञान—आप्तके वचनों (उपदेशों-शब्दों) को आगम कहते हैं, और उन वचनोंका ज्ञान होना, आगमज्ञान कहलाता है। अथवा उन वचनोंके निमित्तसे वाच्यों अर्थात् पदार्थोंका ज्ञान होना भी उपचारसे आगमज्ञान कहलाता है। उसीके (१) शब्दागम (शब्दरूप निकलना) (२) अर्थागम (पदार्थोंको बताना) (३) ज्ञानागम (उससे ज्ञानकी उत्पत्ति होना) ऐसे तीन भेद होते हैं।

दर्शनचेतना (उपयोग) के भेद ४

१—चक्षुदर्शन, २—अचक्षुदर्शन, ३—अवधिदर्शन, ४—केवलदर्शन।

नोट—मनःपर्ययदर्शन, नहीं माना गया है, कारण कि उस ज्ञानके होनेमें उपयोग नहीं जोड़ना—लगाना पड़ता है, अर्थात् उस ओर उन्मुख नहीं होना पड़ता है यह विशेषता पाई जाती है। अवधिज्ञानमें उस ओर उपयोगको लगाना पड़ता है तब वह जानता है अतएव उपयोगको लगानेका नाम ही 'अवधिदर्शन, कहलाता है यह भेद समझना अर्थात् अवधिज्ञानमें उपलोग लगाना पड़ता है और मनःपर्यय ज्ञानमें उपयोग नहीं लगाना पड़ता यह विशेषता रहती है अस्तु।

चेतना या ज्ञानके ३ भेद (चेतनाएँ)

ज्ञानका नाम चेतना है, उसके अनेक नाम हैं—जैसे ज्ञान, चेतना, अनुभव, निश्चय, अध्यवसाय इत्यादि। तदनुसार चेतना (ज्ञान) के ३ भेद कहे गये हैं यथा—

(१) कर्मफल चेतना—अर्थात् बँधे हुए कर्मोंके उदय आनेपर जो फल (सुख-दुःखादि अवस्था) प्रकट होता है, उसको वेदना या जानना या भोगना अनुभव करना, केवल इतनी ही शक्ति उसके रहती है, प्रतीकार या उपाय करनेकी शक्ति नहीं रहती कारण कि साधनोंका अभाव रहता है। ऐसे एकेन्द्री जीव होते हैं (स्थावर जीव)।

(२) कर्म चेतना—अर्थात् सुख दुःखादिको जानकर उसके संयोग वियोग करनेका उपाय

---

१. अन्यथानुपपन्नत्त्वं यत्र तत्र त्रयेण किं। नान्यथानुपपन्नत्त्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ?

अर्थ—जहाँपर निश्चित अन्वय व्यतिरेक होता हैं, वहाँपर और किसीकी (पक्ष, हेतु, साध्यकी) आवश्यकता नहीं होती, वही सबसे बड़ा साध्यका साधक (सूचक) नियम है ऐसा सिद्धान्त है समझना चाहिये।

सूझना व यथासम्भव उपाय कर सकना, यह शक्ति जिसके पाई जाती है उसे कर्मचेतना कहते हैं। ऐसे द्वीन्द्रियादि जीव होते हैं।

(३) ज्ञानचेतना—अर्थात् अपनी आत्माका ज्ञान होना अथवा स्वपरका भेद विज्ञानका होना ज्ञानचेतना कहलाती है। यह संज्ञी पञ्चेन्द्री जीवोंके ही होती है अन्यके नहीं होती यह नियम है। यहाँपर ज्ञानका अर्थ 'आत्मा' होता है ऐसा पंचाध्यायीमें कहा गया[1] है।

नोट—(१) संक्षेपमें दो भेद होते हैं (१) शुद्ध चेतना (२) अशुद्ध चेतना। कर्मफल व कर्मचेतना अशुद्धचेतना कहलाती है और ज्ञानचेतना शुद्धचेतना कहलाती है क्योंकि वह पदार्थके शुद्ध स्वरूपको बतलाती है।

(२) ज्ञानगुण सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है अतएव उसकी साधना आराधना करना प्रत्येक समझदार विवेकी मनुष्यका कर्त्तव्य है, उसके विना उद्धार (कल्याण) नहीं हो सकता यह नियम है। उसके लिए ज्ञानी पुरुष पञ्चाचार आदि पालते हैं। उनमेंसे ज्ञानाचारके आठ अङ्ग होते हैं जिनके पालनेसे ज्ञानगुणमें वृद्धि होती है अर्थात् वह विशेषरूपसे प्रकट होता है ऐसा व्यवहारनयसे कहा गया है। यथा—

१–शब्दाचार, २–अर्थाचार, ३–उभयाचार, ४–कालाचार, ५–विनयाचार, ६–उपधानाचार, ७–वहुमानाचार, ८–अनिह्नवाचार, इनका यहाँ नाम मात्र लिखा जाता है आगे श्लोक नं० ३६ में आचार्य स्वयं कहनेवाले हैं किम्बहुना।

सम्यग्ज्ञानीकी विचारधारा

सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी विचार करता है कि अहो! जबतक यह जीव शुभोपयोगकी भूमिकामें रहता है तबतक यह वैसा (शुभ) व्यापार (क्रियाएँ) भी किया करता है अर्थात् शुभोपयोगके उदय (आवेश) कालमें पञ्चाचारोंका पालना अर्थात् ज्ञानकी ऊपरी (बाह्य) विनय करना, पञ्चमहाव्रतोंका पालना, (धारण करना) पाँच समितियोंका पालना, तीन गुप्तियोंका पालना वारह व्रतोंका पालना, बारह तपोंका धारण करना, वाईस परिषहोंको सहना, आदि सभी प्रशस्त कार्य उसके हुआ करते हैं, जो शुभरागके उदयका फल हैं अर्थात् औदयिक भावोंकी महिमा है ऐसा समझना चाहिये। धारण या पालन करनेकी प्रवृत्ति सब शुभभावोंकी सूचक है—शुद्ध भावोंकी सूचक नहीं है किन्तु लक्ष्य उसका यही रहता है कि जबतक शुद्धोपयोगकी प्राप्ति नहीं होती तबतक वीचके लिए यह आलम्बन है किन्तु यह हेय अवश्य है। शुद्धभावोंकी सूचक निवृत्ति है, जो छोड़ना रूप या त्याग करना रूप है यह न्याय है अस्तु।

जब शुद्धोपयोगकी भूमिकामें जीव रहता है तब उसके सभी व्यापार बन्द हो जाते हैं अर्थात् वह शुभ या अशुभ सभी व्यापारोंसे निवृत्त हो जाता है, सिर्फ वह शुद्ध स्वरूपमें ही लीनता करता है, वाहिरी त्याग-ग्रहणकी प्रक्रिया सब बन्द हो जाती है। परन्तु यह सब कार्य गुण स्थानोंके क्रमानुसार होता है। वैसे तो सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानीके चतुर्थ गुणस्थानमें ही ज्ञान

१. अत्रात्मा ज्ञानशब्देन श्लोक नं० १९६, उत्तरार्ध पञ्चाध्यायी।

दृष्टिसे (ज्ञाता भेदज्ञानी हो जानेके कारण) या सभीका त्याग जैसा मनोभाव हो जाता है अर्थात् सभीसे उसकी विरक्ति या अरुचि हो जाती है क्योंकि भेदज्ञानके साथ वैराग्य व सुख अवश्य होता है तथा त्यागकी भावना भी अन्तरमें प्रबल प्रकट् हो जाती है—वह हमेशा परसे भिन्न होनेकी प्रतीक्षामें जागरूक रहता है। कमी सिर्फ शक्तिकी रहती है, जो क्रमशः प्रकट होती है। त्याग करनेके लिये उसको आत्मवल चाहिये जो कर्मोपाधि (रागादि) के वियोग होने पर ही होता है। फलतः बलके विना विना रुचिके भी विगारीकी तरह वह दुनियाँके कार्य करता है, उनके करनेमें उसे उत्साह व हर्ष नहीं होता किन्तु वह दुःख ही मनाता है, यह विशेषता उसके पाई जाती है, जो मिथ्यादृष्टि अज्ञानीके नहीं होती। वह सम्यग्दृष्टि विवेकी निरन्तर औदयिक भावोंके त्यागनेका पुरुषार्थ करता रहता है चाहे वे शुभ रूप हों या अशुभ हों, उनमें उपादेयता कतई नहीं रखता तथा पुरुषार्थ करनेको वह निमित्त कारण ही मानता है, वस्तुका परिणमन उसके आधीन नहीं मानता। अतएव वह बुद्धिमान कार्य सिद्ध न होने पर भ्रम या दुःख नहीं करता, और पुरुषार्थ करना भी बन्द नहीं करता, कारण कि वैसा भाव संयोगी पर्यायमें हुआ ही करता है कि किसी कार्यको करनेकी इच्छा होना, जो कर्मधारा या कषाय भाव है वह उसके मौजूद रहता है। परन्तु अटल श्रद्धान यही रहता है कि 'जो जब जैसा होना है वैसा ही होगा अन्यथा नहीं' इत्यादि।

देखो! अविरल सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवाला, संयम धारण नहीं कर सकता किन्तु संयम धारण करनेकी छटपटी (प्रवल इच्छा) उसके सदैव रहा करती है यह उसका मानसिक चित्र है। बाहिरमें त्याग संयम नहीं दिखता है यह सत्य है, उसका कारण वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम कमती रहता है तथा रागादिका उदय प्रबल रहता है, जिससे, त्याग करनेकी हिम्मत व उत्साह उसके नहीं होता, क्योंकि संयोगी पर्यायमें सभी कारणकूट चाहना पड़ते हैं। तब आत्मा में हिम्मत व बल आवरणके अभावसे होता है यह यथार्थ है। तदनुसार ज्यों २ रागादिक व उसके संस्कार मन्द पड़ते जाते हैं व उत्साह वढ़ता जाता है तथा वीर्यान्तरायका अधिक क्षयोपशम होता जाता है, त्यों २ त्याग व संयम बढ़ता जाता है। वैसे तो उसके अप्रयोजनभूत पदार्थोंका त्याग होता ही है, जो बड़ी बात है। भीतरसे विराग तो सभीसे रहता है, जिससे संवर व निर्जरा प्रतिक्षण हुआ करतो है अतः वह मोक्षमार्गी है, संसारमार्गी नहीं है अस्तु।

सम्यग्दर्शन और त्यागमें अविनाभाव नहीं है

सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान जिस जीवको हो जाता है उसके उसी समय पर द्रव्यका त्याग (सम्बन्ध विच्छेद) भी हो जाना चाहिये ऐसा नियम (अविनाभाव या व्याप्ति) नहीं है न कोई बलात्कार रूप सम्बन्ध है जो जबर्दस्ती त्याग करा ही देता हो। दोनों (ज्ञान व त्याग) स्वतंत्र गुण हैं व समय २ पर होते हैं। जिस प्रकार ज्ञान का, वैराग्य-सुख-त्यागकी भावनाके साथ गठबंधन (व्याप्ति) है, वैसा त्यागके साथ नहीं है। कारण कि त्यागके लिये विशेष शक्तिकी आवश्यकता होती है, वह जबतक उत्पन्न न हो तबतक इच्छा रहते हुए भी त्याग नहीं कर पाता। बुराईका ज्ञान हो जाना अलग बात है और बुराईका त्याग करना दूसरी बात है, अतएव ज्ञानके साथ त्यागका नियम बताना अज्ञानता है वैसा कदापि नहीं होता। हाँ यह बात अवश्य है कि सम्य-

ग्ज्ञानीके ही सम्यक् त्याग हो सकता है जो मोक्षके लिये उपयोगी है। मिथ्याज्ञानीके लिये वह असंभव है, उसका त्याग, संसारमार्गी है वह अधिक-से-अधिक पुण्यबंध कर सकता है किन्तु संसार छेद नहीं कर सकता ऐसा समझना चाहिये अस्तु। सम्यग्दृष्टिके तत्काल त्यागका भ्रम निकालना अनिवार्य है। किम्बहुना भावोंकी अपेक्षासे वह सबसे बड़ा त्यागी है, जिसने संसारकी जड़ मिथ्यात्त्वका त्याग कर दिया है किन्तु बाहिर चरणानुयोगकी अपेक्षासे अत्यागी व असंयमी ही रहता है अस्तु।

त्यागी व परिग्रहीका निर्धार

लोकव्यवहारमें जो बाह्य परिग्रहका त्याग कर देता है वह त्यागी-व्रती कहलाता है और निश्चयमें जो अन्तर्दृष्टि (भेदज्ञानी) होता है वह त्यागी कहलाता है। यह दृष्टिभेद पाया जाता है। परिग्रहका अर्थ 'ममत्त्व'[1] होता है अर्थात् 'यत्र २ ममत्त्वं तत्र २ परिग्रहत्त्वम्' ऐसी व्याप्ति है। तदनुसार सम्यग्दृष्टिके रुचिपूर्वक परमें एकत्त्व (हिस्सेदारी स्वामित्त्व) न होनेसे वह परिग्रह रहित यथार्थतः है परन्तु संयोगी पर्यायमें शरीरादि परका संयोग अवश्य रहता है अथवा परिग्रही माना जाता है। इसके विपरीत बाह्य परिग्रहका त्यागी होकर भी यदि सम्यग्दृष्टि (अन्तर्दृष्टि) नहीं है तो वह निश्चयसे परिग्रही है, जो परमें हिस्सेदारी अर्थात् स्वामित्त्व व राग करता है। भावलिंगी मुनिके यद्यपि शरीरमात्र परिग्रह देखनेमें आता है, तथापि ममत्त्व (हिस्सेदारी स्वामित्त्व व राग) न होनेसे वह निश्चयसे परिग्रही नहीं है। सबूतमें वह शरीरका संस्कार आदि कुछ नहीं करता निर्मोही रहता है। इस तरह व्यवहारदृष्टि व निश्चयदृष्टि भिन्न २ प्रकारकी रहती है कभी एक नहीं होती, और तत्त्व निर्णय भी भिन्न २ प्रकारका होता है, परन्तु तत्त्व या वस्तु नहीं बदलती चाहे उसका निरूपण या कथन कोई किसी प्रकार करे यह ध्यान रहे। अतएव 'सत्य हमेशा सत्य ही रहता है' ऐसा न्याय है। फलतः निश्चयका निर्धार सही माना जाता है, उसमें हट करना मिथ्यात्त्व है। सम्यग्दृष्टिकी विचारधारा सत्य रहती है, आचरण विवशतामें अन्यथा व असत्य भी हो सकता है, जिसे वह अपनी कमजोरी या गलती समझता है ऐसा समझना चाहिये। सारांश—ममत्त्व वाला त्यागी नहीं है, और ममत्त्व रहित त्यागी है, यह भेद है। परमें अपना कुछ हिस्सा मानने वाला महान् परिग्रही है (मिथ्यादृष्टि) और परमें अपना हिस्सा न मानकर सिर्फ उसमें कुछ राग करनेवाला 'अल्प परिग्रही' है, यह तात्पर्य है। लोकमें बाह्य परिग्रहको त्यागने वाला त्यागी कहलाता है और शास्त्रमें अंतरंग परिग्रहको त्याग करने वाला त्यागी कहलाता है तथा दोनोंका पूर्ण त्याग करनेवाला परिग्रह रहित 'निष्परिग्रही' मोक्षगामी होता है दूसरा कोई नहीं यह नियम है। फलतः करणानुयोगसे सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी कथंचित् त्यागी कहा जा सकता है, क्योंकि उसके पर पदार्थमें रुचि व स्वामित्त्व नहीं रहता इत्यादि ॥ ३१ ॥

---

१. ममत्त्वके दो अर्थ हैं (१) राग करना या ममता करना (२) मेरा कुछ हिस्सा इसमें है ऐसा मानना।

प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान जब एक ही साथ (युगपत्) होते हैं तब दोनों को पृथक् २ कहनेकी क्या आवश्यकता है ? आचार्य महाराज युक्ति सहित इसका उत्तर देते हैं—

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य ।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः ॥३२॥

पद्य

सहभावी होते भी कोई एक रूप नहीं होते हैं ।
रूप रसादिक पुद्गल के क्या एक कभी भी होते हैं ? ॥
बछड़े के दो सींग साथ ही होकर जुदे-जुदे रहते ।
लक्षण भेद जुदा करता है—लक्षण भेद उभय[1] धरते ॥३२॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य] यद्यपि दर्शन या सम्यग्दर्शनके साथ २ (युगपत्) ज्ञान या सम्यग्ज्ञान होता है, काल भेद नहीं है तथापि दोनोंको [पृथगाराधनमिष्टं] पृथक् २ (भिन्न सत्तावाला) कहा गया है और उनको पृथक् २ प्राप्त करना भी बतलाया गया है [यतः लक्षणभेदेन अनयोः नानात्वं संभवति] कारण कि दोनों का लक्षण पृथक् २ होनेसे दोनोंमें भेद पाया जाता है, दोनों एक नहीं हो सकते । ऐसा न्याय है[2] ॥३२॥

भावार्थ—सब पदार्थोंका परस्पर संयोग रहने पर भी सभी पदार्थ, परस्पर अपना २ लक्षण जुदा २ होने से पृथक् २ माने जाते हैं, वे कभी एक (समवायरूप या तादात्मरूप) नहीं होते यह नियम है । इसी तरह एक साथ उत्पन्न होने पर भी सभी एक नहीं हो जाते, जैसे कि पुद्गल द्रव्यमें रूपरसादिक एक साथ उत्पन्न होते हैं तो भी लक्षण उनका जुदा २ होनेसे वे जुदे २ ही माने जाते हैं । अथवा गायके बछड़ेके दोनों सींग साथ २ प्रकट होते हैं किन्तु दोनों अपनी सत्ता जुदी २ रखते हैं । तब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ २ प्रकट होनेसे वे कैसे एक हो सकते हैं ? कदापि नहीं हो सकते, क्योंकि उनका लक्षण जुदा २ पाया जाता है । सम्यग्दर्शनका लक्षण 'तत्त्वोंका सम्यक्श्रद्धान करना है' और सम्यग्ज्ञानका लक्षण 'तत्त्वोंका यथार्थ जानना' है । इत्यादि लक्षणभेद दोनोंका है तथा दोनों आत्माके गुण हैं व जुदे २ हैं । फलतः दोनोंको जुदा २ मानना अनिवार्य है । इसके बाबत बड़े २ प्राचीन ग्रन्थोंमें अच्छा प्रकाश डाला गया है सो देख लेना किम्बहुना आगेके श्लोकोंमें 'कार्यकारण भाव' और दीप और उसके प्रकाशका दृष्टान्त देकर खुलासा किया गया है इति ।

नोट—कोई-कोई एकान्ती, दर्शन-ज्ञानका एक काल होनेसे दोनोंको जुदा २ नहीं मानते, एक मानते हैं, अतएव असलमें उनका खण्डन करनेके लिए यह श्लोक लिखा गया है ऐसा समझना चाहिये ।

---

१. दर्शन व ज्ञान दोनों ।

२, सर्वे पदार्थाः भिन्नाः लक्षणभेदात् । यत्र २ लक्षणभेदः तत्र २ पदार्थभेदः इति ।

जैनमत (दर्शन) के अनुसार कालद्रव्यकी समय पर्याय बहुत सूक्ष्म है, उससे सूक्ष्म और दूसरी पर्याय नहीं है अतएव उसका पृथक् २ ज्ञान होना क्षयोपशम ज्ञानियोंको असम्भव है वह बड़ा जल्दी बदल जाता है जैसे कि कौआके आँखोंकी गोलक जुदी २ है किन्तु पुतली एक है और वह इतनी जल्दी घूमती बदलती है कि मानों एक ही समयमें वह बदल गई ऐसा भान (प्रतीत) होता है किन्तु उसमें समय भिन्न २लग जाता है। हाँ, स्थूलदृष्टिसे एक ही समयमें बदलना मालूम पड़ता है। अथवा कमलके सौ पत्रोंके छेदने जैसी बात है, वे भी एक समयमें नहीं छिदते, अनेक समय लग जाते हैं। इसी तरह दर्शन व ज्ञानका समय कथंचित् जुदा २ हो सकता है सर्वथा नहीं है, अतः भ्रममें नहीं पड़ना चाहिए किन्तु सत्य निर्धार करना चाहिये।

इसके सिवाय एक साथ उत्पन्न होना तथा एक साथ कार्य करना ये दो बातें जुदी २ हैं। कार्य करनेका समय भिन्न २ हो सकता है यतः क्रमशः उनमें अर्थक्रिया होती है ऐसा उनका स्वभाव है तथा विषयभेद भी पाया जाता है इति।

नोट—कहनेमें जुदा २ आता है, अतएव व्यवहारनयसे जुदा २ कहना सम्भव है किन्तु निश्चयनयसे एक काल उत्पन्न होते हैं अतएव कालभेद दोनोंमें नहीं है परन्तु सत्ता दोनोंकी जुदी २ है, एक नहीं है ऐसा खुलासा समझना चाहिये ॥३२॥

आचार्य आगे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें कारणकार्यरूप विशेष सम्बन्ध बताते हैं।

(खाली विशेषण बदलने रूप, उत्पाद्य-उत्पादकरूप नहीं विवक्षाभेदसे पौर्वापर्यपना)

सम्यग्ज्ञानं कार्यं[1] सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

पद्य

सम्यग्दर्शनज्ञान उभय में कारणकार्यपना जानो।
श्री जिनदेव कहत हैं ऐसा, तुम भी उसे सत्य मानो॥
कारण सम्यग्दर्श कहा है—सम्यग्ज्ञान कार्य जानो।
इससे पहिले [2]दर्श साध्य है, पीछे ज्ञान साध्य मानो ॥३३॥

---

१. सम्यग्दर्शन।

२. सम्यग्दर्शन पूरा नाम। नामैकदेशे नाममात्रग्रहणमिति न्यायः। 'सम्यक्' यह विशेषण है, सो वह पहिले दर्शनमें लगता है, पीछे ज्ञानमें लगता। अतएव विशेषण लगनेकी अपेक्षासे सम्यक् दर्शन कारणरूप है और सम्यग्ज्ञान कार्यरूप है ऐसा खुलासा समझना चाहिये किन्तु उत्पत्तिकी अपेक्षा पहिले ज्ञान पीछे दर्शन समझना चाहिये।

अन्वय अर्थ—[जिनाः सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति] सर्वज्ञदेव कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान कार्यरूप है और सम्यग्दर्शन कारणरूप है [तस्मात्] इसीलिये [सम्यक्त्वानन्तरं ज्ञानाराधनमिष्टम्] सम्यग्दर्शनके पश्चात् सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करना लिखा है क्योंकि सम्यग्दर्शनके विना सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता यह नियम है। ऐसा पौर्वापर्य सम्बन्ध स्वभावतः है, कृत्रिम नहीं है अर्थात् विशेष्यविशेषणकी अपेक्षा यहाँ पर कथन किया गया है ॥३३॥

भावार्थ—वस्तु स्वभाव वदल नहीं सकता क्योंकि वह पारिणामिक भाव है औपाधिक भाव अर्थात् नैमित्तिक भाव नहीं है। जीवद्रव्यमें ही दोनों पाये जाते हैं, कारण कि चेतना गुणके ये (दर्शन व ज्ञान) दोनों भेद हैं। इनका कार्य पृथक् २ है तथा आवरण भी इनके पृथक् २ हैं दर्शनका कार्य पदार्थ (ज्ञेय) का सामान्य ज्ञान कराना है, और ज्ञानका कार्य पदार्थका विशेष ज्ञान कराना है (पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होता है)। दर्शन या श्रद्धानको आवरण करनेवाला दर्शनावरण कर्म माना जाता है और ज्ञानको आवरण करनेवाला ज्ञानावरण कर्म माना जाता है। जव दोनोंका क्षयोपशम होता है तव क्रमशः सामान्यज्ञान अथवा दर्शन व श्रद्धान (प्रतीति-विश्वास) होता है तथा विशेषज्ञान प्रकट होता है। अतएव परस्पर पौर्वापर्य भाव तो है किन्तु उत्पाद्य उत्पादक भाव नहीं है। ऐसी स्थितिमें कार्यकारण भाव मानना गलत है। सत्य वात इतनी ही है कि दर्शन मोहकर्मके क्षयोपशमादिसे विपरीतता हटकर यथार्थता या सम्यक्पना प्रकट् होता है जिससे पेश्तर दर्शन या श्रद्धान-सम्यक् होता है, पश्चात् उसके साथ ही ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है अर्थात् दोनोंके मिथ्या विशेषण हटकर सम्यक् विशेषण लग जाते हैं। उसमें पहिले कारणता 'दर्शन' को है क्योंकि पहिले उसीमें 'सम्यक्' विशेषण लगता है अर्थात् पहिले दर्शन या श्रद्धान (इत्थंभूत प्रतीति) ही सुधरता है और उसीकी वदौलत ज्ञान भी सुधरता है यह खुलासा है। फलतः विशेषण लगनेकी अपेक्षा कारणकार्यभाव समझना चाहिये और कुछ नहीं, अन्यथा कल्पना करना मिथ्या है। उत्पत्तिकी अपेक्षा पहिला नम्वर ज्ञानका ही है, इसका खुलासा आगे किया जाता है सो समझ लेना।

ज्ञान और श्रद्धान ये दो पृथक् २ गुण हैं, परन्तु साथ २ एक आत्मामें रहते हैं सामान्यज्ञान और सामान्यश्रद्धान सभी अवस्थावालों के हर समय रहता है किन्तु विशेष ज्ञान और विशेषश्रद्धान हर समय नहीं रहता यह नियम है। अतः विना ज्ञान (सामान्य) के श्रद्धान मानना तथा विना श्रद्धान (सामान्य) के ज्ञान मानना भ्रम व अज्ञान है। विना ज्ञानके भी श्रद्धान होता है, यह कहना विशेषज्ञान या प्रत्यक्षज्ञानसे सम्वन्ध रखता है अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान न होने पर भी (परमाणु वगैरह सूक्ष्म पदार्थोंका) उनका श्रद्धान जिनवाणी के द्वारा हो जाता है। परन्तु यह विशेष ज्ञानकी चर्चा है—सामान्य ज्ञानकी नहीं है किम्वहुना विवक्षाको हमेशा समझना चाहिए अस्तु।

नोट—कोई गुण किसी गुणको उत्पन्न नहीं करता, सभी गुण अपनी २ योग्यता या भवितव्यतासे प्रकट् होते हैं। आपसमें निमित्तता करते हैं परन्तु एकता या उत्पादकता नहीं करते न वलात्कारता करते हैं। ऐसी स्थितिमें 'सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानमें' विशेषण साथ लगना रूप कारण-कार्यपना वतलाया गया है जो सत्य है। इसके अतिरिक्त भावोंमें परिवर्त्तन भी तो साथ २ होता है,

अतएव सम्यग्दर्शनरूप भाव, सम्यग्ज्ञानरूप भावके होनेमें निमित्तकारण अवश्य है, फलतः उक्त प्रकारका कारण-कार्यपना मानना लाजमी है, अस्तु ।

भावार्थ—ज्ञानगुण आत्माका प्राण या स्वभाव है, सो जब वह सत्य या सही (यथार्थ) होता है तभी उसकी यथार्थताका समर्थन करनेके लिए पुष्टिरूप (छाप-शीलरूप) 'इत्थंभूत प्रतीति' होती है—अर्थात् जो ज्ञानने जाना है वह सत्य है अन्यथा नहीं है, यह पक्कापन ही सम्यक्पना या विशेषण है जो पहिले प्रतीति या श्रद्धान या सम्यग्दर्शनमें लगता है उसके पश्चात् उसी समय वह सम्यक् विशेषण ज्ञानमें भी लगता है। ऐसी स्थितिमें श्रद्धान मुख्य माना जाता है, जो कारणरूप है और ज्ञान गौणरूप माना जाता है, जो कार्यरूप है, यह खुलासा समाधान है। फलतः उत्पत्तिकी अपेक्षासे ज्ञानका दर्जा पहिला है और श्रद्धानका दर्जा दूसरा है, किन्तु विशेषणकी अपेक्षासे दर्शनका दर्जा पहिला है और ज्ञानका दर्जा दूसरा है किम्बहुना ॥३३॥

आचार्य पूर्वोक्त विषयको दीप और प्रकाशका उदाहरण देकर और स्पष्ट करते हैं (विशेषण विशेष्यकी अपेक्षा)

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि ।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

पद्य

युगपत् उत्पत्ती होते भी, कारण कार्यपना बनता ।
दीपशिखा अरु प्रकाशकी ज्यों, नहिं विवाद उनसें ठनता ॥
तत्त्व समझकर बात हमेशा करना ही चतुराई है ।
विना समझके विवाद करते, होती जग कुचड़ाई है ॥३४॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हि सम्यक्त्वज्ञानयोः समकालं जायमानयोरपि दीपप्रकाशयोरिव कारणकार्यविधानं सुघटम्] निश्चयनयसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें, एक ही समयमें प्रकट होनेवाले दीपक (दाह) और प्रकाश (उजेला) की तरह कारणकार्यपना निर्विवाद सिद्ध हो जाता है अर्थात् जैसे दीपकको कारण और प्रकाशको कार्य मान लिया जाता है, उसी तरह सम्यग्दर्शनको कारण और सम्यग्ज्ञानको कार्य माननेमें कोई विरोध नहीं आता, अस्तु ॥३४॥

भावार्थ—युक्ति, आगम, स्वानुभवसे जो सिद्ध होता है उसमें कोई विवाद नहीं रहता, वहाँ हठ करना व्यर्थ है। तदनुसार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनों एक साथ होते हैं परन्तु कार्य भिन्न-भिन्न होनेसे वे दोनों एक नहीं हो जाते, फिर भी परस्पर कार्यकारण सम्बन्ध रहता है, वह नहीं मिटता। कारणकार्य सम्बन्ध अनेक तरहके होते हैं, जैसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध, उपादान-उपादेय सम्बन्ध जन्यजनक सम्बन्ध, विशेष्यविशेषण सम्बन्ध, परस्परसंयोग सम्बन्ध, व्याप्यव्यापक सम्बन्ध इत्यादि। इनमें भूलना नहीं चाहिये, अन्यथा गड़बड़ी हो सकती है ऐसा निर्धार करना चाहिये किम्बहुना ।

प्रत्येक कार्य अर्थात् पदार्थको कार्यपर्याय, विना कारणके (उपादान या निमित्तके अभावमें) नहीं हो सकती ऐसा नियम है, तव सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान ये भी कार्य पर्याएँ हैं, अतः उनके होनेमें भी कारण चाहिये। तदनुसार, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानके होनेमें निमित्त कारण वनता है और सम्यग्दर्शनमें, सम्यक्श्रद्धान कारण पड़ता है किन्तु कारण शून्य कोई नहीं है, ऐसा सिद्धान्त समझना चाहिये, द्दीप व प्रकाशका दृष्टान्त उपयुक्त है इति ॥३४॥

आचार्य सम्यग्ज्ञानका स्वतन्त्र लक्षण वताते हैं
(अन्तर्निहित भेद व आठ अङ्ग सहित)

कर्त्तव्योऽध्यवसाय[1]ः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु ।
[2]संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं[3] तत्[4] ॥३५॥

पद्य

अनेकान्तमय द्रव्योंमें जो अध्यवसाय उपजता है।
सम्यग्ज्ञान नाम है उसका, संशयादि विन होता है ॥
आत्माका वह रूप कहा है, ज्ञान विना नहिं आतम है।
ज्ञान प्राण आतमका जानो, अतः स्वभाव वखाना है ॥३५॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु संशयविपर्ययानध्ययसायविविक्तं अध्यवसायः कर्त्तव्यः] सत्‌रूप (उत्पादव्ययध्रौव्यरूप) एवं अनेकान्तरूप (अनेकधर्म सहित) पदार्थोंमें जो शंशय विपर्यय अनध्यवसाय (दोषों) से रहित यथार्थ ज्ञान होता हैं, उसको 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं। [तत् आत्मरूपं] और वह आत्माका स्वरूप या स्वभाव है, अतएव उसको प्राप्त करना ही चाहिये। अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थोंकी यथार्थ जानकारी करना अनिवार्य है ॥३५॥

भावार्थ—संसारमें या संयोगी पर्यायमें रहकर जिस जीवने सम्यग्ज्ञान (भेदज्ञान) अर्थात् पदार्थोंकी यथार्थ (संशयादि रहित सम्यक्) जानकारी प्राप्त नहीं की, उसका जन्म या जीवन निष्फल है ऐसा समझना चाहिये। हीराकी कीमत या आदर तभी होता है जब वह मड़सान पर चढ़कर शुद्ध हो जाता है। इसी तरह आत्मा या जीवकी प्रतिष्ठा पूज्यता तभी होती है जब वह सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय मण्डित हो जाता है, अन्यथा नहीं, यह तात्पर्य है। प्रत्येक पदार्थ अनेक

---

१. अध्यवसाय, निश्चय (जानकारी)।
२. संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञान।
३. आत्माका स्वभाव या स्वरूप।
४. वह सम्यग्ज्ञान।
(उभयकोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः, एककोटिस्पर्शिज्ञानं विपर्ययः, अनिश्चितज्ञानमनध्यवसायः)।

धर्मवाला है ऐसा जैन शासनमें सर्वज्ञ केवलीने बतलाया है, और यह बात हर तरहसे अर्थात् प्रमाण-नय-निक्षेपोंसे बराबर सिद्ध की गई है। अतएव सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानीको इसमें कोई भ्रम नहीं रहता, उसकी श्रद्धा व ज्ञान अटल रहता है। मिथ्यादृष्टि वस्तु (पदार्थ) में अनेक धर्म नहीं मानते एक ही कोई धर्म वस्तुमें मानते हैं, अतः वस्तु व्यवस्था नहीं बनती, सब कल्पनारूप या एक ईश्वरादिके आधीन सबको मानते हैं, तब वस्तुकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है इत्यादि अनेक दोष (आपत्तियाँ) आते हैं। फलतः सरागी अल्पज्ञानियोंके द्वारा कहा गया 'तत्त्व' सब निरर्थक व अधूरा है किम्बहुना[1]।

सम्यज्ञानकी आराधना या साधना कैसे करना चाहिये अर्थात् उसका क्या उपाय है? यह आचार्य बताते हैं। (व्यवहारनयापेक्षा)

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥ ३६ ॥

पद्य

ज्ञानसाधना आठ विधि, होती है यह सार।
शब्द अर्थ अरु उभय का, ज्ञान कहा अनिवार॥
काल विनय अरु धारणा, आदर गुरु का नाम।
इन आठों अंगन सहित—सिद्ध होत अभिराम[2] ॥ ३६ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [काले] योग्यकालमें अर्थात् अनध्याय-प्रदोष आदि कालोंको टालकर शेष सुकालके समयमें तथा [विनयेन बहुमानेन समन्वितं] विनय (नम्रता) के साथ बहुमान या उच्च स्थान देकर [ग्रन्थार्थोभयपूर्णं अनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम्] शब्दका, अर्थ (वाचक-वाच्य) का, और शब्द, अर्थ दोनों का, ज्ञानपूर्वक गुरू आदिका नाम सहित 'सम्यग्ज्ञना' को प्राप्त करना चाहिये। अर्थात् उक्त आठ अंग या निमित्ति मिलाकर सम्यग्ज्ञानकी आराधना उपासना या सेवा करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे ज्ञानकी प्राप्ति विशेष रूपमें होती है ये बाह्य साधन हैं॥ ३६ ॥

भावार्थ—ज्ञान या सम्यग्ज्ञान आत्माका गुण है, उसका प्रकाश या उत्पत्ति निश्चयसे अपनी ही सहायतासे होती है अर्थात् ज्ञायक स्वभाव आत्माके ही आलम्बनसे होती है किन्तु व्यवहारसे शब्दादिक जो आठ बाह्य निमित्त हैं, उनके आलम्बनसे होती है। ऐसी स्थितिमें सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान होनेके लिये शब्दोंका ज्ञान, (पदों व वाक्योंका ज्ञान, वाचकोंका ज्ञान), अर्थों

---

१. अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्, निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥
—रत्न० श्रावकाचार

२. अभीष्ट-रम्य।

(पदार्थों-वाच्यों) का ज्ञान, एवं शब्द, अर्थ दोनोंका ज्ञान, होना अनिवार्य है। इसी तरह अकाल-सुकालका ज्ञान होना व सुकालके समय शास्त्र पढ़ना, विनय सहित पढ़ना, धारणा (स्मृति) सहित पढ़ना, उच्चासन देकर पढ़ना और गुरू आदिका नाम जाहिर करके पढ़ना, ये सब शिष्यके कर्त्तव्य हैं। तभी उस शिष्यको विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है—उसकी प्रतिभा अतिशयवाली होती है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ३६ ॥

सम्यग्ज्ञानके आठ अंग और उनका खुलासा

(१) शब्दोंका ज्ञान होना (२) पदार्थोंका ज्ञान होना (३) शब्द और अर्थ दोनोंका ज्ञान होना (४) सुकालमें अध्ययन करना (५) विनयके साथ अध्ययन करना (६) धारणा सहित अध्ययन करना (७) उच्च स्थान देकर अध्ययन करना (८) गुरु आदिका नाम नहीं छिपाना, ये आठ सम्यग्ज्ञानके अंग हैं।

नोट—इनमें मुख्यता हृदय साफ होनेकी है, कोई छलकपट या मिथ्यात्वादि रूप भाव नहीं रहना चाहिये, तभी वह सम्यग्ज्ञान गुण प्रकट हो सकता है अन्यथा नहीं।

अंगोंका ही दूसरा नाम आचार है यथा

(१) शब्दाचार—शब्दशास्त्र (व्याकरण) के अनुसार अक्षर-पद-वाक्यका पठनपाठन यत्न-पूर्वक शुद्ध करनेको कहते हैं। इसीका नाम व्यंजनाचार, श्रुताचार, अक्षराचार, ग्रन्थाचार आदि सब एकार्थवाची हैं।

(२) अर्थाचार—यथार्थ शुद्ध अर्थके अवधारण करनेको कहते हैं।

(३) उभयाचार—शब्द और अर्थ दोनोंके शुद्ध पठनपाठन करनेको कहते हैं।

(४) कालाचार—शुभ घड़ी शुभ मुहूर्त्तमें स्वाध्याय अध्ययन (पठनपाठन) करनेको कहते हैं। प्रदोषकाल, उपसर्गकाल, दुर्दिन, उल्कापात, वज्रपात, ग्रहण आदिके समय पठनपाठन आदि वर्जनीय है अर्थात् सूत्रोंका—सिद्धान्तशास्त्रोंका पठनपाठन निषिद्ध है, नहीं करना चाहिये। सूत्र ४ प्रकारके होते हे (१) गणधरसूत्र (२) प्रत्येकबुद्धरचित सूत्र, (३) श्रुतकेवली-रचित सूत्र (४) अभिन्नदशपूर्वधारी रचित सूत्र। ऐसा समझना चाहिये।

(५) विनयाचार—शुद्ध जलसे हस्तपाद आदि धोकर शुद्ध स्थानमें नमस्कार आदि विनय करके पठन करनेको कहते हैं।

(६) उपधानाचार—स्मरण सहित अध्ययनादि करनेको कहते हैं। अथवा वेष्टन आदि बाँधकर सुरक्षा करना भी उपधानाचार कहलाता है।

(७) बहुमानाचार—ज्ञान, पुस्तक, गुरुका पूर्ण सन्मान (सत्कार) करके याने उनको उच्च स्थान देकर पढ़नेको कहते हैं।

(८) अनिह्नवाचार—गुरु या शास्त्र आदिका नाम न छिपाकर खुलासा बताकर अध्ययन करनेको कहते हैं। अस्तु।

इसी प्रसंगमें अन्य ग्रंथोंमें भी खुलासा कथन किया गया है[1]। तथा पं० कविवर द्यानतराय जीका यह मन्तव्य है कि—

आप आप जाने नियत, ग्रन्थ पठन व्यवहार।
संशय विभ्रम मोह विन, आठ अङ्ग गुनकार॥ ॥ पूजा.

अर्थ :—निश्चयनय (नियत) से स्वयं ही अपनी आत्माको संशय विपर्यय अनध्यवसाय रहित जानना 'सम्यग्ज्ञान' कहलाता है। इसमें आत्मासे भिन्न पर (शब्दादिक व इन्द्रियादिक) की सहायताकी आवश्यकता नहीं रहती। और व्यवहारनयसे शास्त्रोंका सुकाल आदिमें विनयादि सहित पढ़ना सम्यग्ज्ञान कहलाता है ऐसा निर्धार समझना चाहिये। अस्तु।

व्यवहारनयसे या उपचारसे एक २ वस्तुको अपूर्ण रूप जानने वालेको भी पूर्ण ज्ञानी या यथार्थ ज्ञानी कह दिया जाता है, परन्तु वह वास्तविक (निश्चय) कथन नहीं है, आपेक्षिक है। फलतः आत्मज्ञानी ही सम्यग्ज्ञानी कहा जा सकता है और वह एक ही प्रकारका होता है। जैसे कि कोई अकेले द्वादशांग शास्त्रका जानने वाला होकर भी 'श्रुतकेवली' नहीं माना जाता। और जिसको श्रुतज्ञानके द्वारा 'आत्मज्ञान या संवेदन' हो जाता है वह 'श्रुतकेवली' कहलाता है। ऐसा श्री कुंदकुंद आचार्य समयसारमें लिखते हैं। महिमा आत्मज्ञान होनेकी है, उसीसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, संसारका दुःख छूटता है किम्बहुना। भिन्न २ आचार्योंने सम्यग्ज्ञानके लक्षण पृथक् २ रूपसे वतलाए हैं किन्तु 'आत्मज्ञान' को सम्यग्ज्ञान माननेमें मतभेद किसी बातका नहीं है, सब एक मत हैं इत्यादि। उपचार या व्यवहारका कथन सर्वथा सत्य नहीं माना सकता। लोकमान्यतासे कथंचित् उसको सत्य माना जाता है। परन्तु निश्चयका कथन कथंचित् विशेषणसे रहित सर्वथा सत्य होता है, यतः उसमें त्रिकालमें अन्यथापना नहीं हो सकता यथावस्थित रहता है। हाँ, यदि उससे भी वढ़कर कोई तत्त्व होता तो अपेक्षा लगाई जा सकती थी किन्तु वैसा कोई है ही नहीं, तब वह अन्तिम निर्णय (फैसला) है ऐसा समझना चाहिये। जहाँ पर अपूर्णता हो और उसको पूर्ण कहा जाय, वहीं पर उपचारकी प्रवृत्ति या प्रवेश होता है यह नियम है, सर्वत्र यही नियम समझना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानीके ३ भेद

१—उत्तमसम्यग्ज्ञानी, जो शब्द, अर्थ, उभय इन तीनोंको भलीभाँति जानता है वह उत्तम-सम्यग्ज्ञानी है।

---

१. काले विणये उवहाणे वहुमाणे तहेव णिण्हवणे।
वंजण अत्थ तदुभये णाणाचारो दु अट्ठविहो॥ ७२॥ मूलाचार पंचाचार प्रकरण

अर्थ—आचारका अर्थ साधारणतः प्रवृत्ति या वर्त्ताव होता है। अतएव सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके लिये (१) शुभकाल (२) विनय (३) उपधान (४) वहुमान (५) अनिह्नव (६) व्यंजन (शुद्ध-शब्दोच्चारण) (७) अर्थका ज्ञान (८) उभयका ज्ञान होना अनिवार्य है ऐसा कहा गया है॥ ७२॥

२—मध्यम सम्यग्ज्ञानी, जो शब्द अर्थ दोनोंको भलीभाँति जानता है वह मध्यम सम्यग्ज्ञानी है।

३—जघन्यसम्यग्ज्ञानी, जो केवल शब्दोंको ही भलीभाँति जानता है, वह जघन्य सम्यग्ज्ञानी है। वह तोता जैसा शब्दशास्त्री होता है, अतः आत्मकल्याण नहीं कर सकता। ये सब व्यवहारनयसे सम्यग्ज्ञानी हैं।

नोट—निश्चय सम्यग्ज्ञानी ही आत्मकल्याण करनेवाले मोक्षमार्गी कहलाते हैं, दूसरे नहीं, यह तात्पर्य है। अस्तु।

नयोंमें प्रमाणता सापेक्षतासे आती है—
षट्खंडागम पुस्तक १ पेज ८० में लिखा है कि—

'कुतः नयानां प्रामाण्यं ? उत्तर—प्रमाणकार्यत्वादुपचारतः। अर्थात् जो कार्य प्रमाण करता है वही कार्य नयें भी थोड़े रूपमें करती हैं अतएव गंगाजलकी समान कार्य करनेकी अपेक्षासे वे भी प्रमाणिक मानी जाती हैं, परन्तु वे परस्पर सापेक्ष रहती हैं अर्थात् जितने अंशको वे ग्रहण करती हैं, उतनेको ही उस वस्तुमें नहीं मानतीं अपितु और का भी अस्तित्त्व उसमें वे मानती हैं जो अज्ञात अंश है। फलतः वे मिथ्या नहीं समझी जाती हैं, यह सारांश है, यदि कहीं वे अन्य अज्ञात अंशोंको उस वस्तुमें न मानें तो बराबर मिथ्या हो जायें। उक्तं च

निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् इति

अर्थ:—पदार्थके एक २ अंशको जाननेवाला नय, यदि पदार्थमें और अंशोंका सद्भाव (अस्तित्त्व) न मानकर सिर्फ उतना ही अंश माने, तो निः सन्देह वह नय मिथ्या समझा जायगा क्योंकि जब पदार्थ अनेक अंश या धर्मवाला है, तब उसको उतना ही (एक अंशवाला) मानना सरासर मिथ्यात्त्व या झूठ है। अतएव पदार्थमें जाने हुए अंशोंके सिवाय विना जाने हुए अंशोंका सद्भाव (सापेक्षता) मानना अनिवार्य है। तभी वे सब नय अर्थक्रियाकारी या सार्थक होती हैं अर्थात् सम्यक् या प्रामाणिक मानी जाती हैं। इत्यादि समझना चाहिए ॥३६॥

(३) सम्यक्चारित्र अवश्य प्राप्तव्य है।

आचार्य आठ अंग सहित सम्यग्ज्ञानका निरूपण करनेके पश्चात् अब सम्यक्चारित्रकी आवश्यकता बतलाते हैं जो अनिवार्य है—

विगलितदर्शनमोहैः[1] समंजसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः[2]।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः[3] सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥३७॥

१. जिनको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव।
२. सम्यग्ज्ञानी, जिन्हें सम्यग्ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान हो चुका हो।
३. निर्भय, दृढ़चित्तवाले मुमुचु जीव।

पद्य

सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी वनकर जो निर्भय होते।
वे ही जीव यथारथ देखो सम्यक्चारित्र हैं धरते ।।
अतः मुमुक्षु जीवोंका, कर्त्तव्य उसे है अपनाना।
यतः विना चारित्र मोक्ष नहिं, भव्यो इसे न विसराना ।।३७।।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [विगलितदर्शनमोहैः समंजसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः निःप्रकम्पैः] जिन जीवोंका दर्शनमोहकर्म नष्ट हो चुका हो अर्थात् जो सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर चुके हों तथा साथ ही सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जानेसे जिन्होंने वस्तु स्वरूपको यथार्थ जान लिया हो, इतना ही नहीं, जो निर्भय या दृढ़ श्रद्धानी, दृढ़ विचारी हो चुके हों, उनका कर्त्तव्य है कि वे [नित्यमपि सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम्] अनिवार्यरूपसे हमेशा सम्यक्चारित्रको धारण करें अर्थात् प्राप्त करें, क्योंकि मोक्षमार्गमें उसकी महती आवश्यकता है ।।३७।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, ये तीनों आत्माके गुण (स्वभाव) हैं परन्तु इनका विकास (प्रादुर्भाव) या पूर्णता क्रम २ से होती है। क्षायोपशमिक अवस्थामें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (आंशिक) साथ २ होते है। अर्थात् जिस समय दर्शनमोहनामक मिथ्यात्त्वकर्मकी उपशमादिरूप पर्याय (अवस्था) होती है (उपशमरूप-क्षयोपशमरूप-क्षयरूप, इनमेंसे कोई एक रूप) उस समय ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम तो स्वभावतः रहता ही है, लेकिन उस क्षायोपशमिक ज्ञानका आंशिक कार्य यथार्थ होने लगता है। अतएव वह सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है।

इस तरह आंशिक (अपूर्ण) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान दोनों साथ ही होते हैं (साथ २ सम्यक् विशेषण लगता है) परन्तु क्रियात्मक चारित्र, जिसको वाहिर त्याग करना या संयमादि धारण करना कहते हैं, उनके साथ ही नहीं होता। यह चारित्र, निश्चयनयसे अन्तरंग परिग्रहके त्यागरूप है तथा व्यवहारनयसे बाह्य परिग्रहके त्यागरूप है। तव उसके लिए प्रयत्न या पुरुषार्थ करनेकी खास आवश्यकता रहती है, क्योंकि उसके बिना मोक्ष नहीं होता यह नियम है, यही बात इस श्लोकमें दरशाई गयी है। सारांश यह कि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेसे चारित्ररूपी वीज होनेकी भूमिका तयार हो पाती है, जिस वीजका फल मोक्षरूप कल्पवृक्षका उत्पन्न हो जाना है। फलतः विना सम्यग्दर्शन व ज्ञानके सम्यक्चारित्र उत्पन्न हो ही नहीं सकता यह नियम है। चारित्रका लक्षण और भेद आगे श्लोक नं० ३९ में वताये जावेंगे। यहाँ सिर्फ भूमिका या पात्रता ही वतलाई जा रही है, इसीका नाम भूमिका शुद्धि है, उसीकी अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि विना संयम या चारित्रके जीवन सब निष्फल है। असंयमी जीवन संसारका स्थान है, यह बात निश्चित है किन्तु संयमी जीवन भी क्रमानुसार होना चाहिये, व्यतिक्रममें उसका होना निरर्थक है, उसका संसार निवास ही रहता है। यद्यपि स्वरूपाचरणरूप निश्चयचारित्र, तथा मिथ्यात्वके त्यागरूप व्यवहार चारित्र, दोनों ही सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवालेके आंशिक रूप हो जाते हैं तथापि अतरंगमें वे प्रकट होते हैं और वे भावरूप होते हैं, किन्तु द्रव्यरूप नहीं होते—शारीरिक

क्रियादिरूप दृष्टिगोचर नहीं होते अतएव लोकाचारमें उसको असंयमी अचारित्री ही कहते हैं ऐसा लौकिक न्याय है। फलतः लोकमें (व्यवहारमें) उसीकी मान्यता होती है। परन्तु स्थिरतारूप निश्चयचारित्रके विना मुक्ति या आत्मकल्याण नहीं हो सकता यह निश्चित है, वाहिरका या चरणानुयोगका चारित्र, मोक्ष नहीं पहुँचा सकता। अतएव उसका नाम उपचार चारित्र रखा गया है किम्बहुना ॥३७॥

आचार्यने मोक्षमार्गोपयोगी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान होनेका क्रम तो वतलाया किन्तु 'सम्यक्-चारित्र' होनेका क्रम नहीं बतलाया, उसको वतला रहे हैं—

क्योंकि वह भी मोक्षमार्गमें महान् उपयोगी है और अन्तमें प्राप्त होता है।

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥ ३८ ॥

पद्य

मोक्षमार्गका साधक चारित-सम्यक्रूप कहाता है।
सम्यक्रूप होता है तब ही जब अज्ञान हटाता है॥
इसीलिये पीछे वह होता पेश्तर दर्श-ज्ञान होते।
लक्ष्यसिद्धिका अन्तिम साधन बुधजन प्राप्त अवश करते ॥ ३८ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अज्ञानपूर्वकं चारित्रं, सम्यग्व्यपदेशं न हि लभते] अज्ञान अवस्थामें (मिथ्यात्वके अस्तित्वमें) धारण किया गया चारित्र (संयमादि) सम्यक् चारित्र (मोक्ष-मार्गोपयोगी यथार्थ चारित्र) नहीं कहलाता, अतः वह मोक्षका साधक नहीं होता या हो सकता [तस्मात् ज्ञानानन्तरं चारित्राराधनं उक्तम्] इसी दृष्टि (अपेक्षा) से जो चारित्र, सम्यग्ज्ञानके अनन्तर होता है वह सम्यक्चारित्र कहलाता है और वही मोक्षका साधक (मार्ग) होता है, अतएव उसकी साधना या प्राप्ति सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जानेके पश्चात् वुद्धिमानोंको अवश्य करना चाहिये तभी लाभ होगा अन्यथा नहीं, यह क्रम है—जिनाज्ञा है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—मुमुक्षुके लिये यों तो सामान्यतः सम्यग्दर्शनादि तीनों ही प्राप्त करने योग्य हैं, किन्तु उनका विकास (प्रादुर्भाव) जिस क्रमसे होता है उसी क्रमसे करना चाहिये तभी लाभ हो सकता है। इसके विपरीत जो जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहिले ही (मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञानकी अवस्थामें ही) कषायवश या तीव्र[1] रागादिके वशीभूत होकर (लोकेषणावश) बाह्यचारित्र (शरीराश्रितक्रियाकाण्डरूप प्रतिज्ञा) धारण कर लेते हैं किन्तु चारित्रके असली स्वरूप (मर्म) को नहीं जानते और न यह भी जानते हैं कि चारित्र किसका धर्म हैं ? आत्माका धर्म है कि शरीर

---

१. अधिक कषायोंका उदय होनेसे।

का धर्म है इत्यादि। बहुतसे प्राणी अज्ञानताके कारण, शरीरसे अनेक तरहकी क्रियाएं करते हैं। जैसे कि तरह २ की आसनें लगाना, व्यायाम करना, भोजनपान बन्द कर देना, एक ही प्रकारका भोजन करना, गाँजा-भाँग आदि नसैली चीजोंका उपयोग करना, यद्वातद्वा जहाँ-तहाँ खाना-पीना, दिन रात्रिका भक्ष्य-अभक्ष्यका भेद नहीं करना, बाउला जैसा वर्ताव करना, शरीरमें धूलि राख लपेटना, टाटफट्टा-वल्कल या पीताम्बर रक्ताम्बर आदि पहिरना, नग्न रहना, तरह २ के वेष (स्वांग) वहुरूपिया सरीखे बनाना, जटाजूट रखना, केश नाखून आदि बढ़ा लेना आदिको ही चारित्र मानकर वैसा कार्य किया करते हैं। इन्हीं सब कामोंको मुक्तिका कारण (साधन) समझकर दिन रात लगे रहते हैं। कोई २ अन्न छोड़कर फल आदि खानेको ही चारित्र समझते हैं। तात्पर्य यह कि आडम्बरको ही चारित्र मानकर ठगते रहते हैं, वे तीव्रकषायी संसारसे पार नहीं होते। बहुतसे जीव ऐसे मन्दकषायी[1] भी होते हैं कि घरद्वार, राज्य सम्पदा आदि छोड़कर एकान्त वियाबान जंगलोंमें व गुफाओंमें, गुप्त स्थानोंमें अनेक तरहके कष्ट सहते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, परन्तु किसीसे कुछ याचना नहीं करते, न शारीरिक आराम चाहते हैं, लेकिन चारित्रका यथार्थ स्वरूप नहीं समझते। नतीजा यह होता है कि अत्यन्त मन्द कषाय होनेसे जैन-लिंगी हों तो नवग्रैवेयिक तकके देव हो जाते हैं, ३१ सागर तककी लम्बी आयु पा लेते हैं किन्तु मोक्ष नहीं जा सकते, संसारमें ही डोलते रहते है। कारणकि वह सब आत्म-अनात्मके ज्ञान विना मिथ्या चारित्र हैं, सम्यक्चारित्र नहीं है। मोक्षकी प्राप्ति होना सम्यक्चारित्रका फल है। सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुए बिना कदापि नहीं हो सकता। अतएव पेश्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करना चाहियें, तब वह सम्यक्चारित्र प्राप्त होकर मोक्षको ले जायगा, अन्यथा नहीं। वह चारित्र आत्माका धर्म है, शरीरका धर्म नहीं है, तथा कषायोंके अभावरूप है—मन्दरूप है, तीव्ररूप नहीं है, निर्विकार व अहिंसक परिणामरूप है, सविकार व हिंसक परिणामरूप नहीं है, ऐसा समझना चाहिये, अस्तु।

रोग और रोगकी उपयुक्त औषधिका ज्ञान न होनेपर जैसे कोई उल्टी दवाई या औषधि खाकर अच्छा नहीं हो सकता, प्रत्युत मृत्यु हो सकती है। उसी तरह चारित्रका ज्ञान हुए बिना अचारित्रको चारित्र मानकर धारण कर लेनेसे संसार सागरसे पार नहीं हो सकता। कहा भी है कि 'विन जाने ते दोष गुणनको कैसे तजिये गहिये'। अनादिकालसे यही तो होता चला आया है कि विना सम्यग्ज्ञानके चौरासी लाख योनियोंमें जीव (आत्मा) को अनन्ती वार घूमना पड़ रहा है इत्यादि, अतएव अज्ञान या भूलको मिटाना अति आवश्यक है। क्रियाकाण्ड और शरीरके वेष, शुद्धोपयोगरूप सम्यक्चारित्रके साधन (निमित्त) कदापि नहीं हो सकते ऐसा समझना चाहिये।

फलतः मिथ्यादृष्टि उच्चपद (देवपर्याय) पाकर भी आत्माकी रक्षा नहीं कर सकता अर्थात् स्वभावका घात होना बन्द नहीं कर सकता, कारण कि उसके मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धीका बन्ध निरन्तर होता रहता है। अतएव उसका दर्जा उस मनुष्य या तिर्यञ्चसे भी नीचा है, जिसके सम्यग्दर्शन हो जाता है व आत्मरक्षा करने लगता है (मिथ्यात्वका बन्ध नहीं करता)॥३८॥

१. अल्प या थोड़ी कषायोंका उदय होनेसे।

सम्यक्चारित्र अधिकार

आचार्य सम्यक्चारित्रका स्वरूप बतलाते हैं।

**चारित्रं[1] भवति यतः समस्तसावद्ययोग[2]परिहरणात्[3] ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ।।३९।।**

पद्य

मोह कर्मसे रहित योग जब पाप[4] रहित हो जाते हैं।
अरु कषायके नष्ट हुए से निर्मलता पा जाते हैं।।
स्थिरता आ जाती है तब-नाम उसीका है 'चारित' ।
वह है आत्मरूपका दर्शन, उदासीनता अवतारित[5] ।।३९।।

अथवा—

सकलकषाय योगके छूटे, चारित गुण प्रकटित होता।
वह है विशद विरागरूपमय, आत्मस्वरूप कहा जाता।।
निश्चयचारित उसे कहत हैं, स्वाश्रित जो प्रकटित होता।
परके आश्रित होता है जो, वह व्यवहार कहा जाता ।।३९।।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि—[यत् सकलकषायविमुक्तं विशदं उदासीनं आत्मरूपं, तत् चारित्रं भवति] जो सम्पूर्ण कषायोंसे रहित हो, निर्मल हो (घातिया कर्मोंसे रहित हो), उदासीन हो, अर्थात् वीतरागतारूप हो (राग द्वेषादिविकारों–विकल्पोंसे रहित हो) और आत्माका गुण हो (स्वाश्रित हो) उसको चारित्र कहते हैं। [यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्] इसका हेतु (निमित्त) तीनों योगोंका पापक्रियाओंसे मुक्त होना या छूटना है अर्थात् पाप कर्मके आस्रव व बन्धसे रहित हो जाता है और वह मोह कर्मके नष्ट हो जानेसे होता है यह सार है ।।३९।।

इस श्लोकसे चारित्रके भेद भी प्रकट होते हैं जिसका खुलासा किया जायगा अस्तु।

भावार्थ—चारित्र आत्माका गुण है शरीरका नहीं है यह मुख्य बात है। उसके दो भेद होते हैं (१) निश्चयचारित्र (स्वाश्रित) (२) व्यवहारचारित्र (पराश्रित)। व्यवहारनयकी अपेक्षासे वह चारित्र, कषायोंके अभाव होनेपर होता है (जो पर है) या कषाय रहित योगोंके होनेपर

१. आचरण या वृत्ति।
२. पापास्रव या पापबन्धरहित योगत्रयकी क्रिया—परिस्पन्दरूप।
३. अभाव हो जानेसे।
४. पाप कर्म या पाप प्रकृतियाँ, घातिया कर्म माने गये हैं यह विशेषता है।
५. प्रादुर्भाव या प्रकट होना।

होता है या मलोंके नष्ट होनेपर होता है (अतएव पराश्रित है) और निश्चयनयसे उदासीनताके आनेपर होता है (संसार शरीर भोगोंसे अरुचि होनेपर होता है) इत्यादि। (स्वाधीनता है) यतः पराधीनता उसमें नहीं पाई जाती है (स्वाधीनता है) निमित्ताधीनता नहीं है, जो व्यवहार की सूचक है। निश्चयनयकी अपेक्षाके वह सिर्फ स्वविकसित आत्माके (स्वाश्रित) धर्मरूप है, उसमें कोई भेद नहीं है। वह एक स्वभाव भावरूप शुद्ध है।

पापक्रियायोंसे रहित योगका खुलासा

पापक्रियाओंका अर्थ—जिनसे पाप कर्म अर्थात् घातिया कर्मोंका आस्रव और बंध होता है, उनको पापक्रियाएँ कहा जाता है। वे पापक्रियाएँ[1] मुख्यतया ४ चार हैं—यथा १ मिथ्यादर्शन-क्रिया, २ अविरति क्रिया, ३ प्रमाद क्रिया, ४ कषाय क्रिया। ये जबतक रहती हैं तबतक बराबर घातिया कर्मोंका आस्रव व बंध हुआ करता है ऐसा समझना चाहिये[2]। तदनुसार उक्त चार विना अकेले योगोंसे पाप कर्मोंका बंध नहीं होता किन्तु पुण्य कर्मों (अघातिया कर्मों) का बंध होता है। वह भी प्रकृति-प्रदेशरूप होता है, स्थिति-अनुभागरूप नहीं होता, अतः निष्फल है। उक्तं च—

पुण्यफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो वि ओदयिगा।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥ ४५ ॥

प्रवचनसार गाथा नं० ४५

अर्थ—अर्हन्तोंको पुण्य कर्मरूप फल (बंध) होता है क्योंकि पूर्वबद्ध अघातिया (पुण्य कर्म) कर्मोंका उनके उदय पाया जाता है परन्तु वे मोहकर्म रहित होनेसे क्षायिक जैसा कार्य होता है या करते हैं—संसारके कारण नहीं हैं यह तात्पर्य जानना ॥ ४५ ॥

चारित्रके दो भेद[3]

(१) शुद्ध चारित्र (स्वभावरूप आचरण) (२) अशुद्ध चारित्र (विभावरूप आचरण)

शुद्ध चारित्र, वीतरागतारूप या स्वरूपाचरणरूप—शुद्धोपयोगरूप, माना गया है। और

---

१. वृत्ति।

२. षट्खंडागम सूत्र २२ पुस्तक ६ वीं।

३. चारित्रपाहुड गाथा नं० ५—जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥ ५ ॥

अर्थ :—चारित्रआचरणको कहते हैं। वह आचरण दो तरहका होता है (१) श्रद्धान रूप आचरण अर्थात् शुद्ध सम्यक्त्वाचरण (शुद्ध वीतराग स्वरूपका अनुभव करना—स्वरूपमें लीन होना, स्वरूपाचरणमित्यर्थः) शुद्ध चारित्र इति. (२) संयमरूप आचरण, व्रतादिका पालना आदि रूप, शुभरागमय-व्यवहारचारित्र या अशुद्धचारित्र इति। पहिले भी कहा जा चुका है ॥ ५ ॥

वह सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान वालेके भी आंशिक होता है क्योंकि सम्यग्दर्शन प्रारंभमें शुद्ध निश्चय रूप ही होता है, यह नियम है अर्थात् उसमें विकल्प या रागद्वेष रूप विकारभाव कुछ समय तक नहीं होते, उपयोग स्थिर रहता है। पश्चात् विकल्प उठते हैं, जो व्यवहार रूप हैं। इस विषयमें मतभेद रखना व्यर्थ है, असंभव नहीं है, सब संभव है। पंचाध्यायीकारने भी श्लोक नं० ६८८ में स्पष्ट लिखा है—

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत्।
न भवेद् विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ ६८८ ॥ उत्तरार्ध

अर्थ—दर्शनमोह (मिथ्यात्व) कर्मके अभाव हो जाने पर शुद्धात्माका अनुभव (शुद्धोपयोग) अवश्य होता है—उसके होने में कोई दूसरा—चारित्रमोहनीकर्मका उदय बाधक नहीं हो सकता यह तात्पर्य है ॥ ६८ ॥

अनंतानुबंधी कषाय चारित्रमोहनीका भेद होनेसे वह मुख्यतया 'स्वरूपाचरण चारित्र' को ही घातती है और उसके अभावमें चतुर्थ गुणस्थानमें स्वरूपाचरण चारित्रका होना अनिवार्य है फिर हठ या इन्कार काहेका ? विवेकीको अवश्य मान लेना चाहिये।

उत्सर्ग व अपवाद भेद

चारित्रके, द्रव्य चारित्र (शरीर या योग-मन वचन काय, की क्रिया रूप) और भाव चारित्र (आत्माके परिणाम रूप) दो भेद होते हैं। उनमेंसे द्रव्यचारित्रके (१) उत्सर्ग चारित्र (त्याग रूप कठिन या कठोर आचरण करना) और (२) अपवाद चारित्र (मुलायम या शिथिल आचरण करना) इन्हींके दूसरे नाम (१) उपेक्षणीय चारित्र या उपेक्षा संयम तथा (२) अपेक्षणीय चारित्र या अपहृत संयम, ऐसे दो नाम होते हैं इत्यादि। किन्तु इनमें अनेकान्तदृष्टि (स्याद्वाद या कथंचित् दृष्टि) अवश्य रखना चाहिये—एकान्त (एक ही पक्षकी) दृष्टि नहीं रखना चाहिये, यह साधु या संयमीका मुख्य कर्त्तव्य है। जैन शासनमें अनेकान्त दृष्टिका रखना मूल मंत्र है। उसके विना सब व्यर्थ है। संयोगी पर्यायमें पूर्ण शुद्धोपयोग होनेके पेश्तर अनेकान्त दृष्टिका होना अनिवार्य है, ऐसा आचार्योंका मन्तव्य है अस्तु। व्यवहारनयसे जिस चरणानुयोगके चारित्रका लोकमें महत्त्व है व आदर है, उसको धारण-पालन करते समय साधुके अनेकान्त दृष्टि होनी चाहिये। जैसे कि उत्सर्ग (कठिन त्याग रूप) संयमको उत्कृष्ट समझकर धारण करने वाला साधु अपने मनमें यही धारणा रखे कि यह 'उत्सर्ग संयम' मेरे लिये कथंचित् उपादेय व हितकारी है, सर्वथा नहीं है अर्थात् जबतक इस कठोर संयमको पालते हुए मेरे भावोंमें विकार या चंचलता संक्लेशता आदि न हो (ज्योंके त्यों स्थिर रहे) तबतक ही उपादेय व हितकारी है। और परिणाम विगड़ जाने पर उपादेय व हितकारी नहीं है। अतएव उत्सर्ग संयम पालनेमें हठ या जबर्दस्ती नहीं करना चाहिये किन्तु अपवाद संयम (ग्रहण रूप) की अपेक्षा (आवश्यकता पड़ने पर उसका सहारा लेना) भी रखना, स्याद्वादीका कर्त्तव्य है। ऐसा करनेसे उसका संयम (उत्सर्ग संयम) उस जीवनमें अधिक समय तक पलता रह सकता है बाधा नहीं आ सकती।

उदाहरणके लिये मान लो कि किसी साधु मुनिने उत्सर्ग संयम पालनेका मार्ग अपनाया अर्थात् चारों प्रकारका आहार त्याग कर उपवास धारण किया, दीगर सब काम बन्द कर दिये और ऐसा त्याग अनिश्चित काल तकको किया, किन्तु यदि शरीरकी अवस्था या पराधीनता (बीमारी आदि) के कारण परिणामोंमें अशान्ति या संक्लेशता होने लगे तो क्या उसको शुद्ध एक वार विधि पूर्वक थोड़ा-सा आहार नहीं ले लेना चाहिये ? क्या पूर्व प्रतिज्ञा पर ही अटल रहना चाहिये ? चाहे शरीर रहे या नष्ट हो जाय—किन्तु हम उपवास तो नहीं तोड़ेंगे इत्यादि, यह एकान्त पक्ष पकड़े रहना क्या उचित है ? नहीं, न्याय पक्ष तो यही है कि वह, परिणामोंको शुद्ध पहिले रखे, जो उत्सर्ग मार्ग है (त्याग मार्ग है)। यह नहीं कि उसके बिगड़ने पर भी कोरी हठ करके गांठका (मूल) शरीर छोड़ कर सदा के लिये (मृत्यु होने पर असंयमी होना पड़ेगा) संयमसे वंचित हो जाय, उससे महती हानि होती है। यदि कहीं थोड़ा-सा शुद्धाहार बतौर ओंगनके आवश्यकता पड़ने पर लेता जाता तो उस पर्याय (भव) में भी संयम पलता रहता और कर्मोंका क्षय करके अधिक लाभ उठा सकता था। अतएव आत्म लाभ या कर्मोंसे बचनेके लिये 'अपवाद मार्ग' (भोजन करना) को ग्रहण करना सर्वथा अन्याय या पाप नहीं है, कथंचित् है, जिसका होना संयोगी पर्यायमें संभव है। सिर्फ लक्ष्यच्युत नहीं होना चाहिये (वीतरागताकी ओर दृष्टि रखना चाहिये) शुद्ध एक बार दिनमें भोजन लेते समय भी साधुका लक्ष्य तप या संयमको (वीतरागताको) बढ़ाने व उसकी रक्षा करनेका रहना चाहिये[1]। फलतः 'अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग' सफल माना जाता है अन्य नहीं।

इसी तरह 'उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद' भी सफल माना जाता है। जैसे कि शारीरिक अस्वस्थता आदिके समय शुद्ध अल्प आहार लेते हुए, लक्ष्य उत्सर्ग—(वीतरागता रूप उपवासादि) मार्गकी ही ओर रखना (रहना) चाहिये। अतएव वह अपवाद मार्ग भी (भोजन करना भी) कथंचित् उपादेय व हितकर है। परिणामोंमें शान्ति आती है तथा संक्लेशता मिटती है और शरीरकी रक्षा रहते हुए संयम पालन किया जा सकता है एवं उसमें अरुचि होनेसे संवर निर्जरा भी होती है इत्यादि लाभ हैं। अतएव इसमें भी कथंचित् उपादेयता व हितकरता मानना चाहिये यही अनेकान्त दृष्टि है, जो संयम—शरीर—व आहार-विहारमें हमेशा रखना चाहिये किम्बहुना।

यह प्रकरण उपयोगी समझ कर यहाँ विस्तारसे लिखा गया है, जिससे लोग भ्रममें न पड़ें, न एक पक्ष पकड़ लें, कि 'असमर्थता या रागादिकी उत्कटता' के सबब संयम न पाल सकनेसे उसकी बुराई बताने लगें, उल्टा प्रचार करने लगें, उसका महत्त्व गिरा देवें, उससे अरुचि करा देवें इत्यादि। द्रव्यचारित्र द्रव्यचारित्र कह २ कर एक पक्षीय दृष्टि न करा देवें। द्रव्यचारित्र भी कथंचित् दृष्टिसे उपादेय व हितकर है। जब आत्माका उपयोग शुद्धतासे च्युत होता है तो गिरते समय यदि उसको शुभमें ठहराया जाय और उसके अनुसार योगोंकी प्रवृत्ति या निवृत्ति की जाय तो पुण्य बंधका लाभ होता ही है, जिससे पाप बंधसे बचता है। द्रव्यहिंसा आदि पाँच पापोंसे बच

१. 'लें तप बढ़ावन हेतु नहिं तन पोषते तज रसन को'—पं० दौलतरामजी कृत छहढाला।

जाता है, जिससे कथंचित् अहिंसा धर्म भी पलता है, यह भी तो विचार करना अनिवार्य है अस्तु—इस पर अवश्य ही हमेशा विचार करना चाहिये—उपेक्षामें नहीं डालना चाहिये, अन्यथा एकान्त दृष्टि (पक्ष) समझी जावेगी जो सदैव हेय है—मिथ्यात्व है।

नोट—शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे यद्यपि सभी तरह की अशुद्धता हेय है अकर्त्तव्य है किन्तु अशुद्ध निश्चयनय या व्यवहारनयकी दृष्टिसे कथंचित् शुभभाव उपादेय है—पापबन्धसे बचाता है यह विचारणीय है अस्तु। शुद्धका नाम निश्चय और अशुद्धका नाम व्यवहार ऐसा भी माना गया है। अथवा शुद्धका नाम परसे भिन्न (तादात्म्यरहित) और अशुद्धका नाम परके साथ संयुक्त होता है। अथवा अखण्डमें खण्ड या भेद करना (मानना) व्यवहार, और खण्ड नहीं करना निश्चय है। पर्यायकी या पर (निमित्त) की अपेक्षासे पदार्थमें भेद करना (मानना) व्यवहार कहलाता है और पर्याय या परकी अपेक्षासे पदार्थमें भेद नहीं करना निश्चय कहलाता है (पूर्वमें पर्याप्त विवेचन किया गया है)! तदनुसार योगों व कषायोंके भेदसे चारित्रमें भेद करना व मानना, सब व्यवहार चारित्र है जैसे कि (१) इन्द्रिय संयम (चारित्र) इन्द्रियोंको वशमें करना उनके विषयोंको छोड़ना यह एक भेद है। (२) प्राणिसंयम, द्रव्यप्राणोंकी रक्षा करना, दया करना, बचाना इत्यादि यह दूसरा भेद है। (३) कषायोंको छोड़ना, उनका त्याग करना, यह तीसरा भेद है। (४) योगों को रोकना, मन-वचन-कायकी क्रियाको बन्द करना यह चौथा भेद है इत्यादि बहुतसे भेद होते जाते हैं। यथासंभव उनका आलम्बन लेना अनिवार्य है। अन्तरंग संयम और बाह्यसंयम दोनोंका पालना कर्त्तव्य है। इसीको सामान्यतः उपयोगशुद्धि व योगशुद्धि कहा जाता है अस्तु।

इन सब बातोंका ज्ञान परमागम (अध्यात्मशास्त्र) का ज्ञान हुए बिना नहीं हो सकता यह नियम है। तदनुसार प्रत्येक मुमुक्षुको अपना समय शास्त्रोंके स्वाध्याय में तत्त्वचर्चा में और अध्यात्मशास्त्रोंके परिशीलनमें ही लगाना चाहिए, व्यर्थके आडम्बरमें और लौकिक कार्योंमें समयको नहीं खोना चाहिये। चतुराई यही है कि जो कार्य जिसके जिम्मे हो वही कार्य वह करे, साधुको किसीके दबाउरेमें आकर पदविरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये, उसका काम तो मोक्षमार्ग-की साधना करना मुख्य है, पदके विरुद्ध कार्य करना अनर्थदण्डमें शामिल है इसका ध्यान रहे अस्तु। साधु या मुनिपद बड़ा उच्च व आदरणीय पद है, उसके बिना मुक्ति नहीं होती, परन्तु वह होना चाहिये आगमके अनुसार, तभी उससे लाभ होगा, यह पद देखा-सीखीका नहीं है—लोकेषणा व शिथिलाचारका नहीं है यह तो खांड़ेकी धार है जरा चूके कि गये, बड़ी सावधानी रखनेकी जरूरत है।

साधुओं (मुनियों) के ३ भेद, समयसार क्षेपक गाथा, १८१-१८२ पेज (गाथा नं० १२५ के आगे)

(१) परिग्रहत्यागी साधु—जिसने बाह्य परिग्रह (१० प्रकार धनधान्यादि) का त्याग कर दिया हो वह ६।७ गुणस्थानवाला परिग्रहत्यागी कहलाता है। इनके प्रमाद व प्रवृत्ति पाई

जाती है तथापि लोग उन्हें साधु, मुनि, यति कहते हैं जो व्यवहार है। धर्मध्यानकी मुख्यता वाले ये हैं।

(२) जितमोही साधु—जिन्होंने बाह्यमें मोहकर्मका विलकुल (निःशेष) क्षय कर दिया हो, प्रवृत्ति वन्द कर दी हो, ध्यानस्थ हों। ८वेंसे १० गुणस्थानवाले साधु जितमोही कहलाते हैं। अंतरंग परिग्रहसे रहित साधु अथवा ११ वें गुणस्थानवाले भी उपशमकी अपेक्षा साधु कहलाते हैं इनके शुक्लध्यानका पहिला पाया रहता है व कभो धर्मध्यान भी हो जाया करता है।

(३) धर्म संग रहित साधु—जो पूर्ण वीतरागी हो चुके हों (११-१२ वें से लेकर आगे) तथा जो शुभराग व इच्छाओंसे रहित हो गये हों, पूर्वके संस्कार भी वन्द या नष्ट हो गये हों, तथा शुक्लध्यानके दूसरे पाये वाले हों, उन परम व पूर्ण वीतरागियोंको धर्मसंग (पुण्यानुबन्धी शुभराग) रहित साधु कहते हैं। उनके पुण्यका वन्ध सिर्फ योगों द्वारा होता है जो स्थिति-अनुभाग शून्य रहता है अस्तु। इन्हीं को कषायरहित साधु भी कहते हैं। इन्हींको जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट साधु कह सकते हैं। उक्तं च समयसारे[1]। 'धर्मरहित साधु होता है' ऐसा नाममात्र सुनकर भड़कना नहीं चाहिये। उसका रहस्य समझकर संतोष करना चाहिये शब्दोंके प्रकरणवश अनेक अर्थ होते हैं। धर्मके विषयमें लोग वहुत भूले हुए हैं। धर्मके अनेक भेद होते हैं, उन्हें समझ लेना चाहिए इति।

भोगाकांक्षास्वरूप निदानवन्ध रहित, अर्थात् व्यवहारधर्मरहित साधु यह उसका तात्पर्य है। शुभराग यह धर्मसंग कहलाता है—धर्मरूप परिग्रह इसीका नाम है।

वीतरागताका होना ही, धर्मसंगका छूटना है। अतएव धर्म (शुभराग) को अंतरंग परिग्रह कहा गया है ऐसा विवक्षाभेद समझना चाहिये। तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवाले, मुनिनाथ या स्नातक या देव भी कहलाते हैं। तीसरे-चौथे शुक्लध्यानवाले, उपचारसे कहे गये हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

---

१. अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदि धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१०॥

अर्थ—ज्ञानी वीतरागी-परिग्रह रहित साधु धर्म या पुण्यकी अथवा मोक्षकी भी वांछा नहीं करता, फिर अन्य वातोंकी तो वात ही क्या है। वह वांछा या इच्छाको अन्तरंग परिग्रह समझ कर छोड़ता है, हाँ वह सवको जाननेवाला ज्ञाता मात्र रहता है उसीसे मुक्ति होती है अर्थात् जो परिग्रह रहित हो जाता है वही मोक्षका पात्र होता है अन्य नहीं यह तात्पर्य है ॥२१०॥

तीसरा अध्याय

[आचार्य महाराजने इस धार्मिक ग्रन्थमें जिस विचित्रताके साथ (मूलमें भूल वतलाते हुए) असली धर्म और उसकी प्राप्तिका उपाय वतलाया है वह विश्वसनीय ही नहीं अपितु यथाशक्ति करणीय भी है। इसीलिये उन्होंने सबसे पीछे 'रत्नत्रयधर्म' का पृथक् २ स्वरूप वतलाया है और उसको ही सुख या मोक्षका उपाय (मार्ग) वतलाया है। मूल लक्षण, उसके भेद, निमित्त व उपादान कारण, अंग, आदि सभी तो पीछे वतला दिया है। अब सिर्फ यह वतलाना शेष है कि उस यथार्थ धर्मको पालने या धारण करनेके अधिकारी (पात्र) कौन २ हैं ? इसके उत्तरमें कहना होगा कि 'दो अधिकारी' हैं। अर्थात् (१) अधिकारी श्रावक (अणुव्रती) हैं और (२) अधिकारी मुनि (महाव्रती) हैं। उन दोनोंमें से पहिले 'श्रावक धर्म अधिकार, के रूपमें ५ पाँच अणुव्रतोंका वर्णन किया जाता है। कारण कि श्रावकधर्म अथवा अणुव्रतके १२ वारह भेद हैं। (५ अणुव्रत ३ गुणव्रत ४ शिक्षाव्रत)। अतः क्रमानुसार पहिले अणुव्रतोंका ही वर्णन होना चाहिये इत्यादि। तदनुसार कथन, आगे है। यहाँ पर धर्मका अर्थ 'चारित्र' है जो प्रवचनसारमें गाथा नं० ७ में— 'चारित्तं खलु धम्मो' इत्यादि कहा गया है अस्तु। व्रतका नाम भी चारित्र है।]

श्रावकधर्म अधिकार अर्थात् पंचाणुव्रतका स्वरूप

(देशचारित्र)

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम्[1] ॥४०॥

पद्य

हिंसा झूठ चौर्य अरु परिग्रह परनारी सेवन है पाप।
इनका सीमित त्याग करेसे एकदेशव्रत होता नाप[2] ॥
पूरण सवका त्याग करे से सकलदेशव्रत पलता आप।
यही मार्ग है सुखका कारण यथाशक्ति होओ निष्पाप ॥४०॥

---

१. १ हिंसा (जीवघात) २ झूठ (असत्य वोलना) ३ चोरी (परवस्तु ग्रहण) ४ कुशील (परनारी सेवन) ५ परिग्रह (अधिक संग्रह करना व आसक्ति रखना) ये पाँच पाप हैं। इनका थोड़ा २ त्याग करना देशव्रत या अणुव्रत कहलाता है। और सम्पूर्ण त्याग करना सकलव्रत या महाव्रत कहलाता है, ऐसे दो भेद चारित्रके हैं।

२. परिमाण।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः, कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं द्विविधं जायते] हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन प्रसिद्ध पाँच पापोंका त्याग करना चारित्र या व्रत कहलाता है, किन्तु उनका थोड़ा अर्थात् परिमाण-सीमा-मर्यादा सहित त्याग करना 'एकदेशव्रत' या चारित्र या अणुव्रत कहलाता है और उनका सम्पूर्ण त्याग करना 'सर्वदेशव्रत' या सकल चारित्र या महाव्रत कहलाता है। इस प्रकार व्रत या चारित्रके दो भेद हो जाते हैं। तथा उनके पालक भी श्रावक और मुनि (यति) के भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इसीका खुलासा आगेके श्लोकमें है ॥४०॥

भावार्थ—मोक्षका साक्षात् मार्ग (उपाय) चारित्र व्रत या धर्म ही है—दूसरा कोई नहीं है और वह अन्तमें ही पूरा होता है इसलिए पीछे कहा गया है, अस्तु। उसके पात्रकी योग्यताके अनुसार दो भेद किये गये हैं। अर्थात् पात्र कम शक्तिवाले और अधिक शक्तिवाले दो तरह के होते हैं। अतएव कम शक्तिवाले 'एकदेश' चारित्र ही धारण कर पाते हैं और अधिक शक्तिवाले 'सकलदेश' चारित्र धारण कर लेते हैं और वे ही मोक्षको जाते व जा सकते हैं, यह नियम है। ऐसी स्थितिमें सर्वोत्कृष्ट व उपादेय सकलचारित्र या महाव्रत ही है। यद्यपि उसके भी क्रमशः 'सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात ऐसे पाँच भेद होते हैं, जिनका उद्भव एक साथ नहीं होता—क्रमशः होता है। जव परमदरजेका चारित्र 'परम यथाख्यात' प्राप्त हो जाता है तभी मुक्ति होती है, फलतः तद्भव मोक्षगामीके लिये वही प्राप्तव्य है। आजकल यहाँ पर वह अलभ्य है अतः मोक्ष जाना भी वन्द है।

अनादिकालसे जीव परद्रव्यके संयोगसे अशुद्ध हो रहे हैं अर्थात् संयोगीपर्यायमें रह रहे हैं और हिंसादि रूप तरह २ के भाव व क्रिया करने रूप उद्यम (पुरुषार्थ) हो रहे हैं, जिनसे नवीन कर्मोंका वंध होते हुए उदयमें आकर सुखदुःखादि दे रहे हैं, और भूलवश उनसे छुटकारा नहीं पाते, यह श्रृंखला वरावर चालू है, वस यही पापवंध या पुण्यबंधका कारण है। उसीके हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह या क्रोध मानादिक सब भेद हैं, कोई पृथक् चीज नहीं है। अतएव जबतक उनसे पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो जाता तबतक संसार नहीं छूटता, न असली सुख मिलता है। अतः वह अशुद्धता दूर होना ही चाहिये। वह अशुद्धता 'सम्यग्दर्शन' सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्रकी एकतासे दूर हो सकती है यह बार २ पीछे बतलाया गया है, उसमें दो मत नहीं हैं, न हो सकते हैं, यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये। सुख-शान्तिकी प्राप्तिके लिये लिये निर्विकल्प या निराकुल होना अनिवार्य है किन्तु जबतक विकारी भावों (रागादि) का तूफान अन्तरंगमें मौजूद रहता है तवतक वह असंभव है, किसी भी तरह उत्पन्न नहीं हो सकता। अच्छे निमित्तोंका मिलाना एक उपाय है (व्यवहाररूप है), किन्तु वह अविनाभाव नहीं रखता। हाँ, अन्तरंगमें ज्ञायक स्वभावका आलम्बन लेना एक मुख्य साधन है, उसके संस्कारसे वहुत कुछ काम वन सकता है लेकिन उपादानको नहीं भुलाया जा सकता।

सम्यग्दर्शनके कालमें होने वाली निर्विकल्प दशामें ही स्वानुभव होता है (सच्चा स्वाद

आता है) जिससे जीव उसीमें विभोर होकर अन्य सबकी ओरसे विमुख हो जाता है। वह निराकुल सुखका स्वाद लेता है और उसका संस्कार आत्मामें पड़ जाता है अर्थात् वैसी धारणा (एकत्त्व-विभक्तरूप) उसके ज्ञानमें हो जाती है, जिससे संयोगीपर्यायमें उसका उपयोग बदलने पर भी अर्थात् रागादिरूप होने पर भी एकत्त्व-विभक्तरूप शुद्ध स्वरूपका स्मरण बराबर हर समय आता रहता है और वह यथार्थताकी ओर उपयोगको बारंबार लाता है अर्थात् वह भूल नहीं पाता है—उसका सत्य श्रद्धान बराबर कायम रहता है, जो हमेशा हेय-उपादेयको बताता रहता है। इस तरह सम्यग्दृष्टिका उपयोग बदलने पर भी श्रद्धान नहीं बदलता, जिससे सम्यग्दृष्टि बना रहता है व वैराग्य (अरुचि) साथमें रहनेसे असंख्यात गुणित निर्जरा प्रति समय होती रहती है, यह खुलासा है, इसको समझना चाहिये। ज्ञायक स्वभावका आलम्बन लेना ही हितकारी है अतएव उसीका प्रयास करना चाहिये, यही विवेकशीलता है, अस्तु ॥ ४० ॥

आचार्य पाँच पापोंका एकदेश व सर्वदेश त्याग करने वालोंका नाम व पद बतलाते हैं।

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥ ४१ ॥

पद्य

सर्वदेशका त्याग करत जो वे यतिवर कहलाते हैं।
और उसीमें तत्पर रहते, समयसार पद पाते हैं ॥
एकदेशका त्याग करत जो वे श्रावक कहलाते हैं।
और उसीमें तत्पर रहते, नाम उपासक पाते हैं ॥ ४१ ॥

अन्वय अर्थ—[कार्त्स्न्यनिवृत्तौ निरतः अयं समयसारभूतो यतिः भवति] पाँचों पापोंके त्यागनेमें जो हमेशा दत्तचित्त (तत्पर) रहता है, वह आंशिक कार्य समयसाररूप (शुद्धोपयोगी) यति हो जाता है (सकलव्रती बन जाता है) [तु या एकदेशविरतिस्तस्यां निरतः उपासको भवति] और जो पाँच पापोंके एकदेश त्यागनेमें दत्तचित्त (तत्पर उद्यमशील) रहता है, वह उपासक (श्रावक-देशव्रती) कहलाता है या हो जाता है, यह पदभेद है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—चारित्रका दर्जा सबसे ऊँचा है, यह तो निर्विवाद है ही, किन्तु उसमें भी पद और पालनाके अनुसार भेद पाया जाता है। जैसे कि जो मूलभूत पाँच पापोंका पूर्ण त्याग करते हैं वे यति या मुनि छठवें गुणस्थान वाले कहलाते हैं—वे समयसाररूप शुद्धात्माकी साधना करनेवाले होते हैं। तथा जो ऐसे जीव हैं कि वे उक्त पाँच पापोंका एकदेश (अल्प) त्याग करते हैं वे उपासक (श्रावक) नामधारी पंचम गुणस्थान वाले अथवा प्रतिमाधारी होते हैं। इस प्रकार चारित्र और चारित्रधारियोंके दो भेद माने जाते हैं व दोनों मोक्षमार्गी हैं। और सामान्यतः श्रावक (गृहस्थ) के नाते चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ तीनों गुणस्थान वाले मोक्षमार्गी हैं। कारण कि श्लोक

नं० २० में धर्म धारण करना प्रत्येक श्रावक (शिष्य या श्रोता) का कर्त्तव्य है, चाहे वह व्रती हो या अव्रती हो उसको रत्नत्रय धर्मका धारण करना अनिवार्य है। क्योंकि धर्मसे ही उद्धार होता है, दूसरा कोई साधन उद्धारका नहीं है और सबमें नींवरूप सम्यग्दर्शन है ऐसा समझना चाहिये। अस्तु। जिन भव्य जीवोंकी जैसी श्रद्धा व शक्ति हो वैसा ही बड़ा छोटा चारित्र अवश्य ही धारण करना चाहिये, तभी लाभ होना संभव है। इसके साथ ही अनेकान्त (स्याद्वाद—कथंचित्) दृष्टि रखना भी अनिवार्य है, जिससे हानि न हो और साध्य (अभीष्ट) की सिद्धि हो, ख्याल रखा जाय, किम्बहुना।

स्पष्टार्थ (खुलासा)

चारित्रके (१) द्रव्यचारित्र (२) भावचारित्र दो भेद हैं। द्रव्यचारित्र, चरणानुयोगकी पद्धतिके अनुसार बाह्य आचरण सुधारनेसे सम्बन्ध रखता है, अतएव वह आचररूप रहता है। भावचारित्र, वृत्तिरूप होता है अर्थात् करणानुयोगकी पद्धतिके अनुसार मनोवृत्ति या उपयोग सुधारनेरूप होता है। परस्पर दोनोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध रहता है, ऐसी द्रव्यचारित्र और भावचारित्रकी परस्पर संगति पाई जाती है जबतक अशुद्धदशा रहती है, शुद्धदशामें नहीं।

इसके विपरीत

द्रव्यचारित्र उसको कहा जाता है जो भावके अर्थात् सम्यग्दर्शनके विना होता है। वह कषायकी मन्दता या तीव्रता दोनोंसे होता है, (उसमें दोनों निमित्त हो सकते हैं), वह मोक्षका मार्ग नहीं होता, अतः उसकी मोक्षमार्गमें कोई कीमत या गिनती नहीं है। इस विषयमें बारीक छानवीन करनेकी जरूरत रहती है, वह हर एककी वुद्धिगम्य नहीं है। अतएव यह व्याप्ति नहीं मानी जा सकती कि आजकल सव द्रव्यलिंगी जैन साधु होते हैं इत्यादि, किन्तु भावलिंगी भी होते हैं ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि उनका अस्तित्व अन्ततक रहेगा लेकिन सभी वीतरागी निरतिचारी नहीं हैं न हो सकते हैं। अतएव कषायभावसे वे त्रुटियाँ कर सकते हैं या उनके त्रुटियाँ होती हैं किन्तु उससे मूल (सम्यग्दर्शन) भंग नहीं हो जाता। हां, जो गलती करके भी उसे गलती न माने वह अवश्य हठी व द्रव्यलिंगी है। फलतः सम्यग्दृष्टिका वह मुख्य पहिचानका चिह्न है-कि वह हर समय सतर्क रहे, और अपने दोष गुणोंकी उद्वेलना (खतौनी) करे, तथा गलतीपर पश्चात्ताप करे, एवं उसके सुधारनेका यथाशक्ति प्रयत्न करे, आत्मकल्याणकी ओर दृष्टि रखे, हाँ एक अशुद्ध दृष्टि ही न रखे, शुद्धि दृष्टिको भी लक्ष्यमें रखे, (उपयोग वैसा करे)। ऐसा करते-करते ही बड़ी मुश्किलसे पुराने संस्कार छूटते हैं, और नये संस्कार जमते हैं, और उनसे आत्मोद्धार होता है। इसके सिवाय अकेले चिन्तवन या विचारसे ही सबकुछ नहीं हो जाता, करनेसे ही होता है, और वह करना अशुद्धताका छोड़ना रूप है, एवं उसके लिये पुरुषार्थ करना रूप है, प्रमादी असावधान रहना उचित नहीं है, अस्तु।

सम्यग्दृष्टिको ही पेश्तर पाँच पापोंसे अरुचि होती है, उन्हें वह विकार व परद्रव्य समझकर छोड़ना चाहता है (उनसे विरक्त होता है) तथा बाहिर भी यथाशक्ति योगोंके द्वारा (मन-वचन-

काय द्वारा) वैसा आचरण करता है अर्थात् वैसी क्रिया करता है। इस तरह भीतर बाहिर दोनोंसे शुद्धता (पृथक्ता) करके मोक्षको जाता है। भीतर अरुचि होना वैराग्य परिणामोंका होना 'भावचारित्र' है और बाहिर सदाचाररूप क्रिया-आचरणका होना 'द्रव्यचारित्र' है (व्यवहार चारित्र है) ऐसा समझना। यति—श्रावक, दोनों ही पात्र यथायोग्य देश-काल-पदके अनुसार कार्य करते हैं व करना चाहिये—सीमाको उलंघन करना महान् अपराध है, उसको स्वयं देखे, दूसरोंकी प्रतीक्षा न करे। 'संयम रतन सम्हार, विषयचोर बहु फिरत हैं' यह वास्तवमें कर्तव्य है।

सकलचरित्रके, सामायिकादि ५ भेद हैं जो कहे गये हैं।

देशचरित्रके ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत भेद हैं। जिनसे ११ प्रतिमाएँ बनती हैं। प्रतिमाधारी सब नैष्ठिक श्रावक कहलाते हैं, उनके ११ भेद होते हैं। अर्थात् श्रावक के—(१) पाक्षिक (२) नैष्ठिक (३) साधक ऐसे तीन भेद होते हैं। पाक्षिक श्रावकका दर्जा जघन्य पक्षका है, वह दृढ़ श्रद्धालु होता है किन्तु व्रती नहीं होता, फिर भी अभ्यास रूपसे वह अतिचार सहित मूलगुण वगैरह पालता है। उसकी अधिक सराग अवस्था होनेसे सम्यग्दर्शनमें भी अतिचार लगते हैं, तुष्ट दुर्जन न्याय से 'श्रद्धामें न रहते हुए भी' कई कार्य पराधीनतासे इच्छाके विरुद्ध उसे करना पड़ते हैं, जिनका वह खेद करता, है। परन्तु नैष्ठिक श्रावक हीनरागी होनेसे लोकविरुद्ध कोई कार्य नहीं करता, सबको हेय समझता है। साधक श्रावक, सब काम अन्तमें छोड़ देता है व सल्लेखना धारण करता है। विधिपूर्वक सल्लेखना धारण करना कठिन कार्य है, परन्तु वह एक अवश्य कर्त्तव्य है, व्रती तो करता ही है किन्तु मुमुक्षु अव्रतीको भी प्रयत्न करना चाहिये, वह जीवनकी सफलता है। सल्लेखनाका अर्थ समाधिमरण होता है, जो कषायवश नहीं किया जाता अतः वह आत्मघात या आत्मवध नहीं हो सकता—आत्मघात तीव्र कषाय वश होता है किन्तु समाधिमरणमें कषायका अभाव या मन्दता रहती है वह धर्मार्थ रागद्वेष छोड़नेके अर्थ—अर्थात् वीतरागता प्राप्त करने के अर्थ) शरीरादि परिग्रहका त्याग निर्मोह होकर करता है, यह भाव है ॥ ४१ ॥

अथ लक्षणप्रकरण

१—हिंसा पापका स्वरूप

आत्मपरिणाम[१]हिंसनहेतुत्त्वात् सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

---

१. स्वभाव या शुद्धोपयोग। आत्मघातका नाम ही 'हिंसा' पाप है—यह निश्चयनयका (स्वाश्रित) कथन है। परघातको 'हिंसा' कहना, यह व्यवहारनयका (पराश्रित) कथन है। स्वाश्रित-पराश्रितका भेद है। इसको अवश्य समझना चाहिये।

पद्य

जिन कामोंके करनेमें हा आत्मप्राण घाते जावें।
वह है हिंसापाप असलमें भूल न उसमें हो पावे॥
झूठ वचन आदिक ये सब ही उसमें शामिल हो जाते।
शिष्योंको समझाने खातिर पृथक् रूपसे बतलाते॥४२॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यथार्थमें विचार किया जाय तो (अशुद्ध निश्चयनयसे) [एतत्सर्वं आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् हिंसा एव] हिंसा आदिक सभी विकारी भाव, आत्माके स्वभाव भावोंका घात करते हैं, अर्थात् उनके रहते (अस्तित्त्वमें) शुद्धोपयोग नहीं हो पाता, अतः उन सबको हिंसा या घात समझना चाहिये, जो कि नैमित्तिक है। अर्थात् उस शुद्धोपयोगके अभाव (घात) रूप हिंसा (पाप) का निमित्त अथवा अशुद्धोपादान, हिंसादिरूप विकारी भाव ही हैं (स्वाश्रित हैं) यहाँपर कर्त्ता-कर्मकारकको अपेक्षासे विकारीभाव (हिंसादिरूप) कर्त्ता हैं, और शुद्धोपयोग का न होना (घात होना) कर्म है, यह खुलासा है। अथवा स्वमें स्व निमित्तताका उपचाररूप प्रदर्शन है अस्तु। इसके सिवाय [अनृतवचनादि केवलं शिष्यबोधाय उदाहृतं] झूठ वचन आदि चारोंको सिर्फ शिष्योंको समझानेके लिये पृथक्रूपसे (व्यवहारसे) कहा गया है अर्थात् वे सभी एक हिंसा पापमें ही शामिल हैं। फलतः मुख्य पाप एक 'हिंसा' ही है यह तात्पर्य है, निश्चयसे वे जुदे पाप नहीं हैं अर्थात् एकमें ही विवक्षासे 'हिंस्यहिंसकपना' सिद्ध हो जाता है॥४२॥

भावार्थ—अभेदविवक्षामें विकारी भावोंको और हिंसाको एकरूप ही बतलाया गया है, अतएव उक्तप्रकार (अभिन्नप्रदेशी) का व्यवहार ही निश्चयका कारण माननेसे परस्पर कारण-कार्यपना सिद्ध हो जाता है। जैसेकि आत्माके विकारीभाव (हिंसादि परिणाम) कारणरूप हैं और शुद्धोपयोगका अभाव होना कार्यरूप है ऐसा समझना चाहिये। इस तात्त्विक (निश्चयरूप) निर्णयका उद्देश्य व्यवहारनयका खंडन करना है कि 'परपरिणाम (शरीर) हिंसन, को हिंसा कहना, केवल उपचार है—निश्चय नहीं है यह तात्पर्य है, भूलना नहीं।

नोट—इस श्लोकमें निश्चय और व्यवहार दो तरहकी हिंसाओंका वर्णन किया गया है, इस तथ्यको समझना चाहिये। सामान्यार्थ श्लोकका करना अनभिज्ञता है। अशुद्धावस्था होना ही हिंसा है, जहाँ रागादि अशुद्धभाव आत्मामें हुए कि वहीं हिंसा खुदकी हो गई। सामान्यतः लोक-व्यवहारमें हिंसाका अर्थ शरीर व आयुका घात हो जानेको (मर जानेको) कहते हैं किन्तु वह सब व्यवहार या लोकाचारकी चर्चा है। असल बात यह है कि जीवद्रव्य तो नित्य है अतः वह कभी मरता नहीं है सिर्फ उसके शुद्धभाव या परिणाम संयोगी पर्यायमें विकारोंके होनेसे नष्ट होते रहते हैं, बस, वास्तवमें वही हिंसा है, उसको ही यथार्थमें बचाना है, तभी वह अहिंसक हो सकता है व हिंसासे बच सकता है। इसका अर्थ यह यहीं है कि—अन्य जीवोंको मारनेकी छुट्टी मिल गई है या उनकी दया (रक्षा) आदि नहीं करना चाहिये इत्यादि भ्रम छोड़ देना जरूरी है। तत्त्वका निर्णय करना व समझना पृथक् वस्तु है और भावोंको करना व बनाना पृथक् वस्तु है। विवेकीजन

पेश्तर अपने भाव सुधारते हैं (वचाते हैं) किन्तु जब भाव नहीं सुधरते (उनपर नियंत्रण नहीं रहता) तब कषायके आवेशमें वह अपने भावप्राणोंको घात करता है तथा विवशतामें अन्य जीवोंका भी दुःखके साथ घात करता है (भीतरसे उसमें अरुचि रखता है) और भरसक (यथा-संभव) उनकी रक्षा (करुणा दया) भी करता है क्योंकि परिणामों के गिरते समय वह पुनः २ संभलता है—शुभ परिणामोंको करके समय विताना चाहता है इत्यादि, नं० २ का कर्त्तव्य वही है क्योंकि वह अशुभसे बहुत अधिक डरता है, उसकी वह मध्यम स्थिति है किम्बहुना। आगे और स्पष्ट किया जायगा, गलत धारणा नहीं करना चाहिये। इस श्लोकमें हिंसाका निर्णय (निर्धार) किया गया है। आगेके श्लोकमें हिंसाका लक्षण है, अस्तु।

परिणामवादका खुलासा

स्वार्थवश यदि कोई जीव, किसी जीवको मार डालनेका इरादा (संकल्प) करता है या किसीसे झूठ बोलनेका इरादा करता है या किसीकी चीज चुरानेका इरादा करता है या मैथुन सेवनका इरादा करता है (ब्रह्मचर्यके घातनेका) या अधिक परिग्रहके संचय (संग्रह) करनेका इरादा करता है, तो वह नियमसे पाँच पापोंका अपराधी हो जाता है—उसे सजा मिलती है, चाहे वह परके प्राणघात (हिंसा) आदि कार्य कर सके या न कर सके, उससे मतलब नहीं रहता। अथवा वह परजीव दुःखी होगा—उसका फल इसे लगेगा, यह भी नहीं होता, वह न्यायके प्रति-कूल है। हर एक जीवको अपने भावोंका ही फल प्राप्त होता है ऐसा न्याय है। तदनुसार परि-णामोंको नहीं विगाड़ना चाहिये। हाँ, लोकनिन्दा आदिसे बचनेके लिए यथासम्भव, परजीवोंकी रक्षा आदि कार्य करना भी उचित है। उस समय त्यागी, व्रती, अव्रती सभीको शुभरागसे पुण्यका वन्ध होता है, पाप कर्मोंका स्थिति-अनुभाग घटता है। सो वह भी अशुद्धोपयोगके समय कथंचित् कर्त्तव्य है, यह अनेकान्त दृष्टि है, जैनागम या जैनधर्मके अनुकूल है किम्बहुना। किन्तु वह सर्वथा अनुकूल नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। न्यायदृष्टिसे हिंसापापकी तरह झूठ आदि बोलनेमें भी आत्माका स्वभाव (शुद्धोपयोग) घाता जाता है अतएव वे सब हिंसापापके उत्पादक और समर्थक हैं। जीवोंके परिणाम, अशुभ, शुभ, शुद्ध, तीन मरहके होते हैं। उनमेंसे आत्माका हित करने-वाला एक शुद्ध परिणाम ही है, जो कर्मवन्धसे आत्माको छुड़ाकर मोक्षमें पहुँचा देता है। वह उपादेय है। शेषके दो भाव (अशुभ व शुभ) कर्मवन्धके करनेवाले हैं, छुड़ानेवाले नहीं हैं, अतएव हेय ही है। किन्तु अपेक्षासे शुभभावको अशुभकी अपेक्षा (पुण्यवन्ध कारक होनेसे) कुछ अच्छा कहा जाता है, क्योंकि उससे संसारमें क्षणिक सुख शान्ति मिलती है इत्यादि, किन्तु वह है हेय ही ॥४२॥

हिंसाका लक्षण व हेतु

यत्खलु कषाययोगात्[1] प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥ ४३ ॥

---

१. समुदायमें एक वचन है—वैसे योग और कषाय दो हेतु (कारण) हैं।

पद्य

द्रव्यप्राण अरु भावप्राण दो प्राण होत हैं जीवोंके।
उनका घात कियेसे देखो हिंसा होती लोगोंके॥
कारण इसके दो हैं भाई योग-कषाय उभय जानो।
दोनोंके त्यागेसे वीरो[1] धर्म अहिंसा पहिचानो॥ ४३॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [खलु यत् द्रव्यभावरूपाणां प्राणानां कषाययोगात् व्यपरोपणस्य करणं सा सुनिश्चिता हिंसा भवति] निश्चयनयसे कषाय और योगके निमित्तसे जो द्रव्य और भाव दोनों प्राणोंका घात (विनाश-क्षय) होता है या किया जाता है असलमें हिंसा वही है, हिंसापाप उसीको कहते हैं, यह संक्षेप लक्षण है, इसीमें सब भेद आ जाते हैं। उससे बचना चाहिये॥ ४३॥

भावार्थ—लोकाचारमें द्रव्यप्राणोंके (५ इन्द्रियों, मन वचन काय, श्वासोच्छ्वास, आयु १० के) घात करनेको अथवा जीवोंके मार डालनेको हिंसा (हत्या) पाप कहते हैं किन्तु आगममें (भावाचारमें) परिणामोंके खराब होने मात्रको हिंसा कहते हैं। सिर्फ १—द्रव्यप्राणघातरूप द्रव्यहिंसा कहलाती है, और २—भावप्राण (परिणाम) घातरूप भावहिंसा कहलाती है यह भेद है। जैन शासनमें भावहिंसा मुख्य मानी जाती है, क्योंकि आत्मा (जीवद्रव्य) का सम्बन्ध साक्षात् उसीसे है तथा वह स्वाश्रित है। द्रव्यहिंसा, इसलिये गौण (अमुख्य) है कि भावपूर्वक यदि वह हो तो हानिकारक होती है अन्यथा नहीं। विना भाव या संकल्पके उसको हिंसा मानना या कहना उपचारमात्र है। यही बात पूर्वाचार्योंने भी कही है। यथा—

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।—तत्त्वार्थ सू० ७–१३।

अर्थ :—प्रमाद अर्थात् कषायके सम्बन्धसे (कषायपूर्वक) योगद्वारा द्रव्यप्राणोंका घात होना हिंसा कहलाती है (विना कषायके नहीं) इत्यादि।

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः॥ २३॥ आत्मानुशासन

अर्थ :—पुण्य और पापबंधके कारण अर्थात् अहिंसा (दया) और हिंसा (घात) के कारण जीवके परिणाम (अशुद्ध भाव—शुभ-अशुभरूप कषायभाव) ही होते हैं, अन्य नहीं। ऐसा समझना।

पापं ध्रुवं परे दुःखात्, पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः॥ ९२॥ आप्तमीमांसा

अर्थ—विना कषायरूप (शुभ व अशुभरूप) अभिप्रायके (संकल्प या इरादाके) पुण्य और पापका बन्ध कदापि नहीं होता। नहीं तो अचेतन पदार्थ और वीतरागी आत्मा भी निमित्तताकी

---

१. जैनो।

अपेक्षासे बंधको प्राप्त हो जायेंगे, यह दोष आवेगा।[1] कषाय भावोंके होनेपर बाहिर हिंसा (घात) न हो तो भी हिंसा पाप लग जाता है, यह विशेषता है, अस्तु।

हिंसाके मुख्य ४ भेद

(१) संकल्पी हिंसा (२) आरम्भी हिंसा (३) उद्योगी हिंसा (४) विरोधी हिंसा। इन सबमें आत्माका स्वभावघात होता है, अतः हिंसा रूप हैं।

१. संकल्पी हिंसा, उसको कहते हैं, जिसमें सिर्फ हिंसा करने या मारनेका इरादा किया जाता है। अर्थात् अशुद्ध या विकारमय परिणाम करना, हिंसा करना माना जाता है। यह हिंसा सबमें मुख्य है। कारण कि परिणामोंको (चित्त या उपयोगको) रोकना ही बड़ा कठिन है। अतएव हिंसाका प्रारंभ वहींसे होता है, ऐसा समझना चाहिये। परमपूज्य समन्तभद्राचार्यके शब्दोंमें उसको ही 'भावहिंसा' कहते हैं।

स्थूलहिंसा व सूक्ष्महिंसा

त्रस और स्थावर जीवोंको 'द्रव्य हिंसा'के आधार पर ऊक्त दो भेद किये गये हैं। अर्थात् द्वीन्द्रियादि त्रस जीवोंका घात करना 'स्थूलहिंसा' कहलाती है और एकेन्द्री स्थावर जीवोंका घात करना 'सूक्ष्म हिंसा' कहलाती है। इस लौकिक न्यायमें भी 'पंचेन्द्री और मनुष्य आदि' मुख्य लिये जाते हैं, इसीसे राजदंड व पंचदंड आदिका विधान माना जाता व किया जाता है। इसमें खास परिणामोंकी अपेक्षा नहीं रखी जाती, जो जैन धर्ममें मुख्य है अस्तु। तथापि पद व योग्यताके अनुसार स्थावर व त्रस जीवोंका रक्षण क्रमसे किया जाता है जो करना चाहिये। पाप हमेशा नुकसान देता है।

२. आरम्भी हिंसा, उसको कहते हैं जो गमनागमनादि शारीरिक क्रियाओंके करनेमें जीवघात होता है। नहाना, कपड़ा धोना, रसोई बनाना, झारना, पानी भरना, आग जलाना, कूटना, पीसना, खाना-पीना, (आहार नीहार करना) आदि सब आरम्भ कहलाता है। अर्थात् सावद्ययोग का नाम आरम्भ है, जिसमें पापास्रव होता है अस्तु।

३. उद्योगी हिंसा, उसको कहते हैं, जो व्यापार अदिके करनेसे हिंसा होती है व्यापार आदि सभी काम गृहस्थको करना हो पड़ते हैं उनके बिना चलता (निर्वाह) नहीं है। उसमें हिंसाका होना अवश्यंभावी है। अतः उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं। परन्तु इसमें हिंसा करनेका संकल्प नहीं रहता, अस्तु।

४. विरोधी हिंसा, उसको कहते हैं, जो लड़ाई-झगड़ेके समयमें या प्रतिरोधके समयमें

---

१. उच्चालिदंमि पादे इज्जासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे। आवादेज्ज कुलिंगो। मरदु व जियदु व जीवो ण हि तस्स तण्णिमित्तो वंधो सुहमोवि देसिदो समये। परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः। इत्यादि क्षेपक गाथा अष्टपाहुड़।

मारकाट हुआ करती है। गृहस्थाश्रममें ये सभी कार्य प्रयोजनवश हुआ करते हैं। परन्तु पदके अनुसार करनेमें लोकापवाद नहीं होता, फल भावोंके अनुसार लगता है इत्यादि।

नोट—विरोधी हिंसाका उद्देश्य भी अधिकतर आत्मरक्षा करनेका है किन्तु शौकिया या शिकार खेलनेका नहीं है, जो अनर्थदंडमें शामिल है। सम्यग्दृष्टि जैन गृहस्थ वैसा कार्य नहीं कर सकता, यदि कोई कहता व करता है तो उसके लिये वह लाञ्छनरूप है। यद्यपि आत्मरक्षा व प्रजारक्षाका उद्देश्य है तो रागपरिणति, किन्तु पदके अनुसार वह वर्जनीय नहीं है, न्यायके अनुसार दयाको व्यवहारधर्म बतलाया गया है। इतने पर भी वह अप्रयोजनभूत हिंसा आदिक सभीका त्यागी रहता है, वह नहीं करता, उसकी न्यायवृत्ति रहती है, वह सदैव पदके अनुसार कार्य करता है। श्रद्धा और कर्त्तव्य दोनोंपर उसकी दृष्टि रहती है। वह एक (एकान्त) दृष्टि नहीं रखता यह सब विचारणीय है अस्तु।

उपसंहार कथन

कार्यपर्यायरूप (व्यक्त-प्रकट) कषाय और योगके रहते समय अर्थात् क्रोधादिकषायोंके सद्भावमें जीव, दूसरे जीवोंको कष्ट पहुँचाता है और कभी-कभी अपने ही अंगोपांगोंको कष्ट देता है, यह बाह्य हिंसा देखनेसे आती है। (आत्मघात व परघासरूप), अतः वह लोकमें हिंसक माना जाता है यह व्यवहार है। किन्तु निश्चयसे कषायोंके उदयकालमें जो परिणाम खराब होते हैं उससे ही जीवका स्वभाव भाव नष्ट होता है वही हिंसा कहलाती है, उसीका फल मिलता है ॥ ४३ ॥

आचार्य संक्षेपमें अहिंसा व हिंसाका लक्षण बताते हैं
(स्पष्टीकरण)

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

पद्य

रागादिक विकार भावोंका होना नहीं 'अहिंसा' है।
और उन्हीं का हो जाना पुन नाम उसी का 'हिंसा' है॥
इससे जिनवाणी कहती है जिसे अहिंसा हो प्यारी हो।
रागादिक से दूर रहे वह मोक्ष मार्गका अधिकारी ॥४४॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [खलु रागदीनां अप्रादुर्भावः अहिंसा भवति] निश्चयसे रागादिक विकारी भावोंका आत्मामें नहीं होना, वहीं अहिंसा है, क्योंकि विकारके न होनेसे हिंसा (स्वभावका घातरूप) नहीं होती, तथा [तेषामेवोत्पत्तिः हिंसा इति जिनागमस्य संक्षेपः] रागादिक विकारी भावोंकी उत्पत्ति होना ही 'हिंसा' है क्योंकि उनसे आत्माके स्वभाव भावका घात

होता है, ऐसा जिनवाणीका संक्षेप कथन है अर्थात् संक्षेपमें (सूत्ररूपमें अहिंसा व हिंसाका लक्षण बताया गया है, इसे समझना चाहिए। यह निश्चय रूपसे अहिंसा व हिंसाका लक्षण जानना (स्वाश्रित है) व्यवहारनयसे द्रव्य प्राणों का घात होना हिंसाका लक्षण है (पराश्रित है ॥४४॥

भावार्थ— असलमें रागादिक विकारी (अशुद्ध) भाव ही स्वभाव भावके घातक होनेसे हिंसक व हिंसारूप हैं। अतएव महान् पुरुषोंने पेश्तर स्वभाव भावका आलम्बन लेकर उन्हींका क्षय किया है, जो भावकर्मरूप व आत्माके प्रदेशोंमें अवस्थित, (संयोगरूप) रहते हैं। उनका आत्माके साथ वड़ी घनिष्ट सम्बन्ध है व पुराना है। उन्हींकी वदौलत यह संसारवृक्ष विराटरूप हुआ है। अतएव रागादिरूप हिंसा ही महान् पाप है, (अधर्म है) तथा रागादिकके अभावरूप अहिंसा ही महान् धर्म है, ऐसा समझ कर वही अहिंसा रूप 'परम धर्म' प्राप्त करना चाहिए तभी कल्याण होगा। इसके विपरीत 'द्रव्यहिंसा' (जीवघात) और भावहिंसा (क्रोधादिकषाय भाव) ये कभी धर्म नहीं हो सकते, न उनसे कल्याण हो सकता है यह नियम है। अतएव भ्रममें नहीं पड़ जाना चाहिये, हमेशा सत्यका आलम्बन लेना चाहिए, अस्तु। सत्यकी ही विजय होती है असत्यकी नहीं, यह नीति है ॥४४॥

आचार्य कहते हैं कि सदाचारी जीवोंके रागादिकके अभावमें, विना कषायके कदाचित् अन्य जीवोंकी हिंसा (प्राणघात) हो भी जाय तौ भी उनको हिंसाका फल नहीं लगता इत्यादि।

युक्ताचरणस्य[1] सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यरोपणादेव ॥४५॥

पद्य

योग्य आचरण करने वाला जब तक राग[2] नहीं करता
जीवघातके होने पर भी हिंसा पाप नहीं लगता॥
हिंसा मूल विभाव कहा है जो स्वभावका घातक है।
अतः त्यागना उसका उत्तम अन्य त्याग तस साधक[3] है ॥४५॥

अन्वय अर्थ— आचार्य कहते हैं कि [अपि युक्ताचरणस्य सतः रागाद्यावेशमन्तरेण] और खास तत्वकी बात यह है कि सावधानीपूर्वक अर्थात् शिथिलाचार रहित आचरण करने वाला श्रावक-साधु महात्मा, रागद्वेषादिकषायके विना (बुरा इरादा न हो तो) [प्राणव्यपरोपणादेव जातु हिंसा न हि भवति] कदाचित् अकेले प्राण घात हो जानेसे कभी हिंसा पापका भागी नहीं होता, अर्थात् उसे हिंसा शप नहीं लगता, ऐसा सारांश समझना चाहिये। क्योंकि हिंसा, विना कषाय (क्रोधादि) के अकेले योग (प्रवृत्ति) से नहीं होती ॥४५॥

---

१. योग्य आगमके अनुकूल सदाचाररूप। अर्थात् समिति या सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला।
२. रागद्वेषादि विकार।
३. निमित्तकारण।

भावार्थ—योगोंकी प्रवृत्ति तो चौदहवें गुणस्थानके अन्ततक विशेष पाई जाती है, जिससे हिंसाका होना (श्वासोच्छ्वासादिसे जीवघात होना) कल्पनामें आ सकता है, परन्तु सिद्धान्त में ऐसी बात नहीं मानी व कही गई है, कारणकि वहाँ कषायके न होनेसे सब कल्पना व्यर्थ हो जाती है अर्थात् वहाँ रंचमात्र हिंसा नहीं होती। वहाँ पर योगोंसे कर्माकर्षण मात्र होता है किन्तु विना कषायके स्थिति-अनुभागरूप बन्धन नहीं होता, अतः हानि नहीं होती।

जले जन्तुः थले जन्तुः आकाशे जन्तुरेव च
जंतुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः[1] ?—राजवार्तिक।

इसका उत्तर यही दिया गया है कि कषायभावोंके विना जीवोंसे भरे इस लोकमें विहार करते हुए भी भिक्षु या साधुके हिंसा नहीं होती इत्यादि। अतएव विना इच्छा या कषायके प्रवृत्ति-जन्य हिंसा किसी जीवके नहीं होती, चाहे दृश्यमान किसी जीवका विघात क्यों न हो जाय, यह विशेषता है। सब दारोमदार (निर्भरता) कषायों पर ही है, किम्बहुना। अतः कषायोंका त्याग करना अनिवार्य है। श्री उमा स्वामी आचार्यने तभी तो 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' ऐसा सूत्र लिखा है, केवल प्राणव्यपरोपण नहीं लिखा है अन्यथा वीतरागी साधुके कदाचित् अतिव्याप्ति दूषण आजाता जो अलक्ष्य है। प्रमाद शब्दका अर्थ तीव्रकषायका होना है सो वहाँ कषाय नाममात्रकी नहीं रहती यह तात्पर्य है। वाह्य द्रव्यहिंसासे ही मतलब नहीं है असली मतलब भावहिंसासे है ॥४५॥

इसीकी पुष्टिमें आगेका श्लोक भी लिखा जाता है

व्युत्थाना[2]वस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६॥

पद्य

रागादिकके तीव्र उदयमें जीव प्रमादी हो जाता।
खबर नहीं रहती हैं उसको पागल जैसा बन जाता॥
जीव मरें या नहीं मरें पर, निज स्वभाव घाता जाता।
हिंसा पाप वहीं है निश्चय, उसका त्याग किया जाता॥४६॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [रागादीनां वशप्रवृत्तायां व्युत्थानावस्थायाम्] रागादि-कषायोंके तीव्र उदयमें (वेगमें) जीवोंकी प्रमाद अवस्था (विवेकरहित दशा) हो जाती है उस

---

१. जलथल नभमें सर्वत्र जीव भरे हैं जब हिंसा नहीं बचा सकती फिर साधु अहिंसाव्रती कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता इत्यादि प्रश्न है। उसका उत्तर भी दिया है कि भावोंके अनुसार सब होता है।

२. असावधानदशा (विवेक रहित चित्तवृत्ति) होश-हवाश रहित मदोन्मत्त जैसी हालत। प्रमाददशा।

समय [जीवो म्रियतां व मा म्रियतां हिंसा अग्रे ध्रुवं धावति] चाहे अन्य जीव मरें या न मरें परन्तु निजकी हिंसा तो नियमसे आगे २ होती ही है। अर्थात् पहिले अपने स्वभावका घात होनेसे हिंसा टल—वच नहीं सकती, जो यथार्थ वस्तु है ।।४६।।

भावार्थ—हिंसाके प्रकरणमें केवल द्रव्यहिंसाकी मुख्यता नहीं की जाती, न यहाँपर की गई है। हाँ, लोकव्यवहारमें बराबर द्रव्यहिंसाको मुख्यता या प्रधानता दी जाती है, जो उपचार है। क्योंकि परजीवोंका घात विना उसकी आयु पूर्ण हुए कोई कर ही नहीं सकता, तव वह पापी कैसा ? वह तो खाली निमित्तमात्र है, सो कोई-न-कोई निमित्त मिल ही जाता है। ऐसी अवस्थामें अतिव्याप्ति या अव्याप्ति दूषण, नहीं वन सकते जवतक कि द्रव्य प्राणोंका घात वीचमें न हो या न किया जाय इत्यादि। अतएव हिंसाका लक्षण भावहिंसापरक है, द्रव्यहिंसापरक नहीं है, कारण कि वह पराश्रित होनेसे उपचारमात्र कथन ठहरता है। इसके सिवाय क्रोधादिक करनेसे तुरन्त ही पर जीवका मरण नहीं हो जाता, तव हिंसा काहे की ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। फलतः स्वाश्रित भावरूप हिंसा ही यहाँ ग्रहण या स्वीकार करना है इत्यादि निर्विवाद जानना। हिंसा या घात दो तरहका होता है (१) आत्मघात, (२) परघात, सो यहाँपर अपने स्वभावका घात होना ही इष्ट है, किम्वहुना। अन्य या परघात इष्ट नहीं है। प्रमाद अवस्थामें जीव सावधानीसे कार्य नहीं करता यद्वा-तद्वा करता है, उस समय चाहे कोई अन्य जीव नहीं भी मरे तो भी उसके तीव्र कषायरूप प्रमादके सद्भावमें अपनी 'भावहिंसा' तो होगी ही—वह वच नहीं सकती अर्थात् उसके स्वभावभावका घात होना निश्चित है। उक्तं च प्रवचनसारे—मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि वन्धो हिंसामेत्तेण समिदीसु ।।२१७।।४६।।

इसीका खुलासा आगे किया जाता है—

निश्चयहिंसा (स्वाश्रित)

यस्मात् सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ।।४७।।

पद्य

जीव कषाय सहित जव होता, प्रथम घात अपना करता।
पीछे होय न होय अन्यका घात उसीसे नहिं फसता ।।
जब कषाय होती आत्मा में 'भाव प्राण' घाता जाता।
तत्क्षण वह फल मिलत उसीको जो कषायभाव हि करता ।।४७।।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यस्मात् आत्मा सकषायः सन् प्रथमं आत्मानं आत्मना हन्ति] जब यह आत्मा कषाय भाव सहित होता है तब वह पहिले स्वयं अपना ही घात करता है, अन्यसे प्रयोजन नहीं रखता अर्थात् उसकी प्रतीक्षा नहीं करता। इसी कारण (हेतु) से [तु पश्चात्

प्राण्यन्तराणां हिंसा जायेत न वा इति] आचार्य कहते हैं कि कषायभाव होनेके पश्चात् यदि दूसरे जीवोंका घात हो या न हो, उससे हिंसा पाप नहीं लगता, उसका फल उन्हींको लगेगा, जैसे उनके कषायभाव होंगे इत्यादि निर्धार किया गया है। अपने भावप्राणोंका घात होना ही यथार्थमें हिंसा है जो स्वाधीन है ॥४७॥

भावार्थ—कषायका अर्थ कसनेवाला या बाँधनेवाला होता है। अथवा आत्माको उकीरनेवाला या जुताईकी तरह गड्ढा करनेवाला (छेद करनेवाला) या कर्म बीजको उत्पन्न करनेके योग्य बनानेवाला होता है अतएव वह विकार है हानिकारक है। उससे उसी समय जीवके स्वभाव का घात होता है, अन्य समय नहीं, उसके पश्चात् कर्मबन्धन आदिका फल मिलता है। इस तरह शृंखला चालू हो जाती है। यही विडम्बना है—यही आद्य हिंसा है। दूसरे जीवोंका घात होना न होना हमारे या किसीके वशका नहीं है, वह उसकी आयुके संयोग-वियोगके आधीन है, जब जो होना होगा तभी होगा आगे-पीछे नहीं, यह नियम है। यह सब निश्चयनयकी कथनी है, इसमें भूल नहीं होना चाहिये। इसके विपरीत व्यवहार दृष्टिके समय, अन्य जीवके घात हो जानेको हिंसा मानना व कहना या करना, मह भी सत्य है; कारण कि वह पराश्रित है—परका आश्रय या सहारा लेकर काम चलाता हैं—लोकयात्रा (लोकनिर्वाह) करता है। और यह सनातनी रीति है कोई सर्वथा नई वात नहीं है, जनपद सत्य है। उससे जीवरक्षा या दयारूप व्यवहार धर्म होता या पलता है जो न्यायके अनुसार 'लोकव्यवहार' या लोकाचारमें सत्य ही माना जाता है। जैसा चल पड़ा सो चल पड़ा, उसमें विवाद नहीं होता, वह भी एक अपेक्षा है।

लोकव्यवहारमें अन्य जीवोंके घात करनेको ही (परघातको ही) हिंसा माना जाता है जब कि निश्चयमें अपने खुदके स्वभावभावोंके घात करनेको हिंसा माना व कहा जाता है, इस तरह महदन्तर है तथापि निमित्तनैमित्तिक दृष्टि रखकर कथंचित् संगति बैठा ली जाती हैं, अतएव दोनों वर्जनीय हैं। कषायका उत्पन्न होना और उसकी पूर्ति करना दोनों अपराध हैं। कारण कि जबतक पूर्ति नहीं हो जाती, तबतक आकुलता–चिन्ता बनी रहती है, उससे क्षण-क्षण आस्रव व वन्ध होता है, और पूर्ति हो जानेपर इष्टानिष्ट विकल्प उठते हैं, उनमें रागद्वेषादि या हर्ष-विषादादि भाव होते हैं, तब पुनः आस्रवादि होते हैं, इत्यादि परम्परा चलनेसे जीव निरपराध नहीं हो सकता। अतएव निरपराध होनेका यही एक उपाय है कि वह कषाय भावोंका त्याग कर देवे इत्यादि। अर्थात् पराश्रित व्यवहार या व्यवहारधर्म (शुभ रागरूप या करुणा भक्तिरूप) का अभाव होनेपर, एवं स्वाश्रितधर्म (वीतरागता) के प्रकट होनेपर ही सारी झंझटें छूट सकती हैं, जो अनादिसे संयोगी पर्यायमें हो रही हैं, अन्यथा नहीं, यह कटु सत्य है—खरा या निश्चय कथन है। इसीसे इसको ही अन्तमें उपादेय बतलाया है तथा व्यवहारको हेय बतलाया गया है। हीन दशाके समय ही कथंचित् अपेक्षासे व्यवहारको उपादेय वतलाया गया है, परन्तु शर्तके साथ बताया है। अर्थात् उसको वह अरुचिपूर्वक बलात्कारसे बिगारीकी तरह उपादेय मानता है या मानना चाहिये, तभी कल्याण होगा ॥४७॥

आचार्य दूसरी तरहसे स्वाश्रित हिंसाका लक्षण वतलाते हैं (रुचि व ग्रहणरूप दो भेद)

हिंसायामविरमणं[1] हिंसापरिणमनमपि[2] भवति हिंसा ।
तस्मात् प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४८॥

पद्य

हिंसासे निवृत्त[3] न होना, हिंसारूप एक जानो।
हिंसामें संलग्न[4] जु होना, हिंसारूप द्वितिय मानो ॥
दोनों रूप प्रमादयोगमें रहते हैं यह ध्रुव जानो ।
प्राणघात निजपरका होता यह उरमें[5] तुम सरधानो ॥४८॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हिंसायामविरमणं अपि हिंसापरिणमनं हिंसा भवति] हिंसा करनेका त्याग नहीं करना अर्थात् हिंसासे अरुचि नहीं करना (रखना) और हिंसामें जव तव प्रवृत्ति करना, ये दो रूप हिंसाके होते हैं (अनिवृत्तिरूप व प्रवृत्तिरूप) [तस्मात्] इसलिये [प्रमत्तयोगे] प्रमाददशामें [नित्यं प्राणव्यपरोपणं भवति] हमेशा अपने और अन्य जीवोंके प्राणोंका घात हुआ करता है यह पक्का है। अतएव प्रमाद वड़ा प्रवल व वुरा शत्रु है, उसे त्याग देना चाहिए ॥ ४८ ॥

भावार्थ—आचार्य महाराजने अपना ध्यान हिंसा अहिंसा के विषयमें केन्द्रित करके अपूर्व प्रकाश डाला है, जो ध्यान रखनेके लायक है। इस ग्रन्थकी अपूर्वता इसीसे जाहिर होती है। वास्तव में जवतक किसी कार्यसे अरुचि न हो और न उसका त्याग किया जाय तवतक अपराध नहीं छूटता—लगता ही रहता है। फलतः अपराध छूटनेके दो ही मुख्य उपाय हैं (१) अरुचि करना (विरक्ति या वैराग्यका होना) (२) यथाशक्ति त्याग करना (सम्वन्ध विच्छेद करना), वस ऐसा होना ही संसारसे छूटनेकी निशानी है। प्रारम्भमें सम्यग्दृष्टिके यही सव हुआ करता है, जिससे वह मोक्षमार्गी वनता। इसके विपरीत जिसके उक्त दो कार्य न हों उसको संसारमार्गी समझना चाहिये। विना अरुचिके व त्यागके यदि प्रवृत्ति न भी हो तो भी वह अपराधी रहा करता है कारण कि मनमें या भावोंमें[6] प्रतिज्ञा न होनेसे, कोई पतयावरा नहीं रहता कि यह कव क्या कर डाले, इत्यादि खतरा वना रहता है। इससे शक व सन्देह मिटानेके लिए (धोखा न देनेके

१. विरक्ति या निवृत्तिका नहीं होना।
२. हिंसामें प्रवृत्तिका होना।
३. हृदय या चित्त।
४. त्याग नहीं होना।
५. प्रवृत्ति होना।
६. चित्त या हृदय।

लिए) स्पष्ट वैराग्य व प्रतिज्ञा (त्याग) करना ही चाहिये। तभी कल्याण (भलाई) होना संभव है, अन्यथा नहीं, ऐसा खुलासा जानना। लेकिन यह कार्य सब पक्की नींवके साथ होना चाहिए, किम्वहुना।

रुचि या रागको छोड़ना (अरुचि करना) सर्पको भगानेके समान है और परद्रव्यका त्याग करना वामीको मिटानेके समान है। अतएव दोनोंके अभाव हो जानेपर ही आत्मा निर्भय और स्थिर होता है व सुखका अनुभव करता है। फलतः आत्मा वलवान् है, अतः उसको पुरुषार्थ वनाम वलका प्रयोग करना ही चाहिए, वली जीव कभी निर्वल बनके जीवन नहीं बिता सकता वह अपने वलका प्रदर्शन हर तरहसे करता है। यदि वली होकर कोई जीव पुरुषार्थ न करे तो मानो वह अपने वलको लजा रहा है वह कायर और संसारी है। अतएव पुरुषार्थरहित (पुरुषार्थ-हीन) कभी नहीं होना चाहिए यह उपदेश है, वह भी उत्तम पुरुषार्थ करे, यह ज्ञानीका कर्त्तव्य है इत्यादि। पुरुषार्थ करनेका भाव (कषाय) संयोगी पर्यायमें स्वयं होता है—, कर्मधारा वहती है) परन्तु उस समय भी वह ज्ञानदृष्टि रखता है। अतएव पुरुषार्थको वह साध्यकी सिद्धिमें निमित्त कारण ही समझता है, उपादान कारण नहीं समझता। इसके सिवाय पुरुषार्थ करनेसे एकान्तदृष्टि (अकेले उपादान पर ही निर्भरता) नष्ट हो जाती है अर्थात् अनेकान्तदृष्टि सिद्ध होती है कि उपादान व निमित्त दोनों कारण कार्यकी सिद्धिमें आवश्यक होते हैं, एक कारण नहीं इत्यादि ॥४८॥

आचार्य निश्चयनय और व्यवहारनयसे हिंसा व अहिंसाका निर्धार करते हैं।
(अन्तिम निष्कर्ष)

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबंधना[1] भवति पुंसः।
हिंसायतन[2]निवृत्तिः[3] परिणामविशुद्धये[4] तदपि कार्या ॥४९॥

पद्य

परजीवोंके घातमात्रसे, हिंसा रंच न लगती है।
हिंसा होती आत्मघात से निश्चय नय बतलाती है॥
फिर भी शुभभावों के हेतु, पर हिंसाको तजना है।
त्याग आयतन दया जु करना, अहिंसा व्यवहर पलना है ॥४९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [खलु पुंसः परवस्तुनिवन्धना सूक्ष्मापि हिंसा न भवति] निश्चयनय से जीव (आत्मा) को परपदार्थके निमित्तसे अर्थात् उसके विघात (हानि या क्षय)

---

१. निमित्त या सम्वन्धसे।
२. अधिकरण या आधार, जिसकी हिंसा होती है वह वस्तु (हिंस्य)।
३. त्यागना-बचाना-रक्षा करना।
४. शुभ परिणाम या परिणतिके लिए। दयाभावके लिए।

होनेसे रंचमात्र (थोड़ी भी) हिंसा या हिंसाका पाप नहीं होता या नहीं लगता ऐसा सिद्धान्त है [तदपि परिणामविशुद्धये हिंसायतननिवृत्तिः कार्या] तथापि (तो भी) परिणामोंकी निर्मलताके अर्थ (शुभ परिणतिके लिए) हिंसाके निमित्तों (आधारों-स्थानों) का त्याग करना अर्थात् उनसे दूर रहना—सम्बन्ध विच्छेद करना या उन्हें नहीं सताना, नहीं मारना, उनका बचाव रखना, यह भी कर्त्तव्य है (अनिवार्य व उचित है) इत्यादि ॥४९॥

भावार्थ--पदार्थ या वस्तुका विवेचन (कथन-निरूपण) दो तरहसे होता है (१) निश्चय-नयसे (२) व्यवहारनयसे, अथवा सामान्यरूपसे व विशेषरूपसे । तदनुसार आचार्य महाराज हिंसा पापके विषयमें पहिले निश्चयनय (अशुद्ध निश्चय) की अपेक्षासे खुलासा (निर्धार) करते हैं क्योंकि प्राणी उसीमें बहुधा भूले हुए हैं (भ्रममें पड़ रहे हैं) । हिंसा दो तरहकी होती है (१) स्वाश्रित या स्वकीय हिंसा (२) पराश्रित या परकीय हिंसा । उनमेंसे आचार्यने ऊपरकी लाइन (श्लोकको पहिली पंक्ति या लकीर) में स्वाश्रित (निश्चय) हिंसाका प्रदर्शन किया है और दूसरी लाइनमें पराश्रित (व्यवहारी) हिंसाका प्रदर्शन किया है, अतएव उसीका स्पष्टी-करण किया जाता है उसको यथार्थ समझना चाहिए जिससे सब भ्रम मिट जायगा इत्यादि ।

हिंसाका लक्षण—आगम[1]शास्त्रोंमें प्राणोंका घात (वध-क्षय-मरण-हत्या आदि) होना हिंसा बतलाया गया है अर्थात् हिंसाका लक्षण प्राणोंका घात होना है, जो सामान्य है। उसमें भाव प्राण व द्रव्यप्राण दोनों गर्भित हो जाते हैं, अथवा अन्तरंग और बहिरंग सब शामिल हो जाते हैं। तदनुसार निश्चयनयसे अपने (स्वाश्रित) भावप्राणोंका घात होना अर्थात् जीवके स्वभावप्राण (ज्ञान-दर्शन आदि) का घात होता 'हिंसा' कहलाती है, कारणकि उसीका फूल जीवको मिलता है अर्थात् उसी के अनुसार बंध होता है और सुख दुःख, आदि भोगना पड़ता है, तथा वैसी सामग्री मिलती है (इष्ट अनिष्ट द्रव्य क्षेत्र कालका संयोग वियोग होता है) इत्यादि ।

नोट—यहाँ पर प्राण, परिणाम, भाव, स्वभाव, सबका एक ही अर्थ है ऐसा समझना चाहिए। तदनुसार परि[2]णाम ही बंधके निमित्तकारण बतलाये गये हैं। जैसे परिणाम होते हैं वैसा ही फल लगता है अस्तु, सभी द्रव्यें अपने-अपने भावोंकी जिम्मेवार हैं, कोई किसीके भावोंकी नहीं यह सिद्धान्त है ।

ऐसी स्थितिमें अपने भावरूप प्राणोंका या स्वभावभावका घात होनेसे ही हिंसा होती है या हिंसा पाप जीवको लगता है, उसीका वह संयोगी पर्यायमें स्वामी कर्त्ता या भोगता है किन्तु अन्यका अर्थात् परजीव आदिके घातनेका इरादा या संकल्प या भाव (परिणाम) न होने पर

---

१. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा । —तत्त्वार्थसूत्र ॥७-१३॥

२. परिणामेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः, तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च कर्त्तव्यः ॥२३॥

—आत्मानुशासन, गुणभद्राचार्य ।

रागद्वेषनिवृत्तेः हिंसादिनिवर्तना कृता भवति । अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥४८॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार ।

यदि उसका किसी कारणवश विघात (मरण) हो जाय तो वह उसका हिंसक या हिंसाका भागी स्वामी कर्त्ता या भोक्ता नहीं है न हो सकता है ऐसा न्याय है, असली निर्धार है। इसी लिये निश्चयनय (न्याय) से, अनिच्छुक या अभिप्राय रहित असंकल्पी जीव, उस हिंसा (प्राणघातरूप-द्रव्य हिंसा) का अपराधी या सजावार नहीं हो सकता यह तात्पर्य है। हाँ वही जीव उस दशामें या उस समय अपराधी हो सकता है या होता है जबकि वह किसी जीवको मारने (घातने) का इरादा या संकल्प या विभाव भाव, (विकारी परिणाम) रखता हो। चाहे वह जीव न मर सके तौभी वह अपराधी पापका भागी अवश्य होगा, कारणकि परिणाम ही बंधके कारण होते हैं, खाली क्रिया (भाव बिना क्रिया) बंधका कारण या फलदात्री नहीं होती, निश्चयमें भावही मुख्य है, क्रिया नहीं है तथा दूसरे का पाप पुण्य या हिंसा अहिंसा दूसरेको नहीं लगती, अपना अपना ही भोगना पड़ता है जैसे उसके भाव हों। परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध अवश्य रहता है इति।

आशंका और उत्तर—यहाँ यदि यह आशंका की जाय कि जब निश्चयनयसे पर जीव घात होने पर (परजीवके मरण होने पर) हिंसा नहीं होती अर्थात् हिंसा का पाप, जिसके द्वारा परजीव मरा है, उसको नहीं लगता। तब तो फिर जीव हिंसाका त्याग करना व्यर्थ है ? अर्थात् परजीवोंकी रक्षा या दया नहीं करना चाहिये वह निष्फल है ? इसका उत्तर आचार्य, व्यवहारनयसे देते हैं कि—परिणामोंकी विशुद्धि[१] के लिये अर्थात् निर्मलता (अशुभसे निवृत्ति) या वीतरागताके लिये, बाह्य निमित्तोंका भी त्याग करना जरूरी है। बाह्यनिमित्तोंके त्यागसे अर्थात् जीवादि परिग्रहोंको छोड़ देनेसे न राग-द्वेष होगा, न हिंसा-अहिंसाका विकल्प होगा, जिससे कोई बंध या अपराध होना असंभव है (पूर्ण वीतरागता प्राप्त होने पर संयोगी पर्यायमें भी कुछ नहीं होता यह लाभ होता है)। फलतः जिन (व्यापारादि) से हिंसा होनेकी संभावना हो उनका त्याग करना या उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करना भी उचित ही है या कर्त्तव्य है।

अथवा

गृहस्थाश्रममें रहते हुए परिणामोंकी विशुद्धि (शुभ राग व शुभ प्रवृत्ति) के लिये पर जीवोंकी दया या रक्षा करना कर्त्तव्य है। उससे पाप प्रवृत्ति व अशुभ राग छूट जाता है, तब जीवकी रक्षा (पाप बंधसे) होती है, जिससे पुण्यका बंधरूप व्यवहारधर्म होता है। गृहस्थाश्रममें सदाचारका पालना, पुण्य कार्य करना ही धर्मकी निशानी है। देव पूजादि सब पुण्य कार्य या धर्म कार्य माने जाते हैं। 'दया धर्मका मूल है, यह कहा भी जाता है। फलतः स्वजीव और पर

---

१. भावविसुद्धिनिमित्त बाहिर संगस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरसंगजुत्तस्स ॥३॥ —भावपाहुड कुन्दकुन्दाचार्य
भावोंकी विशुद्धताके लिए बाह्य परिग्रहका त्याग करना चाहिए किन्तु बिना अन्तरंग परिग्रहके छूटे बाह्य त्याग निष्फल हैं अतः दोनों त्याज्य हैं।

जीवकी रक्षा करना धर्म है, यह सिद्ध होता है। इस तरह संक्षेपमें पूर्व आशंकाका उत्तर समझ लेना चाहिये।

उपसंहार

सारांश—वीतरागता या शुद्धोपयोग तो सर्वोत्कृष्ट उपादेय (ग्राह्य) है ही, अतः उसका प्रयत्न तो करना ही चाहिये, जिससे राग द्वेषादिजन्य व प्रवृत्तिजन्य हिंसा न हो अर्थात् 'अहिंसा परम धर्म' या निश्चय धर्म, प्राप्त हो—और उससे मोक्ष प्राप्त हो, क्योंकि वही मोक्षका मार्ग है जो रत्नत्रयरूप (सम्यग्दर्शनादिरूप) है। किन्तु जब उससे परिणामच्युत हो (स्थिर न रह सके) तब परिणामको शुभरागमें लगाना भी उचित है—अर्थात् गिरती अवस्थामें वही लाभकर है, क्योंकि अशुभ विषयकषायसे वह बच जाता है (पुण्यका) बंध होता है पापका बंध नहीं होता, इत्यादि। यतः भूमिकानुसार सभी कार्य हुआ करते हैं ऐसा वस्तु स्वभाव है। व्यवहार हेय है और निश्चय उपादेय है ऐसा बोध (ज्ञान) और भावना (रुचि) सम्यग्दर्शनके प्राप्त होने पर ही होती है[1] ॥ ४९ ॥

पूर्व श्लोकमें निश्चयकी मुख्यता व उपादेयता तथा व्यवहारकी गौणता व हेयताका कथन किया गया है, परन्तु प्रश्न उठता है कि वह कब और कैसे संभव है या प्रभावशाली (कामयाब) हो सकता है? इसका संक्षेपमें उत्तर दिया जाता है कि ज्ञान सहित उनका उपयोग करनेसे (तद्रूप वरतनेसे) लाभ हो सकता है अन्यथा नहीं। अर्थात् पेश्तर स्वरूप जानकर अपनानेसे लाभ हो सकता है।

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः ॥ ५० ॥

पद्य

निश्चयका नहिं ज्ञान जिसे पर निश्चयधारी मानत है।
वह अज्ञानी और आलसी जगमें हँसी करावत है ॥
मोक्ष नहीं मिलता है उसको—शुद्ध बुद्ध चिल्लाता है।
निश्चय व्यवहारज्ञान होय जब मोक्ष महापद पाता है ॥ ५० ॥

केवल क्रियाकांडको तजना अरु निश्चलसा हो जाना।
मौनधारकर आँख मींचना भोजन पान रुचि करना ॥

---

१. सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं, त्याज्यं यदुक्तं जिनैः, तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं, शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥ १७३ ॥
—समयसारकलश।

नहिं व्यवहार छोड़ना वह है, निश्चयरूप न वह माना।
भ्रममें पड़कर भूल यथारथ नकली स्वांग स्वयं धरना ॥ ५० ॥

अन्वय अर्थ—[यः] जो कोई अज्ञानी मुमुक्षुजीव [निश्चयत निश्चयमबुध्यमानः] निश्चयसे (यथार्थतः) निश्चयके स्वरूपको तो जानता नहीं, (अनभिज्ञ है) परन्तु [तमेव संश्रयते] निश्चय में ही रुचि रखता है और उसीके पालनेकी प्रतिज्ञा भी करता है [सः] वह जीव निश्चयके स्वरूप को विना समझे [बहिः करणचरणं नाशयति] बाहिर इन्द्रियोंके व्यापार (क्रियाकांड—इन्द्रिय संयम पालनेरूप) को व्यवहार जानकर छोड़ देता है, (बन्द कर देता है और निश्चयधारी अपने को मान लेता है) ऐसा जीव [करणालसो बालः—भवति] इन्द्रिय व्यापार रहित महा प्रमादी (आलसी) और अज्ञानी (मूर्ख) माना जाता या समझा जाता है—मोक्षमार्गी नहीं हो सकता ॥ ५० ॥

भावार्थ—जिस अज्ञानीजीवने ऐसी रुचि की, कि निश्चय उपादेय या ग्राह्य है तथा व्यवहार हेय (अग्राह्य-त्याज्य) है, क्योंकि निश्चयके आलम्बनसे ही मोक्ष होता है, व्यवहारके आलम्बनसे मोक्ष नहीं होता, ऐसी धारणा या प्रतिज्ञा मात्र करके, तथा निश्चय और व्यवहारके स्वरूपका वास्तविक स्वयं ज्ञान हुए विना ही, खाली दूसरोंके कहने सुनने मात्रसे, ऐसा मानता है कि मेरा आत्मा निश्चयसे शुद्ध है—मुक्त है इत्यादि। फलतः ऐसी स्थितिमें हिंसादिको छोड़ना—संयमादिको धारण करना, पापसे डरना, कष्ट सहन करना अन्यथा सिद्ध है (निरर्थक है) वे कोई साधक बाधक नहीं है। खाना पीना मौज उड़ाना यही जीवनका कर्त्तव्य है, सो करते रहना चाहिये, क्योंकि आत्मा तो मुक्त है ही, उसको अमुक्त या बद्ध कोई कर ही नहीं सकता, फिर डर काहेका इत्यादि, एकान्त वह धारण करता है। उसका खंडन निम्न प्रकार आचार्य करते हैं कि—

निश्चय और व्यवहारके स्वरूपका ज्ञान हुए विना) सब ऊटपटांग है, मन गढन्त (निराधार) विचार व कार्य है। देखो निश्चय और व्यवहार दोनों, पदार्थके स्वरूप हैं पदार्थ (वस्तु) की पर्याय हैं तथा उनको जानने वाली निश्चय और व्यवहार दो नयें हैं जो ज्ञानके भेद हैं, अर्थात् निश्चय व्यवहार (ज्ञेय) के ज्ञायक दोनों नयें हैं। तदनुसार पेश्तर अर्थात् प्रयोग या उपयोग करने के पूर्व, निश्चय और व्यवहारका स्वरूप जानना अनिवार्य है। क्या निश्चय है, क्या व्यवहार है, इसकी भावभासना स्वयं होना दरकार है (आवश्यक है)। तभी इष्टसिद्धि (साध्यसिद्धि) हो सकती है, अन्यथा नहीं, यह सत्य है।

(१) निश्चय, पदार्थके शुद्धस्वरूपको कहते हैं, जो परसे भिन्न और अपने गुण स्वभावसे सदैव रहता है।[1] उसको यथार्थ जानना निश्चय ज्ञान व निश्चयनय कहलाता है। ऐसा ज्ञाता जीव ही निश्चयज्ञानी तथा निश्चयावलम्बी हो सकता है, दूसरा कोई अज्ञानी वैसा नहीं हो सकता।

---

१. पदार्थ (वस्तु) में एकत्वविभक्त रूपता व स्वाधीनताका रहना निश्चयका रूप है तथा शुद्धता है। पदार्थमें परके साथ संयोग रूपताका रहना व पराधीनताका होना व्यवहारका रूप है तथा अशुद्धता है।

जैसे कि क्रियाको करना व्यवहार है और उसको वन्द कर देना (छोड़ देना निश्चय है, ये दोनों गलत धारणाएँ हैं। किन्तु वस्तुका (आत्माका) शुद्ध स्वरूप उपादेय है, यह निश्चय है और अशुद्ध स्वरूप हेय है, यह निश्चय है। तथा अशुद्ध स्वरूप उपादेय है अवलम्बनीय है यह व्यवहार (अभूतार्थ) है। क्रिया निश्चय व्यवहाररूप नहीं है, भाव हैं इति।

(२) व्यवहार, पदार्थके अशुद्ध (संयोगी पर्याय सहित) स्वरूपको कहते हैं। उसको ही यथार्थ (सत्य) जानना व्यवहारनय कहलाता है। जो है तो अशुद्ध ज्ञान और हेय, किन्तु कथंचित् (संयोगदशामें व हीनदशामें) उपादेय भी है। तदनुसार ज्ञानी जीव योग्यताके अनुसार प्रवर्त्तता है अर्थात् सत्यको जानता हुआ व्यवहार (असत्य) को छोड़ता है, अथवा विपरीत धारणा (श्रद्धा) को निकालता है किन्तु वाहिरी क्रिया कांडको वह न व्यवहार समझता है न, उसके छोड़नेको निश्चय समझता है, न उसको इकदम छोड़ता है, वह तो वस्तुका परिणमन है जो होगा ही। हाँ उसका आश्रय लेना, अर्थात् उसके द्वारा मेरा अपना कार्य सिद्ध होना मानना मिथ्या है। क्योंकि वे सव निमित्त कारण हैं जो हमेशा सहायक माने जाते हैं--उत्पादक या परके कर्त्ता नहीं माने जाते, यह सिद्धान्त है। फलत: अपेक्षासे भेदज्ञानको भी व्यवहारज्ञान कहा जाता है, और जव वही निर्भेद या निर्विकल्परूप हो जाता है तव उसीका नाम निश्चय ज्ञान पड़ जाता है। अतएव भेद ज्ञान रूप व्यवहार ज्ञान भी सम्यग्दृष्टि जीवको प्रारंभमें कथंचित् उपादेय है सर्वथा नहीं है। इसके विपरीत परके साथ (संयोगावस्थामें) एकता या अभिन्नता बताने वाला (मनवानेवाला) ज्ञान व्यवहारज्ञान या मिथ्याज्ञान अभूतार्थ ज्ञान, कहलाता है जो हेय ही है। किन्तु भेदज्ञानरूप अनुपचरित सद्भूतव्यबहारज्ञान या नयरूप (अंशरूप) ज्ञान (परस्पर सापेक्ष हों तो) कथंचित् उपादेय है ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार निश्चय और व्यवहारका ज्ञान हुए विना कभी भो निश्चयावलम्बो नहीं हो सकता, न उसका उद्धार ही हो सकता है यह सारांश है। यही इस श्लोकमें बतलाया गया है। निश्चय और व्यवहारको स्वयं समझे विना, अर्थात् भाव भासना या उनका स्वरूपज्ञान या अनुभव (स्वानुभव) न होते हुए, ऊपरी ऊपर (वाहिरसे या दूसरों के कहने आदिसे) नामादि जान लेनेसे कुछ लाभ नहीं होता, किन्तु जब स्वयंही उसकी आत्मामें सम्यक् ज्ञानका उदय अर्थात् भेदज्ञानका विकास (उजेला) होता है निश्चयावलंवी तभी वह स्वानुभवी होकर सम्यग्दृष्टि बनता है, और निश्चय व्यवहार की संगति व उपादेयता हेयता को भो समझता है, एवं निश्चय और व्यवहारका यथार्थ ज्ञान भी उसको होता है, तथा आत्मज्ञानी माना जाता है। फलत: समयसारकी गाथा नं० १२ की क्षेपकगाथा "जइ जिणमयं पविज्जइ, तामा ववहार णिच्छस-मुयह। एक्केणविणा छिज्जइ तित्थं, अण्णेणए उण तच्चं, के अनुसार सम्यग्ज्ञानी आत्मा का दशा होती है। अर्थात् वह अपनी योग्यतानुसार ही अपनी वुद्धिसे हमेशा कार्य करता है। साधक अवस्थामें रहते हुए वैसा हो शक्य व संभव है। सारांश—सम्यग्दृष्टि विवेको अनेकान्ती आत्मज्ञानी हो निश्चय व्यवहारका ज्ञाता हो सकता है, अन्य एकान्ती अनात्मज्ञानी, निश्चय-व्यवहारका ज्ञाता नहीं हो सकता यह नियम है। इसीलिए वह निश्चयको स्वाश्रित (स्वाधीन) मानता व जानता है, और व्यवहारको पराश्रित (पराधीन) मानता व जानता है। किन्तु क्रिया

कांडको जो कि शरीरादि परके अधीन है स्वाधीन व हितकारी नहीं समझना—मोक्षका साधक नहीं मानता, सिर्फ निमित्त मात्र मानता है। इसके सिवाय वह द्रव्यदृष्टि (निश्चयनय) से आत्माको सिद्ध समान शुद्ध (परसे भिन्न-रागादिरहित) मानता है और पर्याय दृष्टिसे अर्थात् संयोगी पर्यायके समय, आत्माको व्यवहारनयसे अशुद्ध भी मानता है, ऐसा निर्धार करता है, और अनादि की भूल मिटाता है। भूल मिटनेपर वह मोक्ष-मार्गी हो जाता है और भूल रहने तक वही संसार-मार्गी बना रहता है। अस्तु यह सब कथन संयोगी पर्यायमें रहनेवाले जीवोंकी अपेक्षासे है अर्थात् अशुद्ध व संसारस्थ जीवोंको यथार्थ ज्ञान करानेके लिए है, इतना मात्र प्रयोजन है। फलतः निश्चयका आलम्बन (ग्रहण) करना और व्यवहारका आलम्बन छोड़ना अनिवार्य है। निश्चयके आलम्बनसे सम्यग्दृष्टिके ऊपर (उसकी आत्मामें) बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है, अर्थात् संसार शरीर भोगादि सब परसे व उनके संयोगसे इकदम अरुचि करने लगता है व यथाशक्ति उनसे पृथक् भी होता है, अर्थात् उनका त्यागकर परिग्रह रहित वीतराग दिगंबर मुनि बनता है इत्यादि।

निश्चय और व्यवहार के भेद (प्रकार)

(क) निश्चय के दो भेद—(१) शुद्ध निश्चय, द्रव्यग अखंडता, पर से भिन्नतारूप, (२) अशुद्ध निश्चय, पर्यायगत, संयोग रहते हुए भी संयोगी पर्यायमें भिन्नतारूप, अर्थात् तादातम रहित अवस्था। यहाँ पर, परद्रव्यका संयोग होना अशुद्धता जानना और पराकर तादातमरूप न होकर पृथक् रहना, शुद्धतारूप निश्चय समझना चाहिए।

(ख) व्यवहार के भेद—(१) द्रव्यगत व्यवहार, अर्थात् अखंड द्रव्यमें भेद कल्पना करना इसीका नाम भेदाश्रित व्यवहार है। (२) पर्यायगत व्यवहार, अर्थात् पराश्रित व्यवहार व पर्यायाश्रित व्यवहार (भेद)। इसतरह भेदाश्रित, पराश्रित, पर्यायाश्रित ऐसे तीन तरहके व्यवहार शास्त्रों में कहे गये हैं। यहाँ पर आश्रित का अर्थ अधीन या अपेक्षा समझना और व्यवहार का अर्थ भेद समझना चाहिए इत्यादि।

(ग) पर्यायके भेद—(१) शुद्ध पर्याय, संयोगी पर्यायसे रहित द्रव्यकी स्वतंत्र पर्याय, अथवा रागादि विकार रहित शुद्ध पर्याय। (२) अशुद्ध पर्याय, अर्थात् परके संयोग सहित पर्याय, अथवा रागादिविकार सहित पर्याय, ऐसा जानना।

आचार्यका अन्तिम लक्ष्य (प्रयोजन)

मूलमें भूल मिटाने एवं आत्मोद्धार करने करानेका रहा है। सबसे बड़ी निश्चय व व्यवहार की भूल—मूल भूल—उसके मिटाये बिना संसारी जन यह समझ ही नहीं पाता कि यह संसार (शरीर धनादि) क्या है और इसका संबंध हमसे क्या है ? वह भूला हुआ जीव सभी संयोगी चीजोंको अपना मानता जानता है और उनमें एकत्व बुद्धि करके रागद्वेषादि विकारभाव किया करता है एवं उनके संयोग वियोग होने पर सुख दुःख मानता है, जिससे उसका संसार या परिभ्रमण और बढ़ता ही जाता है, घटता नहीं है, इत्यादि सब गलतीका फल है। आत्मा (जीव)

चेतन और शरीरादि जड़, इनकी एकता ता अभेद क्या कभी त्रिकाल में हो सकता है या कोई दूसरा शक्तिधारी भी इनको एक कर सकता है ? हरगिज नहीं। फिर भूलता क्यों है, यह आश्चर्य है। यह भूल या गलती तभी मिटती है, जब भेद ज्ञान जीव को हो, और निश्चय व्यवहार का ज्ञाता हो। वह भेद ज्ञानी, निश्चयनयके द्वारा सब पदार्थोंको अपनेसे तथा सबको सबसे त्रैकालिक भिन्न मानेगा जानेगा और व्यवहारनयसे सबका अपनेसे व परस्पर सबका संयोग सम्बन्ध मानेगा व उस अपेक्षासे कथंचित् अभेद भी मानेगा इस प्रकार तत्त्वनिर्णय और वैसा ही वर्ताव या आचरण भी करेगा, तब उसका उद्धार होगा, अन्यथा (विना यथार्थ जाने) नहीं होगा। उस दशाका प्रदर्शन या नमूना निम्न प्रकारका होता है।

> येषां भूषणमंगसंगतरजाः स्थानं शिलायास्तलं
> शय्या शर्करिला मही सुविहितं गेहं गुहा द्वीपिनाम्।
> आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुटयत्तमोग्रन्थयः
> ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहाः निस्पृहाः ॥२५९॥
>
> (आत्मानुशासन)

भावार्थ—मोक्षमार्गी साधुके अन्तरंग वहिरंग परिग्रहका त्याग, (निर्ग्रन्थगुणभद्राचार्यपना) सम्यग्दर्शन, निर्विकल्पता, ये तोन चोजें अवश्य होना चाहिये, ये पहिचानके चिह्न हैं या नमूना है। इसीका विवरण श्लोकमें जुदा २ बतलाया गया है।

अर्थ—जिनकी हमेशा यह वृत्ति (चर्या) रहती है कि हमेशा जंगलमें रहते हैं, शरीरमें मैल लगा रहता है जो उनका भूषण है। पत्थर या चट्टानें बैठने को हैं—वही आसन है। कंकरीली धरती सोने को है वही सेज्या है। चीते आदिकी गुफाओंमें रहते हैं वही घर है। हमारा व पराया विकल्प नहीं—निर्विकल्प या निश्चिन्त रहते हैं। अज्ञानांधकार (मिथ्यात्व) से रहित हैं—सम्यग्दृष्टि हैं। ज्ञान ही जिनके धन हैं मुक्ति स्त्रीकी जिनके लगन (दृष्टि) है, ऐसी अलौकिक मुद्राधारी सद्गुरु मोक्षमार्गी होते हैं उनको नमस्कार करते हैं वे आदरणीय हैं।

इनमें सबसे पहिले आवश्यकता किसकी है ?

इसका उत्तर—तत्त्वज्ञानकी है अर्थात् पहिले पदार्थ व उसके निश्चय व्यवहार स्वरूपको जानना व समझना जरूरी है, (सम्यग्ज्ञानका होना अनिवार्य है)। पश्चात् सम्यक्चारित्रका होना जरूरी है। किन्तु विना जाने समझे चारित्रको प्राप्त करना असम्भव है। जबतक सम्यक् ज्ञान न हो, तबतक क्या छोड़ेगा और क्या ग्रहण करेगा ? यह विचारणीय है। करनेपर मुख्य ध्यान देना गलती है क्योंकि जबतक भीतर कषायोंको विकार जानकर नहीं छोड़ा जाय, तथा अज्ञान (मिथ्यात्व) को विकार जानकर न हटाया जाय, तबतक ऊपरी त्यागसे क्या होता है ? कुछ नहीं, बेकार है। पेश्तर हिंसाको व अहिंसाको (चारित्र व अचारित्रको) समझो तब उसके लिये वैसा उद्यम (उपाय) करो, साधन मिलाओ तब लाभ होगा, अक्रम कार्य करना ठीक नहीं होता। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानको तो प्राप्त न करे और सम्यक् चारित्र प्राप्त करनेमें लग जाय, ऐसा क्रम

भंग कैसे हो सकता है ? तब वैसा उपाय करना मूर्खता है, तथा वह चारित्र नहीं है, किन्तु वह मिथ्याचारित्र या कुचारित्र कहलायगा, इत्यादि दोष (आपत्ति) आयगा। देखो अज्ञान व कषायके रहनेपर चारित्र नहीं होता, अतः सम्यग्दर्शनके विना तप महाव्रतादिका पालना सब मिथ्याचारित्र नाम पाता है। चारित्र पालनेका उद्देश्य कषाय भावोंको घटानेका है—वह निमित्त कारण है। तत्त्वज्ञानका अर्थ वस्तु स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होना है अर्थात् स्वरूप विपर्ययताका हटना है। जैसे कि आत्माका स्वरूप, जानना मात्र नहीं है क्योंकि जानना तो मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि सभी जीवोंके योग्यता (क्षयोपशम) के अनुसार होता ही है। तव उससे सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिकी पहिचान नहीं होती। जानना लक्षण त्रैकालिक नहीं है, जाग्रत अवस्थाका है—मत्त मूर्च्छित अवस्थाका नहीं है। ऐसी स्थितिमें आत्माके सच्चे स्वरूपको जानना ही आत्मतत्त्वका ज्ञान होना है तथा यही सम्यग्दृष्टि है उसका स्वरूप यह है कि जो अपनेको 'ज्ञानस्वरूपी समझे' कि मेरा स्वरूप ज्ञान या चैतन्य है अर्थात् ज्ञाता दृष्टा मात्र है तथा परसे भिन्नत्व भी है इत्यादि। एकत्व विभक्तके साथ ज्ञातृत्व भी होना या लगाना चाहिये। वस इसी स्वरूपमें मिथ्यादृष्टि भूला रहता है अर्थात् वह यह नहीं जानता कि 'मेरा स्वरूप, ज्ञान या चेतना रूप है, किन्तु वह अपने स्वरूपको संयोगरूप जानता मानता है कि मैं सव रूप हूँ या मेरे सव हैं इत्यादि अभेद रूप सवको जानता वही मिथ्यात्व है—: स्वरूपविपर्ययता है) मुख्य भूल यही है इत्यादि। यद्यपि उसके इनता अधिक क्षयोपशम है कि वह ११ ग्यारह अंग का ज्ञान 'हस्तामलकवत्, रखता है, तथापि उसके इस जाति का क्षयोपशम नहीं है कि वह अपने सच्चे स्वरूप (जो ज्ञानमय या ज्ञान को ज्ञानस्वरूप है) को समझ सके, यह न्यूनता रहती है। अतएव आदर व उपादेयता अपने को 'ज्ञानस्वरूप, समझने की है किम्वहुना तत्त्वज्ञान या निश्चय व्यवहार आदिका सम्यक् स्वरूपज्ञान, होना अनिवार्य है, तभी कोई निश्चयावलंवी या व्यवहारावलंवी सच्चे अर्थो (मायनों) में वन सकता है, शेष सव भ्रमणा है अस्तु ॥५०॥

ध्वन्यर्थ (विशेषार्थ)

श्लोकमें ४ चार वातें मुख्य हैं यथा 'निश्चयमवुध्यमानः, इससे अज्ञानी सिद्ध होता है तथा 'निश्चयतस्तमेव संश्रयते, इससे रागी सिद्ध होता है। एवं 'नाशयति करणचरणं, इससे द्वेषी सिद्ध होता हैं। तथा 'स वहिः करणालसः, इससे प्रमादी सिद्ध होता है। समुदाय रूपसे अज्ञानी-रागी द्वेषी-आलसी, जीव कभी अहिंसक नहीं हो सकता, न मोक्ष जा सकता है। किन्तु इससे विपरीत-ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) रागद्वेष रहित (वीतरागी) अप्रमादी जीव ही अहिंसक व मोक्षगामी होता है यह यह भाव निकलता है अस्तु ॥५०॥ (समयसारकलश १११ देखिये)

---

१. जो जानने देखने वाला हैं वही मैं हूं—दूसरे रूप मैं नहीं हूं, ऐसा निश्चय करना या होना ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानना है या सम्यग्दृष्टिका होना है। खाली दूसरोंको उपदेश देना या जानना ही आत्मज्ञानका हो जाना नहीं है अर्थात् उसको आत्मज्ञानी नहीं कहा जा सकता, यह तात्पर्य समझना चाहिए।

फलस्वरूप

निश्चयदृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्यात्
इत्युत्तानोत्पुलकवदनाः रागिणो ऽप्याचरन्ति ।
न हि सिध्यन्ति ज्ञानशून्याः ते हि अत्यन्तपापाः
निश्चयव्यवहारज्ञानरहिताः वावदूकाः वराकाः ॥ इति ॥

आचार्य कहते हैं कि सिर्फ बाह्य व्यापार क्रियाकांडके छोड़ 'देने मात्रसे कोई निश्चययावलंबी और शुद्ध अहिंसक (धर्मात्मा) नहीं हो सकता। क्योंकि उसके विरुद्ध फल (कार्य) को देखनेमें आता है। यथा—

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥५१॥

पद्य

हिंसाक्रिया न करने पर भी, कोई हिंसा फल पाता ।
कोई हिंसा करने पर भी, हिंसा फलको नहिं पाता ॥
फल मिलता परिणामों से है नहीं क्रियासे फल मिलता ।
है व्यभिचार क्रिया के साथ ही, नहि परिणाम व्याप्ति[1] खोता ॥५१॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [एकः हि हिंसा अविधायापि हिंसाफलभाजनं भवति] निश्चयसे ऐसा होता व देखा जाता है कि हिंसा क्रिया (परजीवका घात) न करने पर भी, अर्थात् बाह्य प्रवृत्ति बन्द कर देने पर भी कोई हिंसाका फल भोगता है अर्थात् विना किये फल या दंड पाता है (इसका कारण जीवके भाव हैं) तथा [अपरः हिंसा कृत्वा हिंसा फलभाजनं न स्यात्] कोई जीव ऐसा होता है कि हिंसा करके भी (परजीवका घात करके भी) हिंसाके फलको नहीं पाता, अर्थात् उसके दंडको नहीं भोगता (नरकनिगोदादि पर्याय नहीं पाता)। इसका कारण भी जहाँ जीवके परिणाम ही हैं, क्रिया नहीं है। फलतः जहाँ सर्वोत्कृष्ट 'अहिंसा पाई जाती है। धर्म, है जिसमें जीव-हिंसा व विषय-कषायको पुष्टि नहीं। शेष सब अधर्म है ॥५१॥

भावार्थ—हिंसा व अहिंसा निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो तरहकी होती है व्यवहारमें हिंसा, परजीवके प्राणघात होनेसे मानी जाती है किन्तु निश्चयमें, परजीवको मारनेका इरादा (संकल्प या क्रोधादि) करने पर क्रोधादिरूप ही हिंसा (स्वभावका घातरूप) मानी जाती है। इसी तरह विकारी भावोंके न होनेसे स्वभावका घात नहीं होता, तब वह अहिंसक माना जाता है और कदाचित् विकारीभाव न होनेके समय यदि स्वभावतः होने वाली शारीरिक क्रिया

---

१. अविनाभाव—जैसा भाव होता है वैसा फल मिलता है, इसमें व्यभिचार नहीं होता। परन्तु क्रिया के साथ व्यभिचार हो जाता है क्योंकि उसके साथ व्याप्ति नहीं मिलती, वह तात्पर्य है।

(प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप) से किसी जीवका घात (हिंसा) भी हो जाय तो भी वह अहिंसक ही रहता है, हिंसाका फल उसे नहीं लगता न भोगना पड़ता है। फलतः व्यवहारहिंसा परजीवके घात होने पर निर्भर है और व्यवहार-अहिंसा, परजीवके घात न होने पर निर्भर है तथा निश्चय-हिंसा आत्मस्वभावके घात होने पर निर्भर है और निश्चय अहिंसा आत्मस्वभाव के घात न होने पर निर्भर है। यह व्यवहार और निश्चयमें भेद है। ऐसी स्थितिमें व्यवहार हिंसा व अहिंसाके साथ फल प्राप्त होनेकी अर्थात् सजा या दंड मिलनेकी व्याप्ति सिद्ध नहीं होती कि 'क्रिया होने या करनेका फल मिलता ही है या मिलना चाहिये और क्रिया न होने या करने पर उसका फल नहीं मिलता या नहीं मिलना चाहिये, यह कोई पक्का (अटल) नियम नहीं है क्योंकि व्यभिचार (नियमभंग) देखनेमें आता है। परन्तु निश्चयाभासी या व्यवहराभासी एकान्ती मिथ्यादृष्टि पूर्वोक्त सिद्धान्तको नहीं मानते—भूले रहते हैं इसलिये वे संसारके पात्र बने रहते हैं—संसारसे पार नहीं होते, यह भाव है। श्लोकमें इसीका उदाहरण है कि—

कोई जीव बाहिरी हिंसा (जीवघात) नहीं करता या कारणवश नहीं कर पाता, परन्तु हिंसा करनेका भाव (परिणाम इरादा) होनेसे उसको हिंसाका दंड (फल) अवश्य भोगना पड़ता है, (इस लोक या पर लोकमें दुःख भोगना पड़ता है) जैसे बिल्ली या धीवरके द्वारा हिंसा (शिकार) न होने पर भी उनको खोटे परिणामोंके साथ फलकी व्याप्ति होनेसे दंड अवश्य भोगना पड़ता है। यह श्लोककी पहिली लकीरमें व्यभिचार दिखाया गया है कि कोई हिंसा क्रिया नहीं करता तो भी उसका फल भोगना पड़ता है। दूसरी लकीरमें हिंसा क्रिया हो जाने पर भी विना इरादाके किसीको उसका फल नहीं भोगना पड़ता यह बताया है। जैसे कि ईर्या समितिसे चलने-वाले साधु या मुनिको या भलाई करनेके इरादेसे चीड़फाड़ करने वाले डाक्टरको हिंसाका फल नहीं मिलता इत्यादि। जैन शासनमें भावोंकी मुख्यता है क्रियाकी मुख्यता नहीं, यह सार है।

विना भावोंके सुधरे (वीतरागता विना) क्रियाका सुधारना ठीक नहीं बनता है। यदि कदाचित् जोर-जबर्दस्ती (बलात्कार) से शारीरिक क्रियाको थोड़ा सुधार भी ले तो वह चिर-स्थायी नहीं रहती (बिगड़ जाती है) अतएव उससे विशेष लाभ नहीं होता सामान्य लाभ होता है। इसलिये उसको निमित्त कारण समझ कर सर्वथा करनेकी मनाही नहीं है—करना चाहिये, किन्तु यह नहीं भूल जाना चाहिये कि यही एक पार लगाने वाली नौका है, किन्तु दूसरी भाव नौका कुछ नहीं है इत्यादि। क्योंकि जबतक भावचरित्र या भावसंयम (वीतरागतारूप) नहीं होगा तबतक संसार नहीं छूट सकता। इसके विपरीत भाव सुधर जाने पर बाह्य क्रियाके सुधार होनेमें देरी नहीं लगती और वह स्थायी रहती है। ऐसा समझकर निश्चय अहिंसाव्रत धारण सर्वो-परि है। योग्यतानुसार कथंचित् दोनों करणीय हैं परन्तु भेद ज्ञानपूर्वक होना चाहिये तथा निश्चय व्यवहारका जानना अनिवार्य है किम्बहुना। इस श्लोकमें दो तरहका फल बतलाया गया है, अस्तु।

आचार्य आगे भी परिणामोंकी प्रधानता व फल बतलाते हैं

(परिणामभेदसे फलभेद)

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥ ५२॥

पद्य

बहुत इरादा होने पर यदि हिंसा थोड़ी होती है।
उसका फल बहु होता है, बहुपाप प्रकृति भी बंधती है ॥
बिना इरादाके यदि हिंसा बहुत कदाचित होती है।
उदयकालमें अल्प बंधसे फल थोड़ा सा देती है ॥ ५२ ॥
जीवोंके परिणामोंकी यह अति विचित्रता है जानो।
अतः मुख्य परिणाम जीवके व्यक्त रूप तुम पहिचानो ॥

अन्वय अर्थ—देखो ! परिणामोंकी विचित्रता कि [एकस्य अल्पा हिंसा काले अनल्पं फलं ददाति] किसी जीवसे थोड़ी सी हिंसा होनेपर उसका फल या दंड उसे उदयकालमें बहुत मिलता है अर्थात् जिसका इरादा अनेक जीवोंको जानसे मार डालनेका हो लेकिन कारणवश यदि वह उन सबको न मार सके सिर्फ एकाध ही मारा जाय, उसका फल मारने वालेको बहुतोंके मार डालनेका ही फल मिलेगा ऐसा समझना और [अन्यस्य महाहिंसा परिपाके स्वल्पफला भवति] किसी जीवसे मारनेका इरादा न होने पर कदाचित् व्यापार आदि करते समय किसी जीवका प्राणान्त (मरण या हिंसा) हो जाय तौ भी उदयकालमें उसको थोड़ा सा ही फल या दंड मिलेगा, कारण कि इरादा खोटा (मारनेका) नहीं था। यह सब खेल परिणामोंका है, दूसरेका नहीं ऐसा, निश्चय जानना ॥ ५२ ॥

भावार्थ—लोकाचारमें (व्यवहारमें) क्रियाकांडकी मुख्यता मानी जाती है, उसीके आधार पर हिंसा व अहिंसाका विचार किया जाता है तथा अपराधी-निरपराधी सिद्ध होता है व लौकिक दंड भी मिलता है किन्तु भावाचारमें (अन्तरंग मानसिक विचारधारामें) मनके आधार पर हिंसा अहिंसाका विचार करना पड़ता है अर्थात् मनोवृत्ति पर सब दारोमदार रहता है, उसीके अनुसार पारलौकिक दंड भी मिलता है लोकाचारसे उसका कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं रहता, साधारण निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहता है। अतएव पेश्तर मानसिक संयम (नियंत्रण) होना चाहिये, उसके होने पर बाह्य संयम पालना सब सरल व सुलभ है। अर्थात् उसके पालनेमें कोई कठिनाई मालूम नहीं पड़ती, वह आसानीसे पाला जा सकता है। ऐसा होनेसे अन्तरंग (निश्चयभाव रूप) और बहिरंग (व्यवहार द्रव्यरूप) दोनों प्रकारको हिंसा नहीं होती (बन्द हो जाती है)। फलतः वह जीव निरपराध (अहिंसक) होकर संसार समुद्रसे पार हो जाता है अतः यही मार्ग श्रेष्ठ व अनुकरणीय है। इसके विपरीत जो जीव सिर्फ बाह्याचारको ही मुख्यता देकर उसीके करनेमें दत्त-चित्त रहते हैं अन्तरंग आचार विचार पर (मनोवृत्ति पर) ध्यान नहीं देते वे बिना नीव के मकान जैसे पतित हो जाते हैं याने उनका बाह्याचरण बिगड़ जाता है—वे भ्रष्ट हो जाते हैं, जिससे लोकदंड भी उन्हें मिलता है, परलोक दंड तो मिलता ही है। अतएव यह मार्ग श्रेष्ठ नहीं है, यह गिरतीका मार्ग है जिससे ऊपर नहीं चढ़ सकते। कर्मबंध और उसके फलमें विशेषता होने-का कारण (निदान) जीवके अच्छे व बुरे (शुभ व अशुभ) परिणाम ही मुख्य समझना चाहिये किम्बहुना[1]।

---

१. उक्तं च—

इसीका स्पष्टीकरण आगेके श्लोकमें भी किया जाता है।

भावार्थ—इस श्लोकमें भी दो तरहका फल बतलाया गया है। लेकिन यहाँ स्थितिबंधसे सम्बन्ध है अर्थात् किसीको दुःख बहुत समय तक भोगना पड़ता है और किसीको अल्प समय तक भोगना पड़ता है यह भेद है॥ ५२॥

आचार्य परिणामोंकी ही विशेषतासे फलभेद बताते हैं—

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले॥ ५३॥

पद्य

एक अकेला हिंसा करता तीव्र दुःख वह पाता है।
कोई अकेला हिंसा करता अल्प दुःख वह पाता है॥
दोनों मिलकर हिंसा करते फल अनेक विधि पाते हैं।
क्रिया एक सी होने पर भी भाव विचित्र सा लाते हैं॥ ५३॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [एकस्य सा एव तीव्रं फलं दिशति] एक ही तरहकी प्राणाघातरूप द्रव्यहिंसा, किसीको घोर असह्य दुःख व (पीड़ा) देने वाली होती है (खोटामहापापका बंध होनेपर अपार नरकादिके दुःख उसे भोगना पड़ते हैं) एवं [अन्यस्य सा एव मन्दं फलं दिशति] वही वैसो ही प्राणाघात रूप हिंसा किसीको थोड़ा या सरल दुःख देने वाली (परभवमें) होती है। और [अत्र सहकारिणोरपि फलकाले हिंसा वैचित्र्यं व्रजति] इसी लोकमें साथ-साथ हिंसा करनेवाले दो जीवोंको भी उदय कालमें भिन्न २ प्रकार फल देती है—एक प्रकार (समान) फल नहीं देती अर्थात् भावोंके अनुसार किसी हिंसकको घोर असातारूप फल देती है तो किसीको सामान्य असातारूप फल देती है यह भाव है। यह सब विचित्रता (फल भेदकी) परिणामों (भावों) की ही बदौलत समझना चाहिये।

भावार्थ—इस श्लोकमें दो तरहका फल वतलाया गया है। यहाँपर अनुभागसे सम्बन्ध है अर्थात् किसीको जोरदार असह्य दुःख भोगना पड़ता है और किसीको मामूली (साधारण) दुःख (कष्ट) भोगना पड़ता है यह भेद है। साथ २ हिंसा करनेवाले दो आदमियोंको अपने २ परिणामोंके अनुसार फल मिलता है, तीव्र कषायवालेको तीव्र दुःख और मन्द कषाय वालेको मन्द दुःख भोगना पड़ेगा यह तात्पर्य है।

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥ ३८॥ कल्याणमन्दिरस्तोत्र

अर्थ—विना भावके अर्थात् भक्तिरूप अन्तरंग परिणामोंके अभावमें की जाने वाली क्रियामात्रका फल नहीं मिलता वह व्यर्थ (निष्फल) जाती है। अतएव भाव सहित क्रिया करना चाहिये यह तात्पर्य है।

आचार्य और भी परिणामों के भेदसे ४ चार प्रकारका फलभेद बतलाते हैं—

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि ।
आरभ्यकर्त्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥ ५४ ॥

पद्य

हिंसाका संकल्प कियेसे बिन हिंसा फल मिलता है ।
करते करते किसी जीवको तुरत हिंस फल मिलता है ॥
किसी जीवको कर चुकनेपर पीछे ही फल मिलता है ।
करनेका आरम्भ किये ही अकृत फल पा लेता है ॥५४॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अनुभावेन हिंसा प्रागेव फलति] अभिप्राय या भावोंके अनुसार या भावनाके अनुसार, कोई हिंसा न होनेपर भी (जीवघातके पूर्व हो) अपना फल जीवको दे देती है, अर्थात् किसी जीवने हिंसा करनेका संकल्प या विचार तो किया परन्तु किसी कारणवश हिंसा नहीं कर पाई—पीछे हिंसा करनेका मौका मिला। इस दरम्यानमें भावोंके अनुसार जो पापका बंध हुआ था वह उदय में आकर दुःख पीड़ा देने लगता है, यह बिना हिंसा किये पहिले हो फल मिलनेका उदाहरण समझना चाहिये। [क्रियमाणा हिंसा फलति] और कोई हिंसा (प्राणघात) ऐसी होती है कि करते समय ही उदयमें आकर अपना फल जीव को दे देती है। अर्थात् हिंसा रूप कार्य करते समय ही पाप बंध और तुरंत ही उदयमें आकर दुःख पीड़ा देती है। यह दूसरा उदाहरण समझना और [कृतापि हिंसा फलति] कोई हिंसा, हो चुकने के पश्चात् जीवको अपना फल देती है। अर्थात् हिंसा के समय हुआ पापका बंध, जब उदयमें आवेगा तभी अपना दुःख रूप फल देगा, यह हिंसा का तीसरा उदाहरण समझना [अपि कर्त्तुमारभ्य अकृता हिंसा फलति] और कोई हिंसा ऐसी है कि वर्तमानमें न होकर भविष्यमें होगी किन्तु उसके लिये पेश्तरसे साधन इकट्ठे कर रहा हो, वह हिंसा (भविष्यमाण) अपना फल जीवको होने के पहिले ही (दुःखादि) दे देती है। यह हिंसाका चौथा उदाहरण है। भावार्थ—यह सब परिणामोंके अनुसार ही फलमें विचित्रता (भेद) है ऐसा समझना चाहिये। इसी हिंसाको यदि १ संकल्पी २ उद्योगी ३ आरंभी ४ विरोधी, इन सब शब्दोंमें कहा जाय तो भी अनुचित न होगा। अथवा १ कृत (भूत) २ क्रियमाण (वर्त्तमान) ३ प्रारभ्यमाण (अपूर्ण वर्त्तमान) ४ करिष्यमाण (भविष्यत्) इन शब्दोंमें भी विभाग किया जा सकता है अस्तु। यह सब कथन शैली है लक्ष्य सबका एक ही है—पापबंधका होना व दुःख देना। अतएव उसे हटानेका पुरुषार्थ करना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥५४॥

आगे आचार्य और भी भेद बतला रहे हैं।

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः ।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ॥ ५५ ॥

---

१. अभिप्राय के अनुसार फल देती है।

पद्य

कोई एक हिंसा करता है फल भागी बहु होते हैं।
बहु हिंसा करते हैं तौ भी फल भागी इक होते हैं।।
है विचित्रता परिणामोंकी एकभांति नहीं होते हैं।
जिसके जैसे भाव होत हैं वैसा ही फल पाते हैं।।५५।।

अन्वयअर्थ—आचार्य कहते हैं कि [एकः हिंसां करोति बहवः फलभागिनो भवन्ति] एक कोई जीव हिंसा (प्राणघात) करता है और हिंसाका फल (दुखादि) बहुत जीव भोगते हैं अर्थात् प्राणघात करते समय या हो जानेपर जो जीव खुशी या प्रसन्न होते हैं व उसका समर्थन व अनुमोदन करते हैं वे सभी पापके भागी होते हैं। इसी तरह [बहवो हिंसां विदधति, हिंसाफल-भुक् एक भवति] बहुतसे जीव हिंसा करते हैं, किन्तु हिंसाका फल एक ही जीव भोगता है जैसे कि राजा युद्ध सिपाहियों (सैनिकों) से कराता है किन्तु उस पापका भागी वह राजा ही (स्वामी) होता है, सैनिक नहीं। कारण कि वही अपनेको उसका कर्त्ता मानता है व साधन समाग्री (निमित्त) मिलाता है ऐसा समझना चाहिये।

पद्य दूसरा

एक जीव हिंसा करता हैं फल मिलता बहुतेरों को।
बहुत जीव हिंसा करते हैं फल मिलता है एकहि को।।
फल मिलता है भावों से ही जिसके जैसे भाव बनें।
उनके माफिक फल मिलता है किया बने या नहीं बनें।।५५।।

भावार्थ—अपराध कई तरहसे लगता या होता है अर्थात् (१) स्वयं करनेसे अपराध होता है (कृत) (२) दूसरोंसे करवाने पर अपराध होता है (कारित) (३) अनुमोदन या समर्थन करनेसे अपराध होता है (अनुमोदित) (४) करनेका इरादा करनेसे अपराध होता है (संकल्पित)। तदनुसार अनेक जीवोंसे कराया गया अपराध (युद्धादि हिंसक कार्य) का फल एक अधिकारी जीवको ही भोगना पड़ता है इत्यादि यह फलभोक्ताका उदाहरण है। और बहुफल भोक्ताका उदाहरण अनुमोदन करनेवालोंका है। इस तरह परिणामोंके अनुसार फलभेद बताया जाता है। किन्हीं खोटे कामोंका देखकर प्रसन्न होना खुशी व हर्ष मनाना यह भी वर्जनीय है क्योंकि विना खुद किये भी सजा भोगना पड़ती है। अतएव अपनेको सबसे पृथक् (अस्पृष्ट-अछूत) रखने पर ही कल्याण हो सकता है यह सारांश है। लौकिक न्याय और पारलौकिक न्यायमें भेद रहता है यह भी समझना चाहिए। एकान्त नहीं रखना ।। ५५ ।।

दूसरी तरहसे फलभेद बतलाते हैं

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ।।५६।।

पद्य

कोई हिंसा करता है सो फल हिंसा का मिलता है।
कोई हिंसा करता है पर फल उलटा[1] ही मिलता है॥
यह विचित्रता परिणामों की जो उलटा सीधा होता है।
परिणामोंके वल पर ही सब संसार मोक्ष जु होता है॥५६॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [फलकाले हिंसा कस्य एकं हिंसाफलमेव दिशति] उदय-कालमें हिंसारूप कार्य किसी जीवको एक हिंसारूप ही फल देता है, अर्थात् हिंसाका फल हिंसा रूप ही मिलता है अर्थात् जो दूसरोंकी हिंसा करेगा उसकी भी हिंसा दूसरे करेंगे इत्यादि। तथा [सैव हिंसा अन्यस्य विपुलं अहिंसाफलं दिशति] वही हिंसारूप कार्य, किसीको वृहत् अहिंसाका फल देता है अर्थात् उसकी हिंसा कोई नहीं कर सकता इत्यादि विचित्रता समझना चाहिए॥५६॥

भावार्थ—इरादापूर्वक जीवहिंसा करने पर उसके फलस्वरूप पापकर्मका ही वन्ध होता है जो उदयमें आनेपर उसकी हिंसा दूसरे जीव करते हैं और तीव्र दुःख पीड़ा देते हैं। असाताके तीव्र उदयसे क्षण भरको सुख नहीं मिलता न दूसरे कोई सहायक होते हैं। यह हिंसाका फल हिंसा रूप पापका उदाहरण है। और किसीका इरादा हिंसा करनेका या दुःख देनेका नहीं है—सुख पहुँचानेका है, परन्तु कदाचित् नियोगवश दूसरेका मरण या हिंसा (घात) हो जाय तो—उसका फल उसको अहिंसाका ही मिलेगा अर्थात् पुण्यकर्मका वन्ध होगा और उदयकालमें उसकी रक्षा ही होगी कोई मार नहीं सकेगा इत्यादि हिंसाके अहिंसारूप फलका यह उदाहरण है ऐसा समझना चाहिये। सारांश यह कि पुण्य-पाप या संसार-मोक्ष सब परिणामोंसे ही होता है—सब परिणामों पर ही निर्भर है अतएव परिणाम नहीं बिगाड़ना चाहिए, ऐसा पुरुषार्थ सदैव करना चाहिए॥५६॥

नोट—इस विषयमें पहिले आत्मानुशासनका श्लोक नं० २३ कहा ही गया है अस्तु।

इसी तरह और भी फलभेदमें विचित्रता वतलाते हैं

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत्॥५७॥

पद्य

कभी अहिंसा फल देती है हिंसाके परिणामोंका।
हिंसा कभी जु फल देती है, स्वयं अहिंसा भावोंका॥
ऐसा व्यतिक्रम क्यों होता है, क्रिया और परिणामोंका ?
उत्तर—फल भावों का होता, क्रिया निमित्त है भावोंका॥५७॥

---

१. अहिंसारूप।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [तु अहिंसा अपरस्य परिणामे हिंसाफलं ददाति] और कभी अहिंसा, (द्रव्यप्राणघात न होना रूप) किसी जीवको फलकालमें (उदय आनेपर) हिंसाका फल देती है [पुनः हिंसा इतरस्य अहिंसाफलं दिशति अन्यत् न] और कभी हिंसा, किसी जीवको अहिंसाका फल देती है—दूसरा नहीं, ऐसा नियम है। सो यह विचित्रता सब परिणामोंके चाल (गति) की है अस्तु ॥ ५७ ॥

भावार्थ—क्रिया और भावोंमें एवं फलमें व्यतिक्रमका होना आश्चर्यजनक है, लोगोंको इसमें भ्रम और अचरज उत्पन्न हो सकता है कि क्रिया तो अहिंसा की हो रही है, अर्थात् बाहिर किसी जीवका विघात नहीं हो रहा है और उसको हिंसा करनेका फल (पाप) लगता है। इसी तरह बाहिर क्रिया जीवको मारने जैसी (चीरा-फाड़ी वगैरह) हो रही है, और उसको अहिंसाका फल (पुण्य) लगता है इत्यादि। इस व्यतिक्रम या आश्चर्यका उत्तर (समाधान) एक ही है और वह यह कि फल सदैव परिणामोंके अनुसार होता है बाह्य क्रियाके अनुसार नहीं होता, बाह्य क्रिया खाली निमित्तकारणरूप है; अतएव उसमें यह सामर्थ्य (शक्ति) नहीं है कि वह परिणामोंको बदल दे सके। किन्तु परिणाम स्वयं हर तरहके होते हैं और कार्य करते हैं। निमित्त भी किसीके अधीन नहीं हैं वे भी भवितव्यके अनुसार ही मिलते बिछुड़ते हैं। ऐसी स्वतन्त्र स्थितिमें भ्रम और आश्चर्य करना व्यर्थ है अन्यत्र कहा भी है[1]।

इस तरह फलकी विचित्रताके सम्बन्धमें १६ सोलह उदाहरण दिये गये हैं श्लोक नं० ५१ से लेकर ५७ तक (२+२+२+४+२+२+२)। वे उदाहरण भी हिंसाके एवं अहिंसाके सम्बन्धमें खासकर दिये गये हैं। इतना स्पष्ट और विस्तारके साथ कथन प्रायः अन्यत्र देखनेमें नहीं आया है, यह विशेषता इस ग्रन्थकी है। इसी परसे धर्म और अधर्मका निर्धार किया गया है अर्थात् स्वभाव भाव (अविकारीभाव) ही धर्म है और विभावभाव (विकारीभाव) ही अधर्म है, इनसे भिन्न धर्म और अधर्म कुछ नहीं है इत्यादि समझना चाहिये।

उपसंहाररूप कथन

आचार्य कहते हैं कि अनादिकालसे धर्म और अधर्मके स्वरूपमें भूले हुए प्राणियोंको नय चक्रका प्रयोग करनेमें अर्थात् उसको स्वयं समझकर दूसरोंको समझानेमें कुशल या परिपक्व गुरु ही—सच्चे (असली) धर्म और अधर्मका स्वरूप बता सकते हैं एवं वे ही संसारसागरसे पार

---

१. सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥१६८॥

(समयसार कलश)

अर्थ—वस्तु स्वभाव ऐसा है कि सभी सुख दुःख जीवनमरण आदि निश्चित हैं कृत्रिम या अनिश्चित (अनियत) नहीं हैं तब यह कहना कि जीव कर्मके उदयसे सब कुछ करता है यह मिथ्या है—अज्ञानता है। कोई किसीका कर्त्ता व स्वामी नहीं है सब स्वतन्त्र हैं अतः वैसा कहना उपचार मात्र है (असत्य है) ॥१६८॥

कर सकते हैं क्योंकि संसारसागरमें तरह २ की भँवरे हैं अर्थात् तरह २ के विचारवाले जीव हैं तथा तरह २ के आचरण करते हैं यह परस्परमें भेद है—एकता नहीं है। अतएव अनादिमूढ़ मिथ्यादृष्टि यह भूल गये हैं कि इस अगाध भयंकर संसार-सागरसे पार होने अर्थात् निकलनेका मार्ग (उपाय) क्या है ? यही निष्कर्ष आगेके श्लोकमें बताया जाता है। यथा—

इति विविधभंगगहने[1] सुदुस्तरे[2] मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः ॥५८॥

पद्य

अगम अथाह भयंकर दुस्तर भवसागर यह है भारी।
भूल रहे हैं प्राणी इसमें, कौन उपाय तरणकारी[3] ॥
गुरु ही एक उपाय शरण हैं जो नयचक्र विशारद[4] हैं।
न्यायमार्गसे नयें[5] बताकर, उनके द्वारा पारद[6] हैं[7] ॥५८॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्] पूर्वमें बताये हुए—धर्म व अधर्म, हिंसा व अहिंसा, निश्चय व व्यवहार, सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन, सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, सम्यक्चारित्र, मिथ्याचारित्र, निश्चय अंग व्यवहार अंग, निश्चय मोक्षमार्ग व्यवहार मोक्षमार्ग, क्रियाकांड, ज्ञानकांड आदिमें भूले हुए व फसे हुए प्राणियोंसे भरे हुए संसार-सागरमेंसे निकलनेका मार्ग (उपाय) जिनको नहीं सूझ रहा है ऐसे अनादि मूढ़ मिथ्यादृष्टियोंको [प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः गुरवः शरणं भवन्ति] निकालनेवाले शरणसहाई, सद्गुरु ही होते हैं जो नय-चक्रको याने सब नयोंको अच्छी तरह जानते हैं और उन्हींके आधारसे (अपेक्षा) से सब भूले भटके प्राणियोंको वस्तुस्वरूप (धर्म अधर्म आदि) समझा सकते हैं तथा उनका भ्रम (अज्ञान) मिटा सकते हैं एवं जो निःस्वार्थ या निरपेक्ष विरागी हैं यह सारांश कथन है। इसको समझकर असलमें लगाना चाहिये। इसका दृष्टान्त जिस तरह कोई जीव यदि निर्जन भयंकर आपत्तियोंके

---

१. तरह-तरहकी लहरों गड्ढों और गहराई वाले।
२. कठिनाईसे तरने योग्य संसार सागरमें।
३. तारनेवाला।
४. ज्ञाता कुशल।
५. द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक, निश्चय व्यवहार आदि नय।
६. पार लगानेवाले।
७. यह संसार भयंकर वनसम, जटिल समस्याओंका घर है।
तरह तरह की सामग्री में, भूल रहा जन तर धर है ॥
विना सहाय निकल नहिं सकता, भवसे वनसे कोई जन।
सद्गुरु सबके शरण सहाई वही उबारत निमित्त बन ॥

घर—वड़े २ क्रूर सिंह, सर्पादि जीवोंसे भरे हुए (व्याप्त) दुर्गम वनमें भूल जाय, तो उसको उस स्थानसे निकालकर सुमार्ग बतानेवाला कोई जानकार मनुष्य ही हो सकता है—दूसरा नहीं, उसी तरह सद्गुरु ही अनादिकालसे संसार-सागरमें भूले भटके दुःखी प्राणियोंको संसारसे निकाल सकते हैं दूसरा कोई नहीं यह निश्चय है। अतएव मुमुक्षुओंको उन्हींकी शरण लेनी चाहिये। यद्यपि वे निमित्तकारण हैं तथापि निमित्तताकी ही श्रद्धा रखते हुए उनका आश्रय लेकर पुरुषार्थ स्वयं ही करना चाहिये अर्थात् आत्माका ही वल भरोसा रखना चाहिये कि कार्य सिद्ध हमारा हमारे द्वारा हममेंसे ही होगा इयादि। व्यवहार दृष्टिसे संयोगी पर्यायमें निमित्त मिलाकर पुरुषार्थ करनेका भाव कषायवश उत्पन्न होता है जो अनुचित नहीं है, परन्तु श्रद्धा नहीं वदलती, वह उपादान पर ही निर्भर (अटल) रहती है। अतः वस्तुके स्वरूपको यथार्थ समझकर श्रद्धा मजबूत (दृढ़) करना कर्त्तव्य है। इसी तरह आगमका ज्ञान, तत्त्वार्थका श्रद्धान, संयमभाव (व्रताद्यनुष्ठान) के होने पर भी 'आत्मज्ञान' का होना अनिवार्य है क्योंकि उसके बिना सब (आगमज्ञानादि त्रय) व्यर्थ हैं—मोक्षमार्गके साधकतम नहीं हैं इत्यादि जैसे द्रव्यलिंगी मुनिके उक्त तीनोंका समागम होने पर भी 'शुद्धात्माका निर्विकल्प ज्ञान (निश्चयरूप[1]) न होनेसे व्यर्थ है—मोक्षरूप साध्यकी सिद्धि नहीं होती यह तात्पर्य है। आत्माके सिवाय ऊपरी (बाह्य) ज्ञान श्रद्धान आचरण प्रायः सही हो सकता है असंभव नहीं है वह सरल है किन्तु आत्माका यथार्थ ज्ञान होना दुर्लभ-दुष्कर है अतएव मोक्षमार्गमें प्रयोजन मूल मुख्य वही है ऐसा समझना (गा० २३८ प्रवचनसार गा० नं० २७६, २७७ समयसार)।

भावार्थ—आत्मज्ञान शून्य (विना) तत्त्वार्थ श्रद्धान करना, आठ अंगोंका पालना, २५ दोषोंका टालना, संयमादि धारण करना सब निष्फल है। जैसे कलश बिना मंदिरकी शोभा नहीं होती। तदनुसार सच्चा तत्त्वार्थ श्रद्धान अर्थात् निश्चय व्यवहारके ज्ञानपूर्वक श्रद्धान ही कार्यकारी है अन्यथा नहीं यह तात्पर्य है। संसारमें जैन शासनका प्रचार नयज्ञाता कुशल सद्गुरु ही कर सकते हैं इति।

नोट—यहाँ आत्मज्ञान शून्यका अर्थ—मैं ज्ञानस्वरूप हूँ या मेरा स्वरूप ज्ञानचेतनामय है अन्यरूप नहीं है, ऐसा नहीं समझना है (स्वरूप विपर्यय है) यही वड़ी भूल है कि अपने स्वरूपको नहीं जानना।

निष्कर्ष (चेतावनी)

आत्मोन्नतिके लिये संयोगीपर्यायमें रहकर पद व योग्यताके अनुसार निश्चय और व्यवहारका सम्यक्ज्ञान तथा वैसा आचरण (वृत्ति या वर्त्ताव) अवश्य होना चाहिये, तभी इष्ट (लक्ष्य या साध्य) की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं ऐसा समझना चाहिये। इस विषय में समयसार-कलशका श्लोक स्पष्टीकरणके लिये आगे लिखा जाता है।

---

१. 'मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञाता दृष्टा हूँ अन्य रूप नहीं हूँ न मेरा कोई कुछ कर सकता है इत्यादि।

इति वस्तुस्वभावं स्वं, ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यात्, नातो भवति कारकः ॥ १७६ ॥ कलश

अर्थ :—जो वस्तु (आत्मा) के स्वभावको या निर्निमित्त स्वरूपको जानता है अर्थात् ज्ञानदर्शन ही मेरा स्वभाव (सहज सिद्ध) है अन्य कोई रागादि मेरा स्वभाव नहीं है नहीं है किन्तु वे सनिमित्त (औपाधिक) होनेसे विभाव भाव हैं ऐसा स्वभाव दिभावका ज्ञाता ही 'ज्ञानी' कहलाता है। इसके विपरीत जानने वाला कभी ज्ञानी नहीं हो सकता—वह अज्ञानी है। इसीलिये रागादिकको आत्माका स्वभाव न मानने वाला सम्यग्दृष्टि जीव विना स्वामित्त्वके परका (रागादिका) कर्त्ता नहीं होता—वह उन्हें भिन्न ही जानता है अतएव उनमें ममत्व भी नहीं करता, अरुचि करता है। यही सर्वत्र नियम है। फलतः जिन जीवोंने अपने स्वभावकी पहिचान व श्रद्धा नहीं की अर्थात् यह नहीं जाना कि मेरा ज्ञान ही स्वभाव या स्वरूप है वह अज्ञानी है और वही रागादिक (विभाव) को अपना स्वभाव मानकर रागादिकका कर्त्ता होता है तथा संसारमें बंध करके दुःखादि भोगता है इत्यादि खुलासा है ॥ १०६ ॥

श्लोक नं० १७६ व १७७ का सारांश है अस्तु ।

भावार्थ और समीक्षा
(भूलभुलैयाका प्रदर्शन)

पर मतमें और जैन मतमें परस्पर अमेल या विवादका खास कारण क्या है ? इस पर निष्पक्ष हो विचार करनेसे यही प्रतीत होता है कि दृष्टिभेद है अर्थात् नयविवक्षाको नहीं समझना है अथवा पदार्थको एकान्तरूप मानना है अथवा अनेकान्तरूप (अनेक धर्म वाला) नहीं मानना है, जो प्राकृतिक नियमके विरुद्ध है। प्राकृतिक नियम, प्रत्येक पदार्थमें अनेक स्वतंत्र धर्मोंका रहना है। वे धर्म किसी दूसरेकी देन या कृपा पर निर्भर नहीं हैं—स्वयं सिद्ध हैं इत्यादि।

ऐसी स्थितिमें प्रत्येक पदार्थमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, ये तीनों धर्म रहते व स्वयं कार्य करते रहते हैं इसलिये ये कथंचित् स्वाश्रित हैं और उनके कार्यके समय संयुक्त दशामें अन्य सहायक निमित्त (पर पदार्थ) भी रहा करते हैं अतएव वे कथंचित् पराश्रित भी हैं, परन्तु व्यवहार दृष्टि (नय) से हैं, निश्चय दृष्टिसे वैसे नहीं है (स्वाश्रित हैं)। इसी तरह संयोग अवस्था (संयोगीपर्याय) में अन्य २ बातोंका भी विचार या निर्धार करना जरूरी है। क्योंकि कथनी, करनी और मान्यतामें भेद रहनेसे परस्पर मैत्री (संधि या एकता) कभी हो नहीं सकती यही नियम है। एकता या परस्पर संधि कराने वाला एक अद्वितीय 'स्याद्वाद' 'अनेकान्त' न्याय ही है, जो सबमें विरोध मिटाकर अविरोध उत्पन्न करता है।

उदाहरणके लिये पहिले एक 'धर्म' या हिंसामें ही विवाद देखिये। एकान्ती 'हिंसा या बलि' करनेको 'धर्म' मानते व कहते व करते हैं। उनके सामने 'वेदाज्ञा या ईश्वराज्ञा' मौजूद है। वे कहते हैं कि 'धर्मार्थ हिंसा (जीववध—द्रव्यहिंसा) करना' अधर्म या हिंसा नहीं है किन्तु वह धर्म और अहिंसा ही है इत्यादि। तब हम स्वतः ही (स्वेच्छासे) वैसा कार्य (जीववध) नहीं कर

रहे हैं किन्तु जगत् पिता (कर्त्ता) ईश्वरकी आज्ञासे नौकरकी तरह वैसा कार्य कर रहे हैं अतः वह धर्मका पालना (चोदना) नहीं है तो क्या है ? अवश्य धर्म पालना है। हाँ उनकी आज्ञाका न पालना वरावर 'अधर्म' हो सकता है। उनकी दृष्टिसे 'कर्त्तव्यका पालन करना या ड्यूटी पूरी करना' ही धर्म है और कुछ नहीं इत्यादि तदनुसार वे धर्म ही कर रहे हैं ऐसा उनका कहना करना व मानना है अस्तु।

जैन न्यायसे उनके विचारों व मान्यताओंका कथंचित् समन्वय व खंडन अर्थात् एकान्तका खंडन करके अनेकान्तका मंडन और परस्पर मैत्रीका स्थापन किया जाता है। यथा—

पहिली वात यह है कि वस्तु (पदार्थ) उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप और द्रव्य गुण पर्यायरूप अनेक धर्म वाली है। अतः उसमें अनेक स्वभाव पाये जाते हैं। तदनुसार मालिक या ईश्वरकी आज्ञा मानना भी किसी तरह धर्म है और स्वतंत्र विचार करना न्यायमार्ग पर चलना भी धर्म है। एक नीति भी है कि

"शत्रोरपि गुणाः वाच्या दोषाः वाच्याः गुरोरपि"

अर्थात् गुणोंका आस्तित्त्व यदि अपने शत्रुमें भी हो तो कथन व ग्रहण करना चाहिये और दोषोंका कथन या वहिष्कार, गुरूमें हों, तो करना चाहिये यहीं वुद्धिमानी है। वहाँ कोई लज्जा, भय या संकोचका काम नहीं है। अन्यथा वह शिष्य ठगाया जाता है। हमेशा परके अनुकरण करनेका काम नहीं होना चाहिये किन्तु अपनी वुद्धिसे विवेकसे खूब सोच समझकर ही कार्य करना चाहिये तभी कल्याण हो सकता है अन्यथा नहीं। कारण कि करनीका फल तो करनेवाले शिष्य को ही मिलेगा, करनेवाले गुरुको नहीं मिलेगा 'जो करता सो भोक्ता' यह न्याय है। वेदवाक्य या वेदके कर्त्ताकी आज्ञा' अल्पज्ञानी व रागी द्वेषी होनेके कारण अन्यथा व अहितकर भी तो हो सकती है, जिसके मानने व पालनेसे धर्म न होकर अधर्म हो सकता है। देखो ! धर्म रक्षा करनेसे होता है, हिंसा या घात करनेसे नहीं हो सकता, यह यथार्थ बात है। लेकिन कथंचित् दृष्टिसे अर्थात् संयोगीपर्यायमें शुभरागसे धर्म (पुण्यका वंध) होता है स्याद्वाददृष्टि या अनेकान्त दृष्टिसे विचार किया जाय तो किसी तरह 'उस हिंसाको याने प्राणघातको, अधर्म कह सकते हैं जो बिना इच्छा या विना इरादा किये सिर्फ क्रिया मात्रसे हो गई हो, क्योंकि उससे जीवका स्वभावघातरूप हिंसाकार्य नहीं होता जो खास प्रयोजनरूप है। ऐसी स्थितिमें व्यवहारनयसे द्रव्यप्राणघात, हो जाने पर हिंसा या अधर्म कहा जायगा और निश्चयनयसे 'भावप्राणों' का घात न होनेसे धर्म या अहिंसा ही कहा जायगा, यह न्याय अनेकान्तदृष्टिका है, तब इसको सुन समझकर, एकान्तदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) वहुधा शत्रुता छोड़कर मित्रता धारण कर सकते हैं—वैर व विवाद मिटा सकते हैं, यह सम्भावना सत्य है। इसमें कुछ किसी नयसे उनका पक्ष भी सिद्ध होता है अतएव वे जैनमतकी मान्यताके कायल हो सकते हैं। यह स्याद्वाद या अनेकान्तकी विशेषता है। इसी तथ्यको द्रव्यार्थिकनय (निश्चयनय) से विचार करने पर, लोकमें जीवघात हो जाने पर भी हिंसा या अधर्म नहीं होता, क्योंकि द्रव्य नित्य (ध्रौव्य) होनेसे कभी नष्ट (घातरूप हिंसा) नहीं होती और पर्यायार्थिकनय (व्यवहारनय) से संयोगीपर्याय मात्रका विनाश (हिंसा) होनेसे, हिंसाका होना अर्थात् अधर्मका

होना कथंचित् कहा जा सकता है इत्यादि मैत्रीका जनक समाधान है विचार किया जाय। फलतः द्रव्यप्राणोंके घात होनेको कथंचित् हिंसा (अधर्म) और भावप्राणोंका घात न होनेसे कथंचित् 'अहिंसा' (धर्म) कहा जा सकता है या वैसा कहना अनुचित नहीं है—संगति व समन्वय बैठ जाता है। किम्बहुना

इसी तरह नयविशारद सद्गुरु (स्याद्वादी) नित्य अनित्य आदि सभी वस्तुगत धर्मोंमें संगति बिठाल देते हैं तब विवाद नहीं रहता। लेकिन एकान्तकी धारणारूप हठ छोड़ देने पर ही कल्याण हो सकता है। उनको वेदवाक्य (ईश्वरवाणी) में विवाद या हठको छोड़ देना पड़ेगा कि उसमें जो कहा गया है वह अनुभव प्रमाणसे उचित सिद्ध नहीं होता वह सब राग द्वेष या अल्पज्ञानसे कहा गया है। क्योंकि 'जो कर्त्ता सो भोक्ता' यह न्याय है। करे कोई और फल पावे (भोगे) कोई ऐसा अन्याय नहीं हैं। अन्यथा लोककी तमाम व्यवस्था विगड़ जायगी—वगावत या अराजकता फैल जायगी इत्यादि। फलतः अनेक तरहके विवादों, मतमतान्तरों, क्रियाकाण्डों, लिगोंउपायोंसे भरे हुए (व्याप्त) इस लोक-सागरमें भूले भटके प्राणियोंको निकलनेका सुमार्ग बतानेवाले सद्गुरु न्यायविशारद अनेकान्ती गुरु ही हो सकते हैं दूसरे नहीं, ऐसा विश्वास करके उनके बताए हुए मार्ग पर चलना परम कर्त्तव्य होना चाहिये। धर्म (अहिंसा) अधर्म (हिंसा—द्रव्यप्राणघात रूप या भावप्राणघातरूप) इनमें कभी नहीं भूलना चाहिये। शुभरागको या मन्दकषायको धर्म-कहना भी कथंचित्—किसी अपेक्षासे है, उपचारसे है सर्वथा नहीं है। कारण कि उस समय द्रव्य प्राणोंका घात नहीं होता—बाह्य क्रिया बन्दप्राय हो जाती है, अतः उस अपेक्षासे वह अहिंसा धर्मका पालनेवाला कहा जाता है अथवा अशुभ भाव या अशुभ राग न होनेसे भी वह अहिंसक कहा जा सकता है। किन्तु उस समय स्वभावभावका घात (हिंसा) होनेसे वह कथंचित् हिंसक या अधर्मी भी कहा जा सकता है यह भेद समझना चाहिए। इस विविध भंग (भेद) वाली गुत्थीको सुलझाना अनिवार्य है किम्बहुना। शुभराग पुण्य बन्ध (धर्म) का कारण होनेसे उपचारसे उसको धर्म कहा जाता है यह खुलासा है।

अन्यमतमें—धर्मके स्वरूपमें पूर्वापर विरोध—उन्होंने जीवहिंसा और विषयकषाय पोषणको धर्म माना है, जो अधर्म या कुधर्म है।

देखो ! जहाँ वैदिक मतानुयायिओंने धर्मका स्वरूप—

> यथार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
> यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥

इस श्लोक द्वारा बतलाया है कि यज्ञ (पूजा हवन) के खातिर पशुओंकी हिंसा करना, उन्हें मार डालना, कोई पाप या अधर्म नहीं है किन्तु वह धर्म ही है क्योंकि यज्ञ करनेसे प्राणियोंका परोपकार या कल्याण होता है अर्थात् पूजक (यज्ञकर्त्ता) और यज्ञके काममें आनेवाले पशुओं आदि सभीका कल्याण होता है (सभी स्वर्गादि वैकुण्ठको जाते हैं) इत्यादि उपदेश वेदका—भगवान् (ईश्वर) की वाणीका है ऐसा विश्वास कराया जाता है। वहाँ इसके विरुद्ध भी धर्मका

स्वरूप महाभारत जैसे वेदांग (अवयवरूप) ग्रन्थमें बतलाया गया है, जिससे पूर्वापर विरोध आता है और इसीलिए वह असत्य सिद्ध होता है।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥ —महाभारत

अर्थ—धर्मका निचोड़ या रहस्यभूत स्वरूप यह है कि जो पदार्थ या आचरण, अपने खुदके लिए रुचिकर या पसन्द न हो अथवा बुरा या अनिष्ट मालूम पड़े (अपने अनुभवमें आवे) वह आचरण या वर्त्ताव दूसरोंके साथ भी नहीं करना चाहिए। उसका उपयोग न अपने लिए किया जाय न परके लिए किया जाय) बस यही 'धर्म' का सच्चा स्वरूप व रहस्य है (सार है) और कुछ नहीं। इसका प्रयोजन यह है कि 'जिस कार्यके करनेसे अपनी आत्मामें दुःख व संक्लेशता हो तथा दूसरे जीवोंकी आत्मामें भी दुःख व संक्लेशता हो, वह कभी 'धर्म' नहीं हो सकता किन्तु वह उल्टा 'अधर्म' हो सकता है। तब हिंसा करना धर्म कैसा ? जब अपने साथ कोई मारपीट करता है, गाली वगैरह देता है तब अपनेको वह पसन्द नहीं आता व दुःख होता है, सुई चुभाता है तब दुःख होता है। ऐसी स्थितिमें दूसरे जीवोंको मार डालनेमें या उन्हें सतानेमें उन्हें भी दुःख भय अवश्य होगा—प्राण सबको प्यारे हैं, फिर धर्म हुआ या अधर्म ? इसका ठण्डे दिलसे विचार करना चाहिये इत्यादि। इसी तरह अन्यत्र कहा गया है कि—

'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः, (पण्डित या विवेकी धर्मात्मा)

अर्थात् जिसकी 'समदृष्टि' पर द्रव्यमें—पर पदार्थमें नीच-ऊँचको या छोटे-बड़े की भावना (विकल्प या रागद्वेष) नहीं रहती वही धर्मात्मा है, सबके साथ एक-सा वर्ताव करनेवाला श्रेष्ठ-जन है। इसके विपरीत चलने व करनेवाला धर्मात्मा नहीं है वह अधर्मात्मा (पापिष्ट) है। जो करता है वह पाता है, इस न्यायसे वह पापी नरक-निगोदको अवश्य जायगा—कोई दूसरा हाथ न लगायगा, न बचा सकेगा, यह सत्यार्थ है। अतएव मिथ्या न सोचो, न करो, इसीमें भलाई है। वह उपदेश कभी सत्य नहीं है जो गुमराह कर देवे—सुमार्गको भुला देवे तथा वह उपदेशक भी असत्य वक्ता है जो स्वयं नरक जावे और दूसरों को (शिष्योंको) नरक पहुंचावे व उल्टी परम्परा चला देवे इत्यादि समझना चाहिए।

शिक्षा

बुधजन पक्षपात तज देखो सांचा धर्म कौन है जगमें ?
अलख अहिंसक निर्विकार जो साँचा धम वही है जगमें।
पञ्च पापसे रहित होयकर आत्मस्वभाव लीन होय उरमें॥
वह ही अजर अमर अविनाशी—पदमें धरता है क्षणभरमें।
सबको तज भज एक इसीको तारनतरन शक्ति है इसमें॥ १॥ इत्यादि

अन्यमतावलम्बी एकान्तियोंको नयोंका यथार्थज्ञान और उनके संयोजनकी विधि आदिका

ज्ञान न होनेसे वे जगत्के उद्धारक नहीं हो सकते, चाहे वे लौकिक शक्तिके सबसे बड़े स्वामी क्यों न हों। लौकिक शक्ति और पारलौकिक शक्तिमें महान् अन्तर है। सच्चे धर्मके ज्ञाता और उसके धारक ऐसे सद्‌गुरु न्यायवान् ही हो सकते हैं जो समदृष्टि हों नयोंके पूर्ण जानकार और कुशल संचालक हों क्योंकि जो स्वयं न भूले हों वे ही अन्य भूले हुओंको निर्भूल कर सकते हैं। ऐसा न्याय है। विचार किया जाय !

गीतामें पण्डितका लक्षण

यस्य[1] सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ ॥—अध्याय ४

अर्थ—जिस जीवके सारे काम लौकिक और पारलौकिक आकांक्षा विना अर्थात् रुचि या कामना व संकल्प (निदान) से रहित हों वेगार जैसे हों तथा ज्ञान (भेदज्ञान) रूपी अग्निके द्वारा जो कर्मोंका क्षय करनेवाला हो; उसको पण्डित बुद्धिमान लोग कहते हैं। जिसमें उक्त गुण न पाये जावें वह पण्डित कहलानेके योग्य नहीं है यह तात्पर्य है, अस्तु।

'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' यह वेदवाक्य है

अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंका घात (हिंसा) नहीं करना चाहिये अर्थात् किसी भी प्राणीकी हिंसा करनेकी विधि या आज्ञा वेदमें नहीं है।

जैनमतके अनुसार 'यज्ञार्थं पशवः स्रष्टाः' आदि श्लोकका अर्थ निम्नप्रकार हो सकता है।

यज्ञार्थं पशवः स्रष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥

अर्थ—स्वयम्भूका अर्थ आत्मा है, जो किसीके द्वारा पैदा (जन्म) नहीं होता। यज्ञका अर्थ, पृथक् करना या त्यागना या निकालना होता है। पशुका अर्थ विकारीभाव होता हैं, जो अज्ञानरूप या जड़रूप है। भूत्यै का अर्थ कल्याण होता है। वधका अर्थ, हिंसा होता है और 'अवध' का अर्थ अहिंसा होता है। तदनुसार उक्त श्लोकका अर्थ ऐसा समझना चाहिये कि आत्मामें विकारीभाव (रागद्वेषादि) अपने आप (संयोगी या अशुद्ध पर्यायमें स्वयं ही) अनादिकालसे होते चले आ रहे हैं, उनको कोई परनिमित्त उत्पन्न नहीं करता, वे स्वयं अशुद्धोपादानसे प्रकट होते हैं। अतएव उनको आत्मामेंसे पृथक् करना या निकालना अत्यावश्यक है, तभी जीवोंका कल्याण या उद्धार

---

१. जैनमतके अनुसार यह लक्षण विवेकी सम्यग्दृष्टिका है जो संसार शरीर भोगोंसे अरुचि या विरक्ति रखते हुए भोगोपभोगादिका दवाईकी तरह सेवन करता है, उसमें उसको रुचि नहीं रहती। उसके साथ २ ज्ञानधारा व कर्मधारा (क्रियाकांड वगैरह) अविच्छिन्न रूपसे चलती रहती है। अर्थात् सम्यक् श्रद्धा व ज्ञान नहीं वदलता। (सच्चा रहता है) क्रिया चाहे कोई भी करने लगे। सब ज्ञानसे संयुक्त रहती है इत्यादि भाव जानना चाहिए। विवेकीका नाम ही पण्डित है, अस्तु।

हो सकता है अर्थात् विकारी भावोंके हटाए बिना मुक्ति नहीं हो सकती यह नियम है। ऐसी स्थितिमें भावोंका हटाना हिंसा नहीं मानी जा सकती याने उसको वध नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्वभावभावके आलम्बन लेनेसे विभावभाव (विकारीभाव) कभी रह नहीं सकते—हट जाते हैं। जैसे कि उजेलाके होनेपर अन्धकार स्वयं मिट जाता है, सफेदीके आनेपर मैल स्वयं नष्ट हो जाता है यह प्राकृतिक नियम है इत्यादि।

उक्त श्लोकका सही अर्थ न समझकर 'अजैर्यष्टव्यम्' की तरह मिथ्या अर्थ करके याने बकरोंको बलि द्वारा पूजन हवन करना चाहिये, ऐसा मिथ्या प्रचार कर दिया गया है जो बड़ा धोखा व अन्याय जीवोंके साथ किया गया है; किम्बहुना।

आचार्य कहते हैं जो जीव नयचक्रकी विशेषता याने उसके प्रयोग करनेकी विधि (संगति समन्वय) आदिको नहीं जानते—उसके विशारद नहीं है वे हानि उठाते हैं अर्थात् वे स्वयं आत्मकल्याण नहीं कर सकते व संसारमें भटकते रहते हैं। और दूसरोंको भी संसारसागरसे नहीं उबार सकते हैं।

(अतएव नयचक्रका जानना अनिवार्य है)

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥५९॥

पद्य

जिनवरका नयभेद चक्रसम घुमा सकत हैं वे गुरुजन।
ज्ञानी ध्यानी और अनुभवी बिना स्वार्थ करते साधन ॥
बिना ज्ञानके अज्ञानीजन करें कदाचित् चक्रचलन।
तेजधार अरु कठिन पकड़ वह सिर छेदे अरु करे पतन ॥५९॥

अथवा

तेजधार अरु दुर्धर भी है जिनमतका नयचक्र अपार।
बिना ज्ञानके कर देता है संचालकका मस्तक क्षार ॥
अत: समझ कर उसे चलाते—निज परकी रक्षा करते।
सद्गुरु ऐसे शरण सहाई, चरणोंमें मस्तक धरते ॥५९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [जिनवरस्य नयचक्रं अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं अस्ति] जिनेन्द्रदेवका याने जैन शासनका नयसमुदाय (नयप्रकरण या नयभेदप्रभेद) अत्यन्त पैने तेज धारवाले दुर्धर सुदर्शन चक्रके समान दुर्धर हैं अर्थात् उस नयसमुदायका समझना व प्रयोग करना बड़ा कठिन है, स्याद्वादी अनेकान्तविशारद सद्गुरु ही उसको अमलमें ला सकता है व लाभ उठा सकता है। अतएव [दुर्विदग्धानां धार्यमाणं मूर्धानं झटिति खंडयति] अज्ञानी मूर्ख जन यदि उस नय-

चक्रको विना समझे ही (ज्ञान हुए बिना ही) धारण करता है या उसका प्रयोग करता है वनाम संचालन करता है तो वह तुरन्त ही उसका मस्तक खंडित कर देता है या मौतके घाट उतार देता है। अर्थात् रक्षक ही भक्षक हो जाता है, वह अपनी व दूसरोंकी रक्षा नहीं कर सकता, यह तात्पर्य है ॥ ५९ ॥

भावार्थ—गुरुओंने या शास्त्रकारोंने नयोंके द्वारा ही वस्तुस्वरूपको समझकर शास्त्रोंमें वैसा लिखा है। क्योंकि क्षयोपशमज्ञानी खंड २ या अंश २ रूपसे ही वस्तुको समझते हैं अखंडरूपसे (पूर्ण) नहीं समझ सकते ऐसा नियम है। उसमें भी सम्यग्दृष्टि वैरागी हो यथार्थ समझ सकते हैं— दूसरे नहीं यह तात्पर्य है। इसके सिवाय सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी सम्यक्चारित्री होकर भी जवतक 'आत्मज्ञानी' नहीं होता अर्थात् निर्विकल्प समाधिरूप (रागादि रहित वीतराग) निश्चय रत्नत्रयको प्राप्त होनेवाले अपने आत्माका संवेदनरूप (स्वानुभवरूप) ज्ञान नहीं होता तबतक उद्धार होना असंभव है। संक्षेपमें सारांश (निष्कर्ष) यह है कि—

'रागद्वेषादि विकार रहित शुद्ध वीतराग निश्चय रत्नत्रय स्वरूप (विशिष्ट) अपनी आत्माका संवेदन या स्वानुभव होना, [1]आत्मज्ञानका होना कहलाता है, और कई प्रकारका ज्ञान होना, आत्मज्ञान नहीं है ऐसा समझना चाहिये यह तात्पर्य है।[2]

फलतः जो गुरु उक्त प्रकारके आत्मज्ञानी नहीं हैं वे न स्वयं संसारसागरसे पार हो सकते हैं न दूसरोंको पार लगा सकते हैं किन्तु वे ऐसे हैं कि—

'आप डुवन्ते पांडे अरु ले डूवें यजमान'

पत्थरकी नावके समान हैं कि स्वयं डूब जाती है और बैठने वालोंको भी डुवा देती है इत्यादि। ऐसी स्थितिमें जो जीव नय विशारद हों, नयोंके अच्छे ज्ञाता हों एवं उनका प्रयोग जहाँ जैसा करने लायक हो वैसा वे करें—भूलें नहीं, वे ही सद्गुरु हो सकते हैं, काष्ठकी नावके समान उन्हें कह सकते हैं। सम्यग्ज्ञानी-अज्ञानी, सुगुरु-कुगुरुमें यही भेद है। फलतः आद्यगुरु सर्वज्ञ वीतराग देव हैं, जो दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं। उत्तरगुरु—गणधर देव हैं, जो दिव्य ध्वनि

१. मेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप है या मेरा स्वरूप ज्ञान है, मैं ज्ञानस्वरूपी हूँ ऐसा अभेदरूपसे गुणगुणीका ज्ञान होना, आत्मज्ञान कहलाता है जो मिथ्यादृष्टिको नहीं होता है। वह अपने शुद्ध स्वरूपको नहीं जानता कि जानने देखनेवाला सबसे भिन्न मैं ही हूँ इत्यादि।

२. संक्षेपमें 'आत्मज्ञान'का अर्थ शुद्ध आत्माका अनुभव होना है, जिसका खुलासा 'आत्मस्वरूपका स्वाद' आना है, साथ-ही-साथ अपूर्ण सुखकी प्राप्ति होना है। अनुभवात्मक आत्मज्ञान उसको कहते हैं जो निराकुल सुखको उत्पन्न करे [अनुभव (स्वाद) सुखका जनक होता है] तथा वह अनुभव, मनके स्थिर होनेसे होता है। मन स्थिर, विकल्पोंके छूटने पर होता है। विकल्पोंका छूटना, रागादि कषायोंके छूटने पर होता है, ऐसा कार्यकारण भाव परस्पर है। तदुक्तं—

"वस्तु विचारत ध्यावते, मन पावे विश्राम रसस्वादत सुख ऊपजे अनुभव ताका नाम"

सुन समझकर द्वादशांग शास्त्रकी रचना करते है। उत्तरोत्तर गुरु, अन्य आचार्यादिक माने जाते हैं जो उस दिव्यध्वनि (जिनवाणी) का प्रचार करते हैं। ऐसा क्रम (गुरुपर्वक्रम) अनादिसे चला आ रहा है इसको समझना अनिवार्य है। अस्तु, अनेकान्तकी सिद्धि नयोंके द्वारा ही होती है। वह भी निश्चय और व्यवहार व द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंके ज्ञान द्वारा होती है अतः नय-विवरणका जानना जरूरी है ॥ ५९ ॥

उपसंहार कथन

नयचक्रको अच्छी तरह समझनेवालोंका मत है कि हिंसा सर्वथा पाप, अधर्म एवं हेय (त्याज्य) है, कभी किसी हालतमें वह उपादेय और धर्म नहीं हो सकती, यह आचार्य कहते हैं।

अवबुध्य हिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥६०॥

पद्य

जो जीवरक्षक 'धर्म'[1] का सेवक सदा रहता अहो!
उसका प्रथम कर्त्तव्य है कि चार[2]का ज्ञानि[3]व वो हो ॥
कौन हिंसा हिंस्य क्या है, कौन हिंसक फल जु क्या है?
उक्त विधिसे चारज्ञाता, अवश ही सब त्यागता है ॥६०॥

नयोंका जो ज्ञान रखता, भूल वह करता नहीं है।
नहीं जिसको ज्ञान ऐसा, पाप करता नित वही है ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [नित्यमवगूहमानैः] हमेशा जीव रक्षा करनेवाले, धर्म (अहिंसारूप) को पालनेवाले, जाननेवाले पुरुषार्थी जीवोंका कर्त्तव्य है कि वे [तत्त्वेन हिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिंसाफलानि अवबुध्य] यथार्थरूपसे (सम्यक् प्रकार) हिंस्यका या मारने योग्य जीव (शिकार) का तथा हिंसकका या मारनेवालेका तथा हिंसाका या (जीवघात या प्राणघातका) तथा हिंसाके फलका या हिंसा करनेसे क्या फल या दण्ड मिलता है या क्या हानि होती है? इन सब बातोंको अवश्य जान लेवें—उनमें भूल व प्रमाद न करें, ऐसा करनेसे वह [निजशक्त्या हिंसा त्यज्यताम्] अपनी शक्ति या योग्यताके अनुसार हिंसा जैसे पाप या अधर्मको अवश्य ही त्याग देंगे अथवा जानकारको उसे अवश्य हेय जानकर त्याग देना चाहिये ॥ ६० ॥

भावार्थ—बिना जाने किसीका त्याग करना या ग्रहण करना व्यर्थ माना जाता है। तद-

---

१. अहिंसा।
२. हिंसा आदि चार चीजोंका।
३. जानकार या ज्ञाता।

नुसार जबतक हिंसा-हिंस्य-हिंसक-हिंसाफल, इन चार बातोंका वास्तविक ज्ञान न हो जाय तबतक हिंसा या अधर्मका त्याग करना और अहिंसा या धर्मका ग्रहण करना कैसे बन सकता है, नहीं बन सकता। क्योंकि ज्ञानके बिना क्रिया सब बेकार या व्यर्थ होती है, ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है[1]।

अथवा दूसरा अर्थ—[तत्त्वेन] निश्चयनयसे [हिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिंसाफलानि अवबुध्य] हिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिंसाफल इन चार चीजोंको जानकर [नित्यमवगूहमानैः] निरन्तर प्रवृत्ति (उद्यम या पुरुषार्थ) करनेवाले विवेकी जीव [निजशक्त्या हिंसा त्यज्यताम्] पद व योग्यताके अनुसार हिंसाका त्याग अवश्य करें या करना चाहिये ॥ ६० ॥

निश्चय और व्यवहारनयसे हिंसादि चार बातोंका निर्धार

(क) निश्चयनयसे (१) 'हिंस्य' आत्माका स्वभाव भाव है या ज्ञानदर्शनादि भावप्राण हैं। उनकी ही हिंसा बचाना अनिवार्य व हितकारी है। तथा (२) हिंसक या घातक विकारीभाव होते हैं (रागादि विकार जीवके स्वभावको घातते हैं नहीं होने देते) तथा (३) हिंसा स्वभावका घात होना है, इसे ही जीवघात या प्राणघात कहते हैं। वह महान् पाप या अपराध है। तथा (४) हिंसा-का फल या नतीजा नवीन कर्मोंका बन्ध होना और संसारमें रहकर उनका फल भोगना है। यह स्वाश्रित चारों भेद हैं।

(ख) व्यवहारनयकी अपेक्षासे (१) हिंस्य, एकेन्द्रियादि परजीव माने जाते हैं। (२) हिंसक—परजीव होता है जो दूसरे जीवोंको मार डालता है। जैसे हिंस्य, चूहा है और हिंसक बिल्ली है इत्यादि। (३) हिंसा, द्रव्य प्राणोंका घात हो जाना याने शरीर व इन्द्रियोंका वियोग हो जाना है। (४) हिंसाका फल, नरक निगोद आदिको प्राप्त करना, घोर दुःखोंको भोगना है। यह सब पराश्रित कार्य हैं।

ऐसी स्थितिमें नयोंके ज्ञाता पुरुष पेश्तर अपनी ओर दृष्टि रखते हैं—अपना हानि-लाभ देखते हैं और वैसा आचार-विचार करते हैं, जो बुद्धिमानी है। यही निश्चय दृष्टि है जो हमेशा उपादेय है। ऐसे जीव अन्तर्दृष्टिवाले होते हैं, वे ही संसारसे पार होते हैं।

अन्तर्दृष्टिका अर्थ—अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) व बीचकी (मध्यकी) दृष्टिवाले भी होता है। अर्थात् बहिरात्मा और परमात्माके बीचकी अवस्थावाले चौथे गुणस्थानसे लेकर १२वें गुण-स्थान तकके जीव सविकल्पक होते हैं इत्यादि उन्हें अन्तर्दृष्टि कहते हैं ऐसा समझना चाहिये। अतएव उक्त प्रकारके अन्तर्दृष्टिवाले अन्तरात्मा अपना लक्ष्य संयोगीपर्यायसे छूटनेका ही रखते हैं बाहरी लक्ष्य नहीं रखते। यदि कदाचित् अनिच्छासे वह हो भी जाय तो उससे उन्हें हर्ष या प्रसन्नता नहीं होती किन्तु दुःख और हेयता ही होती है। वे सोचते हैं कि यद्यपि संयोगीपर्यायमें या कषायके साथ योगोंके रहते समयमें कभी कषायके अनुसार योग हुआ करते हैं (शरीर आदिकी

---

१. उक्तं च—हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चा ज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलांधको दग्धः, पश्यन्नपि च पंगुलः ॥—राजवार्तिक, अकलंकदेव।

क्रिया वैसी होती है) और कभी योगोंके अनुसार कषायोंकी वृत्ति (परिणमन) हुआ करती है, किन्तु कषायोंके अभाव हो जाने पर, शरीरादिकी क्रियासे कषाय-भावोंका अस्तित्त्व नहीं माना जा सकता, वह शरीरकी पारिणामिकी क्रिया मानी जाती है, नैमित्तिकी नहीं, यह भाव है। अस्तु। वह सभी बाह्य क्रियाएँ व प्रवृत्तियाँ अरुचिपूर्वक करता है।

व्यवहार दृष्टिवाले, हमेशा मुख्य रूपसे परकी ओर ही दृष्टि रखते हैं, अतः परजीवोंकी रक्षा (दया-करुणा) करते हैं और अहिंसा धर्मके पालक अपनेको मानते हैं तथा धनादि परद्रव्यों-का त्याग करते हैं और त्यागी मुनि तपस्वी निष्परिग्रही अपनेको समझते हैं। संयमादि पालनेसे याने रसादिकके या भोजनादिके या इन्द्रियोंके विषयोंके त्याग देनेसे अपनेको संयमी चारित्रधारी (श्रमणा-समदृष्टि साधु) समझते हैं इत्यादि सब वहिर्दृष्टि भूलभरी दृष्टि है जो अन्तमें हेय है क्योंकि वह अन्तर्दृष्टि नहीं है या स्वोन्मुख दृष्टि या शुद्ध वीतरागदृष्टि नहीं है, जो 'आत्मानुभव रूप है' विना उसके समदृष्टि, श्रामण्यपना आदि हो नहीं सकता ऐसा तात्पर्य है और बिना उसके संयम व चारित्र व धर्म व सम भावका होना असंभव है। बस, यही भूतार्थ वोध न होनेसे सारा संसार भूला हुआ है जो श्लोक नं० ५ में कहा गया था। तभी तो व्यवहार धर्मको धर्म, पर जीवके घातको हिंसा व अधर्म, बाह्य चीजोंके त्यागनेको व्रत या त्याग चरित्र आदि मान रहे हैं जिससे कभी कल्याण या उद्धार होनेवाला नहीं है। पराधीनता या परका आश्रय लेना कभी हितकारी नहीं हो सकता, जबतक स्वाश्रय या स्वावलंबन न लिया जाय, स्वतन्त्रता प्राप्त न की जाय, क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है इत्यादि सारांश है।

अन्तमें इस श्लोकके अनुसार हिंसा आदिको समझकर उनका त्याग करना उचित है, तभी धर्म पल सकता है और अधर्म त्यागा जा सकता है सबका सार यही है, इस ग्रन्थका यही उद्देश्य है किम्बहुना ध्यान दिया जाय। संयोगीपर्यायमें एकदृष्टि (द्रव्य या पर्याय, निश्चय या व्यवहार) नहीं रखना चाहिए—सापेक्षदृष्टि या स्याद्वाददृष्टि अवश्य रखना चाहिये जबतक अशुद्ध दृष्टि सत्तामें (मौजूद) रहे। पश्चात् जब वह अपने आप शुद्ध हो जाती है तब उसमें सापेक्षता और निर-पेक्षता का विकल्प ही नहीं रहता सिर्फ एक ज्ञाता दृष्टि ही रह जाती है, जो पारिणामिक भाव या द्रव्य दृष्टि है, ध्रौव्यरूप है ॥ ६० ॥

चौथा अध्याय

धर्मप्राप्तिकी भूमिका

अहिंसाधर्मको पालनेके लिये विविध प्रकारकी हिंसाका त्याग करना वनिवार्य है उसका क्रमवार त्याग करना वताया जाता है।

[अष्टमूलगुण पालन]

मद्यं मांसं क्षौद्रं पंचोदम्बरफलानि[1] यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ ६१ ॥

पद्य

हिंसात्याग भावना जिसके उसका मुख कर्त्तव्य यही—
मद्य मांस अरु मधु त्यागना, पंच उदम्वर ग्रहण नहीं ॥
व्रत पालनकी यही भूमिका, व्यवहरनय वतलाती है ।
निश्चयनयसे मनशुद्धि ही—भूमिशुद्धि कहलाती है ॥६१॥

आठ वस्तुएँ निमित्तकारण—हिंसाकी मानी जातीं ।
अतः उन्हींका त्याग कहा है, दयाधर्म सूचक होतीं ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हिंसाव्युपरतिकामैः] जो जीव (मुमुक्षु) हिंसा करनेसे विरक्त होते हैं अर्थात् हिंसाको त्यागनेकी भावना रखते हैं, उनको [प्रथममेव यत्नेन, मद्यं, मांसं, क्षौद्रं पंचोदम्बरफलानि मोक्तव्यानि] चाहिये कि वे अहिंसा धर्म पालनेके लिये पहिले या प्रारंभमें ही—मद्य-मांस-मधु (क्षौद्र) का तथा पाँच उदम्वर फलोंको खानेका अवश्य त्याग करें क्योंकि उनके खानेमें हिंसा अधिक और लाभ कम होता है और वे जीवनके अनिवार्य कारण भी नहीं हैं इत्यादि ॥ ६१ ॥

---

१. यहाँ पाँच उदम्वर फलों (अमर, कठूमर, वड़, पीपर, पाकर) का त्याग करना ५ मूलगुण तथा मदिरा, मांस, मधु (शहद) का त्याग ३ मूलगुण कुल ८ मूलगुण वतलाए हैं क्योंकि उक्त आठ वस्तुओंमें वहुत जीवराशि रहती है वह उनके ग्रहण करने (खाने) से नष्ट होती है जो हिंसारूप है पाप या दोषरूप है। उनका त्याग करना गुणरूप है ऐसा समझना चाहिये। वही व्रत या धर्मकी नीव है सो प्रत्येक जैन श्रावक को चाहिये कि उक्त आठ मूलगुणोंको प्रथम पालन कर धर्मके अधिकारी (पात्र) बनें। इनमें मतभेद है जो वताया गया है।

भावार्थ—अहिंसा धर्म ही (अन्तरंग बहिरंग हिंसाका त्याग ही) जैन धर्ममें सबसे बड़ा धर्म माना गया है, जिसको वीतराग धर्म या निश्चय धर्म भी कहा जाता है। परन्तु उसको प्राप्त करनेके लिये पहिले भूमिका या नीव बनाई जाती है वह भूमिका पहिले (व्यवहारसे) दया मन्द-कषायके रूपमें बनाई जाती है। अर्थात् चरणानुयोगकी पद्धतिके आलम्बनसे शुरू की जाती है, जिसे व्यवहारशुद्धि कहते हैं। जैसे कड़ी जमीन जब कुछ नरम या गीली होती है तब उसको साफ किया जाता है याने शुद्ध बनाया जाता है। उसी तरह तीव्र कषायके कुछ मन्द होने पर ही दयालुता या जीवरक्षारूप धर्म उत्पन्न होता है। अत: उसके लिये प्रारंभमें, जिनके बिना भी जीवन स्थिर रह सकता है और हिंसापाप बच सकता है, ऐसी अनावश्यक चीजोंका त्याग करना बताया गया है अर्थात् 'एक पन्थ दो काज' होते हैं। अर्थात् धर्म सधता (पलता) है और प्राण-रक्षा भी होती है इत्यादि लाभ है इत्यादि। ऐसी स्थितिमें लोकापवादसे बचनेके लिये और धर्मकी प्राप्तिके लिये उक्त अभक्ष्य आठ चीजोंका त्यागना अनिवार्य है। अष्टमूलगुणधारी (पालक) जीव ही पात्रदानका अधिकारी होता है दूसरा नहीं यह तत्काल विशेषता होती है।

सामान्य न्यायसे देखा जाय तो ये आठ मूलगुण हैं, जो प्रत्येक जैन गृहस्थको भी धारण करने योग्य हैं व धारण करना चाहिये। तभी इनके साथ मूल (प्रारंभ) विशेषण लगा हुआ है। अगर यथार्थ पूछा जाय तो जिसके मनमें या भावोंमें 'दया या करुणा' का अभाव हो वह जैन नहीं है—वह क्रूर परिणामी हिंसक अजैन जैसा है अस्तु। यह ध्यानमें रखते हुए 'सदाचार' से रहना जरूरी है चाहे व्रती हो, या अव्रती हो परन्तु जैन हो। व्यवहारधर्मकी यह नीव है और अनादि कालसे संयोगी या अशुद्ध पर्यायमें व्यवहाररूप वृत्ति जीवकी होती आ रही है जबतक शुद्ध दृष्टि न हुई हो। शुद्धदृष्टि (निश्चयश्रद्धा) या आंशिक शुद्धपर्यायके समय 'निश्चय मोक्षमार्ग ही पहिले हुआ करता है' किन्तु जब उसमें (शुद्धोपयोग या वीतरागतामें) वह स्थिर नहीं रह पाता अर्थात् उससे विचलित जीव होता है तब व्यवहारधर्म (शुभोपययोग व शुभक्रियाकांड) में उपयोग (मन) को लगाता है, इतना ही नहीं वह उपयोगको एवं योग (प्रवृत्ति) को अशुभसे प्रयत्न करके बचाता है यह उस व्यवहार मोक्षमार्गी सम्यग्दृष्टिकी विशेषता है। अरुचि करता रहता है।

आठ मूलगुणोंके भेद

१. जिनसेनाचार्य—पाँच अणुव्रतोंको पालना, मधु, मांस और द्यूतका त्याग करना ये आठ मूलगुण मानते हैं। ये सिर्फ मद्यके स्थानमें जुआका त्याग करना बताते हैं यह थोड़ा भेद है।

२. समन्तभद्राचार्य—पाँच अणुव्रतोंका पालन करना और मद्य मांस मधुका त्याग करना आठ मूलगुण कहते हैं।

३. अमृतचन्द्राचार्यका तो उपर्युक्त मत है ही जो सोमदेव आचार्यसे मिलता है। सोमदेव आचार्य भी यही मानते हैं।

४. वसुनन्दी आचार्य--सात व्यसनोंका त्याग करना ७ तथा पाँच उदम्बर फलोंका त्याग करना १ कुल ८ मूलगुण मानते हैं।

५. पं० आशाधरजी—मद्यमांस मधुका त्याग ३, पाँच उदम्बर फलोंका त्याग १, रात्रि भोजन त्याग १, देवदर्शन करना १, जीवरक्षा करना १, जल छानकर पीना १, कुल ८ आठ मूल गुण होते हैं। यह बताते हैं।

नोट—अष्ट मूलगुणोंके सम्बन्धमें मतभेद होने पर भी लक्ष्य सबका एक है और वह हिंसा-पापसे बचना है। सबसे अधिक पाप रसना इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रियोंके द्वारा होता है। इन दोनों पर नियंत्रण होना कठिन प्रतीत होता है और ये दो इन्द्रियाँ ही प्रायः सभी जीवोंके पाई जाती हैं। तदनुसार ही आचार्योंने पेश्तर रसनेन्द्रियके आधारसे हिंसापापको छुड़ाया है क्योंकि मद्य आदिक सब रसनेन्द्रियके ही विषय हैं, जिनमें असंख्याते जीव रहा करते हैं और उनके सेवनसे उनका विघात होना अवश्यंभावी है। फलतः यथाशक्ति उनका त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है। अतएव मूलमें उन्हींको लेकर अष्टमूलगुण नाम रखा है अस्तु। अष्टमूलगुणोंका पालन दो तरहसे होता है (१) अतिचार सहित (२) अतिचार रहित, परन्तु वह योग्यता या पदके अनुसार होता है जो आगे बताया जायगा। दयाधर्मको पालनेवाले सब तरहसे विचार करते हैं। समुदायरूपसे आठों चीजोंके सेवनसे हिंसा होती है यह तो बतला दिया गया। अब पृथक् २ का दोष बतलाया जाता है। खानपानकी शुद्धि करना पहिला कर्त्तव्य है ॥ ६१ ॥

मद्य (मदिरा) के सेवनसे द्रव्यभाव दोनों हिंसाएँ होती हैं।

मद्यं मोहयति[1] मनः मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्[2] ।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशंक[3]माचरति ॥ ६२ ॥

पद्य

मद्यपानके करनेसे जीवोंका मन[4] मूर्छित होता।
मूर्छित मन होनेके कारण वह तो धर्म भूल जाता॥
धर्मभूल होनेके कारण निर्भय वह हो जाता है।
पापपुण्यका भेद न करके निर्भय हिंसा करता है॥ ६२ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [मद्यं मनः मोहयति] मदिराके पीनेसे इन्द्रियाधीन मन या उपयोग (ज्ञान) बेहोश या विवेकरहित पागल जैसा मूर्च्छित (अचेत) हो जाता है। [तु

१. अचेत या मूर्च्छित—विवेक रहित।
२. न्याय या दया।
३. निर्भय—निरंकुश।
४. उपयोग या चेतना।

मोहितचित्त: धर्मं विस्मरति] और मूर्च्छित या विवेकहीन जीव, धर्म या कर्त्तव्यको भूल जाता है या उसको कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका ज्ञान नहीं रहता तब [विस्मृतधर्मा जीव: अविशंकं हिंसामाचरति] धर्मको भूल जानेवाला जीव निर्भय और निरंकुश (स्वच्छंद) होकर हिंसापापको करने लगता है, यह नतीजा होता है—द्रव्य और भाव दोनों हिंसाएँ करता है ।। ६२ ।।

भावार्थ—परिणाम (चित्त या भाव) खराव होनेसे अर्थात् तरह २ के कुविचार (विकल्प) होनेसे भावहिंसा होती है (स्वभावभाव घाते जाते हैं) और उन मदिरा आदि पदार्थोंमें अनगिनत जीव होनेसे उनका घात होनेपर द्रव्यहिंसा भरपूर होती है तथा बड़े-बड़े लोकनिन्द्य काम वह कर डालता है, जिससे भयंकर दण्ड आदि इसी लोकमें वह पाता है लोग उससे घृणा करते हैं—द्रव्य नष्ट होता है इत्यादि अनेक हानियाँ होती हैं, अतएव वह सर्वथा त्याज्य है। मद्यपायोको दुर्दशा इस लोक और परलोक दोनोंमें होती है, वह लोकमें मार खाता है, उसके जहाँ-तहा गिर पड़नेसे हाथ-पाँव शिर घायल हो जाते हैं, अशुचि स्थानमें वेहोश पड़ा रहता है, कुत्ते भी पेशाव कर देते हैं वह मुर्दा जैसा पड़ा-पड़ा सव सहन करता है इत्यादि सजा मिलती है तथा परलोकमें खोटा वन्ध होनेके कारण असह्य नरकादिके दुःख भोगना पड़ते हैं, इत्यादि वुराइयाँ वतलाई जाती हैं अस्तु। मदिरा पीने वालोंका स्वास्थ्य भी विगड़ जाता है। दमा, खाँसी होते हैं उनके फेफड़े खराव हो जाते हैं और हार्ट फेल भी हो जाता है इत्यादि हानि होती है अतः हेय है ।। ६२ ।।

आगे पुनः द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनों मदिरापानसे होती हैं यह बतलाते हैं

रसजानां[1] च वहूनां जीवानां योनिरिष्यते[2] मद्यम् ।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ।।६३।।
अभिमानभयजुगुप्सा हास्यारतिशोककामकोपाद्याः ।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः[3] ।।६४।।

पद्य

रसमें पैदा होने वाले जीवोंकी वह योनि है।
मदिरा पीने वालोंसे तव हिंसा उनकी होती है ।।

---

१. हमेशा तरल या गीले रहनेसे उसमें उत्पन्न होनेवाले सम्मूर्च्छन जीव। मदिराकी उत्पत्ति अनेक तरहके फलफूल वीज आदिको वहुत समय तक सड़ाने-गलानेसे होती है, जिसमें असंख्याते जीव उत्पन्न होते हैं व हमेशा उत्पन्न होते रहते । अतः उन्हें 'रसज' याने रससे उत्पन्न होनेवाले कहा जाता है ।

२. खान या उत्पत्ति स्थान ।

३. मदिराके निकट सम्वन्धी याने उसीके समान स्वभाववाले रिश्तेदार इत्यर्थः ।

वही द्रव्य हिंसा है जिसमें, द्रव्यप्राण घाते जाते।
अतः त्याग उसका बतलाया, धर्मपालने के नाते ॥६३॥

अभिमानादिक जे भाव विकारी वे भी उससे होते हैं।
उनसे भी हिंसा होती है भावप्राण नश जाते हैं॥
हिंसाकी पर्याय विकारीभाव, सदा माने जाते।
उनसे सुधबुध नष्ट होत हैं, अचेत दशा दोनों करते ॥६४॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [चामद्यं रसजानां बहूनां जीवनां योनिः इष्यते] पुनः (फिर] तरलता या गोलापन (रसरूप) से हमेशा उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी योनिरूप (उत्पत्ति स्थान) वह मदिरा है अर्थात् असंख्याते त्रस जीव उसमें सदैव उत्पन्न होते रहते हैं तब [मद्यं भजतां तेषां अवश्यं हिंसा संजायते] उस मद्यका पान करने वालोंके उन जीवोंका घात होनेसे हिंसा पाप अवश्य ही होता है अर्थात् उनके द्रव्यहिंसा सदैव हुआ करती है ऐसा समझना चाहिये ॥६३॥

इसी तरह

[च] और [सरकसन्निहिताः अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि भवन्ति] मदिराके ही समान स्वभाव या कार्यवाले अर्थात् अचेतता उत्पन्न करनेवाले (होशहवास विगाड़नेवाले विवेक रहित बनानेवाले) अहंकार, (घमण्ड गर्व) भय, (शंका) घृणा, (ग्लानि-द्वेष) हँसी, अप्रीति, शोक, विषयसेवनकी इच्छा, क्रोध आदि विकारीभाव भी मदिरापान करनेवालों के होते हैं जो कि हिंसाके ही पर्यायवाची शब्द या नाम हैं कारण कि वे भी जीवके स्वभावोंको घातते हैं, नहीं होने देते यह भाव है। तब दोनोंका समान स्वभाव या कार्य होनेसे दोनों निकट सम्बन्धी हैं ऐसा समझना चाहिये अथवा उनका परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है यह विश्वास करना चाहिये। मदिरा निमित्तकारण है और विकारीभाव (अभिमानादि) नैमित्तिक हैं ऐसा खुलासा है। इनसे भाव हिंसा होती है यह भेद है। परन्तु दोनों त्याज्य (हेय) हैं ॥६४॥

भावार्थ—हिंसाएँ तो दोनों (द्रव्य व भाव) बुरी हैं, अधर्म रूप हैं अतः उनका सम्पर्क या संयोग छोड़ना अनिवार्य है, परन्तु उनका छूटना क्रमसे होता है। संयोगी पर्यायमें सभीका संयोग एक साथ नहीं छूटता। ऐसी स्थितिमें पेश्तर लोकाचारके अनुसार बाह्य द्रव्यहिंसाका त्याग तो योग्यतानुसार करना ही चाहिये (इसीमें पाँचों पापोंका त्याग शामिल रहता है)। उसी द्रव्य हिंसाको बचानेके लिये बाहिर मदिरादिकका त्याग कराया जाता है। द्रव्यहिंसाके विषयमें पं० आशाधरजी अपने ग्रन्थ सागारधर्मामृतमें लिखते हैं कि—

यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति जीवाश्चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति।
[1]यद्विक्लवाश्चेममुंच लोकं यस्यन्ति तत्कश्यं[2]मवश्यमस्येत् ॥६४॥ —सागार०

---

१. सेवक।
२. मदिरा।

अर्थ—जिस मदिराकी एक बूँदमें रहनेवाले छोटे २ असंख्याते जीव यदि परेवाके बराबर होकर उड़ें तो तीन लोकमें न समावें इतनी बड़ी संख्या (राशि) उनकी है, उसके पीनेवाले उन सबका घात कर देते हैं। अतएव उस असंख्यात जीवोंके आधार (योनि) भूत मदिराको, जो दोनों लोकों अर्थात् इसभव-परभव या पर्यायोंको बिगाड़ देता है, अवश्य ही त्याग देना चाहिये। उसका छूना भी वर्जनीय है फिर सेवन करनेकी तो बात ही क्या है ? वह वस्तु हमेशा वर्जनीय है इसीलिये अष्टमूलगुणोंमें उसको प्रथम स्थान दिया गया है किम्बहुना। मदिरा पीनेवालेका मानसिक संतुलन नष्ट हो जाता है अतः वह कभी आत्मघात भी कर बैठता है और बेकाबू हो जाता है।

विशेषार्थ—यद्यपि संयोगीपर्यायमें जीव मदिरादि या अन्नादि परद्रव्यका सेवन करता है जो उपचार या व्यवहारका कथन है। असलमें निश्चयसे देखा जाय तो जीव चेतनद्रव्य है, उसकी खुराक जड़ मदिरा, अन्न आदि परद्रव्य नहीं हो सकती किन्तु जीवकी खुराक उसका स्वभाव है, जिससे वह हमेशा जीता रहता है। हाँ, उस जीवका ज्ञानगुण संयोगीपर्यायमें पराधीन या इन्द्रियाधीन है और इन्द्रियाएँ जड़ पौद्गलिक हैं। सो जब उनके साथ जड़ मदिरा आदिका संयोग होता है तब उनमें विकार उत्पन्न होता है, जिससे उनकी सहायतासे होने वाला ज्ञान भी विकृत (अन्यथा) हो जता है, तब ज्यों-का-त्यों (सही) वह नहीं जानता—भूल जाता है। अतएव उस मदिरा आदि विकृत परद्रव्यका भी संयोग सम्बन्ध छोड़नेका उपदेश दिया जाता है, क्योंकि वह निमित्त कारण है, उससे परिणामोंमें विकार होता है—रागादिक कषायभाव प्रकट होनेमें मदद मिलती है, जिससे उस जीवकी (मद्यपायीकी) स्वयं हिंसा होती है, स्वभाव भावोंका घात होता है तथा मद्यादिमें रहने वाले अनन्त जीवोंकी हिंसा होती है अतएव दोनों हिंसाओं (भाव व द्रव्य) से वचनेके लिये मद्यादिका छोड़ना जरूरी है ऐसा खुलासा समझना चाहिये अस्तु, तभी धर्मका पालन हो सकता है अर्थात् हिंसाके छूटनेसे व 'अहिंसा' के होनेसे ही धर्मात्मा बन सकता है इति ॥ ६४ ॥

२. मांसके खाने (भक्षण करने) से भी हिंसा होती है यह बताते हैं

न विना प्राणविघातात् मांसस्योत्पत्तिरिष्यते[1] यस्मात् ।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता[2] हिंसा ॥ ६५ ॥

पद्य

जीवघातके विना न होती मांस वस्तुकी उत्पत्ती।
अतः मांसके खानेवालोंसे हिंसा वरवस होती ॥

---

१. उत्पन्न होती है।
२. अनिवार्य-वरवस, अवश्यंभावी।

बदनामी भी होत जगत्में घृणादृष्टि उनपर रहती।
क्रूरदृष्टि उनकी रहती है, नहीं दया क्षणभर रहती[1] ॥ ६५ ॥

पापबंध भी होत निरंतर दुखी सदा वे रहते हैं।
पापबीज दुःखोंका जानें हिंसामें जो रमते हैं ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यस्मात् प्राणविघातात् विना मांसस्य उत्पत्तिः न इष्यते] जब कि विना जीवोंके मारे (घाते) मांसकी उत्पत्ति नहीं होती या हो सकती है ऐसा नियम है। [तस्मात् मांसं भजतः हिंसा अनिवारिता प्रसरति] तब मांसके खाने वालोंके हिंसाका होना अनिवार्य है अर्थात् हिंसा अवश्य २ होती है ॥ ६५ ॥

भावार्थ—हिंसापाप सब पापोंमें प्रधान या मूल है, उसीके सब भेद हैं यह पहिले कहा जा चुका है। परन्तु वह हिंसा दो तरहकी होती है अर्थात् एक स्वाश्रित (आत्माके भावप्राणोंका घात होनेसे) दूसरी पराश्रित अर्थात् अन्य जीवोंका घात होनेसे। ऐसी स्थितिमें मांस सम्बन्धी हिंसा पराश्रित हिंसा समझना चाहिये क्योंकि मांसकी उत्पत्ति, अन्य त्रसजीवोंके मारनेसे (शिकारसे) होती है—उनका शरीरपिंड ही तो मांस कहलाता है अतएव जब मांसभोजी जीव उसका सेवन करते हैं तब तदाश्रित असंख्याते जीवोंका घात (हिंसा) निरन्तर होता रहता है तथा मांसभोजी महान् क्रूरस्वभाव वाले निर्दयी तामस प्रकृतिके हुआ करते हैं उनके हृदयमें दयाका संचार या दयाकी भावना (धारा) बिलकुल नहीं रहती इत्यादि फलस्वरूप उस हिंसासे वे खोटा (कुगति आदि) कर्मबंध करते हैं और उसके उदय आने पर वे महान् दुःख भोगते हैं और उस समय राग-द्वेष या इष्ट अनिष्टरूप विकल्प या भाव होनेसे नवीन बंध होता है इस तरह दुःख और बंधकी शृंखला अनन्त काल तक चालू रहती है इसलिये मांस आदिके सेवन करनेसे होने वाला पाप, बंधका मूल कारण सिद्ध होता है ऐसा समझकर विवेकी जीव उसका त्याग ही कर देते हैं।

विशेषार्थ—प्रकृति या नामकर्मकी रचनाके अनुसार प्रायः जीवोंकी आकृति और खुराक भिन्न २ प्रकारकी देखनेमें आती है। मनुष्यजातिकी आकृति स्वभावतः नरम व शान्त रहती है अतएव उसकी खुराक (आहार) भी साधारण—सादो (अन्न खानेकी) होती है उनकी खुराक मांस नहीं है अन्न है। मांसका खाना दानवोंका है, मानवोंका नहीं है। थलचर पशुओं (गाय, भैंस आदि) का आहार घास-पत्ता है। नखवाले पशुओं (सिंहादि) का आहार क्रूरस्वभाव वाले होने से, मांस है। पक्षियों (नभचरों) का आहार, फल पुष्पादि है। तब उक्त प्राकृतिक नियमको उल्लंघन कर मांस खाने वाला मनुष्य महान् अपराधी सिद्ध होता है और उसे परभवमें या कभी २ इसी भवमें कठोर सजा मिलती है।

मांस कितना अशुचि पदार्थ है, जिसके देखने मात्रसे घृणा उत्पन्न होती है, दुर्गन्धि आती है, मक्खियाँ भिनकती हैं, खानेवाले दुष्ट क्रूर परिणामी होते हैं। अतएव किसी भी अवस्थामें वह खाने योग्य वस्तु नहीं है, अस्तु। इसीका और खुलासा आगे प्रश्नोत्तरके रूपमें किया जाता है ॥ ६५ ॥

---

१. धारा नहीं चलती।

यहाँ कोई मांसभक्षी तर्क करता है कि यदि किसी जीवको मारकर खाया जाय तो वह मांसभक्षी व हिंसापाप करने वाला माना जा सकता है किन्तु अपने आप (आयु पूर्ण होने पर) मर जानेवाले पशुओंका कलेवर (मांस) खानेसे न हिंसा होती है न मांस खानेका दोष लगता है (न लगना चाहिये)?

आचार्य इसकका उत्तर देते हैं।

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोत[1]निर्मथनात्[2] ॥ ६६ ॥
आमास्वपि[3] पक्वास्वपि[4] विपच्यमानासु[5] मांसपेशीषु[6]।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीयानां[7] निगोतानाम्[8] ॥ ६७ ॥

पद्य

भैंस गाय आदिक पशुओंका मांस मर गये भी होता।
उसके खानेसे होती है हिंसा जब घर्षण होता ॥ ६६ ॥

कच्ची पक्की और पक रही दशा तीन विध होती है।
तीनोंमें ही उत्पति होती—जीवराशि वह मरती है ॥ ६७ ॥

सम्मूर्च्छन है नाम उन्हींका नाम निगोत धराते हैं।
उनका जन्ममरण नित होता—लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [किल स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः यत् मांसं भवति] जो गाय, भैंस आदि पशु स्वयं आयुके पूर्ण हो जाने पर मर जाते हैं उनसे जो होता है वह भी निश्चयसे मांस ही कहलाता है और [तत्रापि हिंसा भवति] उसके सेवन करने (खाने) से भी हिंसा अवश्य होती है क्योंकि [तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्] उस मांसके आधारभूत जो सम्मूर्च्छन (निगोत) जीव रहते है अर्थात् उसमें उत्पन्न होते हैं, वे घर्षण करनेसे या चबानेसे या स्पर्शादि करनेसे अवश्य ही मर जाते हैं, तब हिंसा बराबर होती है, यह सम्भव है ॥ ६६ ॥

---

१. सम्मूर्च्छन जीव।
२. घर्षण या मसलन या दबाउरा।
३. कच्चा या गीला (आर्द्र)।
४. सूखा (चमड़ारूप)।
५. अधपका-चुराया जा रहा।
६. मांसकी डली (टुकड़ा)।
७. उसी जातिके भैंस, गाय वगैरह।
८. गोत्र वाले, याने उसी कुल-गोत्र वाले जीव। अथवा सम्मूर्च्छन जीव।

तथा

[अपि आमासु वा पक्वासु वा विपच्यमानासु मांसपेशीषु] और मांसकी डली चाहे कच्ची (गीली या आर्द्र तत्कालकी) हो या पकी सूखी हो या अधपकी (कुछ गीली कुछ सूखी) हो उसमें [सातत्येन तज्जातीयानां निगोतानां उत्पादः भवति] निरन्तर उसी जातिके (जिस जातिका मांस हो) सम्मूर्च्छन (लब्ध्यपर्याप्तक) जीव उत्पन्न होते रहते हैं अतः मांसके या चमड़ाके भी उपयोग (सेवन) करनेसे, उनका घात (हिंसा) होना अनिवार्य है ॥ ६७ ॥

भावार्थ—मांसपिंड, चाहे स्वयं मरे हुए जानवरका हो या मारे गये जानवरका हो अथवा चाहे वह गीला हो या सूखा हो या अधसूखा हो, उसमें हर समय उसी जातिके सम्मूर्च्छन त्रसजीव-लब्ध्यपर्याप्तक उत्पन्न होते हैं, अतः जो प्राणी (लोग) उसका सेवन या उपयोग करते हैं वे असंख्याते जीवोंका घात (हिंसा) बराबर करते हैं, जिसका फल उनको भयंकर दुःखोंके रूपमें भोगनेको मिलता है ऐसा समझना चाहिये एवं उसका उपयोग करना छोड़ देना चाहिये यही मनुष्यता है, विवेकशीलता है, किम्बहुना। चमड़ेकी चीजोंका उपयोग करना भी इसीलिये वर्जनीय है, क्योंकि उसमें उत्पन्न होने वाले जीवोंकी हिंसा स्पर्शसे, रगड़से, कुचने-पिचनेसे अवश्य होती है।

सारांश यह है कि 'मांस' यह एक शरीरगत धातु है, जो कि रक्तसे उत्पन्न होती है अर्थात् पहिले शरीरमें जानेवाले पदार्थ खलरूप परिणत होते हैं, पश्चात् वे ही खलरूप (खरीरूप) पदार्थ, रसरूप (पानीकी तरह तरल) परिणत होते हैं। उसके बाद वह रसभाग, रक्तरूप (खूनरूप) परिणत होता है। फिर वही रक्त, मांसरूप (पिंड वकड़ा) परिणत होता है। फिर मांससे चर्वी उत्पन्न होती है। चर्वीसे (मेदासे) हड्डी बनती है। उस हड्डीसे मज्जा (छोटे नसाजार) होती है और मज्जासे वीर्य उत्पन्न होता है तथा फलस्वरूप वीर्यसे सन्तान उत्पन्न होती है। इस प्रकार प्रक्रिया[1] है।

नोट—इनमें विशेषता यह है कि जबतक ये धातुएँ गरम (उष्ण) रहती हैं तबतक उनमें जीव उत्पन्न नहीं होते वे प्रासुक याने जीव रहित होती हैं और जब वे ठंडी हो जाती हैं तब उनमें जीवराशि उत्पन्न हो जाती है ऐसा जानना।

फिर मरे हुए व मारे हुए जीवोंके मांसमें भेद करना मूढ़ता (अज्ञानता) है—दोनों तरहके मांसपिंडमें कोई भेद नहीं होता, दोनों त्याज्य हैं, दोनोंमें जीवराशि उत्पन्न होती है व मरती है अतएव मांस सदैव वर्जनीय है।

यहाँ पर हिंसाके प्रकरणमें मुख्यतया द्रव्यहिंसाका कथन किया गया है जो लोक प्रसिद्ध है। परन्तु उसके साथ २ भावहिंसाका कथन भी सिद्ध हो जाता है क्योंकि बिना कषायभावोंके (भाव

---

१. उक्तं च—

रसाद्रक्तं ततो मांसं, मांसान्मेदः प्रवर्त्तते।
मेदतोऽस्थि ततो मज्जं, मज्जाच्छुक्रं ततः प्रजाः ॥ चरक ॥

हिंसारूप) द्रव्यहिंसा बहुधा नहीं होती, भावहिंसापूर्वक द्रव्यहिंसा होती है यह नियम है। उसको ही संकल्पी द्रव्यहिंसा कहा जाता है। तथा खानेका राग होना व खाकर रागका होना सभी भावहिंसा रूप है अस्तु ॥ ६७ ॥

अन्तिम निष्कर्ष

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति[1] वा पिशितपेशीं[2] ।
स निहन्ति सततनिचितं[3] पिंडं बहुजीवकोटीनाम्[4] ॥ ६८ ॥

पद्य

गीली सूखी अधसूखी भी मांस डली जो होती है।
उसमें जीवराशि बहु होती खानेसे वह मरती है ॥

पाप बड़ा हिंसासे होता—धर्म अहिंसासे होता।
इतना नहीं विवेक जिसे है—जन्म अकारथ[5] वह खोता ॥ ६८ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यः आमां वा पक्वां वा पिशितपेशीं खादति वा स्पृशति] जो जीव गीले या सूखे मांसकी डली (टुकड़ा) को भी खाता है या छूता भी है [स बहुजीव-कोटीनां सततनिचितं पिंडं निहन्ति] वह बहुत कालसे संचित हुए (एकत्रित) अनंते जीवोंके पिंड (समुदाय-राशि) को नष्ट कर देता है अर्थात् उनकी हिंसा कर देता है, यह पाप उसे लगता है। अतएव उसका त्याग ही विवेकी जीवोंको कर देना चाहिये अन्यथा उनकी ज़िन्दगी बेकार समझना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥ ६८ ॥

भावार्थ—हिंसापापके बराबर कोई अधर्म नहीं है और अहिंसाके बराबर कोई धर्म नहीं है। इतना विवेक जिस मनुष्यको न हो वह मनुष्य नहीं है पशुके समान है या नरपशु है, और उसकी जिन्दगी बेकार है। ऐसी स्थितिमें हिंसाका आरंभ (कार्य) बहुधा छोड़ ही देना चाहिये। यदि वह सर्वथा त्याग नहीं कर सकता हो अर्थात् कारोबारी या उद्योगी-गृहस्थ व्यवसायी हो तो उसे भी शनैः (थोड़ा २) त्याग करना ही चाहिये यह क्रम है क्योंकि बिना पापारंभके त्यागे उद्धार नहीं हो सकता। खानेके सम्बन्धसे साक्षात् मांस या अंडे वगैरहका त्याग तो आरंभी गृहस्थके भी होना चाहिये। वह तो मनुष्यका आहार है ही नहीं—वह प्रकृति विरुद्ध है किम्बहुना ॥ ६८ ॥

---

१. छूना।
२. मांसकी डली-टुकड़ा।
३. चिरकालके संचित।
४. करोड़ों-अनन्ते जीवोंका समुदाय मांस है।
५. व्यर्थ-निष्फल।

३. आगे मधु (शहद)के सेवनमें हिंसाका होना बतलाते हैं।

मधुशकलमपि[1] प्रायो मधुकर[2]हिंसात्मको भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९॥

पद्य

मधुका एक बिन्दु भी बनता मधुमक्खीकी हिंसासे।
अतः उसे जो सेवन करते मूढ़ न बचते हिंसासे॥

हिंसा-मूल मधू भी होता, अरु मक्खीका उगलन[3] है।
ऐसा अशुच पदार्थ नहिं, घोर अरुचि कूड़ाघर[4] है॥६९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [लोके प्रायः मधुशकलमपि मधुकरहिंसात्मको भवति] प्रायः लोकमें या देखनेमें ऐसा आता है कि मधुकी एक बूंद भी मधुमक्खियोंकी हिंसा (घात)से ही तैयार होती है अतएव [यः मूढ़धीकः मधु भजति] जो मूढबुद्धि (अज्ञानी) जीव मधुका सेवन करता है (मधु खाता है) [स अत्यन्तं हिंसको भवति] वह महान् हिंसक या हिंसाका करनेवाला होता है॥६९॥

भावार्थ—मधुकी उत्पत्ति मधुमक्खियोंके अंडोसे या उनके उगाल (जूठन)से होती है। कारण कि जब मधुमक्खियाँ उड़-उड़ करके तमाम फूलों (पुष्पों) और रसीले पदार्थोंपर जाती हैं तब वहाँसे उनका रस मुँहमें भरकर लाती हैं तथा अपने छत्तेमें उड़ेलती है वहाँपर वह रस एकत्रित होता है, जिसमें असंख्याते जीव अंडों द्वारा या वैसे ही सम्मूर्च्छन उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जो उस मधुको खाते हैं वे उन जीवोंका घात होनेसे हिंसक व महापापी बन जाते हैं। अतएव जब उसके बिना खाये भी जीवन निर्वाह हो सकता है तब उक्त प्रकारके अशुचि (कूड़ा-घर समान) और घृणाकारक पदार्थको नहीं खाया जाय तो बेहतर हो! वह खाना एक प्रकारका शौक है—विवेकशून्यता है। विषय कषायोंका पोषण करना है जो महान अपराध है, पापबंधका कारण है, घोर दुःखोंका बीज है, लोकमें निन्दाकारक है—सदाचारतामें कलंक या बट्टा है। इसके सिवाय वह परिणामोंमें क्रूरता (तामसभाव) लानेवाला है बड़े-बड़े अनर्थ करानेवाला है इत्यादि—अतः उसे छोड़ देना ही हितकर है उसका त्यागनेवाला ही अहिंसक या धर्मात्मा बन सकता है किम्बहुना॥६९॥

---

१. बिन्दु।
२. मधुमक्खी।
३. उगाल-जूठन।
४. कूड़ाघर या पिंड।

मधुके विषयमें तर्क और उसका समाधान किया जाता है।

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात् ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितप्राणिनां घातात् ॥७०॥

पद्य

मधुमक्खीके छत्तेसे जो बूँद टपकती खाते हैं।
अथवा छलसे आग जलाकर मक्खी मार भगाते हैं॥
दोनोंमें हिंसा होती है स्वयं गिरे या गिरवाये।
उसके आश्रित रहनेवाले जीव मरें जो खाजाये॥७०॥

अन्वय अर्थ—आचार्य उस तर्कवालेको समझाते हैं कि भाई [यः स्वयमेव विगलितं मधु गृह्णीयात्] जो प्राणी मधुमक्खीके छत्तासे स्वयं टपकी हुई बूँदको भी ग्रहण करेगा [वा छलेन मधुगोलात् विगलितं गृह्णीयात्] अथवा छल कपटसे छत्ताको गिराकर या जलाकर प्राप्त हुई मधुको ग्रहण करेगा (खायगा) [तत्रापि तदाश्रितप्राणिनां घातात् हिंसा भवति] उस दशामें भी, उस मधुमें या छत्तेमें रहनेवाले जीवोंकी हिंसा अवश्य होगी व उसे हिंसाका पाप लगेगा ही। अतएव तर्कवालेका यह तर्क ठीक नहीं है कि स्वयं टपके हुए मधुके खानेमें हिंसा नहीं हो सकती इत्यादि ॥७०॥

भावार्थ—जो पदार्थ, जीवोंकी उत्पत्तिका आयतन (आधार निमित्त या योनि) हो, वह पदार्थ कभी जीवोंसे रहित (खाली) नहीं हो सकता; किन्तु उसमें सदैव असंख्याते जीव उत्पन्न होते व मरते रहते हैं। ऐसी स्थितिमें मद्य-मांस-मधु, ये तीनों पदार्थ, अनंते जीवोंका घर हैं ऐसा समझना चाहिये अतएव जो इनको खाता है, स्पर्श करता है या अन्य उपयोगमें लाता है उसके हिंसा अवश्य होती है अर्थात् वह हिंसक बराबर होता है, चाहे वे पदार्थ स्वयं उपजें या उपजाये जावें, उनके स्तैमाल करनेसे हिंसा बच नहीं सकती यह नियम है। तब व्यर्थ ही तर्क या विकल्प उठाकर अनर्थका पोषण करना उचित नहीं कहा जा सकता, वह लोकनिंद्य और महान् अपराधी सिद्ध होता है। उच्चकुली व सदाचारी विवेकी जीव, कभी नीच कर्म नहीं करते। वे सदा अपनी कुलमर्यादाका ख्याल रखते हैं चाहे उनपर कितनी भी आपत्तियाँ आजावें[1]। लोकमें प्रतिष्ठाका कारण उच्च आचार विचार ही होता है, उससे जीवको बड़ी प्रसन्नता व खुशी होती है तथा शुभास्रव भी होता है, पुण्यका बंध होता है और उसके उदयसे सांसारिक विभूति व सुख प्राप्त होता है। अतः अच्छे कार्य करना चाहिये। चार्वाक (नास्तिक)का सिद्धान्त ठीक नहीं माना गया है वह हेय और निन्दनीय है। उसका सिद्धान्त 'खाना पीना मौज उड़ाना है' उसके माननेवाले, धर्मपर विश्वास नहीं करते। वे परलोकको भी नहीं मानते अतएव निर्भय और स्वच्छन्द हो सब कुछ खाते

---

१. भूखे रहनेपर भी देखो नहीं सिंह तृण खाता है।
विपतिकालमें भी कुलीनजन नीच कर्म नहिं करता है॥ नीतिवाक्य॥

पीते हैं। उनका यह मत है कि खानेके लिये जीना है—विषयादि सेवन करना ही जीवनका उद्देश्य है, जो गलत है। किन्तु विवेकी बुद्धिमानोंका सिद्धान्त 'जीनेके लिये खाना' ठीक है गलत नहीं है ॥७०॥

आगे व्रती-त्यागी (अहिंसापालक) पुरुष मद्यादिको घिनावने व हानिकारक व अभक्ष्य मानकर उनका त्याग करते हैं, यह बताया जाता है।

मधु मद्यं नवनीतं[1] पिशितं च महाविकृतयस्ताः[2] ।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना[3] तद्वर्णाः जन्तवस्तत्र ॥७१॥

पद्य

मद्य मांस अरु मधु नैनू ये चार पदारथ ऐसे हैं।
जिनमें जीव हमेशा रहते अतः व्रती नहिं खाते हैं ॥
हैं अभक्ष्य वे बुरे दिखत हैं, और अनेक रोग करते।
दोनों लोक विगार करत हैं, अरु हिंसा कारक होते ॥७१॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयः] मधु-मदिरा-नैनू-मांस ये चार चीजें महान् विकार (रोगादि) और घृणा कारक हैं। अतएव [ताः व्रतिना न वल्भ्यन्ते] उन अशुच और रोगोत्पादक विड्रूप चारों चीजोंको व्रतीपुरुष अर्थात् विवेकी अष्टमूल-गुणधारी जीव नहीं खाते (सत्पुरुष कुलीन मनुष्य उनका सेवन नहीं करते) कारण कि [तत्र तद्वर्णाः जन्तवः सन्ति] उन उक्त चार चीजोंमें उसी जाति (गोत्र)के बहुतसे सम्मूर्च्छन जीव रहा करते हैं, सो उनके खानेसे उन सबका घात होता है—हिंसा पाप लगता है, प्रतिज्ञा भंग होती है ॥७१॥

भावार्थ—व्रतधारण करना और उसकी रक्षा करना बड़ा कठिन कार्य है, बड़ा विचार और आचार (संयम) करना पड़ता है तब कहीं व्रत पलता है। और उसके लिये भूमिका (पात्रता) बनानी पड़ती है। वह भूमिका उक्त मद्यादि चार चीजोंके त्याग करनेसे तैयार होती है, इतना ही नहीं, साथमें और भी त्याग करना पड़ता है जो आगे सब बताया जानेवाला है किन्तु सबका मूल यही है, इसलिये इनपर अधिक जोर दिया गया है। रसनेन्द्रियके वशीभूत होकर जीव अन्धे जैसे विवेकहीन हो जाते हैं भक्ष्य अभक्ष्य कुछ नहीं देखते। अतएव रसना इन्द्रीको वशमें करनेके लिये अर्थात् उसपर अंकुश लगानेके लिये (इन्द्रिय संयम पालनेके लिये) उपर्युक्त चीजोंका त्याग करना अनिवार्य है। शौकसे या रागादिककी प्रबलतासे जीव भ्रष्टाचारकी ओर तेजीसे बढ़ते जा रहे हैं—धर्माचारकी ओर विरलोंका ध्यान जाता है अतएव आचार्यप्रवरने श्रावकों (सद्गृहस्थों) को

---

१. नैनू या मक्खन।

२. विवेकीजन-सत्पुरुष।

३. बुरे दिखनेवाले घृणाकारक ?

समझानेके लिये पूज्य श्रीसमन्तभद्राचार्यकी कृति 'रत्नकरंड श्रावकाचार' की तरह इस पुरुषार्थसिद्धि ग्रन्थ (कृति) के द्वारा श्रावकोंको पर्याप्त सावधान किया है—धर्ममें लगाया है, अधर्म छुड़ाया है, ऐसा महान् उपकार किया है, जो निरपेक्ष होनेसे शुभोपयोगका कार्य उचित ही है। उन्होंने शुद्धोपयोगकी रक्षाके लिये यह प्रयास किया है, जो परोपकारमें शामिल हैं शुभोपयोगी साधु (मुनि) आचार्य अपने पदके अनुसार भक्तिवात्सल्य आदि कार्य कर सकते हैं ऐसी आगमकी आज्ञा है, परन्तु उन सबका लक्ष्य शुद्धोपयोगकी प्राप्ति होना अवश्य चाहिये किम्बहुना। शुद्धोपयोगकी रक्षा अर्थात् अशुद्ध निश्चयनयसे शुद्धोपयोग अथवा नामान्तरसे शुभोपयोगमें उपयोग लगाने (रमाने) के लिये और अशुभ उपयोगसे चित्त (उपयोग) को हटानेके लिये ऐसा उपयोगी कार्य (ग्रन्थरचना आदि) किया है, जो बीचका आलम्बन है लेकिन उसको भी लक्ष्यमें हेय मानते रहे हैं (बंधका कारण होनेसे उससे भी अरुचि करते रहे होंगे अतः पुण्यबंध भी हेय है)। इस प्रकार व्रती विवेकी अपना कर्त्तव्य साधक अवस्थामें पालते हैं यह विशेषता है लक्ष्य सबका हिंसासे बचकर अहिंसा व्रतको पालनेका ही रहता है ।।७१।।

त्रस जीवोंकी योनिरूप पाँच उदम्बर फलोंके खानेसे भी हिंसा होती है अतएव वे भी अभक्ष्य हैं, यह बतलाया जाता है।

योनिरुदम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि ।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ।।७२।।

पद्य

ऊमर कठऊमर अरु पाकर वर पीपर ये फल हैं पाँच ।
त्रसजीवोंका घर हैं पाँचों खानेमें हिंसा है साँच ।।
अतः सुधीजन नहिं खाते हैं अभक्ष्य हिंसामय पहिचान ।
हिंसासे बचनेके खातिर 'जीभ' लगाम लगाते ध्यान ।।७२।।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [उदम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि त्रसजीवानां योनिः] ऊमर कठूमर ये दो तथा पाकर वर पीपर कुल ५ त्रसजीवोंकी योनि या घर (आयतन) हैं [तस्मात् तद्भक्षणे तेषां हिंसा भवति] इसलिये उनके खानेमें उनके आश्रित त्रसजीवोंकी हिंसा अवश्य होती है या होना संभव है। फलतः उन्हें नहीं खाना चाहिये (त्याग कर दिया जाय) ।। ७२ ।।

भावार्थ—जिस तरह मद्यमांसमधु और नवनीत हिंसाके आयतन होनेसे त्याज्य (हेय) हैं, उसी तरह ऊमर कठूमर आदि पाँच उदम्बर फल भी त्रसजीवोंका आयतन (योनिभूत) होनेसे अभक्ष्य हैं, खाने योग्य नहीं हैं, उन्हें छोड़ देना चाहिये. क्योंकि फल या लाभ थोड़ा और हानि (पाप) अधिक होती है। अतएव ये अनुपसेव्य और तुच्छफल जैसे हैं। अतः विवेकी पापभीरु लोग इनका सेवन कभी नहीं करते—इनमें उड़ते हुए असंख्याते जीव दृष्टिगोचर होते हैं—जो न खानेसे बच जाते हैं अर्थात् मरते नहीं हैं, उनको रक्षा होती है। यह सब रसनेन्द्रियका वशीकरण

और कषायोंका नियंत्रण है, जो इन्द्रियसंयममें शामिल है। संयमी जीव ही सफल माना जाता है किम्वहुना।

आगे पाँच फलोंके सम्बन्धमें तर्क और उसका समाधान किया जाता है।
(किसी भी रूपमें ये भक्ष्य नहीं हैं)

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥७३॥

पद्य

सूखे पाँच उदम्बरफलके खानेमें हिंसा होती।
काल वीत जाने पर उनमें पुनः जीवराशि होती॥
और तीव्र रुचिके कारण हाँ भावरूप हिंसा होती।
दोनों हिंसाओंके कारण—पंचफली न भक्ष्य होती ॥७३॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यह तर्क या आशंका नहीं करना चाहिये कि जो पाँच उदम्बरफल वहुत समयके सूखे हैं, उनके खानेमें हिंसा नहीं होती। किन्तु [यानि पुनः कालोच्छिन्नत्रसाणि भवेयुः] जो फल वहुत समय तक सूखनेके वाद त्रसजीव रहित हो जाते हैं [तान्यपि भजतः विशिष्टरागादिरूपा हिंसा स्यात्] उनके खानेमें भी अत्यन्त राग होनेसे भावहिंसा अवश्य (अनिवार्य) होती है तथा प्रति समय योनिभूत होनेसे उनमें नये २ जीव उत्पन्न होते रहते हैं उनका घात होनेसे द्रव्यहिंसा भी हुए विना नहीं रहती अतः वे सर्वथा वर्जनीय हैं ॥७३॥

भावार्थ—पूर्ण अहिंसक, तभी कोई जीव होता है जब कि वह द्रव्य और भाव दोनों तरहकी हिंसाओंका त्याग कर देवे, लेकिन दोनों तरहकी हिंसाओंका त्याग करना सरल नहीं है कठिन है। जबतक जीव संयोगीपर्यायमें रहता है तवतक एक-न-एक हिंसा होती रहती है क्योंकि प्रवृत्तिमार्गमें (आरंभ दशामें) प्रायः सभी कार्य करने पड़ते हैं। जैसे खाना-कमाना-चलना-फिरना व्यवस्था करना-करवाना आदि २, उन सबमें लोकमें व्याप्त (भरे हुए) सूक्ष्म व स्थूल जीवोंकी हिंसा (प्राणघात) होती ही है। तथा कषायोंके अनुसार कभी अन्य जीवोंके मारनेका इरादा भी होता है और कभी नहीं होता। इसी तरह दुःख देने व सुख देनेका भी इरादा होता है और तदनुसार शारीरिक वाचनिक क्रिया भी जीव करते हैं। तदनुसार उनको पापपुण्यका वंध होनेसे उदयके समय दुःखसुख भोगनेमें आते हैं। तरह २ की दशाएँ भोगनी पड़ती हैं। अतएव वुद्धिपूर्वक योग्यतानुसार द्रव्यहिंसा व भावहिंसाका त्याग करना ही चाहिये अर्थात् अधिक न राग द्वेष करना चाहिये न अनापसनाप (यद्वातद्वा) व्यर्थ (निष्प्रयोजन) प्रवृत्ति या आरंभ ही करना चाहिये तभी कल्याण हो सकता है अन्यथा नहीं। विषय-कषायोंको घटाना व हटाना विवेकीका कर्त्तव्य है। तब स्वार्थवश तरह २ के विकल्प व तर्क करना अनुचित है किम्वहुना।

नोट—जो जीव अधिक रागद्वेष (तीव्र कषाय) वश अपने विषयकषाय पोषणके लिये पेश्तरसे ही संचित चीजें सुखाकर उपयोगमें (खानेमें) लाते हैं उनके भावहिंसा बराबर होती है याने बिना उनके खाये भी परिणामोंमें राग शुरू जबसे होता है तभीसे भावप्राणों (ज्ञानादि गुणों) का घात होने लगता है। वार २ उस तरफ उपयोग जाता है, चिन्ता व विकल्प होते हैं। अतः वह है तो अपराध, परन्तु यदि भक्ष्य पदार्थोंके बारेमें और अशक्यानुष्ठानके समय वैसा अरुचिपूर्वक किया जाय तो वह जायज व कम अपराध है, जो गृहस्थों (श्रावकों) से बच नहीं सकता, (असंभव है)। ऐसी स्थितिमें जो पदार्थ अभक्ष्य हैं उनमें यह न्याय लागू नहीं हो सकता कारण कि उनका खाना तो शौक व अत्यासक्ति है—तीव्र कषाय है, जिससे महाबंध होता है, अधिक सजा मिलती है। शाकभाजी सचित्त पदार्थोंको सुखा करके या चुरो करके (अग्नि पर पका करके) खाने वाले जीव, सचित्तत्यागी, इन्द्रियसंयमी हैं, असंयमी नहीं है वे ऐसा कर सकते हैं—उनका तीव्र राग नहीं है मन्द है, क्योंकि वे भक्ष्यपदार्थ हैं। किन्तु जो पदार्थ सर्वथा अभक्ष्य हैं किन्तु तीव्र राग होनेके कारण सुखाकर पकाकर उन्हें भक्ष्य या अचित्त करना या बनाना चाहते हैं वे ऐसी खटपटी क्यों करते हैं जो अनर्थरूप है। वे पदार्थ कभी भक्ष्य या शुद्ध हो ही नहीं सकते अतः उनके लिये प्रयास करना व्यर्थ है—निषिद्ध है, अस्तु ॥ ७३ ॥

आचार्य शिथिलताको दूरकर श्रावकोंको मूलगुणोंके पालनेमें सतर्क या सावधान करते हैं कि विना अष्टमूलगुण पाले तुम धर्म उपदेशके पात्र नहीं हो सकते।

नोट—(पेश्तर प्रारंभमें श्लोक नं० ८ में निश्चय व्यवहारको समझने पर ही देशनाकी पात्रता वतलाई थी यह दुवारा है। आचार्य इस प्रकार समय-समय पर सम्यग्दर्शनादिके विषयमें सावधान करते जाते हैं ऐसा समझना)

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि[1] परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

पद्य

मद्यादि आठों वस्तुएँ अप्रिय तथा दुर्लभ्य हैं।
अरु पापकारक जानकर तजना उन्हें कर्त्तव्य है॥
जिसका हृदय नहिं शुद्ध हो वह जैन बन सकता नहीं।
अरु देशनाका पात्र भी किस भांति हो सकता कहीं[2] ? ॥७४॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अमूनि अष्टौ अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि परिवर्ज्य] पूर्वमें कही मद्यादि आठ वस्तुएँ अप्रिय अहितकारक दुर्लभ और महान् पापोंका (हिंसाका) घर

१. पापोंका घर।
२. प्रश्न सूचक—नहीं हो सकता।

हैं, अतएव उनका त्याग करदेने पर ही [शुद्धधियः जिनधर्मदेशनायाः पात्राणि भवन्ति] निर्मल चित्त होते हुए (अशुद्धता त्यागते हुए) भव्यजीव जिनवाणी या जिनधर्मका उपदेश सुननेके अधिकारी (पात्र—योग्यतासम्पन्न) होते हैं, अन्यथा नहीं, यह नियम है ॥७४॥

भावार्थ—जबतक हृदयकी कलुषता (अशुद्धता या विकारपरिणति—पापकी वासना) नहीं निकल जाती अर्थात् हृदय (उपयोग) शुद्ध नहीं हो जाता तबतक न धर्मका उपदेश सुना जा सकता है न सुननेकी रुचि ही उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि योगोंकी क्रिया संयोगी पर्यायमें बहुधा कषायके अनुसार हुआ करती है अर्थात् जैसा कषायका उदय हो वैसे ही भाव व बाह्य क्रियाका प्रवर्त्तन भी होते हैं तदनुसार यदि मनमें खोटा विचार हो (दुर्बुद्धि हो) तो हमेशा उसकी ही ओर उपयोग जायगा, कभी अच्छा उपयोग न होगा—आत्मकल्याणकी भावना न होगी। न धर्मका उपदेश सुनेगा, न धर्मका कार्य करेगा न उसकी धारणा होगी (हृदयपर असर न होगा) कारण कि साफ वस्त्रपर ही रंग चढ़ता है और बहुत समय तक स्थायी रहता है, यह नियम है। ऐसी स्थितिमें पहिले हृदय स्वच्छ (निर्मल) होना चाहिये अर्थात् मिथ्यात्व कषाएँ छूटना चाहिये, यह सारांश है। धर्म धारण करनेके लिये अधर्म या पाप करना बंद कर देना चाहिये—वह अनिवार्य है अस्तु।

उत्सर्ग व अपवादका स्पष्टीकरण व समन्वय

जैन शासनमें अनेक पारिभाषिक या सांकेतिक शब्द ऐसे हैं जो अपनी खास विशेषता रखते हैं वे अन्यत्र नहीं पाये जाये जाते हैं, तथा उनकी संगति भी सभीके साथ नहीं बैठती—तब बिना समझे लोग भूल भटक जाते हैं अर्थका अनर्थ कर बैठते हैं, विवाद या विसंगति हो जाती है। यद्यपि विवादको दूर करने या मिटानेके लिये 'स्यादाद या अनेकान्त' न्याय बतलाया गया है तथापि जब तक उसका रहस्य हृदयंगम न हो (अनुभवमें न आवे) व अपेक्षा न बतलाई जावे (मुंह मिल रहे), तबतक संतोषजनक समाधान नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें कुछ संकेतोका परस्पर समन्वय करना उचित जान पड़ता है अस्तु।

जैनागममें सर्वोत्कृष्ट 'मोक्ष' पदार्थ,को प्राप्त करनेके दो मार्ग (उपाय) बतलाये गये हैं (१) निश्चयमार्ग, (२) व्यवहारमार्ग। इन्हींके स्थान (एवज) में (१) उत्सर्गमार्ग (२) अपवादमार्ग। अथवा (१) वीतरागमार्ग (२) सरागमार्ग। अथवा (१) निवृत्तिमार्ग, (२) प्रवृत्तिमार्ग, ऐसे पर्याय वाची नाम (वाचक) बतलाए गये हैं, परन्तु उन सबका वाच्य (अर्थ) एक ही है, उसमें भेद नहीं है अर्थात् शब्दभेद है परन्तु अर्थभेद नहीं है इत्यादि।

तदनुसार यहाँ पर धर्मके प्रकरणमें दो भेद किये गये हैं (१) सकलधर्म या सकलव्रत, अर्थात् (१) उत्सर्गधर्म (पूर्ण अहिंसाधर्म या पूर्णनिवृत्तिरूप वीतरागधर्म और (२) अपवादधर्म (अपूर्ण अहिंसाधर्म या कुछ निवृत्तिरूप व कुछ प्रवृत्तिरूप सरागधर्म) मुख्यतया उत्सर्गधर्मधारी मुनि (अनगार) होते हैं और मुख्यतया अपवादधर्मधारी श्रावक (सागार) होते हैं यह समन्वय है। फलतः निश्चयमोक्षमार्ग वीतरागतारूप या निवृत्तिरूप है तथा व्यवहारमोक्षमार्ग सरागतारूप

या प्रवृत्तिरूप है ऐसा समझना चाहिये। तभी तो यहाँपर यह कहा गया है कि जो लोग (श्रावक) पूर्ण अहिंसाव्रत या धर्म धारण नहीं कर सकते, कारण कि उनके भोग व उपभोगके साधन (व्यापार-कृषि आदि) मौजूद रहते हैं, जिनमें खासकर स्थावर (एकेन्द्री) जीवोंकी हिंसा होती है, उसका त्याग करना अशक्य व असंभव है। उनको त्रसहिंसा (द्वीन्द्रियादिका घात) का त्याग तो यथाशक्ति करना ही चाहिये अथवा जो अप्रयोजनभूत स्थावर हैं उनका भी त्याग करना चाहिये, क्योंकि प्रयो-जनभूतका) त्याग नहीं किया जा सकता। ऐसा करना यद्यपि अपवाद मार्ग है (पूर्णवीतरागता-रूप या पूर्णअहिंसारूप वनाम पूर्णनिवृत्तिरूप या निश्चयरुप नहीं है) तथापि एकदेशरूप याने कुछ सरागरूप कुछ विरागरूप, कुछ प्रवृत्तिरूप कुछ निवृत्तिरूप होनेसे वह एकदेशव्रत या धर्मको पालने वाला अणुव्रती या अहिंसाधर्मी माना जायगा और उसका जीवन मोक्षमार्गी (कथंचित्) होनेसे सफल होगा किम्बहुना। सर्वथा धर्मरहित जीवन निरर्थक है ऐसा समझना ॥ ७४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

आचार्य धर्मका सामान्य स्वरूप (उत्सर्ग) और उसका विशेष (अपवाद) स्वरूप वतलाते हैं एवं उसके पालनेका आदेश देते हैं—

धर्ममहिंसारूपं संश्रृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥७५॥

पद्य

उत्तमधर्म अहिंसामय है यह सुन जो नहिं कर पाते।
ऐसे प्राणी भी अनेक हैं थावरतजी न हो पाते ॥
उनके लिये मार्ग है दूजा; 'त्रसहिंसा' का त्याग करें।
एकदेश या सर्वदेश हिंसाको त्याग 'सुधर्म' धरें ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [ये अहिंसारूपं धर्मं संश्रृण्वन्तोऽपि स्थावरहिंसां परित्यक्तुमसहाः] जो जीव, धर्मका स्वरूप अहिंसामय है 'अहिंसा परमो धर्मः' यह मूलवाक्य है (सूत्ररूप) जिसका अर्थ यह है कि 'अहिंसा' ही उत्तम धर्म माना गया है (सर्वज्ञदेवने कहा है) शेष हिंसामयधर्म, धर्म नहीं है किन्तु अधर्म हैं। ऐसे उत्तम धर्मके सच्चे स्वरूप (लक्षण)को सुनकर भी स्थावरकायकी हिंसाको नहीं त्याग सकते (प्रतिदिन वर्त्तावमें आनेसे) [ते अपि त्रसहिंसां मुञ्चन्तु] वे भी त्रसकायकी हिंसाका त्याग तो अवश्य करें, अर्थात् उनको त्रसहिंसाका त्याग यथाशक्ति करना ही चाहिये और धर्मधारण करके एकदेश या आंशिक धर्मात्मा (अहिंसा अणुव्रती) वनना चाहिये ॥७५॥

भावार्थ—निश्चयसे सर्वोत्तम धर्म संसारमें 'अहिंसारूप' है (पूर्णवीतरागतारूप है) उसीसे आत्माका कल्याण (उद्धार) होता है, कारण कि वह वीतरागतारूप अहिंसाधर्म, आत्माका स्वभाव है। इसके विपरीत हिंसा या वलि करनेका भाव अधर्म है आत्माका विकारी भाव या विभाव है, अतः उससे आत्माका कल्याण न हुआ है न होना संभव है। अतएव धर्मका सर्वोत्तम स्वरूप अहिंसा ही है, उसीको अपनाना चाहिये। इस विषयमें खासकर धर्मका एक अपवाद (विशेष) रूप भी वतलाया गया है, वह यह कि वास्तवमें सभी जीव एक-सी शक्ति या योग्यतावाले नहीं होते। इसलिये जो व्यक्ति (जीव) गृहस्थाश्रममें हैं (सरागी परिग्रही हैं) वे इकदम पूर्णहिंसाका त्याग नहीं कर सकते (हिंसा त्रस व स्थावरके भेदसे दो तरहकी होती है) कारण कि उनके भोग उपभोगके साधन व्यापार आरंभ आदि होनेसे दिनरात्रि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति इन पाँच

१. असमर्थाः।

स्थावर एकेन्द्री जीवोंका विघात (हिंसा) पद-पदपर होता रहता है, वे उनका त्याग (वचाव) कर ही नहीं पाते, असंभव है। इसलिये वे अहिंसाधर्मी कैसे बन सकते हैं ? इसके समाधानमें उनके लिये अपवादरूप धर्मको पालनेका उपदेश दिया गया है कि तुम यदि अशक्य होनेके कारण स्थावर हिंसाका त्याग नहीं कर सकते तो 'त्रसहिंसाका त्याग' यथाशक्ति अवश्य-अवश्य करके एकदेश (सिर्फ त्रसहिंसाके त्यागी) धर्मात्मा तो वनो ही अर्थात् अहिंसा धर्मके एकदेश पालनेवाले एकदेश धर्मा धारी (अणुव्रती) वनकर अपना जीवन सफल करो और जव शक्ति और योग्यता बढ़ जाय तब त्रस व स्थावर दोनों प्रकारकी हिंसाको त्यागकर सर्वदेश हिंसाको त्यागनेवाले पूर्ण त्यागनेवाले पूर्ण अहिंसाव्रती धर्मात्मा (महाव्रती) वन जाना एवं जीवनको सफल करना, परन्तु बिलकुल हिंसाका त्याग न कर सदैव हिंसक व अधर्मी बने रहना, यह कर्त्तव्य व आदेश नहीं है। इस प्रकार धर्मके दो भेद (उत्सर्ग व अपवाद) वतलाये अर्थात् पूर्णहिंसाका त्यागना (त्रस-स्थावर सबका त्यागना) उत्सर्ग रूप है (महाव्रत है) और त्रसका ही त्याग करना अपवाद मार्ग है (अणुव्रत है) इत्यादि भेद समझना चाहिये। लेकिन एकदेशत्यागीका लक्ष्य सर्वदेश त्यागका हमेशा रहना, चाहिये तभी वह मुमुक्षु धर्मात्मा कहा जा सकता है अन्यथा नहीं। जैनशासनमें एकान्तदृष्टि नहीं रहती, अनेकांत-दृष्टि रहती है किम्वहुना। संयोगीपर्यायमें रहते हुए एकदेश (अप्रयोजनभूत) हिंसाका त्याग करना 'अहिंसाणुव्रत' कहलाता है यह भाव है।

त्रसपर्याय व खासकर संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य पर्याय पाकर भी जो उसको सप्तव्यसन या हिंसा आदि कुकर्मोंमें पड़कर व्यर्थ खो देते हैं, अपने दुर्लभ मनुष्य जीवनकी कीमत या आदर नहीं करते, हमेशा विषयोंके मनमाने सेवनमें ही मस्त रहते हैं वे नर पशु हैं (मनुष्यके रूपमें पशु समान हैं) उनका उद्धार कदापि नहीं हो सकता। मनुष्यका कर्त्तव्य इतना ऊँचा है कि जो अन्यपर्यायोंमें हो नहीं सकता, अतः उसको पूरा करना चाहिये तभी मनुष्य पर्यायके पानेकी सार्थकता है। वह कर्त्तव्य अहिंसाधर्म या वीतरागतारूप धर्मके द्वारा कर्मोंका क्षयकरके मोक्षको प्राप्त करना है। सो वह सिवाय मनुष्यपर्यायके अन्यपर्यायोंमें होना असंभव है। खाना-पीना, विषय सेवन करना आदि तो सभी पर्यायोंमें होता है, परन्तु कर्मक्षयका होना सिर्फ मनुष्यपर्यायमें ही होता है। ऐसा समझकर अहिंसाधर्मको पालनेके लिये मिथ्यात्व, विषयकषायोंका त्यागना, मद्यादि हिंसामय चीजोंका त्यागना अनिवार्य है इत्यादि। उत्तमसुखकी प्राप्ति इसीसे हो सकती है व होती है, जिसकी चाह इस जीवको हमेशा रहती है अस्तु। पूर्ण अहिंसाव्रत (धर्म)के पालनेसे ही कृतकृत्य सिद्धदशा प्राप्त होती है अतः उसको यथासंभव क्रमसे पूरा करना ही चाहिये।

नोट—संयोगी पर्यायमें रहते हुए जो श्रावक पाँच पापोंका अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहका एकदेश (अप्रयोजन भूतका) त्याग करते हैं, वे अणुव्रती कहलाते हैं, यह व्याप्ति (नियम) है। यही अणुव्रत व महाव्रतका लक्षण है—एकदेशत्याग व सर्वदेशत्याग इत्यादि अथवा एकदेश विरागता व सर्वदेश विरागता ही व्रत व धर्म है ऐसा समझना चाहिये ॥७५॥

---

१. अपवादका अर्थ विपक्ष या त्रुटिरूप होता है। अर्थात् कम त्यागरूप या शुभरागरूप चर्याका होना। और भी पर्यायवाची शब्द हैं जिनका खुलासा आगे देखना। उत्सर्ग या महाव्रत, अपवाद या अणुव्रत।

आगे आचार्य अहिंसा धर्मको पालनेकी विधिका खुलासा करते हैं

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ।
औत्सर्गिकी निवृत्तिः[1] विचित्ररूपाऽपवादिकी[2] त्वेषा ।।७६।।

पद्य

मनवचतन इन तीन भेदसे—कृतकारित अनुमोदनसे ।
होती है नवभेद अहिंसा, पारस्परिक गुणनफलसे ॥
नवभेदोंसे सहित अहिंसा, औत्सर्गिक कहलाती है ।
कुछ भेदोंसे सहित अहिंसा, अपवादिक कहलाती है ॥

अथवा

रागादिकसे रहित अहिंसा निश्चयरूप कहाती है ।
शुभरागादिकरूप अहिंसा व्यवहरनय बतलाती है ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [वाक्कायमनोभिः कृतकारितानुमननैर्नवधा औत्सर्गिकी निवृत्तिरिष्यते] मन वचन काय इन तीन योगोंके साथ कृत कारित अनुमोदनाका सम्बन्ध स्थापित करनेपर होनेवाले नवभेदोंसे यदि हिंसाका त्याग किया जाय तो उसको औत्सर्गिकी अहिंसा कहते हैं, जो अहिंसा धर्मका पहिला भेद है। [तु विचित्ररूपा एषा अपवादिकी—भवति] और जो यही अहिंसा विचित्ररूप होती है अर्थात् नवभेदोंसे न होकर कमती भेदोंसे (तीन भंग व ६ भंगोंसे) होती है, उसको अपवादिकी अहिंसा कहते हैं, जो अहिंसाधर्मका दूसरा (खंडित या अपूर्ण) भेद है। इस प्रकार अहिंसा धर्मके दो भेद कहे गये हैं ।।७६।।

भावार्थ—अहिंसाधर्म सबसे बड़ा धर्म है, परन्तु उसका पालन दो तरहसे किया जाता है। जो महापुरुष वीतरागी (मुमुक्षु) शक्तिशाली हैं वे नौ भंगीसे ही हिंसाको छोड़कर अहिंसाका पालन करते हैं वह उत्सर्गरूप है। और जो महापुरुष पूर्ण वीतरागी नहीं है कमती शक्तिवाले हैं, वे पूरे नौ भंगोंसे अहिंसाका पालन न कर तीन-तीन या छह-छह भंगोंसे योग्यतानुसार पालन करते हैं अतः वह अपवादरूप है। परन्तु वह भी अहिंसारूप धर्मका पालक अवश्य है व माना जाता है, भेद सिर्फ सर्वदेश व एकदेशका है। स्थावर व त्रस दोनों प्रकारके जीवोंकी हिंसाका जो नव प्रकारसे त्याग करता है वह सर्वदेश अहिंसा धर्मका पालनेवाला होता है और जो सिर्फ त्रसजीवोंकी हिंसाका कुछ भंगोंसे (तीन या छहसे) त्याग करता है व अहिंसाको प्राप्त करता है वह एकदेश अहिंसाधर्मका पालनेवाला होता है, यह खुलासा है। ऐसा कार्य पदके अनुसार सदैव होता रहता

---

१. हिंसाका नौ प्रकारसे त्याग करना, हिंसाका उत्सर्गरूप (सर्वदेश) त्याग भेद होता है या कहलाता है।
२. पूरे नौ प्रकारसे त्याग न कर कुछ भंगों या प्रकारोंसे त्याग करना, हिंसाका अपवादरूप (एकदेश) त्याग है।

है। पूर्ण अहिंसाधर्मका पालना मोह व योगके अभाव होनेपर संभव है या कम-से-कम मोहका अभाव होना अनिवार्य है ऐसा समझना चाहिये। फलतः पूर्णवीतरागी ही अहिंसाधर्मका पूर्ण पालने वाला हो सकता है। पूर्ण वीतरागता प्राप्त होनेके पहिले अपूर्ण या एकदेश (आंशिक) अहिंसाधर्मका पालने वाला सिद्ध होता है किम्बहुना। उक्त नौ भंगोंके ही चार कषायोंके साथ सम्बन्ध करने पर ३६ भेद हो जाते हैं और संरंभ-समारंभ-आरंभ इन तीनके साथ संयोग (मेल) करने पर १०८ भेद हो जाते हैं इत्यादि।

प्रत्येक जैनका मुख्य कर्त्तव्य अहिंसाधर्मका पालना है क्योंकि जैनधर्मको अहिंसाप्रधान धर्म माना व कहा गया है। तदनुसार त्रस व स्थावर जीवोंकी यथाशक्ति रक्षा कर अहिंसाधर्मके पालनेका परिचय जैनमात्रको देना चाहिये तभी उसका जैनत्त्व सफल हो सकता है अन्यथा नहीं, यह निष्कर्ष है, अस्तु। दयारूप या करुणारूप भावको अहिंसाधर्म मानना उपचार है, कारण कि उससे पुण्यका वंध होता है। हाँ, वह शुभरागरूप है जो कषायकी मंदतासे होता है और परंपरया (व्यवहासे) मोक्षका कारण या वीतरागताका कारण बतलाया गया है जो निमित्तरूप हो है, जन्यजनकभावरूप नहीं है अथवा अविनाभावरूप नहीं है ऐसा समझना चाहिये। किन्तु नैतिकता-के नाते उसका करना भी अनिवार्य है। कायदा, कानूनकी अपेक्षा नैतिकताका पालन करना लोका-चारमें मुख्य है—चाहे उसका सम्बन्ध कायदा, कानून (नियम) के साथ हो या न हो, उसका ख्याल नहीं किया जाता। उक्तं च—

'शास्त्राद् रूढिर्वलीयसी' या 'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न कर्त्तव्यं न चरितव्यमिति'

नोट—कहीं २ धर्मका अर्थ पुण्य भी होता है, जिसकी मुख्यता गृहस्थ श्रावकोंके रहती है अर्थात् वे अधिक पुण्यके कार्योमें दत्तचित्त (संलग्न) रहते हैं। वे अशुभ या अधर्मसे छूटनेके लिये उसीका सहारा लेते हैं और अपनी व अन्य जीवोंकी अशुभसे रक्षा करते हैं तथा शुभोपयोगी मुनि साधु भी शुभोपयोगके समय शुद्धोपयोगी या शुभोपयोगी अन्य रोगी थके भूखे प्यासे मुनियोंकी वैयावृत्ति (पगचंपी व धर्मोपदेश देकर) करते हैं तथा औषधि भोजनादिके लिये गृहस्थोंसे कहते व सम्बन्ध जोड़ते हैं। इस प्रकार थोड़े समयको थोड़ा पुण्यबंध करते हैं सर्वदा सर्वथा नहीं यह तात्पर्य है, अस्तु। विवेकी गृहस्थको 'पुण्यानुबंधी पुण्य' करना चाहिये किन्तु 'पापानुबंधी पुण्य' नहीं करना चाहिये यह विधि है।

बीज राख फल भोगवे, ज्यों किसान जगमाहिं।
त्यों चक्रीनृप सुख करे, धर्म विसारे नाहिं।

यह नीति अपनाना चाहिये।

धर्म अनेक प्रकारका होता है।

यथा

(१) अहिंसारूप धर्म होता है (वीतरागतारूप निश्चयधर्म) भेदरहित उत्सर्ग धर्म (२)

श्रावकधर्म व मुनिधर्म (क्रियारूप व्यवहारधर्म) भेदसहित अपवादधर्म (३) उत्तम क्षमादिरूप दशधा धर्म (शुभरागरूप—धर्मानुरागरूप व्यवहारधर्म) (४) निश्चय-व्यवहाररूपधर्म (उत्सर्ग व अपवादधर्म (५) मोहक्षोभादि (रागद्वेषादि) रहित धर्म (६) शुद्धात्माके संवेदनरूप धर्म (७) स्वानुभवरूप धर्म (८) चारित्रका नाम धर्म है। (९) वस्तुस्वभावका नाम धर्म है। (१०) गुणका नाम धर्म है और (११) सम्यग्दर्शनादित्रय धर्म है।

इसी तरह—

चारित्रके भी अनेक भेद होते हैं (वृ० द्रव्यसंग्रहकी गाथा ३५ में देखो)

वदसमदी गुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजयो य।
चारित्तं वहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥ ३५ ॥

अर्थ—वारह व्रतोंका पालना चारित्र कहलाता है। (निवृत्तिरूप) पाँच समितियोंका पालना चरित्र कहलाता है (प्रवृत्तिरूप)।

तीन गुप्तियोंका पालना चारित्र कहलाता है। दश धर्मोंका (उत्तमक्षमादिका) पालना चारित्र कहलाता है। वारह भावनाओं (अनित्यादि) का चिन्तवन करना चारित्र कहलाता है। २२ परीषहोंका सहन करना चारित्र कहलाता है। इस प्रकार चारित्र अनेकप्रकारका होता है। इन्हींसे भावसंवर होता है अर्थात् ये सब भाव विकारी या खोटे भावोंको हटा देते हैं अतः वह भावसंवर कहलाता है उससे पापकर्मोंका आस्रव नहीं होता। यह चरणानुयोगकी पद्धति है अर्थात् वाह्य (दृश्यमान) आचरणका शुद्ध होना ही, द्रव्यचारित्र कहलाता है। लोकाचारमें इसीका वड़ा महत्त्व होता है। यह चारित्र ही धर्म कहलाता है इत्यादि समझना जो व्यवहारनयकी मुख्यतासे है। निश्चयनयसे चारित्र या धर्मका स्वरूप दूसरा होता है जो परिणामों पर निर्भर रहता है, क्रिया पर निर्भर नहीं रहता (वीतरागताका होना या अहिंसा रूप भाव होना निर्विकल्प होना निश्चयचारित्र है। लेकिन हीन दशामें अर्थात् सराग अवस्थामें पदके अनुसार वाह्यचारित्र भी कथंचित् उपादेय व कर्त्तव्य है एकान्तधारणा नहीं करना चाहिये इत्यादि ॥ ७६ ॥

आचार्य एकदेश (अपवादरूप) अहिंसाधर्मके पालनेवाले गृहस्थोंको भी अप्रयोजनभूत स्थावर जीवोंकी हिंसा न करनेका उपदेश देते हैं।

स्तोकैकेन्द्रियघाताद् गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥७७॥

पद्य

जो गृहस्थ धन धान्य सहित हैं—थावर हिंसा करते हैं।
उनका भी कर्त्तव्य यही है—विना प्रयोजन तजते हैं॥
जिन्हें धर्म की श्रद्धा है वे धर्मदृष्टिको रखते हैं।
न्यायनीति से काम चलाते हिंसा से वे डरते हैं॥ ७७ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [सम्पन्नयोग्यविषयाणां गृहिणां] जो परिगृही धनी मानी सरागी गृहस्थ हैं, उनके [स्तोकैकेन्द्रियविघातात्] थोड़ी बहुत, वहु आरंभ परिगृही होनेसे स्थावर एकेन्द्री जीवोंकी हिंसा तो होती ही है (अनिवार्य) है तथापि [शेषस्थावरमारणविरमणमपि करणीयं भवति] शेष अप्रयोजनभूत (जिनके विना कार्य चल सकता है) स्थावरजीवोंकी हिंसा (मरण) का त्याग भी वे अवश्य करें अर्थात् यथासंभव अहिंसा व हिंसाका उपयोग करें या उन्हें बाध्य होकर करना चाहिये, जिससे वे कथंचित् अहिंसाधर्म पालक बने रहें। गृहस्थ अव्रत अवस्थामें भी अहिंसा धर्मको योग्यतानुसार पालें ॥ ७७ ॥

भावार्थ—यद्यपि परिगृही धनधान्यादि सम्पन्न गृहस्थ हर तरहके व्यापार (कारोबार) करता है, किसीका भी त्यागी नहीं है। इस लिये उसके त्रस स्थावर जीवों की हिंसाका होना अवश्यंभावी है, जिससे वह पूर्ण अहिंसाधर्मका पालन नहीं कर सकता तथापि यथाशक्ति त्रसजीवों की हिंसाका त्याग करते हुए (संकल्पादिसे) उन्हें (गृहस्थोंको) उन स्थावरजीवोंकी हिंसाका भी त्याग करना चाहिये जो अप्रयोजनभूत हैं या जिनके विना भी कार्य चल सकता है। और ऐसा करके वे कथंचित् स्थावरजीवोंकी भी रक्षा करते हुए स्थावरहिंसाके त्यागी—अहिंसाधर्म पालक हो सकते हैं व होना चाहिये। क्योंकि असलमें मनुष्य वही है जो उच्च विचार और आचार (कार्य) रखे या करे; यही मनुष्यमें दूसरोंकी अपेक्षा विशेषता या उच्चता है अन्यथा आहारादि सभी कार्य प्राय: पशुओंके समान पाये जाते हैं तव उनसे कोई विशेषता सिद्ध नहीं होती—समानता ही सिद्ध होती है ऐसा जानना। तमाम गृहस्थोंका यह कर्त्तव्य है जो उन्हें करना चाहिये तभी मनुष्यजन्म की सफलता है, कहनेसे करना वड़ा माना जाता है किम्वहुना। व्यर्थ और अप्रयोजनभूत कार्योंको करके जीवनको खराव नहीं करना चाहिये, यही वुद्धिमानी है, हितकी शिक्षा है, अस्तु। ध्यान दिया जाय।

विधान (सिद्धान्त)के अनुसार एकेन्द्रीजीवों (स्थावरकायों)के ४ चारप्राण (द्रव्यरूप) होते हैं। यथा एक स्पर्शनइन्द्री, एक कायबल, एक श्वासोच्छास, एक आयुष्य। जब स्थावरकायकी हिंसा होती है तब हिंसापाप अवश्य लगता है। लेकिन ४ चारप्राण घात सम्बन्धी थोड़ा पाप लगता है, जो व्यवहारनयसे पराश्रित होनेके कारण उपचार कथन है फिर भी लोकमें उसकी मान्यता होती है। नैतिकताकी अपेक्षासे वह भी वर्जनीय है। भूलकर मनुष्यसमाज वैसा कार्य कभी न करे जिसमें द्रव्यप्राणोंका घात हो, निश्चयनयसे मनुष्यसमाजका कर्त्तव्य है कि वह अपने खोटे-परिणाम किसी भी जीवको मारडालनेके न करे, जिससे मारनेवाले (कर्त्ता)के भावप्राणोंकी हिंसा न हो। इस प्रकार द्रव्य और भाव दोनों प्रकारकी हिंसाओंसे यथाशक्ति बचना और अहिंसा-धर्मको आंशिक व पूर्णरूपसे पालना मनुष्यसमाजका कर्त्तव्य है, उससे जीवनकी शोभा, प्रतिष्ठा और परभवमें सुख-साताकी प्राप्ति होना अनिवार्य है अस्तु।

सारांश यह है कि अव्रती गृहस्थ श्रावक भी एकदेश व्रती (अणुव्रती) वन सकता है यदि वह प्रयोजनभूत कार्योंमें स्थावरों (एकेन्द्रियों) की रक्षा न कर सकने पर भी अप्रयोजनभूत कार्योंमें स्थावरोंकी रक्षा करे या रक्षाका प्रयत्न करे अर्थात् प्रयोजनभूत कार्योंके अतिरिक्त अप्र-

योजनभूत कार्योंको छोड़ देवे या व्यर्थ ही स्थावरोंका विघात न करे तो। जैसे कि व्यर्थ ही न जमीन खोदे, न पानी बहावे, न अग्नि जलावे, न वायु वहावे इत्यादि! ऐसी हालतमें वह कथंचित् (एक-देश) व्रती बन सकता है और बनना चाहिये क्योंकि बिना व्रतके जीवन निष्फल माना गया है यह ध्यान रहे ॥ ७७ ॥

आगे आचार्य—अमृत समान अहिंसाधर्मको पालनेवालोंको शिक्षा (हिदायत) देते हैं कि दूसरे हिंसक आदि जीवोंके धनादिककी विषमता (विचित्रता) देखकर कभी असंतुष्ट और लालायित नहीं होना चाहिये। (मनमें विकार नहीं लाना चाहिये)

अमृतत्वहेतुभूतं[1] परममहिंसारसायणं[2] लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानाम[3]समंजस[4]माकुलैर्न[5] भवितव्यम् ॥ ७८ ॥

पद्य

मोक्षप्राप्ति अरु सुखका कारण परम अहिंसा है भाई।
परम रसायन उसको जानो इष्टवस्तु की है दाई ॥
यदि कदाचित् हिंसकजनके सुखसमृद्धि विषमता हो।
उसे देख श्रद्धानी का मन कभी न प्रण से विचलित हो ॥ ७८ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायणं लब्ध्वा] मोक्ष प्राप्तिका कारण उत्कृष्ट अहिंसाधर्मरूपो रसायन (चिन्तामाणि)को प्राप्त करके अर्थात् अहिंसा-व्रती बनकर [बालिशानां असमंजसमवलोक्य] उसे अन्य किसी हिंसक अज्ञानी जोवोंका धन-विद्या-बल-प्रभुता आदिकी अधिकताको या तन्दुरुस्ती सुन्दरता विशेष हो, तो उसको, देख कर [आकुलैर्न भवितव्यम्] कभी चित्तको डवांडोल (अभिलाषारूप) नहीं करना चाहिये अर्थात् श्रद्धाको नहीं बदलना चाहिये, यह अहिंसाधर्मीका मुख्य कर्त्तव्य है, ऐसी शिक्षा आचार्य महाराज देते हैं ॥ ७८ ॥

भावार्थ—यह है कि जीवोंके परिणाम थोड़ी-थोड़ी बातोंमें बदल जाते हैं ऐसा देखा जाता है क्योंकि संयोगी पर्यायमें एवं गृहस्थाश्रयमें रहते समय चित्त स्थिर नहीं रहता—चलायमान हो

---

१. मोक्षका कारण।

२. इष्टप्रयोजनकी सिद्धि करने वाली सर्वोषधि चिन्तामणि।

३. अज्ञानी हिंसक।

४. असमानता अधिकता।

५. डवांडोल चित्त करना या विचलित परिणाम करना या असंतुष्ट होना या लुभयाना। या मोहित चित्त होना। 'मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्ममिति'।

जाता है। ऐसी स्थितिमें आचार्य कहते हैं कि दृढ़श्रद्धानी प्रतिज्ञाधारीको कभी भी अपनी दृढ़ श्रद्धाको या प्रतिज्ञाको नहीं बदलना चाहिये चाहे कैसा भी परिणमन देखने भोगने व सुननेमें क्यों न आवे, क्योंकि वस्तुका परिणमन संयोगरूप व वियोगरूप हमेशा हर जीवके होता रहता है, चाहे वह जीव सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि हो, हिंसक हो या अहिंसक हो, पापी मूर्ख अज्ञानी हो, या धर्मात्मा (पुण्णी) विद्वान् ज्ञानी हो, धनी हो था निर्धनी हो, रोगी कुरूप हो या निरोगी सुरूप हो, उच्च हो या नीच हो। वस्तुके परिणमनमें कोई पक्षपात या भेद नहीं माना जाता, न कर सकता है, अत: वस्तुके परिणमन पर दृष्टि देने वाला व उसको स्वतंत्र माननेवाला सम्यग्दृष्टि दृढ़श्रद्धालु होता है। इसीलिये उसकी श्रद्धा अटल (अपरिवर्त्तनीय) रहती है। वह अहिंसाधर्मको ही सर्वोच्च आत्महितकारी चिन्तामणि समझता है, धनादिक परविभूति (परिग्रह)से वह विरक्त रहता है, उसकी वह हृदयसे आकांक्षा नहीं करता, उसको वह उपादेय नहीं मानता न उसे जरूरत से ज्यादह महत्त्व देता है, उसको वह बीमारीकी दवाईवत् सेवन करता है। वह खूब जानता है कि वर्त्तमानमें हिंसक दुष्ट कषायी मिथ्यादृष्टि नीच जीवोंके यदि विभूति आदि बहुत सामग्री पाई जाती है तो उसका कारण पूर्वका किया हुआ पुण्यका बंध है, उसके उदयसे यह सब ठाठवाट है किन्तु वर्त्तमानमें हिंसा करने या हिंसक व्यापार, चोर व्यापार आदि करनेका यह फल (ठाटवाट) नहीं है, इसका (कुकर्मका) फल अलग भोगना पड़ेगा (दरिद्रता आदि), जब वह पापका बंध उदयमें आवेगा। अतएव श्रद्धाको क्यों विगाड़ना ? नहीं विगाडना चाहिये। यदि श्रद्धा विगड़ी तो सब विगड़ गया। यदि हमारे स्वयं या अन्य अहिंसाधर्मीके दरिद्रता आदि है तो वह भी पूर्वकृत पापकर्मका फल है सो जब वह खतम हो जायगा (पापकर्म नष्ट हो जायगा) तब हमें भी साता-को सामग्री स्वत: प्राप्त हो जायगी, अत: क्यों घवड़ाना ? वह एक दिन अवश्य-अवश्य होगा। सच्चे झूठेकी परीक्षा वक्तपर ही होती है अत: श्रद्धा दृढ़ रखना चाहिये किम्बहुना। ऐसा उपदेश आचार्य महाराज देते हैं। अरे, यह अहिंसाधर्मरत्न नित्य मोक्षसुखको देनेवाला है, उसके सामने यह सांसारिक विभूति जन्य सुख तुच्छ और अनित्य है (बन्धका कारण है) इससे मोक्षसुख हरगिज नहीं मिल सकता इत्यादि।

इसके सिवाय विवेकी अहिंसाधर्मके पालने वालोंको यह भी तो सोचना चाहिये कि सांसारिक सुखसमृद्धिका मूलहेतु वह दयारूप धर्म ही तो है—जिसे व्यवहारसे अहिंसाधर्म कहते हैं। उससे पुण्यका बंध होता है और उसके उदय आने पर देवेन्द्र-चक्रवर्ती, धनी कुटुम्बी आदि विभूति वाला वह जीव होता है अत: कभी श्रद्धाको नहीं विगाड़ना चाहिये। अहिंसाधर्म एक रसायन या सर्व-सिद्धिदायक (कल्पवृक्ष) परमौषधि है। उससे मनोवांछित संसारसुख और अन्तमें नित्य मोक्षसुख भी मिलता है किम्बहुना। निश्चयनयसे अहिंसाधर्म, वीतरागतारूप है—पूर्ण रागादिसे रहित है। (निर्बंध है) और व्यवहारनयसे अहिंसाधर्म, शुभरागरूप या धर्मानुरागरूप है (पुण्यबंध सहित है) यह खास भेद समझना चाहिये। किन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टि निश्चय-व्यवहारका ज्ञान न होनेसे एक तरह (एकान्तरूप) का ही विश्वास (श्रद्धान) कर बैठते हैं, जिससे वे ठगाए जाते हैं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि एक आंखसे सबको देखते हैं। कौएकी पुतलीकी तरह क्षण २ में उनके विचार बदलते रहते हैं। स्थिर एकत्रित नहीं रहते। उनको हमेशा संशय बना रहता है अतएव वे थोड़े

२ में लुभया जाते हैं—भ्रममें पड़ जाते हैं । किसी हिंसक पापो दुराचारीके यहाँ धनवैभव आदि देख कर यह विश्वास कर बैठते हैं कि 'द्रव्य आदिका संचय होना' अहिंसासे या ईमानदारीसे वरतने पर नहीं होता,[1] किन्तु मनचाही हिंसा चोरी आदि काम करने पर ही होता है। उसे इस सचाईका पता नहीं लगता कि 'धनादिकी प्राप्ति' खोटे कामोंसे नहीं होती किन्तु चोखे कामोंके करनेसे ही होती है (पुण्यबंध करके) इस पापी दुराचारीने पूर्वभवमें चोखा काम (जीवदया-भक्ति आदि शुभराग) किया होगा। जिससे पुण्य कर्मका बंध किया होगा उसका उदय अभी इस पापमय अवस्थामें हुआ है अतः उसका यह फल (नतीजा) है--पापकार्यका यह फल नहीं है, उक्त पापका फल आगे जब वह पापकर्म उदयमें आवेगा तब मिलेगा इत्यादि वह पापकर्मी नहीं सोचता (उसको उसको खबर नहीं है) तभी वह अनर्थ करने लगता है परन्तु ज्ञानी सम्यग्दृष्टि हमेशा सब सोचता है और उचित कार्य करता है, अच्छे कार्यका फल हमेशा अच्छा होता है अतएव कोई विषमता या विचित्रता (अचरजका कार्य) देखकर नियत नहीं बिगाड़ना चाहिये--वह अन्याय है वस्तुका परिणमन कोई बदल नहीं सकता है, मनका धन कोई भले ही करे परन्तु सफलता नहीं मिलती इत्यादि, ऐसा खुलासा अहिंसा रसायनके बाबत किया गया है, इसको हमेशा ध्यानमें व श्रद्धानमें रखना चाहिये, कल्याण इसीसे होगा अन्यथा नहीं। वास्तवमें विचार किया जाय तो व्रती या अव्रती सम्यग्दृष्टि परिग्रह या भोगोपभोगमें रति या रुचि रखते ही नहीं हैं वे सब काम अरुचि सहित संयोगीपर्यायमें कषायादिके दवाउरेमें बिगारीकी तरह करते हैं। तब किसीकी विभूति आदि देखकर वे नहीं लुभयाते, न उसकी वांछा करते हैं, न उसके लिये खोटे कर्म करते हैं, न उसकी उत्पत्तिका कारण पापकर्मको समझते हैं इत्यादि विवेक उसके रहता है किम्बहुना ।। ७८ ।।

'धर्म रसायन है' उससे सब कुछ मिलता है यह मानकर भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि धर्मके स्वरूपमें भूले हुए हैं--वे जीवहिंसा (बलि) को धर्म मानते हैं उन धर्ममूढ़ों (अज्ञानियों) को आचार्य समझाते हैं। एवं हिंसा धर्मका खण्डन करते हैं।

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो[2] धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ।।७९।।

पद्य

भगवान् का जो धर्म है वह अतिगहन[3] है जानिये। तर्क
उसका समझना कठिन है उस अर्थ हिंसा ठानिये ।।

---

१. न्यायसे उपार्जन किये हुए धनसे धनी नहीं बन सकता, जैसे कि केवल स्वच्छ छने हुए पानीसे जलाशय नहीं भरता इत्यादि विपरीत धारणा करता है। लाभालाभ देखना चाहिये, गुणोंकी वृद्धिसे ही आत्माकी उन्नति होती है परिग्रहादिके बढ़नेसे आत्माकी अवनति होती है ऐसा विचार करना चाहिये। वही सम्यक धारणा है अस्तु।।

२. ईश्वरका धर्म।

३. अत्यन्त सूक्ष्म—अज्ञेय (ज्ञातुमशक्य)।

हिंसामयी नहिं धर्म होता, वह अहिंसामय सदा। खण्डन
इससे कभी नहिं जीव हतना, मूर्ख बनता है तदा ॥७९॥

अन्वय अर्थ—जिनका यह मत है अर्थात् ख्याल है कि [भगवद्धर्मो सूक्ष्मः] धर्मका स्वामी भगवान् (ईश्वर) है अर्थात् धर्मका कर्त्ता और फलदाता भगवान् ही है, दूसरा कोई नहीं है और वही धर्मके स्वरूपको जान सकता है क्योंकि वह इन्द्रियज्ञानके गोचर नहीं है अर्थात् हमलोग इन्द्रिय ज्ञानसे स्थूल पदार्थोंको जान सकते हैं—धर्म जैसे सूक्ष्म पदार्थको नहीं जान सकते अतएव [धर्मार्थं हिंसने दोषो नास्ति] उस धर्मकी प्राप्ति और ज्ञप्तिके लिए जीवहिंसा करनेमें कोई दोष (अपराध या अधर्म) नहीं लगता, कारण कि धर्मके खातिर धर्मके स्वामी भगवान्को प्रसन्न करनेके लिए यही उत्तम उपाय[1] है, ऐसा तर्क अज्ञानी जीव उठाता है, उसका खण्डन इस प्रकार है कि [इति धर्ममुग्धहृदयैः भूत्वा जातु शरीरिणो न हिंस्याः] धर्मके सम्बन्धमें या धर्मके स्वरूपमें तर्कवालेके अनुसार भूल नहीं करना चाहिए। और मूर्ख बनकर कभी भी जीवोंकी हिंसा धर्मके खातिर नहीं करना चाहिए, यह समझदारी है—बुद्धिमत्ता है। धर्मका स्वामी अकेला भगवान् नहीं है, सभी जीव हैं और उसका फल देना भी अकेले भगवान्के ही हाथ (अधीन) में नहीं है अपितु सभी जीव अपनी अपनी करनीके अनुसार फल पाते हैं इत्यादि। अतएव धर्मका स्वरूप अहिंसामय ही है, हिंसामय नहीं है ॥७९॥

भावार्थ—धर्मका स्वरूप हमेशा एक-सा रहता है, उसमें परिवर्तन नहीं होता यह निश्चय-को बात है, किन्तु ज्ञानी और अज्ञानी (सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि) जीवोंके बुद्धिके फेरसे धर्मके स्वरूपमें भूल व भ्रम हो रहा है। इसका खुलासा पेश्तर श्लोक नं० ५८ में विस्तारके साथ किया गया है, उसको समझना। फिर भी संक्षेपरूपमें यहाँ भी लिखा गया है। संसारमें अनेक मत हैं कोई ईश्वरवादी हैं (भगवद्धर्मी हैं) कोई अनीश्वरवादी अर्थात् स्वतन्त्र वस्तुवादी हैं। तथा कोई अल्प-ज्ञानी रागीद्वेषी, प्रमाणनयके स्वरूप व भेदोंको नहीं जाननेवाले हैं, कोई अल्पज्ञानी होकर भी नयप्रमाणके यथार्थ स्वरूप व भेदोंको जाननेवाले हैं। ऐसी स्थितिमें—पदार्थव्यवस्था, भिन्न २ प्रकार उन्होंने मानी व बतलाई है। तभी तो कोई 'हिंसाको धर्म मानते हैं व कोई 'अहिंसाको धर्म मानते व कहते हैं। कोई भक्ति या शुभराग अथवा धर्मानुराग (परोपकारादि) से मुक्ति मानते हैं। और कोई शुभराग या भक्तिरूप धर्मानुरागसे रहित 'शुद्धवीतरागता' से मुक्ति मानते हैं। भक्तिसे मुक्ति माननेवाले 'निश्चय व्यवहारनय' से अनभिज्ञ हैं अतः वैसा कहते हैं और वीत-रागतासे मुक्ति माननेवाले 'निश्चय-व्यवहारनय'के ज्ञाता हैं अतएव वैसा कहते हैं। अर्थात् निश्चय-नयसे वीतरागता ही मुक्तिका कारण (मोक्षमार्ग) है क्योंकि रागद्वेषादिके पूर्ण छूटनेपर ही मोक्ष प्राप्त होता है यह नियम है। और व्यवहारनयसे 'भक्तिसे मुक्ति होती है' यह कहना ठीक है, परन्तु

---

१. यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥
यह उनके यहाँ लिखा है जो युक्त नहीं हैं।

यह कथन उपचाररूप असत्य है क्योंकि उससे बन्ध होता है ऐसा समझना चाहिये। परम्परयाका अर्थ व्यवहारनयकी अपेक्षा होता है अर्थात् पर जो व्यवहार, उसका पर अर्थात् आश्रय लेनेपर (उसकी अपेक्षा करनेपर) शुभोपयोग या शुभराग मुक्तिका कारण माना जा सकता है।

दूसरा अर्थ पर जो व्यवहार उसको पर अर्थात् दूर कर देनेपर अर्थात् परका आश्रय छोड़कर निजका आश्रय लेनेपर (स्वाधीनतारूप शुद्धोपयोगसे) मोक्ष होता है इत्यादि सारांश है। अर्थात् जब शुभोपयोग (भक्ति आदि) बदलकर शुद्धोपयोगरूप परिणमन करता है तब मुक्ति होती है यह तात्पर्य है।

'जीयो और जीने दो' यह उदार सिद्धान्त है।
'मां हिंस्यात् सर्वभूतानि' यह वेद वाक्य है॥
'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' —महाभारत वाक्य

उक्त उद्धरणोंसे हिंसा करना 'धर्म' नहीं माना जा सकता यह निश्चय है।

विशेषार्थ—(शंका समाधान द्वारा निर्धार)

प्रश्न—उक्त श्लोकमें यह कहा है कि 'धर्मार्थ हिंसा करनेमें कोई दोष या अपराध (पाप) नहीं होता अर्थात् वह जायज है न्यायके अनुकूल है—कर सकता है। इसका खण्डन नहीं किया जा सकता ? कारणकि जैन लोग (अहिंसा धर्मवाले) भी तो धर्मके निमित्त बड़े २ मन्दिर बनवाते हैं, गजरथ चलाते हैं, धर्मशालाएँ बनवाते हैं, सम्मेलन या संघ निकालकर तीर्थयात्रा करते हैं भोज देते हैं इत्यादि। जैन गृहस्थ हमेशा उक्त कार्य करते रहते हैं और जैन साधु भी चतुर्विध संघ मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) तयार करते हैं, धर्मोपदेश देते हैं देशमें पैदल विहार करते हैं उसमें हिंसा होती है जीव मरते हैं इत्यादि। यह सब धर्मप्रभावना या प्रचारके लिए ही तो है न ? फिर 'धर्मके निमित्त हिंसा करनेका खण्डन जैन क्यों करते हैं ? वह भी तो धर्म है जबकि वह धर्म प्रचारके उद्देश्यसे की जाती है। उपर्युक्त उदाहरणोंसे यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि जैन लोग भी हिंसाको धर्म मानते हैं, समर्थन करते हैं। लेकिन दूसरोंका खण्डन करते हैं यह विचित्रता है—आश्चर्य है अस्तु।

उक्त प्रश्न (तर्क) का उत्तर यह है कि दोनोंके उद्देश्यमें अन्तर (फर्क) है जैन लोग, हिंसा करके धर्म नहीं मानते अर्थात् पेश्तरसे ही 'अमुक जीवको मारनेसे धर्म प्राप्त होगा या हो जायगा' ऐसा इरादा या संकल्प करके उसे नहीं मारते किन्तु अन्य लोग खासकर पेश्तर से यही इरादा कर लेते हैं कि यदि इस जीवकी बलि दे दी जाय (मार डाला जाय) तो हमें अवश्य धर्म प्राप्त हो जायगा, कोई संशय नहीं है—धर्मकी प्राप्ति होना निश्चित है इत्यदि। बस यही मान्यता गलत है (असत्य है) क्योंकि वह मारनेका संकल्प ही तो अधर्म व हिंसा है उससे उस संकल्प कर्त्ता (मारक) के भाव प्राणों (स्वभाव भावों) का घात (हिंसा) पहिले ही हो जाता है जो महा हिंसारूप है। फिर उसके पश्चात् उस संकल्पित जीवको मार डालनेसे द्रव्य हिंसा भी होती है। इस तरह भाव व द्रव्य दोनों तरहकी हिंसाका होना 'धर्म' कभी नहीं कहा जा सकता

न माना जा सकता है क्योंकि उसका फल नरक निगोदादि महान् दुःखोंकी प्राप्ति होना है, स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति नहीं होती अर्थात् (विपरीत फल मिलता है) न्यायके अनुसार कारणविपर्ययसे फल (कार्य) विपर्यय अवश्य होता है। अस्तु। जैनलोग जो धर्मार्थ (धर्म साधनके लिये) मंदिर आदि वनवाते हैं रथ चलवाते हैं—संघ निकालते—भोज्य (पंगत) देते हैं, उसमें जीव मारनेका उद्देश्य नहीं करते, धर्मप्रचारका (परोपकारका) उद्देश्य या ख्याल रखते हैं। वैसेमें यदि आनुषंगिकरूपसे जीवहिंसा हो जाय तो उसकी जिम्मेवारी उनपर नहीं है अथवा निमित्तरूपसे थोड़ी सी जिम्मेवारी यदि आती है तो वह नगण्य है अर्थात् तुच्छ है। यथा 'सावद्यलेशो वहुपुण्यराशौ, दोषाय नालं कणिका विषस्य' अर्थात् समुद्रमें विषकी थोड़ीसी बूँद पड़ जाने पर कोई बड़ी हानि नहीं होती, उसी तरह वहुत पुण्यके ढेर (राशि) में यदि थोडा पाप भी मिल जाय तो वह आपत्तिकर नहीं हो सकता। ऐसा समझना चाहिये। इस तरह मूल लक्ष्य (उद्देश्य) में ही भूल या भेद होनेसे जैन लोगोंकी अन्य लोगोंके साथ 'हिंसा' में या हिंसाधर्ममें समानता नहीं मिल सकती वह खाली बकवास है। इसके सिवाय लोभ आदि कषायों (विकारों) का छूटना ही 'धर्म' है क्योंकि उनसे अभ्यन्तर हिंसा अवश्य होती है। उसका समझना जरूरी है। अन्य लोग प्रायः उसको नहीं समझते। यदि किसीके मारनेका इरादा धर्मके खातिर या भोज्यादिके खातिर या परोपकारके खातिर हो जाय तो उससे क्या अपराध न होगा? अवश्य २ होगा। कारण कि वह विकारीभाव (कषाय) है। वह चाहे अपने स्वार्थके लिये हो या पर स्वार्थके लिये हो, देवके लिये हो अपराधी है। चोरी चाहे अपने लिये की जाय या परके लियेकी जाय, देवगुरुके लिये की जाय, उसकी सजा जरूर मिलेगी—क्षमा नहीं की जा सकती, यह ध्यान रखना चाहिये। जो आदमी अपने लिये अग्निको अपने हाथसे उठाता है या दूसरेके लिये उठाता है वह स्वयं जलता है दुःख उठाता है वहाँ लिहाज या छूट नहीं होती, ऐसा ही हिंसाके सम्वन्धमें समझना चाहिये। वह चाहे अपने लिये की जाय या अन्य देवता गुरु, आदिके लियेकी जाय उसका फल करने वालेको ही भोगना पड़ेगा, छूट कदापि न होगी इत्यादि, क्योंकि व्यापार या क्रिया व कषाय सभीमें होती है यह नियम है। जिससे हिंसा अवश्य होना संभव है अस्तु।

नोट—(१) पेश्तर श्लोक नं० ५४ में संकल्पी आदि चार प्रकारकी हिंसाओंका व्याख्यान किया गया है सो समझ लेना। (२) कषाय और योग (क्रिया) दोनोंके निमित्तसे हिंसा होती है अतः दोनों त्याज्य हैं फिर उद्देश्य यदि बुरा हो तो कहना ही क्या है समझदारीपूर्वक उसका त्याग ही कर देना चाहिये।

धर्मके विषयमें विपरीत मान्यता

अन्य मतावलम्बी भिन्न २ प्रकारसे हिंसाको धर्म मान कर, उसकी पुष्टि करते हैं परन्तु वह खंडनीय है, मंडनीय नहीं है यह वताया जाता है (यथार्थमें 'अहिंसा' ही धर्मका स्वरूप है)

वैदिक मत वाले हिंसाको धर्म मानते हैं। यथा—

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥८०॥

पद्य

धर्म प्राप्त होता है सबको देवोंकी [1]प्रसन्नतासे।
देव प्रसन्न होत हैं तब ही उनको बलि चढ़ानेसे ॥
सब कुछ दे डालें हम उनको वे ही सबके स्वामी हैं।
इस दुर्बुद्धिमें पड़कर मित्रों ! जीय मारना खामी[2] है ॥

अन्वय अर्थ—वैदिक मतवाले कहते हैं कि [हि देवताभ्यः धर्मः प्रभवति] यदि वास्तवमें विचार किया जाय तो 'धर्मके दाता या अधिष्ठाता देवता ही हैं क्योंकि उन्हींका सब है। अतः उनकी प्रसन्नता या सेवा (आराधना) से ही हम सबको धर्मकी प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं। फलतः [इह ताभ्यः सर्वं देयम्] उन देवताओंके लिये इस लोकमें सभी वस्तुएं समर्पण कर देना चाहिये अर्थात् चढ़ा देना चाहिये, हिचकिचाना नहीं चाहिये [इति दुर्विवककलितां धिषणां प्राप्य देहिनो न हिंस्याः] आचार्य इस अविवेकपूर्ण विचारधारा या कार्यवाहीका खंडन करते हैं कि कि 'कोई भी समझदार विद्वान् उक्त दुष्टतापूर्ण भ्रष्टाचार फैलाने वाले कुमार्गके उपदेशमें बहक कर 'जीवोंकी हिंसा न करें क्योंकि हिंसा कभी धर्म नहीं हो सकता इत्यादि। देखो, देवता लोग कभी मांस मधु मदिरा जैसी निकृष्ट (अपवित्र) वस्तुओंका स्तैमाल नहीं करते वे अमृतपायी होते हैं। उनकी प्रसन्नताके खातिर बलि चढ़ानेकी बात कहना, उनकी निन्दा करना है। ऐसे जीव देवनिन्दक हैं—देवभक्त नहीं हैं ॥ ८० ॥

भावार्थ—अज्ञानी विषयकषायको पोषण करनेवाले लोग ही स्वार्थवश खोटे शास्त्रोंकी रचना करते हैं और उनमें स्वार्थवश देवता आदिकी आड़ (ओट)में अपने स्वार्थकी सिद्धि करते हैं। जिन्हें स्वयं पापसे भय नहीं है, निर्भय होकर पाप कार्य करते हैं, हिंसा-झूठ चोरी कुशील-परिग्रहसंचय आदि पांचों पापोंमें प्रवृत्ति करते एवं संलग्न रहते है वे अपने पापों और पापमय प्रवृत्तियोंको छिपाने या पुष्ट करनेके लिये ही अपनी कलम (लेख)से शास्त्रोंमें उनकी वैधता लिख देते हैं और उसकी दुहाई देकर घोर पाप करके आजीविका (रोजी) चलाते रहते हैं। ऐसे जीव नरकगामी घोर पापी समझे जाते हैं जो शास्त्रोंमें असंभव दुराचारपूर्ण बातें भर देते हैं। जिन शास्त्रोंमें लोकविरुद्ध (नैतिकताके विपरीत) कथन पाया जावे वे शास्त्र नहीं, शस्त्र हैं। और उनके कर्त्ता (लेखक) अज्ञानी विषयकषायी हैं। उन शास्त्रोंका आदर करना, उनकी बात मानना व्यर्थ है अस्तु। देवताओं, गुरुओं आदिके नामपर पापाचरण करना घोर अन्याय है। देवता या गुरु कुकर्म करनेसे (जीवहिंसा, मदिरापान आदिसे) प्रसन्न नहीं होते और धर्म उनके हाथमें नहीं है, धर्म प्रत्येक जीवके हाथमें है और वह सदाचार पालनेसे होता है 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त पालनेसे धर्म होता है। अनार्योंने ही स्वार्थवश हिंसाको धर्मका रूप दिया है आर्योंने नहीं दिया है। शास्त्रोंमें एकमत (एकरूपता) नहीं है, कोई कुछ बताता है तो कोई कुछ बताता है, क्या सही माना जाय ?

---

१. खतरा या हानि, धर्मकी प्राप्ति नहीं होती है उल्टा अधर्म प्राप्त होता है इत्यादि।
२. आराधना-सेवा।

संशय हो जाता है इत्यादि। श्लोकमें जो 'देवता' पद लिखा है, उसका अर्थ 'आत्मा या आत्मदेव है' वह आत्मदेव सदाचारसे, मिथ्यात्व व कषाय छोड़नेसे ही प्रसन्न होता है और तभी वह मोक्षको स्वयं प्राप्त करता है ऐसा सत्य समझना चाहिये भुलावेमें नहीं आना चाहिये। अन्य रागी-द्वेषी देवता नहीं हो सकते। वीतरागी भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि ही देवता हो सकते हैं वे ही धर्मके स्वामी हैं अन्य नहीं, अस्तु।

जो हिंसाको धर्म वताते हैं वह ठीक नहीं है। यथा

पूज्यनिमित्तं[1] घाते छागादीनां[2] न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्[3] ॥८१॥

पद्य

अतिथिजनोंके खातिर हिंसा बकरादिककी करनेसे।
पाप नहीं लगता है किंचित् बन्द न करना डरनेसे॥
यह विचार है अधमजनोंका जो कुकर्म यह करते हैं।
इष्ट न जो हो अपने खातिर वे पर नहिं वार्परते[4] हैं॥

अन्वय अर्थ—जो कहते हैं कि [पूज्यनिमित्तं छागादीनां घाते कोऽपि दोषो नास्ति] अतिथि (अभ्यागत-साधु) आदि आदरणीय पुरुषोंके लिये बकरा आदि पशुओंका घात (हिंसा) करने एवं उन्हें खिलानेमें कोई दोष (पाप) नहीं होता (लगता) अपितु धर्म ही होता है इत्यादि। आचार्य इसका खंडन करते हैं कि [इति संप्रधार्य अतिथये सत्त्वसंज्ञपनं न कार्यं] उक्त प्रकारकी मिथ्या धारणा करके कोई भी समझदार व्यक्ति जीवोंकी हिंसा न करे, न करना चाहिये क्योंकि जीवहिंसा कभी धर्मरूप नहीं होती, यह नियम है॥ ८१॥

भावार्थ—मनुस्मृति आदि स्मृतिग्रन्थोंमें हिंसा करने, मांस खाने-खिलानेका विधान कषाय या स्वार्थ आदिके वश किया गया है क्योंकि वे स्वयं वैसा करते थे। अत: वह मान्य नहीं हो सकता। नि:स्वार्थी और स्वार्थी पुरुषोंके उपदेशमें बड़ा अन्तर रहता है। स्वार्थी लोग दूसरोंका भला वुरा नहीं देखते। उनका 'बूढा मरे कि जवान हत्यासे काम' यह लक्ष्य रहता है। कहा भी है 'अर्थी दोषं न पश्यति'। ऐसी स्थितिमें उनकी हिंसाको धर्म बतानेकी मान्यता ठीक या उचित नहीं कही जा सकती, अत: वह हेय व खंडनीय है। खानेवालों और खिलानेवालों तथा समर्थन अनुमोदन करनेवालोंको पाप लगता है और उसकी सजा अवश्य भोगना पड़ती है चाहे वह कोई भी

१. अतिथि या आदरणीय गुरु आदि।
२. वकरा वैल वच्छा आदि।
३. जीवहिंसा (प्राणिवध)।
४. वर्त्ताव करते, आचरणमें लाते (गुजराती भाषा)।

हो। पाप व पारा दव नहीं सकता यह नियम है, अवश्य प्रकट हो जाता है। कभी-कभी इसी लोकमें और कभी-कभी परलोकमें वह अपना फल देता है इत्यादि।

कोई यह कुतर्क करता है कि छागादिक स्थूल प्राणियोंको मारकर खानेमें धर्म होता है क्योंकि अन्नादिक अनेक चीजोंके खानेमें अनेक छोटे जीवोंकी जो हिंसा होती है वह बच जावेगी याने उनकी रक्षा होनेसे धर्मकी प्राप्ति हो जायगी (संभव है) यह पुष्टि वह करता है। यथा—

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥८२॥

पद्य

वहुजीवोंका घात होत है शाकभोजकी त्यारीमें।
इससे अच्छा भोजन वनता वड़े जीवके मारेमें ॥
ऐसा निर्दय कुतर्क करके जीवघातना कभी नहीं।
छोटा वड़ा जीव घातेसे पाप लगत है उसे सही ॥८२॥

अन्वय अर्थ—कोई वादी कुतर्क करता है कि [वहुसत्त्वघातजनितादशनात्, एकसत्त्वघातोत्थं अशनं वरम्] शाक अन्न आदिके द्वारा त्यार किये जानेवाले भोजन (आहार)में बहुत जीवोंका विघात होता है अतः उसकी अपेक्षा एक वड़े जीवको मारकर उसके मांससे त्यार किये जानेवाले भोजनमें कमती हिंसा होती है अतः वह भोजन श्रेष्ठ है (उत्तम) है, उससे छोटे-छोटे बहुतसे जीव मरनेसे वच जाते हैं फलतः उनका वचना धर्मका हेतु है इत्यादि हिंसाकी पुष्टि वह (वादी) करता है। आचार्य उसका खंडन करते हैं कि [इत्याकलय्य महासत्त्वस्य हिंसनं जातु न कार्यं] उक्त प्रकारके कुतर्कपर विश्वास करके कभी भी वड़े जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिये—हिंसा करना महापाप व अधर्म है, वह धर्म नहीं हो सकता इत्यादि ॥८२॥

भावार्थ—अन्यमतोंमें आहारदानको उच्च स्थान दिया गया है। वह वड़ा दान या महादान माना गया है। तदनुसार उनका कहना है कि यदि आहारदानके लिये हिंसा भी करना पड़े तो पाप नहीं लगता, कारण कि उद्देश्य अतिथिदानका है। उसके अन्दर भक्ति व परोपकार शामिल रहता है, जिससे धर्म प्राप्त होता है इत्यादि। इसका आचार्य खंडन करते हैं कि भक्तिभाव कथंचित् (व्यवहारनयसे) धर्म माना जा सकता है किन्तु पापकार्य करके धर्मोपार्जन करना यह उचित नहीं है अपितु अनुचित व वर्जनीय है। कारण कि पापकार्यका फल अलग मिलता है और पुण्यकार्य (भक्ति व परोपकार)का फल अलग मिलता है। इससे पापके साथ पुण्य करना ठीक नहीं है। अथवा धर्मके खातिर (अतिथिदानके खातिर) अधर्म या हिंसा करना मना है। उद्देश्य खराव अर्थात् हिंसाका नहीं होना चाहिये तव क्रियाका फल अच्छा मिलता है, कारण कि धर्म और अधर्म परिणामोंसे हुआ करता है यह न्याय है। अतएव जव अन्यमती पूज्यपुरुषोंके लिये भोजन करानेको प्राणीका वध (हिंसा-हत्या) करते हैं तव वे संकल्प करके ही करते हैं अतएव वे पाप (अधर्म)के

ही भागी मुख्यतया होते हैं, गौणरूपसे साथमें राग या भक्तिके अनुसार कुछ थोड़े नीच जातिके पुण्यकी भी प्राप्ति हो सकती है। इसको पापानुवंधी पुण्य कह सकते हैं ऐसा खुलासा समझना तथा हिंसा करके धर्म मानना—पापानुवंधी पाप समझना। अस्तु।

नोट—श्लोक नं० ७९ से श्लोक नं० ८९ तक धर्मके विषयमें यही निर्णय समझना कि अन्य-मतियोंकी धारणा अज्ञानतापूर्ण है, उद्देश्य कुछ भी हो किन्तु क्रिया खराब (साधन खराब) न हो अर्थात् हिंसामय न हो तभी लाभ कुछ हो सकता है, खोटी क्रियासे चोखे उद्देश्यकी पूर्ति नहीं होती न की जा सकती है ऐसा समझना चाहिये।

विशेष स्पष्टीकरण

जो जीव विषयकषायरूप [1]पापसे लिप्त हैं या युक्त हैं वे स्वयं पापी होते हैं तथा जो जीव उनमें अनुरक्त होते हैं अर्थात् उनमें श्रद्धा रखते एवं उनके भक्त होकर उनका आदरसत्कार (अतिथि सेवा) व उन्हें आहारादि देते हैं वे भी पापियोंकी उपासना करने वाले पापी हैं व माने जाते हैं। ऐसी स्थितिमें खोटी क्रिया (साधन) करके अन्य मूक गरीब असहाय जीवोंको मार करके उन विषयकषायवान् (पापी) जीवोंको खिलाना, प्रसन्न करना उनको कल्याण करने वाले (निस्तारक) समझना महामूर्खता (अज्ञानता) है—कोरा भ्रम है। कारण कि वे स्वयं नहीं तरते (संसारसे पार नहीं होते) तव दूसरों (भक्तों) को पत्थरकी नावके समान कैसे तार सकते हैं? नहीं तार सकते, यह तात्पर्य है। वे अशुभ कषायको पोषण करनेसे पापानुवंधी हैं, पुण्यानुवंधी नहीं हैं। फलतः कुपात्रों (मिथ्यादृष्टियों विषयकषाय-सहितों) या अपात्रोंको दानादि देनेसे कोई लाभ नहीं होता उल्टा नुकसान ही होता है (नारकादि या कुमनुष्य कुदेवादि होना पड़ता है) क्योंकि वह प्रशस्त राग नहीं है—अप्रशस्त राग है (सुपात्रोंमें न होकर कुपात्रोंमें है) इसके सिवाय खोटे साधनों (हिंसादि) से वह सब किया जाता है। जैसे चोरी करके लाये हुए द्रव्यसे भगवान्की पूजा या सेवा नहीं की जा सकती वह निषिद्ध है। यदि वैसा कार्य पवित्र कार्योंमें भी किया जाने लगे तो लोकमर्यादा (व्यवस्था) ही सब चौपट हो जाय। क्योंकि चोर डाकू अन्यायी, पापकार्य करके भी थोड़ावहुत दानपुण्य करके वरी हो जाँयगे—उन्हें सजा न मिलेगी वे कह देंगे कि हमने तो अन्यायका द्रव्य दान पूजादि अच्छे कार्योंमें खर्च कर दिया है तब सजा काहेकी? इत्यादि सव लोकव्यवहार या लोकके कानून कायदे मिट जावेंगे और आपत्ति आ जायगी तथा परलोकका भय भी जाता रहेगा—अन्धाधुन्ध पाप व अन्याय होने लगेगा, किम्बहुना।

---

१. विषयकषाय खुद पापरूप हैं और उन सहित जीव पापी हैं तथा उनमें श्रद्धाभक्ति अनुराग करने वाले भक्त भी पापी हैं। अतः उनको पुण्यानुवंधी (पुण्यवंध करने वाले) मानना कल्पनामात्र है, असलमें वे पापानुवंधी हैं। 'आप डुवन्ते पांड़े ले डूवें यजमान' समान हैं। पत्थरकी नाव समान हैं, ऐसा समझना। वे न स्वयं तरते हैं न भक्तोंको तार सकते हैं। उक्तंच

जदि ते विषयकषाया पावत्ति परूविदा व सत्थेसु।
कह ते तप्पडिवद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥ २५८ ॥ प्रव. सम्.

वुरे कार्यका वुरा नतीजा होता है, यह समझकर हिंसाको धर्म कभी नहीं मानना चाहिये, उल्टी गंगा नहीं बहती। अहिंसा ही धर्म है व रहेगा, पापी जीव दूसरोंको नहीं तार सकते, न स्वयं, तर पाते हैं, जिनके हिंसा आदि पाँच पाप व क्रोधादि चार कषाएँ मौजूद हैं इत्यादि सारांश है ॥ ८२ ॥

आगे अतिथिदानकी तरह परोपकारके लिये भी हिंसा करना बुरा है, धर्म नहीं है, वर्जनीय है, यह वताया जाता है यथा—

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन[1] ।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं [2]हिंस्रसत्त्वानाम् ॥ ८३ ॥

पद्य

हिंसक एक जीव घातेसे रक्षा बहुकी होती है।
अतः मारना उसका उत्तम धर्मप्राप्ति भी होती है ॥
ऐसी [3]दुर्बुद्धीमें पड़कर नहीं मारना हिंसक जिय।
जीव मार[4] से धर्म न होता, धर्म होत रक्षासे प्रिय[5] ! ॥ ८३ ॥

अन्वय अर्थ—वादी कहता है कि [एकस्यैव अस्य जीवहरणेन बहूनां रक्षा भवति] एक बड़े हिंसक जीवके मार डालनेसे बहुतसे छोटे जीवोंकी रक्षा होती है जिससे परोपकार होता है व धर्मकी प्राप्ति होती है इत्यादि। इसका खंडन आचार्य करते हैं कि [इति मत्वा हिंस्रसत्त्वानां हिंसनं न कर्त्तव्यम्] पूर्वोक्त कुशिक्षा या मिथ्या उपदेश मानकर हिंसक जीवोंकी हिंसा नहीं करना चाहिये वह खाली भुलावा देता है ॥ ८३ ॥

भावार्थ—हिंसा पाप है जो हमेशा पाप ही रहता है जैसे विष सदैव विष ही रहता है, कभी अमृत नहीं होता। इसलिये हिंसा करके परोपकाररूप धर्म नहीं हो सकता। वास्तवमें देखा व विचारा जाय तो परोपकार उसको अज्ञानता मिटानेसे होता है किन्तु अज्ञानता बढ़ानेसे नहीं होता, क्योंकि गुमराह करना महा अपकार माना गया है। क्या धर्म (अहिंसारूप) प्राप्तिके लिये हिंसारूप अधर्म करना उचित उपाय है ? नहीं, तव हिंसक या अहिंसक किसी भी जीवका मारना कर्त्तव्य नहीं है—वह तो अधर्म है अतएव उसको छोड़ देना ही हितकर है ऐसा समझना चाहिये। जीवोंकी रक्षा या दया करना धर्म है किन्तु वह दया दो प्रकारकी होती है (१) स्वदया (२)

---

१. घात।
२. हिंसक-खूंखार।
३. कुशिक्षा।
४. घात-हिंसा।
५. सम्बोधन-प्यारे ! (कोमलालाप)।

परदया, दोनोंका जानना ज़रूरी है। स्वदया—विकारी भावोंका (अज्ञान, मिथ्यात्व, कषायका) हटानारूप, है परदया—अन्य एकेन्द्रियादि जीवोंकी रक्षा करनारूप है। पदके अनुसार यथासम्भव दया धर्म पालना अनिवार्य है। अस्तु पापक्रियासे धर्म नहीं होता यह निश्चय है। वैसे तो दयाको धर्म कहना भी व्यवहार है, परन्तु वह शुभ या प्रशस्त व्यवहार है अतः कथंचित् कर्त्तव्य है ॥८३॥

आगे—करुणाबुद्धिसे भी अन्य जीवोंको मारना अधर्म है, ऐसा कहकर हिंसाका त्याग आचार्य कराते हैं।

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम् ।
इत्यनुकम्पांकृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥ ८४ ॥

पद्य

बहुजीवोंके घाती हिंसक यदि बहुकालों जीवेंगे।
बहुत पाप उनको लागेगा, पापमुक्त नहिं होवेंगे ॥
अतः दयाकर उन्हें मारना जल्दी पुण्य वे पावेंगे।
ऐसा दुष्ट विचार न करना हिंसापाप लगावेंगे ॥८४॥

अन्वय अर्थ—वादी कहता है कि [बहुसत्त्वघातिनः अमी जीवन्तः गुरुपापं उपार्जयन्ति] बहुत-जीवोंको मारनेवाले प्राणी यदि बहुत समयतक जियेंगे तो वे महान् पाप उपार्जन (पैदा) करेंगे—पापोंसे कभी छूटेंगे ही नहीं, अतएव दया या करुणा करके उन्हें जल्दी मार डालना चाहिये, जिससे वे पापोंसे बच जावेंगे। इसका खंडन आचार्य करते हैं कि [इति अनुकंपा कृत्वा हिंस्राः शरीरिणः न हिंसनीयाः] पूर्वोक्त कथनपर विश्वास करके कभी भी हिंसक जीवोंको नहीं मारना चाहिये, क्योंकि हिंसा करनेसे नया पाप ही लगता हैं—पाप छूटता नहीं है यह नियम है। जैसे कि खूनका दाग और खून लगानेसे नहीं छूटता (पुष्ट होता है—बढ़ता है)। अतएव किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करना चाहिये, पूर्वोक्त हिंसाका कथन असत्य व मिथ्या है—नैतिकताके भी विरुद्ध है ॥ ८४ ॥

भावार्थ—सत्यकी हमेशा विजय होती है, धर्म या पुण्यकी जड़ पातालतक गहरी मजबूत जाती है व सदैव हरीभरी रहती है। तदनुसार 'अहिंसाधर्म' ही सत्यधर्म है, और उसका फल सदैव मीठा हितकर मिलता है। धर्मात्मा जीव जहाँ भी कहीं रहेगा नरक-स्वर्ग-मोक्षमें वहीं वह सुख पावेगा। बाहिरी दुःखके कारण, कोई उसको दुःखी व विचलित नहीं कर सकते, वह वस्तु स्वरूपके विचारमें इतना मग्न (तन्मय) रहता है कि उसका उपयोग अन्यत्र जाता ही नहीं है—एकाग्र आत्मस्वरूपमें ही लीन रहता है, आत्मानुभव करता है—आत्मसुखका स्वाद लेता है इत्यादि उसमें वह विभोर हो जाता है। बाहिरके सुखदुःखादिको वह औपाधिक (नैमित्तिक-संयोगज) व अनित्य मानता-जानता है, अतएव उनकी परवाह वह नहीं करता, उनमें अरुचि रखता है। हाँ संयोगी पर्यायमें मौजूद होनेसे वह पाप व अधर्मसे बचनेका प्रयत्न व्यवहारनयसे अवश्य करता है और प्रत्येक प्राणीको करना चाहिये, लेकिन निश्चयसे निर्भय रहना चाहिये। इसीसे हिंसा-झूठ-

चोरी-कुशील आदि पापकार्य करना बन्द कर देना चाहिये ऐसा सत्य उपदेश दिया गया है। सदाचार जीवनका मूलधन है, उसकी रक्षा करना प्राणीका प्रथम कर्त्तव्य है, अस्तु।

विशेषार्थ—जो जीव (कुगुरु) यह कहता है कि बहुत जीवोंको मारने खानेवालेको तुरन्त मार डालना चाहिए ताकि अन्य छोटे जीव बच जाँय और वह हिंसक भक्षक जीव आगेके पापोंसे छूट जाय, उसका भला हो जायगा, इत्यादि दयालुता बतलाता है वह मूर्ख परोपदेशी पण्डित क्या यह नहीं सोचता कि हमारे मिथ्या उपदेशसे जो हिंसक जीव मारे जावेंगे (शेर, तेन्दुआ वगैरह) उनकी हिंसासे हमें पाप न लगेगा व हम बहुहिंसक सिद्ध न होंगे, जिसने उपदेश देकर उन सबकी हिंसा करवाई है ? कारितका दोष हमें भी तो लगेगा ? ऐसी हालतमें उक्त तर्कवादियोंका निराधार कोरा बकवास है और कुछ सारभूत नहीं है। वह 'दूसरे नसीहत खुदरा फजीहत' की बात जैसी है, अतएव मान्य नहीं हो सकती वह उनके दिमागकी सूझ व बीमारी है, अस्तु। कभी झूठा व्यामोह नहीं करना चाहिये, उससे हानि ही होती है। ज्ञानका या बुद्धिका प्रयोजन (उद्देश्य) हितको प्राप्ति और अहितका परिहार (त्याग) करना है, इसको हमेशा ध्यानमें रखना चाहिये तभी बुद्धिमानी है अन्यथा पशुमें और उसमें कोई भेद नहीं समझना चाहिये, अस्तु।

"अज्ञाननिवृत्तिःहानोपादानोपेक्षाश्च फलम्"--परीक्षामुख (सूत्र नं० १ पञ्चम समुद्देश)में पुष्टि की है '

इसी तथ्यको न समझकर वादी आगे और भी कहता है उसका खण्डन आचार्य करते हैं। यथा—

बहुदुःखाः[1] संज्ञपिताः[2] प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्[3]।
इति वासनाकृपाणीमादाय[4] न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥८५॥

पद्य

दुःखी दरिद्री जीव घातसे दुःख उनका मिट जाता है।
अतः मारना उनको जल्दी दुःख न बढ़ने पाता है॥
ऐसी मिथ्या श्रद्धा करके जीव घात नहिं करना है।
करनी का फल मिलत जीवको होनहार नहिं टलना है॥८५॥

अन्वय अर्थ—वादी कहता है कि [तु बहुदुःखसंज्ञपिताः अचिरेण दुःखविच्छित्तिं प्रयान्ति] यदि अत्यन्तदुःखी दरिद्री प्राणियोंको मार डाला जाय तो वे तुरन्त दुःखोंसे छूट जाते हैं अर्थात्

१. बहुत दुःखिया जीव।
२. मार डाले गये जीव।
३. दुःख से छूटनेके इच्छुक।
४. दुर्वासना (मिथ्या श्रद्धा) रूपी तलवार।

उनके दुःख नष्ट हो जाते हैं अतएव उनके मार डालनेमें धर्म होता है, अधर्म या पाप नहीं होता, यह लाभ है। आचार्य खंडन करते हैं कि [इति वासनाकृपाणीमादाय दुःखिनोऽपि न हन्तव्याः] पूर्वोक्त मिथ्या वासना या कुशिक्षारूपी कृपाणी (तलवार)को ग्रहणकर कोई भी समझदार दुःखी प्राणियोंको भी न मारे, इसीमें भलाई है। हिंसा किसी जीवकी हो उससे पाप व अधर्म लगता ही है, उससे धर्मकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। करनीका फल अवश्य मिलता है, उसे कोई टाल नहीं सकता, यह नियम है ॥ ८५ ॥

भावार्थ—मिथ्यात्वके उदयमें अर्थात् मिथ्यादर्शन (श्रद्धान) के कालमें सब उल्टा-उल्टा ही सूझता है अतएव वह जीव खुद अपना ही घात करने लगता है। हितकारी बातोंपर विश्वास नहीं करता और अहितकारी बातोंपर विश्वास करता है उसीके अनुसार चलता है (वर्ताव करता हैं)। हिंसाको धर्म मानता है, अहिंसाको धर्म नहीं मानता, उससे घृणा करता है उसकी बुराइयाँ बतलाता है। उसके मानने व बरतने वालोंको कायर—डरपोंक—अकर्मण्य (आलसी) कहता है, जो सच्चे शूरवीरोंका कर्त्तव्य है एवं सच्चे शूरवीर ही जिसका पालन कर सकते हैं। मारनेवालेसे रक्षा करनेवाला बड़ा होता है। जिन विकारी भावोंको लौकिक शूरवीर नहीं जीत सकते, उनको एक वीतरागी अहिंसाव्रती साधु, बातकी बातमें (क्रीड़ामात्रमें) जीत लेता है। मोह, मद, मात्सर्य आदि कषायोंको जीतना सरल नहीं है। उनको अहिंसाधर्मी ही जीत सकता है, उन कामादिकों-को वही वशमें कर सकता जो त्रिलोकविजयी हैं। मोही रागी द्वेषी जीव उनको वशमें नहीं कर सकते, अतएव वे संसार में भटकते रहते हैं। 'शूरवीर वही है, जो कषायोंको निकाल देवे (भगा देवे, उनकी परवाह न करे) किन्तु जो कषायोंके चक्कर (वश) में आकर तरह २ के हिंसा आदिक पाप करे, वह शूरवीर नहीं है, अपितु वह कायर है, ऐसा समझना चाहिये।

प्रसंगवश विशेष कथन

देखो, जब तक सच्ची शूरवीरता (सम्यग्दर्शनपूर्वक निर्भयता) आत्मामें प्रकट नहीं होती अर्थात् चारित्रगुण प्रकट नहीं होता अथवा तीव्र रागका उदय (अस्तित्व) रहता है तब तक पर पदार्थोंको हेय मानता हुआ भी उन्हें त्याग नहीं सकता, अतः वह उनके त्यागे बिना शूरवीर नहीं कहला सकता। इसीलिये विषय कषायवाले या पाखण्डी मनुष्य शूरवीर न होनेसे संसारका या विकारीभावोंका (पापोंका) त्याग नहीं कर पाते। फलतः विषय-कषायोंकी प्रबलता होना महान् अपराध और बन्धन है ऐसा समझ कर उनके छोड़नेका ही उपदेश दिया गया है। स्व० पं० दौलत-रामजीने विनतीमें लिखा है कि—"आतमके अहित विषय-कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय" इत्यादि। एक साथ अनेक कषाएँ तीव्र मन्द आदि रूपसे उदयमें आती हैं। बुद्धिपूर्वक कभी किसी कषायको दबाया जाता है और किसी कषायका पोषण किया जाता है अर्थात् पुष्टि की जाती है। कभी लोभ कषायको पुष्ट करनेके लिए क्रोध मान कषायको दबाया जाता है (एकको दबाना दूसरेको नहीं दबाना खुला या प्रकट रखना)। जैसे दुकानदार पैसेके लोभ (राग) में ग्राहककी खोटी-खरी बातें भी सुन लेता है (मान व क्रोधको दबाये रखता है) और क्रोधी मानी पुरुष क्रोध व मानको पुष्ट करनेके लिये, घर उजाड़ देता है, लोभ नहीं करता इत्यादि। अतएव पाखण्डी

साधु आदि ख्याति लाभ पूजा आदिके लोभ (राग) से स्वर्गसुखके लोभसे घर-द्वार राज्य-संपदा आदिको छोड़ देते हैं, क्रोध व मानको दबा देते हैं। द्रव्यलिंगी साधु, नरकादिके तीव्र भयसे या स्वर्गके लोभसे बाह्यपरिग्रह आदिका त्याग कर देते हैं अर्थात् परिग्रहमें लोभ छोड़ देते हैं, इत्यादि दृष्टान्त देखनेमें प्रत्यक्ष आते हैं। क्या कहा जाय परिणामोंकी गति (चाल) बड़ी विचित्र होती है, उसको समझना कठिन है किम्बहुना। हाँ, सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन 'श्रद्धान' पर निर्भर है—ज्ञान व चारित्र (क्रिया) पर निर्भर नहीं है कारण कि दोनोंके निमित्त (आवरणादि) जुदे-जुदे हैं ऐसा समझना चाहिए, भ्रम या भूलमें नहीं पड़ जाना चाहिये। अस्तु।

नोट—(१) त्याग अर्थात् परवस्तुका छोड़ना, तीव्र कषायमें होता है व मन्द कषायमें भी होता है, वैराग्यमें होता है, कषायके अभावमें होता है इस तरह चार निमित्तकारण माने जाते हैं। इनमें वैराग्यनिमित्तक व कषायके अभावनिमित्तक त्याग, स्थायी व निर्बन्ध (संवररूप) होता है और तीव्र कषाय व मन्द कषायनिमित्तक त्याग, अस्थायी व सबन्ध (आस्रवरूप) होता है, यह मोटा भेद है। अतएव साधुओंमें भी अनेक तरहके साधु (मुनि) होते हैं। द्रव्यलिंगी, भावलिंगी, पाखण्डी, जैनाभास इत्यादि जानना, अस्तु. कारणविपरीतसे फलविपरीत होता है, यह नियम है। कारणविपरीतसे फल अविपरीत कभी नहीं होता (असम्भव है)। कारणसे असलमें उपादानकारण लेना चाहिये, जैसे कि बीज (अन्नादि)। किन्तु जमीनरूप निमित्तकारण नहीं लेना चाहिये। हाँ, लोकमें जरूर भूमिको अच्छा या बुरा कारण माना जाता है। इसी तरह साधुओंको भी पात्र या कुपात्र या अपात्र कारण माना जाता है, अतः तदनुसार फल व्यवहारमें माना गया है इत्यादि। निश्चयसे बात दूसरी तरहकी होती है, किम्बहुना।

(२) पर वस्तुका त्याग सम्यग्दृष्टिके वैराग्यसे (भिन्न मानकर स्वतः राग नहीं करता) होता है अर्थात् उससे अरुचि होती है। अतएव मूल रागका त्यागना त्याग है, पश्चात् बाह्य परिग्रह बिना आलम्बन (राग या चिकनाई) के स्वयं छूट जायगा, इस तरह ज्ञान वैराग्य सम्यग्दृष्टिके साथ-साथ होता है किन्तु मिथ्यादृष्टिका त्याग वैराग्यसे नहीं होता, कषाय या भय व लोभसे होता है यह भेद है। द्रव्यलिंगीके स्वरूपविपर्यय और कारणविपर्यय दोनों होते हैं। वह अपने स्वरूप या स्वभावको भी नहीं जानता कि मेरा स्वभाव—ज्ञान-दर्शन है, और रागादि सब विभाव हैं, नैमित्तिक हैं, संयोगज हैं ऐसा भेदरूप सही वह नहीं जानता इत्यादि, वह मूलमें भूला हुआ है।

आगे और भी वादीका खण्डन किया जाता है कि सुख प्राप्त करानेकी भावनासे भी अन्य प्राणीका घात करना अधर्म है, धर्म नहीं है—

कृच्छ्रेण[1] सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः[2] सुखिनां घाताय नादेयः[3] ॥८६॥

---

१. कष्टसे या कठिनतासे।

२. तर्करूपी खड्ग।

३. ग्रहण नहीं करना या ग्रहण करने योग्य या मानने योग्य नहीं है—अग्राह्य है।

पद्य

सुक्खप्राप्ति होती मुश्किलसे बड़े पुण्यका वह फल है।
अतः मारना सुखियाको रे, जब वह सुखमें निश्चल है॥
यह कुतर्क है दुष्टजनोंका, फल इसका उल्टा होता।
नहीं मारना सुखीजनोंको, सुख तो करनी[1] से होता॥८६॥

अन्वय अर्थ—वादी कहता है कि [कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवति] सुखकी प्राप्ति बड़ी कठिनाईसे होती है (पुण्य और तपस्या आदिसे होती है) अतएव [सुखिनः हताः सुखिन एव भवन्ति] सुख सम्पन्न जीवोंको मार डाला जाय तो वे सुखी ही सदैव रहेंगे। इसका खण्डन किया जाता है कि [इति तर्कमंडलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः] उक्त प्रकारका कुतर्करूपी खड्ग (तलवार) धारण करके अर्थात् उक्त कथनपर विश्वास करके कभी किसी सुखी या दुःखी जीवको नहीं मारना (घात करना) चाहिए, उससे धर्म नहीं होता, अधर्म ही होता है। सुख-दुःख सब करनीका फल है 'जैसी करनी तैसी भरनी' इत्यादि॥८६॥

भावार्थ—मिथ्या वासना वश जीव तरह २ के विकल्प (तर्क) करके कषाय पोषण करते हैं व उसीके अनुसार प्रवृत्ति व आचरण भी करते रहते हैं। जिसका फल उन्हें अनन्त संसारका दुःख भोगना पड़ता है, उन्हें सुखशान्ति कभी नहीं मिलती। अतएव जब वह मूलकी भूल (मिथ्या-वासना) मिटे तव ही उस जीवको (या सभी जीवोंको) सुबुद्धि (यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान) उत्पन्न हो, और वैसी ही प्रतीति हो तथा उसीके अनुसार वह यथार्थ प्रवृत्ति (आचरण चारित्र) करके (अहिंसारूप रत्नत्रय धर्म धारण करे) सुखी होवे या मोक्ष जावे, दूसरा उपाय नहीं है, चाहे कोई कितना ही उपाय क्यों न करे! सब झूठ है। यह वीतराग सर्वज्ञका उपदेश है—अल्पज्ञानी रागी द्वेषियोंका उपदेश नहीं है। इस पर विश्वास या श्रद्धान हुए बिना सब निरर्थक है—भटकना है। दुःख है कि प्रायः सारा संसार सत्यको भूला हुआ है और असत्यका उपासक हो रहा है इसका विचार करना चाहिए। 'अन्ध सर्प विल प्रवेश' न्यायसे लोग सुमार्ग पर नहीं आते, इधर-उधर तड़फते हुए घूम रहे हैं व दुःख भोग रहे हैं। भला यह कहाँका न्याय है कि सुखियोंको मार डालने से वे सुखी रहेंगे और मारनेवाले भी सुखी हो जावेंगे? यह तो अन्याय है 'कोई करे और कोई पावे' यह न्याय कैसा? जो करता सो भोगता, न्याय तो ऐसा है। यदि ऐसा होने लगे तो लोक व्यवस्था ही सब गड़बड़ हो जाय, यम-नियम आदि धर्मशास्त्रकी बातें झूठी व बेकार हो जायँ। तथा किसी जीवको मारना, यह दया (धर्म) है कि निर्दयता (अधर्म), यह भी तो विचारना चाहिये? परन्तु सम्यग्ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) के बिना सब अन्धे हो रहे हैं किम्बहुना। अन्याय व अधर्मका त्याग करनेवाला शूरवीर है और उसका पोषनेवाला व छिपानेवाला कायर है, वह न स्वयं तर सकता है न दूसरोंको तार सकता है।

ठगिया धोखे वाज अथवा चतुर चालाक जीव भोले-भाले जीवोंको गुमराह करके—उल्टा

१. साधना या शुद्ध परिणाम।

उपदेश दे करके अपना स्वार्थ सिद्ध किया करते हैं, उन्हें यह भय नहीं रहता कि इसका क्या नतीजा होगा ? स्वार्थान्ध आगा-पीछा नहीं देखते, अतः उनका विश्वास कभी नहीं करना चाहिये, यह सारांश है। यहाँ पर मूँजका दृष्टान्त लागू नहीं होता कि 'मूँज (घासविशेष) को जला देनेपर नया अच्छा मूँज पैदा हो जाता है, वह तो जड़ पदार्थ है उसे क्या सुख-दुःखकी खबर है ? कुछ नहीं है, अतः व्यर्थ है ॥८६॥

आगे धर्मप्राप्तिके विषयमें भी कुतर्क उठाकर खण्डन किया जाता है (धर्मात्माको मार डालनेसे उसे धर्म प्राप्त नहीं होता)—

उपलब्ध[1]सुगति[2]साधनसमाधि[3]सारस्य भूयसोऽभ्यासात्[4]।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं[5] सुधर्म[6]मभिलपता ॥८७॥

पद्य

ध्यान निमग्न स्वगुरुका यदि कहिं शिर उच्छेदन कर देवे।
धर्म हितैषी शिष्य वही है जो सुगतिको पहुँचा देवे॥
है कुतर्क अरु झूठ न वह है—शिष्य जो गुरुका घात करे।
गुरुसेवाके बदले क्या वह गुरुका शिर उच्छेद करे ? ॥८७॥

अन्वय अर्थ—वादी कहता है कि [भूयसोऽभ्यासात् उपलब्धसुगतिसाधनसमाधिसारस्य स्वगुरोः शिरः कर्त्तनीयं] जिस महात्माको वहुत समयके अभ्यास द्वारा (अभ्यास करते २) सुगति (स्वर्ग-मोक्ष) के साधनरूप यम, नियम और समाधिरूप सार चीज प्राप्त हो गई हो, ऐसे अपने उपकारी गुरुका यदि समाधिके समय मस्तक काट दिया जाय तो गुरु-शिष्य दोनोंको धर्मकी प्राप्ति होती है। इसका खण्डन आचार्य करते हैं कि [सुधर्ममभिलपता शिष्येण स्वगुरोः शिरः न कर्त्तनीयं] सुधर्म अर्थात् उत्तम अहिंसाधर्मके अभिलाषी (इच्छुक) शिष्यको (विवेकी जीवको) कभी भी अपने धर्मनिमग्न अर्थात् समाधि (ध्यान) में लगे हुए (दत्तचित्त) गुरुका शिर नहीं काट देना चाहिये, क्योंकि वह हिंसा व अधर्म है, उससे गुरु शिष्य दोनोंको धर्म प्राप्त नहीं हो सकता—पाप ही लगता है। धर्म अहिंसामय होता है, हिंसामय नहीं होता ॥८७॥

भावार्थ—जो शिष्यादि (भक्तजन) किसी किस्मकी हिंसा करता है अर्थात् दूसरोंको पीड़ा

---

१. प्राप्त।
२. मुक्ति।
३. एकाग्रतारूप ध्यान—चित्तकी स्थिरतारूप उत्तम चीज।
४. वार-वार अभ्यास करनेसे।
५. नहीं काटना।
६. उत्तम अहिंसा धर्म।

या दुःख देता है वह स्वयं अधर्म (पाप) करता है क्योंकि उसके क्रूर निर्दयी परिणाम (भाव) होनेसे उसके ही भावप्राणोंका घात होता है जो अधर्म या हिंसा है—पापबन्धका कारण है। फिर जिस जीवको वह मारता है—उसके परिणामोंमें संक्लेशता आदि विकार होनेसे उसके भी स्वभावभावोंका घात होता है तथा पापका बन्ध होता है। अतएव गुरु शिष्य दोनों घाटेमें रहते हैं—दोनोंको सुगति नहीं होती, दुर्गति होती है व पुण्यका बन्ध नहीं होता। तब वादीका कथन असत्य सिद्ध होता है जो माननेके लायक नहीं है (अमान्य है)। धर्म हमेशा निराकुल और स्वस्थ परिणाम रहनेसे ही प्राप्त होता है—आकुलता और विकाररूप परिणामोंसे धर्म नहीं होता, यह नियम है। हिंसामें परिणाम निराकुल और स्वस्थ कभी नहीं रह सकते। अतएव हिंसा त्याज्य है इत्यादि। गुरु अपने भावोंका फल कभी भी पा सकता है, उसको ध्यानके समय मार डालनेसे ही क्या लाभ हो सकता है ? कुछ नहीं। उसने जैसा बन्ध किया होगा वैसा ही फल उसे अवश्य मिलेगा किसीके कुछ करनेसे या साधन मिलानेसे दूसरेका अच्छा या बुरा नहीं होता, यह नियम है—वस्तु स्वतन्त्र है। अतः उसके विषयमें अन्यथा विकल्प करना मूर्खता है—हानिकारक है, मिथ्यात्व है इत्यादि। यद्यपि सम्यग्दृष्टिके उपाय करनेके विकल्प होते हैं और वह उपाय भी करता है किन्तु वह उन्हें निमित्तकारण ही समझता है, वस्तुस्वभावको बदलनेवाला उपादान कारण नहीं समझता, यह श्रद्धा उसके अटल रहती है। उसके चित्तका डुलाना कषायवश होता है जो उसके सत्तामें है, संयोगीपर्यायमें है। जो नैमित्तिक है—वह सम्यग्दृष्टिकी विकारी या अशुद्ध अवस्था है जिसे वह हेय समझता है। अतएव सम्यग्दृष्टि ज्यों-का-त्यों समझनेसे भूला हुआ नहीं है और मिथ्यादृष्टि अन्यथा समझनेसे भूला हुआ है यह अन्तर है, किम्बहुना। भोले-भाले विवेकहीन जीव शिथिलाचारी हो जाते हैं और अनेक तरहके विकल्पोंमें पड़कर जीवनको बरबाद कर देते हैं जिससे संसारमें जीवोंका अन्त (समाप्ति) नहीं हो पाता वे सदैव अक्षय अनन्तको संख्यामें मौजूद रहते हैं। कितने ही विवेकशील होकर निकलते भी जाते हैं (६ माह ८ समयमें ६०८ जीव) तौ भी कितने तो अविवेकी बने ही रहते हैं। यह सब भूलका ही नतीजा (फल) है, अस्तु ॥ ८७ ॥

आगे धनादिके लोभी खार (गेरुआ) वस्त्रधारी कुगुरुओंका हिंसक उपदेश नहीं मानना चाहिये—उसका खण्डन किया जाता है—

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्।
झटिति घटचटकमोक्षं[1] श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम्[2] ॥८८॥

१. घड़ाके भीतर बन्द चिड़ियाकी तरह।

२. खारुआ अर्थात् मोटा पटरा जैसा रंगीन वस्त्रधारी पाखण्डी गुरु जो मुक्ति या सुखप्राप्तिका लोभ देकर काशी करवट आदि कराते हैं—शिष्यों—भक्तोंको मारकर धनादि हड़प लेते हैं। ऐसे अनेक मतमतान्तर संसारमें पाये जाते हैं।

पद्य

धनके लोलुप धूर्त्तजनोंके वहकाए जो आते हैं।
नाटक चेटक कर कर के जो निज विश्वास दिलाते हैं॥
भूल न जाना इन्द्रजालमें मोक्ष नहीं उनसे मिलता।
घटके फूटे चिड़िया सम क्या प्राणघातसे संभवता ? ॥८८॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय झटिति घटचकट-मोक्षं दर्शयतां खारपटिकानां नैव श्रद्धेयं] खारपट (वस्त्र) मतवाले धूर्त्तोंकी धूर्त्तता (छल कपटता) जो कि वे शिष्यों अर्थात् भोले अज्ञानी भक्तोंको विश्वास दिलाने (उत्पन्न करने) के लिये करते हैं अर्थात् एक चिड़ियाको घड़ामें बन्द करके सबके देखते-देखते इन्द्रजाल विद्यासे गायब कर देते हैं और कहते हैं कि देखो हमने उसको जल्दी मोक्ष पहुँचा दिया है ताकि वह बहुत काल तक दुःखी न रहे इत्यादि। उसका खण्डन आचार्य करते हैं कि यह सब झूठ है अतः उस धूर्त्तता (छलविद्या) पर विश्वास या श्रद्धान कभी नहीं करना चाहिये ॥८८॥

भावार्थ—संसार मायाचार व छल-कपटका घर (केन्द्र) है, उसमें तरह-तरहके जीव भरे हुए हैं और हर तरहकी विद्याओं (कलाओं) से अपनी जीविका (गुजर-बसर) चलाते हैं। जैसे नाटकगृह (नाट्यशाला) में तरह-तरहके स्वांग किये जाते हैं और काम चलाया जाता है। उसी तरह कोई धर्मका झूठा लोभ देकर, कोई मोक्षका उपाय बताकर या शरीर सहित मोक्ष भेजकर, कोई धन प्राप्तिका, कोई पुत्र-पौत्रादिका, कोई इष्टसिद्धिका अर्थात् मनवांछित फलकी प्राप्तिका, कोई दुःखसे छूटनेका या दुःखमें पड़ जानेका लोभ, लालच बताकर छल या धूर्त्ततासे ठगते या व्यामोहित करते रहते हैं। जैसे कि किसी समयमें ऐसा होता था कि धर्मके नाममर खुला अधर्म होता था, पशुमेध (हवन यज्ञ) नरमेध आदि भारी संख्यामें जहाँ तहाँ व धर्मस्थानोंमें किये जाते थे—धूर्त्त विषयकषायी पण्डा पुजारी भोले बुद्धिहीन जीवोंको धोखा देकर दिलाशा देकर) मार डालते थे व उनका धन लूट लेते थे व अस्मत् नष्ट कर देते थे, यह घोर अन्याय (पातक अत्याचार) होता था। भक्तोंको विश्वास करानेके लिए जमीनमें गुप्त स्प्रिंगवाला गहरा गड्ढा खोद दिया जाता था, सुरंगकी तरह। और जमीनपर भोले जीवोंको बैठालकर, उनसे धन जेवर आदि लेकर व संकल्प कराकर। ऊपरसे मण्डप या परदा लगाकर या लकड़ियोंका ढेर लगाकर छपनकीसे पत्थर सरका दिया जाता था जिससे वह भक्त गहरे गड्ढेमें जा गिरता था व व्यर्थ ही मर जाता था। पत्थर ज्यों-का-त्यों जम जाता था पश्चात् परदा खोलकर कह दिया जाता था कि देखो मन्त्रविद्यासे हमने उसे मोक्ष पहुँचा दिया है या वह धुआँके गुब्बारेके साथ ऊपर मोक्ष चला जा रहा है इत्यादि विडम्बना करके धर्मके नाम पर जुर्म किया जाता था—भोले लोग चंगुलमें फस जाते थे, बड़ा गरम बजार था, सतीप्रथा भी चालू थी, अस्तु। अब प्रायः खुले रूपमें वह सब बन्द हो गया है। फलतः धूर्त्तों-पापियोंके झूठे व अजरजकारी हथखण्डों (दृश्यों) व उपदेशों पर विश्वास नहीं करना चाहिए—यथा सम्भव परीक्षा करना अनिवार्य है। जीवन धन

अनमोल है, उसका सदैव सदुपयोग करना चाहिए, मूर्खतामें नहीं गवाँ देना चाहिए, यह सारांश है। तभी तो 'लोभ पापका बाप बखाना' कहा गया है, सभी पाप लोभसे होते हैं इत्यादि। सिद्धान्त में जब तक लोभ कषाय सत्तामें रहती है (१० वें गुणस्थान तक) तबतक सभी घातियाकर्मों की पापप्रकृतियोंका वन्ध होता है इत्यादि।

आगे वादीके 'परोपकाराय इदं शरीरं' के गलत समझनेका खंडन किया जाता है—उससे धर्म नहीं होता। यथा—

दृष्ट्वा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्[1]।
निजमांसदानरभसादालभनीयो[2] न चात्मापि ॥८९॥

पद्य

दुर्वल शुष्क उदर वाला यदि भोजनार्थ आता दीखे।
उसके खातिर भी नहिं कोई अपना मांस देय चीखे[3] ॥
आत्मघात परघात किये से कभी धर्म नहिं होता है।
हिंसा पाप वड़ा है सब में त्यागे धर्म जु होता है ॥८९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिं परं आयान्तम् दृष्ट्वा] अपने आगे (सामने) यदि कोई ऐसा आदमी जिसका उदर (पेट) दुर्वल और घुसा हुआ हो, भोजनके लिए आता हुआ दिखे तो [निजमांसदानरभसात् आत्माऽपि न आलभनीयः] उसको अपना शरीर काटकर मांसका भोजन नहीं देना चाहिये, क्योंकि आत्मघात महापाप है तथा संक्लेशता या दुःख होनेसे पापका बन्ध होता है—परभव विगड़ता है ॥८९॥

भावार्थ—शास्त्रोंमें आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान, अभयदान या पात्रदान, समदान, अन्वयदान, दयादान ऐसे चार दान लिखे हैं—उनमें मांसदान नहीं लिखा, अतः वह निषिद्ध है। उनकी पुष्टि करना मानो आगमका अनादर करना है, उत्सूत्र चलना है। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव संसारसे पार नहीं हो सकता, प्रत्युत संसारमें अपनी जड़ें मजबूत करता है—लम्बी फैलाता है। मांसा मदिराभक्षी जीव ही भोजनार्थ दूसरोंसे मांस-मदिराकी याचना करते हैं—वे विषय-कषाय रूप पापके पोषक होनेसे कारण विपर्ययरूप हैं—विपरीत कारण हैं अतः उनके सेवकों या भक्तोंको अच्छा फल नहीं मिल सकता अर्थात् विपरीत फल ही मिलेगा, जो नरक निगोदादिकी प्राप्तिरूप होगा। यह नियम है कि जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य या फल भी होता है अन्यथा नहीं। पात्र तीन तरहके होते हैं। यथा—१ सुपात्र, २ कुपात्र, ३ अपात्र। सुपात्रके तीन भेद—१ उत्तम

---

१. दुर्वल घुसा हुआ उदर वाला।
२. घातना।
३. संक्लेशता दुःख करे, उठावे, चिल्लावे, इत्यादि।

सुपात्र, २ मध्यम सुपात्र, ३ जघन्य सुपात्र। इन सबका स्वरूप आगे यथावसर बताया जायगा। परन्तु पाखण्डी विषयकषायी सब कुपात्र या अपात्र ही हैं ऐसा समझना चाहिए, उनकी सेवा सुश्रूषा करना हितकर नहीं है—मिथ्यात्वसूचक है, किम्बहुना ? परोपकार व स्वोपकार समझे बिना गलती होती है। स्वोपकार करना मुख्य है—अपने आत्माको संसारसे बचाना, विकारी भाव न करना स्वोपकार है, अस्तु।

उपसंहार (जैनमतानुसार)

इस प्रकरणमें ११ श्लोकों द्वारा अर्थात् ७९ से ८९ तक हिंसाको धर्म मानने व कहने (उपदेश देने) वालोंका खण्डन अच्छी तरहसे किया गया है। यद्यपि ग्रन्थकार श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्यके सामने साक्षात् कोई उपस्थित नहीं थे किन्तु उनके मतका प्रचार जरूर था व उनके अनुयायी लोग भी थे। उनके सिद्धान्तका खण्डन करनेका अर्थ (प्रयोजन) संसारी जीवोंकी मिथ्याधारणा मिटाने एवं सुमार्गपर लानेका रहा है जो उनका शुभोपयोग था—कल्याणकारी भावना थी जो उस साधक या मध्यम पदमें अर्थात् मध्यम सम्यग्दर्शनवाले, मध्यमसम्यग्दृष्टि (पात्र) की अवस्थामें उचित ही थी। अन्तरआत्मज्ञानी अथवा आत्माका और परका अन्तर अर्थात् भेद, समझनेवाले जीव अन्तर आत्मज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) कहलाते हैं। और वे सभी न्यायाधीश व जज होते हैं। परन्तु उनमें वर्ग भेद होता है अर्थात् ३ दर्जा होते हैं। लेकिन मूल (सम्यग्दर्शन) सभीका एक-सा रहता है (भेदज्ञानका एक-सा होना सभीके रहता है—ज्ञान व श्रद्धान सभीका एक-सा रहता है)। यदि कदाचित् उसमें भेद हो तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें उनमें वर्गभेद, परिग्रह और उपयोगकी अपेक्षासे है व मानना चाहिये और वह इस प्रकार है। यथा—

(१) उत्तम अन्तरात्मा—अन्तरंग परिग्रह व वहिरंग परिग्रह दोनोंसे रहित पूर्ण शुद्धोपयोगी मुनि १२ वें गुणस्थानवाले कहलाते हैं।

(२) मध्यम अन्तरात्मा—सिर्फ अन्तरंग परिग्रह सहित, शुभोपयोगी कहलाते हैं। इनके बाह्यपरिग्रह नहीं रहता। ५ वें गुणस्थानसे ११ वें तक वाले त्यागी।

(३) जघन्य अन्तरात्मा—दोनों प्रकारके परिग्रह सहित अशुभोपयोगी या कदाचित् शुभोपयोगी भी कहलाते हैं। परन्तु सम्यग्दर्शनका आंशिक शुद्धोपयोगका होना अनिवार्य सभीके लिए है। अतएव जघन्य सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवाला भी सुपात्र है, चाहे वह उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, कोई भी सम्यग्दृष्टि हो। हाँ, स्वरूपाचरणचारित्र अथवा सम्यक्त्वाचरणमें परिवर्तन अर्थात् विचलित जल्दी २ होना, क्षयोपशम सम्यग्दर्शनमें होता है—बहुत समय तक वह स्वरूपमें स्थिर नहीं रह सकता, यह त्रुटि ही उसमें पाई जाती है। उसी त्रुटिका नाम, चल-मल-अगाढ़ दोष है। उसका सम्बन्ध सिर्फ (खास) ज्ञानोपयोगकी स्थिरता न रहनेसे है, श्रद्धाकी अस्थिरतासे नहीं है क्योंकि श्रद्धा सदैव सम्यग्दर्शनके साथ स्थिर (अचल) रहती है, यह निष्कर्ष है, इसको समझना चाहिये। किम्बहुना।

परमोपकारी गुरुकी उपासना कर्त्तव्य है, (उपसंहार कथन)

आगे मूलको भूलको निकालनेवाले नयभेदके विशेष ज्ञाता और जैनशासनके पूर्ण रहस्यके जानकार एवं तदनुसार प्रवृत्ति करनेवाले उपकारी सुगुरुकी उपासना (सेवा, वैयावृत्त्य आदि) का उपदेश तथा उससे होनेवाला लाभ बताया जाता है।

आचार्य—(१) अहिंसा धर्मधारीकी योग्यता बतलाते हैं—

को नाम विशति मोहं[1] नयभंगविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः[2] श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः[3] ॥९०॥

पद्य

जिसने नय प्रमाणके ज्ञाता गुरुकी सेवा कीनी है।
उनसे ज्ञान यथार्थ प्राप्तकर उसमें दृष्टि दीनी है॥
हिंसासे मुख मोड़ अहिंसावृषमें[4] रुचिको ठानी है।
वह है जीव विशुद्धमतिः नहीं होता कभी अज्ञानी[5] है॥९०॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [नयभंगविशारदान् गुरून् उपास्य] जिसने नयोंके भेद-प्रभेदोंके कुशल ज्ञाता (मर्मज्ञ) सद्गुरुओंकी सेवा-सुश्रूषा करके या उनकी शरणमें रहकर [विदितजिनमतरहस्यः] अच्छी तरहसे जैनमत या जिनधर्मका रहस्य (सार या सिद्धान्त) को जान लिया हो और फलस्वरूप [अहिंसां श्रयन्] परम अहिंसा धर्मको पालने लगा हो ऐसा [कः विशुद्धमतिः नाम मोहं विशति] कौन निर्मलवुद्धिका धारक (सम्यग्दृष्टि विवेकी श्रावक) होगा जो यथार्थमें जान-बूझकर मिथ्याधर्मरूप मोह या हिंसाको, धर्म मानेगा ? अर्थात् नहीं मान सकता, अथवा पाखण्डी गुरुओंके तर्क-वितर्क द्वारा बताये हुए (उपर्युक्त) कुधर्ममें वह श्रद्धा या प्रवृत्ति नहीं कर सकता अतएव समझदारको कभी भुलावेमें नहीं आ जाना चाहिये यह उपसंहार है॥९०॥

भावार्थ—परीक्षक सच्चे गुरुके चेला (शिष्य) कभी भी झूठे पाखण्डियोंके तर्करूप बहकाव या झाँसेमें नहीं आ सकते। चाहे वे कितना भी इन्द्रजाल या प्रलोभन दिखलावें, उनका भण्डा-फोड़ हो ही जाता है यह नियम है। अतएव जैनधर्ममें सद्गुरु ही 'तारन-तरन जहाज' रूप माने जाते हैं। वे सद्गुरु वीतरागी निष्परिग्रही दिगम्बर जैनाचार्य (गणधरादि) ही होते हैं। वे ही मोक्षमार्गके या आत्मोन्नति पथप्रदर्शक कहलाते हैं। उनका स्थान उपकारकी दृष्टिसे अति

---

१. भूल या अज्ञान।
२. सारांश-तथ्य।
३. निर्मलवुद्धिधारी-पक्षपातरहित सम्यग्ज्ञानी अर्थात् मोह या अज्ञान (भ्रम) से रहित।
४. धर्म।
५. भूलनेवाला—हिंसाको धर्म माननेवाला।

उच्च व आदरणीय है। सद्गुरुका लक्षण सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें 'कश्चिद् भव्यः प्रत्यासन्ननिष्ठः' इत्यादि पदवाक्य द्वारा अथवा 'विषयाशावशातीतः निरारम्भोऽपरिग्रहः' इस रत्नकरण्डके १०वें श्लोक द्वारा सुन्दरतासे बतलाया है वह समझ लेना चाहिये। प्रारम्भ दशामें या साधक अवस्थामें सद्गुरु ही सहायक या निमित्तकारण हुआ करते हैं अन्य नहीं, अनादिसे भूले-भटके प्राणियोंको वे ही पार लगाते हैं अतः वे ही परमोपकारी हैं, ऐसी दृढ़ श्रद्धा रखना चाहिये, तभी भक्त या शिष्य सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं ॥ ९० ॥

नोट—चरणानुयोगकी पद्धतिके अनुसार (व्यवहारनयसे) वाह्य पाँच पापों अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहके त्याग करनेकी विधि खासकर संज्ञी पंचेन्द्रिय कर्मभूमियाँ मनुष्योंके लिए ही है, कारण कि वे ही सब पापोंका प्रयोग या प्रवृत्ति अभिप्रायपूर्वक करते हैं, अन्य जीव नहीं कर सकते, कारणकि सब साधन सम्पन्न कर्मभूमिया मनुष्य ही होते हैं। वाह्य-पदार्थ सब पापबन्धके निमित्तकारण हैं अतएव उनका भी त्याग कराया जाता है ऐसा समझना चाहिये। ये सब जीवकी संयोगीपर्याय और अशुद्धतामें हुआ करते हैं ॥ ९० ॥

असत्यपापप्रकरणमें (सत्याणुव्रतका स्वरूप)

अब आचार्य दूसरे असत्य पापका स्वरूप व भेद बतलाते हैं।

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥९१॥

पद्य

प्रमाद सहित जो वचन निकलता, वह असत्य कहलाता है।
उसके चार भेद होते हैं, यह आगम बतलाता है॥
कुशल कार्यके करनेमें, उत्साह नहीं जो होता है।
वही 'प्रमाद' कहाता भाई, तीव्र कषाय जनाता है ॥९१॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [प्रमादयोगात् यत् किमपि असदभिधानं विधीयते] प्रमादके साथ (विवेक रहित असावधान अवस्थामें) जो कुछ भी अन्यथा कथन किया जाता है या होता है [तद् अनृतं विज्ञेयं] उस सबको असत्य या झूठ कहा जाता है, उसे असत्य पाप समझना चाहिये। [अपि तद्भेदाः चत्वारः सन्ति] और उस असत्यके वक्ष्यमाण चार भेद होते हैं या माने जाते हैं ॥९१॥

---

१. कुशलेषु अनादरः, हितके कार्योंमें (धर्म करनेमें) उत्साह व आदर नहीं होना। अथवा तीव्रकषायरूप भावोंका होना प्रमाद कहलाता है।

२. बुरा अप्रशंसनीय या निन्द्यवचन।

३. असत्य-मृषा-झूठ।
—'असदभिधानमनृतम्' (प्रमत्तयोगात्) ॥१४॥ त० सू० अ० ७

भावार्थ—लोकाचार (लोकव्यवहार)में असत्य या झूठ बोलना पाप (गुनाह अपराध) समझा जाता है और उसका दंड भी दिया जाता है, यह लौकिक न्याय है कारण कि उससे दूसरोंका नुकसान होता है, अपराध बढ़ते हैं व्यवस्था विगड़ती है इत्यादि। अतएव लोकव्यवस्था (मर्यादा) कायम रखनेके लिये दंडव्यवस्थाका होना नितान्त आवश्यक है। परन्तु जैन शासनके अनुसार ऐसा न्याय है कि 'जो असत्य भाषण (कथन) प्रमादपूर्वक विवेक विना असावधानीसे किया जाय अथवा स्वेच्छा या स्वार्थवश तीव्रकषायकी हालतमें निरंकुश व निर्भयतासे किया जाय, असलमें (निश्चयसे) वही असत्य या झूठ पापमें शामिल है। फलत: जो असत्य कथन, बिना प्रमादके अर्थात् तीव्रकषायरूप भावके बिना हो जाय, (किया जाय) उस कथनको 'असत्य-पापरूप' नहीं माना जा सकता, क्योंकि उससे (बिना इरादा या कषायके) स्थिति व अनुभागरूप बंध नहीं होता, यह वचत रहती है। अतएव उसको बंध या सजामें शामिल नहीं किया जा सकता, यह खुलासा है, इसको समझना चाहिये। सारांश—वचन चाहे सत्य निकले या असत्य निकले, उससे आत्माके प्रदेशोंमें कंपन होनेसे प्रकृति और प्रदेश बंध तो होगा ही, परन्तु वह प्रमादरूप कषायके बिना कुछ हानि नहीं कर सकता (स्थिति-अनुभागबंध नहीं कर सकता) यह तात्पर्य है। अत: उसका होना न होना वरावर है, किम्वहुना।

ध्वन्यर्थ—इसका यह है कि विना इच्छा (कषाय) और मनकी स्वीकारताके (मनोयोग विना) यदि कदाचित् दवाउरेमें (परवशता या बलात्कारसे) असत्य या झूठ बोलना भी पड़े तो उसको असत्यका पाप नहीं लगेगा, न वह असत्यभाषी कहलायगा, कारणकि पाप और पुण्य भावों (रुचि)से लगता है सिर्फ क्रिया मात्र होनेसे नहीं लगता। हाँ, निमित्त मिलनेके समय यदि भाव वदल जाय (रुचि उत्पन्न हो जाय मन स्वीकार कर लेवे) तो अवश्य ही बंध होगा टल नहीं सकेगा, क्योंकि वह खुदकी कृति एवं जिम्मेपर हुआ है उसका फल उसे भोगना ही पड़ेगा। इसीलिये सम्यग्दृष्टिजीव जबतक मनोयोगसे कोई कार्य नहीं करता (अरुचिपूर्वक करता है) तबतक उसको उस क्रियाका फल (वंध) नहीं लगता, यह नियम है। मनकी चंचलता या विकार बिना कषाय-भावके नहीं होता, ऐसा कहा गया है—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो:'

अर्थात् कषाय सहित मन या उपयोग ही मनुष्यों अथवा सभी जीवोंके बंध व मोक्षका निमित्त कारण माना जाता है। मोक्षका अर्थ छूटना या निर्जरा होना है इत्यादि। अतएव मनको साधनेका पुरुषार्थ हमेशा करना चाहिये। अशुद्ध या संयोगी अवस्थामें मन अशुद्ध कार्य (पाँच पाप) ही किया करता है। पाँच पाप ये सब जीवके—गुण, स्वभाव या धर्म नहीं हैं, किन्तु दोष, विभाव या अधर्म हैं, जो हेय हैं, ऐसा समझना। व्यवहारमें असत्यके चार भेदोंका कथन या स्पष्टीकरण आगे किया जानेवाला है, किम्बहुना॥ ९१॥

विशेषार्थ—देशव्रती या अणुव्रतीको असत्यका त्याग तो करना ही चाहिये, वह उसका अनिवार्य कर्त्तव्य है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि उसको कौनसे असत्यका त्याग करना चाहिये, कारणकि

असत्य अनेक प्रकारके होते हैं ? इसका उत्तर संक्षेपमें यह है कि उसको महा या वड़ा (स्थूल) असत्य खासकर त्यागना चाहिये। उसका नाम 'असत्य-असत्य' है अथवा आजकलके शब्दोंमें 'सफेद झूठ' कहते हैं। जिसमें सत्यका अंश भी न हो सर्वथा असत्य हो व दंड मिलनेके योग्य हो, धोखा देना मात्र हो। उसका दृष्टान्त व स्वरूप आगे ३ या ४ भेद श्लोक नं० ९२, ९३, ९४ आदिमें बताया जायगा उस महाअसत्यके असलमें ३ भेद हैं (१) हैको नहीं कहने रूप (सत्‌का अपलाप करना) (२) नहींको है कहने रूप (असत् प्रलापरूप) (३) कुछका कुछ कहने रूप (अन्यथा प्रलापरूप) तीनों असत्य लोकमें निन्दनीय, दंडनीय, त्यजनीय हैं, अतएव व्रती उनका उपयोग करना बन्द कर देते हैं। वही एकदेश त्याग है अर्थात् बड़ेका त्याग कर देना है तथा एकदेशका उपयोग करना है अर्थात् छोटे या प्रयोजनभूत असत्यका रहने देना है। अणुव्रती छोटा असत्य बोल सकता है, उसकी उसे छूट है, जो आगे बताया जायगा। साधारणरूपसे सत्याणुव्रती ३ तीन तरहका सत्य बोलता है (१) सत्य सत्य अर्थात् जो वस्तु जिस देशकी हो, जिस काल की हो, जिस संख्या की हो, जिस आकारकी हो, उसको उसी तरह (ज्योंकी त्यों) कहना, प्रथम या पहिला भेद, सत्य-सत्य है। (२) दूसरा भेद—असत्य सत्य है, जिसमें कुछ असत्य है व कुछ सत्य है जैसे चावल मिलनेपर भात वनाते हैं, यह कहा जाय। यहाँपर वर्त्तमानमें चावलका होना सत्य है परन्तु भातका होना असत्य है। इसीतरह तीसरा भेद 'सत्य असत्य है'। वह ऐसा कि अभी या शामको रुपया देवेंगे, ऐसा वायदा करके शामको रुपया न भेजकर दूसरे दिन सुबह (प्रातःकाल) रुपया भेजना कालातिक्रम रूप असत्य व रुपया भेजना रूप सत्य दोनों मिलाकर 'सत्या-सत्य' भेद जानना। इसी प्रकार द्रव्य असत्य, क्षेत्र असत्य, काल असत्य, भाव असत्य ऐसे भी भेद समझना चाहिये। (सागारधर्मामृत अध्याय ४ श्लोक ४१। ४२ देखो) परन्तु असत्य-असत्य कभी नहीं बोले इत्यादि ॥ ९१ ॥

व्यवहारकी अपेक्षा असत्यका पहिला भेद बताया जाता है।

नास्तिरूप असत्य असत्य (महा असत्य) कथन

स्वक्षेत्रकालभावैः[१] सदपि हि यस्मिन्[२]निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२॥

पद्य

सत्‌को असत बताना यह तो प्रथम 'असत्य' कहाता है।
देवदत्तके होने पर भी 'नहीं' यहाँ बतलाता है॥
वर्त्तमानमें उसी क्षेत्रमें, मनुपर्याय सहित वह है।
तौ भी कहना यहाँ नहीं है—महा असत्य कहाता है ॥९२॥

---

१. स्वचतुष्टय या ज्ञानगोचर।

२. परचतुष्टय या वचनगोचर।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हि यस्मिन् स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि वस्तु निषिध्यते] यथार्थमें जहाँपर अपने द्रव्य क्षेत्रकाल भाव सहित वस्तु मौजूद हो (अभाव न हो) किन्तु कारण-वश अर्थात् अज्ञान या प्रमाद (कषाय) से ऐसा कह देना कि यहाँपर नहीं है, अर्थात् सत्का अपलाप कर देना [तत्प्रथममसत्यं स्यात्] उसको असत्यका पहिला भेद (नास्तिरूप महा असत्य असत्य) समझना चाहिये—वही पहिला भेद है [यथा अत्र देवदत्तो नास्ति] जैसे यह कहना कि यहाँपर 'देवदत्त' नामका कोई आदमी नहीं है, जबकि वह बराबर मौजूद है। इसका नाम लोकव्यवहारमें सफेद झूठ है अथवा महा या बड़ा (स्थूल) असत्य है, धोखा देना रूप है, जिससे लोकमें सजा या दण्ड मिल सकता है, लोकविरुद्ध है ॥९२॥

भावार्थ—सत्याणुव्रती (देशव्रती) उक्त प्रकारका महा असत्य कदापि नहीं बोल सकता। यदि बोले तो उसका व्रत (प्रतिज्ञा) भंग हो जायगा। हाँ, वह छोटा असत्य (अणुरूप-सूक्ष्म) बोल सकता है जो प्रयोजनभूत हो, पद व अवस्थाके अनुसार आवश्यक या अनिवार्य हो, कारण कि गृहस्थाश्रममें आजीविका आदिके सभी काम तो करना पड़ते हैं, जिससे थोड़ा झूठ बोलना ही पड़ता है, परन्तु उसमें भी अरुचि रहती है, अतएव अल्पबंध होता है अधिक स्थिति अनुभाग-वाला बंध नहीं होता, सिर्फ अन्तःकोड़ाकोड़ी प्रमाण ही होता है। थोड़ा असत्य बोलना भी सत्याणुव्रतमें अतिचार (दोष) है। इसके सिवाय संकल्पपूर्वक (पेश्तरसे इरादा करके) असत्य बोलनेका निषेध है, नहीं बोलना चाहिये। वर्त्तमान परिस्थितिमें जैसा मौका आवे वैसा वह कर सकता है। व्यापारी व्रती बहुत सन्देह या भ्रममें पड़ जाते हैं कि कैसा करना चाहिये, कितना झूठ (असत्य) बोलना चाहिये ? उसका यह खुलासा समाधान है कि बिना संकल्प किये तत्काल प्रयोजनभूत थोड़ा असत्य अरुचि या उदासीनतापूर्वक बोला जा सकता है किम्बहुना। व्यवहारनयसे अशुद्ध या संयोगी पर्यायमें बाह्य मोटा (बड़ा स्थूल) असत्य पापका त्याग चरणानुयोगके चरणानुयोगके अनुसार करना अनिवार्य है। यद्यपि यह वचनाश्रित (पराश्रित) और संयोगी पर्यायाश्रित होनेसे व्यवहाररूप है तथापि योग व उपयोगकी शुद्धिके लिये वह कर्त्तव्य है। अशुद्ध निश्चयनयसे परका संयोग छूटना या छुड़ाना निमित्तकारणका हटाना है अथवा अशुद्धता (पर्याय रूप) का दूर करना है, जो उपयोगी है। निश्चयनयसे विचार किया जाय तो आत्मद्रव्य (जीव-मात्र) कभी अशुद्ध होता ही नहीं है, वह त्रैकालिक शुद्ध अर्थात् परसे भिन्न एकत्वरूप है। उसका संसारावस्थामें रहते समय कथन करना लाभकर नहीं होता एकान्त दृष्टि हो जाना संभव रहता है जो अज्ञानी जीव हैं। असलमें पर्यायगत अशुद्धता निकालना आचार्योंका लक्ष्य रहा है। अत-एव वही छोड़नेका उपदेश दिया है ॥९२॥

आचार्य असत्यका दूसरा भेद बतलाते हैं।

अस्तिरूप महा असत्यका कथन

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
तद् भाण्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥९३॥

पद्य

जो वस्तु परक्षेत्र काल अरु भावों से नहिं यहाँ रहे।
उसको कहना इसी जगह वह विद्यमान है झूठ कहे॥
जैसे घटके न होनेपर घट है यहाँ यही कहना।
वह असत्य है नम्बर दोका, नहिं विश्वास कभी करना॥९३॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हि यत्र परक्षेत्रकालभावैः वस्तुरूपं असदपि] वास्तवमें जहाँपर—परक्षेत्रकालभावमें रहनेवाली वस्तु या परक्षेत्रकालभावसहित वस्तु न हो फिर भी (अभावमें) [तैः तद् भाव्यते] वहाँपर तद्विशिष्ट वस्तुका अस्तित्व या मौजूद होना कहना या कहा जाय [तन् द्वितीयमनृतंज्ञेयं] उसको नम्बर २का महा असत्य समझना चाहिये। [यथा अस्मिन् घटः अस्ति] जैसे कि यहाँपर घट मौजूद है यह दृष्टान्त है। यह असत्‌का आलापरूप महा असत्य है॥९३॥

भावार्थ—अणुव्रती या महाव्रती मनुष्य उक्त प्रकारका महा लोक निंद्य असत्य नहीं बोल सकता साधारणतः छोटे-छोटे असत्य बोलनेमें आ सकते हैं। यद्यपि उन्हें वे स्वेच्छासे नहीं बोलना चाहते, अरुचि रखते हैं किन्तु कषायके वेगमें विवश होकर (परवशतामें) उन्हें बोलना पड़ता है जिसका वे दुःख मनाते हैं, हर्ष नहीं मनाते। तथा उनके मेटने या त्यागनेका हमेशा प्रयत्न करते हैं इत्यादि विचित्र दशा होती है। व्रती पुरुष सदैव विषयकषायोंसे उदासीन या विरक्त रहते हैं उनको वे विष समान हानिकारक (स्वभावभावरूप भावप्राणघातक) समझते हैं और यथा शक्ति उनका सम्बन्ध विच्छेद भी करते हैं। उनका लक्ष्य अशुद्ध पर्यायको हटाना रहता है। फिर भी बुद्धिपूर्वक वह पहिले मोटे-मोटे दोषों (पापों-अपराधों) को निकालता है पश्चात् छोटोंको दूर करता है। लेकिन व्रत धारण करनेका क्रम उसका विपरीत रहता है अर्थात् पहिले वह अभ्यास रूपसे छोटा व्रत (प्रतिज्ञा) धारण करता है और पश्चात् बड़ा व्रत (महाव्रत) धारण करता है, ऐसी जैन मतकी आम्नाय है, उसीके अनुसार वह चलता है, जिससे वह भ्रष्ट नहीं होता इत्यादि, यही विवेकबुद्धिका फल है॥९३॥

आचार्य असत्यका तीसरा भेद बतलाते हैं।

अन्यथा या विपरीतरूप महा असत्य

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः॥९४॥

पद्य

निज स्वरूपसे सत्‌वस्तुको परस्वरूप कह देना जो।
वह असत्य तीजे नम्बरका बैलको घोड़ा कहना जो॥
वह असत्य है बड़ा लोकमें धोखा देना कहलाता।
दगाबाज अरु मायाचारी कपटी जीव गिना जाता॥९४॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यस्मिन् स्वरूपात् सदपि वस्तु] जहाँपर स्वरूप या स्वक्षेत्रादिसे वस्तु मौजूद हो [च पररूपेण अभिधीयते] और परस्वरूप (अन्यथा या विपरीत) कह दिया जाय वहाँ [इदं तृतीयं अनृतं विज्ञेयं] तीसरे नम्वरका महा असत्य (औरका और) समझना चाहिये (वह तीसरे नम्वरका असत्य है) [यथा गोः अश्व इति] जैसे कि बैलको घोड़ा कह देना यह दृष्टान्त है ।।९४।।

भावार्थ—ये उपर्युक्त तीनों उदाहरण महा (सर्वथा) असत्यके हैं जो सर्वथा वर्जनीय हैं, व्रती पुरुषोंको कभी उनका उपयोग या प्रयोग नहीं करना चाहिये। बुद्धिमान् विवेकी जीव एक तरहसे अलौकिक जीवन व्यतीत करते हैं, उसीमें उन्हें आनन्द आता है, उसीसे वे अपना जीवन सफल मानते हैं वे तमाम पापोंसे परहेज करते हैं, सबसे निराले (विरक्त) रहते हैं एवं क्रमशः करते-करते संसारसे पार हो जाते हैं ।।९४।।

आगे आचार्य असत्य का चौथा प्रकार (भेद) वतलाते हैं।

दुःख व हानिकारकरूप असत्य

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ।।९५।।

पद्य

निन्दित पापयुक्त अरु अप्रिय वचन असत्य कहाता है।
इसीलिये त्रयभेद रूप वह असत् चतुर्थ वताता है।
वह असत्य है वचन जगत्‌में जो जीवोंको दुःख देवे।
केवल ज्योंका त्यों कह देना वह एकान्त नहीं सेवे ।।९५।।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यत् वचनरूपं गर्हितं अवद्ययुतं अपि अप्रियं सामान्येन त्रेधा भवति] जो कथन या वाणी, गर्हित अर्थात् निन्दनीय हो, अवद्यरूप हो अर्थात् दोष या कलंक लगानेवाली हो, और अप्रिय अर्थात् कठोर मर्मभेदी हो, वह सामान्यतः उक्त तीन प्रकारकी होती है [तु इदं तुरीयं अनृतं मतम्] और इसको असत्यका या महा असत्यका चौथा भेद माना गया है ।। ९५ ।।

भावार्थ—उक्त तीनों प्रकारकी वाणी या बोलचाल (कथन) सामान्यतः चौथे (दुःखकारक) असत्यमें शामिल होता है ऐसा आचार्य महाराजने कहा है जो प्रमाणिक है। और वह सब यथाशक्ति त्यागने योग्य (हेय) है। व्रती पुरुष उसका प्रयोग न करें यह आज्ञा है। शेष अव्रती पुरुष उसके लिये वँधे तो नहीं हैं किन्तु जो विवेकी हैं—सम्यग्दृष्टि हैं, उनका भी कर्त्तव्य है कि वे भी यथासंभव वुरा जानकर उक्त प्रकारके वचन न बोलें अर्थात् वैसा अभ्यास करें जिससे जीवन सुधरे व कल्याण हो अवसर अथवा मनुष्य जन्मादिकी पूर्ण योग्यता वार-वार नहीं मिलती

वड़ी दुर्लभ है एवं विचारणीय व करणोय भी है, किम्वहुना। असत्यादिक चारों पापोंका त्याग सिर्फ एक मूल 'अहिंसा धर्म' की रक्षा और प्राप्तिके लिए किया जाता है, यही मुख्य प्रयोजन उनके त्यागका है, उससे आत्मशुद्धि होती है अर्थात् लक्ष्य पूरा होता है अस्तु ॥ ९५ ॥

उपसंहार कथन

अनेकान्तके भेद अनेकों निश्चय व्यवहार भी होते ।
स्वपर चतुष्टय योजित करके सत्य असत्य रूप होते ॥
वचन अगोचर पूर्ण वस्तु है खन्ड-खण्ड वतलाता है ।
अनेकान्तका नाम दूसरा, स्याद्वाद कहलाता है ॥
वचन अनेकों तरह होत हैं, उनमें जो हितकारी हैं ।
उनहीका अवलम्वन करना, शेष सभी परिहारी हैं ॥

आगे आचार्य गर्हित वचन (शब्द या वाक्य) का स्वरूप वताते हैं ।

पैशून्यहास्यगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥९६॥

पद्य

चुगली हास्य कठोर वचन अरु मिथ्या गपशपरूप कथन ।
इसी तरह उत्सूत्र कथन भी—सगरे हैं गर्हित्य वचन ॥
अतः झूठसे वचनेवाले गर्हित वचन न कहते हैं ।
गर्हित वचन उचरनेवाले नहीं पापसे डरते हैं ॥९६॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यत् पैशून्यहास्यगर्भं कर्कशं असमंजसं च प्रलपितं अन्यदपि उत्सूत्रं] जो वचन या वार्तालाप चुगली रूप हो (शिकायत-निन्दारूप हो) हँसी मजाकरूप हो, कठोर वोल-चालरूप (मर्मभेदी) हो, मिथ्या या बनावटी हो, वकवाद (गपशप निष्प्रयोजन) रूप हो, तथा आगम या मर्यादाके विरुद्ध हो, [तत्सर्वं गर्हितं गदितम्] उस सब वार्तालापको, गर्हितवचन नामसे कहा जाता है जो चौथे असत्यका पहिला भेद है ॥९६॥

भावार्थ—उपर्युक्त चर्चा या वातचीत सव मनोविकारसे अर्थात् कषायके वेगमें हुआ करती है; उस समय जीव विवेकहीन जैसा मदान्ध हो जाता है, जो सत्य (स्वभाव) के विपरीत होनेसे अपराधरूप (पाप) माना जाता है, यह रहस्य है । वस्तु या पदार्थ सब सत्यरूप (स्वभावस्थित-धर्मस्वरूप) हैं असत्य या विभाव या अधर्मरूप, नहीं हैं । ऐसी स्थितिमें संसारी जीव जब कषायमय विभाव भावों सहित होता है तब वह स्वभाव भावमें या वस्तु स्वरूपसे विचलित होनेके कारण असत्यवादी वरावर कहा या माना जाता है । फलतः विकार सर्वथा त्याज्य है, जो स्वरूपसे ही पतित कर देवे, किम्वहुना । अपराध छूटे विना मुक्ति नहीं होती, यह नियम है । लोकाचारमें भी

असत्यभाषीकी प्रतिष्ठा श्रद्धा नहीं होती, वह हमेशा उद्वेजनीय रहता है। इसके सिवाय वह अपयश (वदनामी) का भागी भी होता है। अप्रिय भंडवचन (भद्दे‌बोल) व वकवाद भरे वचन कहनेसे असत्यका होना संभाव्य ही नहीं अवश्यंभावी है, ऐसा समझना चाहिये। फलस्वरूप कर्मबंध होता है यथा——

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् वध्येतैवापराधवान्।
वध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः ॥१८६॥ कलश

अर्थ—आत्माके स्वभावसे भिन्न जो विभाव (असत्यादि) रूप पर पदार्थ हैं उनको ग्रहण करनेवाला अर्थात् अपने माननेवाला अज्ञानी जीव अवश्य ही अपराधी सिद्ध होता है, जिससे उसको कर्मवंधकी सजा मिलती है, बच नहीं सकता तथा स्वभाव भावमें स्थिर या संतुष्ट रहनेवाला मुनि निरपराधी है (परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता), अतएव उसको कर्मबंध रूप सजा नहीं मिलती, यह तात्पर्य है। अशुद्धतावाला अपराधी होता है, शुद्धतावाला निरपराधी होता है, अस्तु।

आगे आचार्य, सावद्य (पाप या कषायदोष युक्त) वचनका स्वरूप बताते हैं जो चतुर्थ असत्यका दूसरा भेद है।

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि[1]।
तत्सावद्यं[2] यस्मात् प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥९७॥

पद्य

छेदन भेदन मारण कर्षण वणिज चौर्य वचनादि सब।
पापयुक्त ये वचन कहे हैं, प्राणघात करवाते जब॥
हैं निमित्त कारण ये सारे, हिंसा पाप करानेमें।
अतः इन्होंका वर्जन करना, असत् पाप छुड़वानेमें॥९७॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते है कि [यत् छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि] जो वचन प्रयोग (कथन बोलचाल) छेद डालनेवाला हो, कि इसको छेद डालो, घायल कर दो, भेद डालनेवाला हो कि, इसके टुकड़े कर दो (बूटी-बूटी निकाल दो) तथा मार डालनेवाला हो कि, इसको जानसे मार डालो (हत्या कर दो), तथा कर्षण करनेवाला हो कि, इसको जोरसे बाँध दो, कड़ोर दो (घसीट डालो इत्यादि) तथा हिंसक व्यापारमें लगानेवाला या प्रेरणा करनेवाला हो कि, ठलुआ क्यों वैठे हो, अमुक व्यापार करने लगो उसमें बड़ी मुनाफा है इत्यादि तथा चोरी करानेवाला हो कि, द्रव्य कमाना हो तो बिना पूँजीका धंधा चोरी करना है सो क्यों नहीं करते वेकार क्यों बैठे हो इत्यादि। [तत्सावद्यं, यस्मात् प्राणिवधाद्याः प्रवर्त्तन्ते] ये सव प्रेरणारूप पूर्वोक्त

1. ऐसा करो वैसा करो इस प्रकारके वचन वोलना उच्चारण करना आदि।
2. दोष या पाप युक्त।

वचन प्रयोग (कथन-उपदेश वातचीत) पापमय या कषायमय अथवा 'सावद्यवचन' कहलाते हैं, कारण कि उनसे जीवोंकी हिंसा वगैरह होती है अर्थात् उनसे छेदनादि हिंसक कार्योंको करनेकी प्रेरणा मिलती है (निमित्तरूप वे हैं) अतः उनका त्याग करना चाहिये ।। ९७ ।।

भावार्थ—उपर्युक्त प्रकारके वचनोंका बोलना या उत्तेजना देना बड़ा पाप है, जिससे दूसरे जीवोंका नुकसान हो, दुःख पहुँचे, संक्लेशता हो, विवेकीजन कभी ऐसा कथन नहीं करते । क्योंकि व्यर्थमें पापवंध करना अनर्थदंड है । परन्तु कषायवश जीव अकर्त्तव्य भी करने लगते हैं, इसीसे उनको पाप या अधर्म कहा है । असत्य वचनका सीधा सादा अर्थ 'असत् या अप्रशंसनीय (वुरा) कथन भी होता है । जो वचन, पापोंको उपार्जन या पोषण करें वे सब वचन अप्रशंसनीय सावद्यरूप या निन्दनीय ही हैं, ऐसा समझना चाहिये । फलतः सत्पुरुष असत्का संसर्ग छोड़ देते हैं, भरसक वुराईको अपने पास नहीं रखते, किम्बहुना । पापको कृतकारित अनुमोदनासे त्याग देना ही हितकर है ।। ९७ ।।

आगे आचार्य असत्यके (३) तीसरे भेद 'अप्रिय वचन'का स्वरूप बताते हैं ।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम् ।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८॥

पद्य

जिन वचनोंसे अरुचि होत है भय अरु खेद अवश होता ।
खेद वैर अरु शोक कलह भी जिनसे नित प्रति है बढ़ता ॥
और वे वचन जिनसे होता, अन्तस्ताप सदा मनमें ।
सभी वचन वे 'अप्रिय' होते उन्हें त्यागना जीवनमें ॥९८॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यत् परस्य अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरं अपरमपि तापकरं वचनं] जो वचन दूसरेको अरुचि या अप्रीति करनेवाले हों याने जिन वचनोंसे दूसरे लोग घृणा करने लगें, प्रेम करना वन्द कर देवें तथा भय करने लगें (शंका या सन्देह उत्पन्न हो जाय) दुःख उत्पन्न हो जाय, शत्रुता हो जाय, शोक (पश्चात्ताप या ग्लानि-घृणा) उत्पन्न हो जाय या विकल्पमें पड़ जाय तथा लड़ाई झगड़ा उत्पन्न हो जाय । इसके अतिरिक्त जिससे हृदय तप्तायमान या विदीर्ण हो जाय (अन्तस्ताप हो जाय) [तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्] उन सब वचनोंको 'अप्रियवचन' कहते हैं जो सर्वथा त्याज्य हैं ।। ९८ ।।

भावार्थ—अप्रिय वचनोंका व्यवहार (उच्चारण) कभी जीवोंको हितकर नहीं होता । इसीसे कहा जाता है कि 'न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्' अर्थात् यदि सत्य भी हो परन्तु अप्रिय हो तो, नहीं बोलना चाहिये, यह लोकोक्ति है, इसपर भी ध्यान देना चाहिये । तदनुसार अप्रीतिकर, भयकारक, खेद या दुःखजनक वैरभाव या दुश्मनी उपजावनेवाले, चिन्तामें डालनेवाले, लड़ाई तकरार करानेवाले, अशान्ति पैदा करनेवाले आदि दुर्वचनोंको पापका कारण बतलाकर याने अधर्म वतलाकर

आचार्योंने त्याग कराया है। यही निमित्तोंका त्याग करना व कराना कहलाता है, जो विवेकी जीवोंका कर्त्तव्य है। इस श्लोकमें मुख्यतया नोकषायोंका कार्य बतलाया गया है जो पापरूप हैं। सामान्यतः सभी कषायें व नोकषायें तथा योग पापरूप हैं, जो जीवको अशुद्धतामें रखकर संसारसे नहीं छूटने देते तभी तो मोक्ष प्राप्तिके लिये 'उपयोगशुद्धिः' (कषायोंका अभाव होना) और 'योग शुद्धिः' (खोटे कार्य करना छोड़ देना, संयोग हटाना)का होना अनिवार्य बतलाया है, अस्तु विचार करना चाहिये ॥ ९८ ॥

आचार्य अन्तमें उपसंहाररूप कथन करते हैं—सबका सारांश बताते हैं।

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥९९॥

पद्य

पूर्व वचन या असत्य कथनमें जहाँ प्रमाद हेतु होता।
वहाँ अवश हिंसा होती है—प्रमाद त्यागना रे श्रोता।
नहीं भ्रान्ति करना इस सत्में सत्यवचन ये है वक्ता।
सार बात यह है आगमकी पालनकर मुक्ति भोक्ता ॥९९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अपि यत् सर्वस्मिन्नपि अस्मिन् अनृतवचने प्रमत्तयोगैक-हेतुकथनं] गर्हित आदिवचन बोलनेमें अथवा सामान्य (भेदरहित) असत्यरूप वचन बोलनेमें जो शब्दोच्चारण या वाक्य प्रयोग किया जाता है वह सब प्रमादयोगसे अर्थात् कषायभाव और वचनक्रियासे किया जाता है अतएव उसमें मुख्य कारण एक 'प्रमाद[1] योग' ही है। [तस्मात् नियतं हिंसा समवतरति] उसके फलस्वरूप नियमसे हिंसा पाप लगता है अर्थात् आत्माके स्वभाव भावरूप भावप्राण (ज्ञान दर्शनादि) नष्ट होते हैं या घाते जाते हैं यह भारी हानि होती है। इसीलिये जहाँ-जहाँ प्रमाद योग हो वहाँ-वहाँ हिंसा होती है यह व्याप्ति बनाई गई है ॥ ९९ ॥

भावार्थ—जहाँ-जहाँ कषायपूर्वक योगोंकी प्रवृत्ति होगी वहाँ-वहाँ सब पापोंका मूल, हिंसा पाप अवश्य लगेगा यह अटल नियम है। तदनुसार मुख्य पाप (अधर्म) हिंसा ही है और मुख्य धर्म एक अहिंसा ही है। असत्य आदि सब हिंसाकी ही शाखाएँ या नामान्तर हैं, जो सिर्फ अज्ञानियोंको समझानेके लिये बतलाये गये हैं। फलतः संयोगी पर्यायमें रहते हुए प्रमादी जीव ही अपराधी होता है और प्रमादरहित निष्प्रमादी जीव निरपराधी होता है। अतएव अपराधी (योगकषायवाले)को दंड या कर्मबन्धकी सजा मिलती है एवं उसका पद (दर्जा) नीचा होता है तथा निरपराधी (योगकषाय रहित) जीवको दंड या सजा नहीं मिलती (कर्मबन्ध नहीं होता) एवं उसका पद ऊंचा (केवलज्ञान व मोक्ष) होता है यह सारांश है। ऐसी स्थितिमें

---

१. 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा, तत्त्वार्थसूत्र १४ अध्याय ७।

पापरूप विकारी भावोंका त्यागना (पृथक् करना) श्रावकके लिये अत्यावश्यक है। इस ग्रन्थ द्वारा श्रावकके माध्यमसे उत्सर्ग (शुद्ध-एकाकी) मार्गकी भूमिका आचार्य महाराजने तैयार की है ऐसा आभास होता है अतएव वह कर्त्तव्य है किम्बहुना।[1]

नोट—इस श्लोकमें दो अपि शब्द लिखे हैं, उनमेंसे एकका अर्थ 'और' तथा दूसरेका अर्थ 'अथवा' लेना चाहिये ॥९९॥

आचार्य आगे असत्यके मूलकारणको स्पष्ट करते हुए शंकाका समाधान करते हैं।

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥१००॥

पद्य

सकल झूठ वचनोंका कारण मुख्य प्रमाद कहा प्रभुने।
विना प्रमाद त्याग वचनादिक नहीं असत्य होत सुपने[2] ॥
उपदेशादिक समय गुरूजन वचन अरुचिकर कहते हैं।
जिनसे होता स्वार्थिजनोंको खेद, न अनृत लहते हैं ॥१००॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [सकलवितथवचनानाम् प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे सति] सब तरहके असत्य (झूठ) वचनोंका मूलकारण (हेतु) एक 'प्रमत्तयोग' ही है, दूसरा कोई नहीं है। अतएव [हेयानुष्ठानादेः अनुवदनं असत्यं न भवति] हेय व उपादेयका उपदेश (शिक्षा) देते समय किसी जीवको स्वार्थकी क्षति होनेसे यदि दुःख पहुँचे तो भी असत्य बोलना नहीं माना जाता न उसका पाप लगता है ॥१००॥

भावार्थ—विना प्रमादयोगके किसी भी जीवको क्रिया मात्रसे पापका बंध नहीं होता। यदि इरादा दुःख पहुँचाने या सतानेका हो तो अवश्य ही पापबंध होगा, चाहे वह बाह्यक्रिया (उद्यम) वैसी करे या न करे। लेकिन विना इरादा या संकल्पके, कदाचित् दुःख पहुँचनेके लायक (योग्य) बाह्यक्रिया (शरीरादिकी प्रवृत्ति) हो भी जाय तो भी पापका बंध या हिंसा नहीं होती, कारणकि परिणाम (भाव) ही पुण्यपाप व मोक्षके कारण होते हैं, यह बात कई बार कही गई है। फलतः प्रमादयोग (कषायसहित योगप्रवृत्ति) का दूर करना-निकालना सर्वोपरि है ॥१००॥

नोट—यहाँ पर यह शंका मिट जाती है या नहीं हो सकती कि 'साधु मुनि जीवोंके

१. अनवरतसमन्तैर्बध्यते सापराधः, स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो भवति निरपराधः साधुः शुद्धात्मसेवी ॥१८७॥ कलश

२. स्वप्नमें—रंचमात्र।

कल्याणके अर्थ (शुभ भावनासे) पाँच पापोंका या सात व्यसनोंका त्याग कराते हैं, जिससे उन कामोंका व्यापार या तदाश्रित आजीविका करनेवालोंको दु:ख व हानि पहुँचेगी, क्योंकि उपदेशके प्रभावसे वे पापी व्यसनी जीव हिंसादिकका करना व मद्यमांसादिकका सेवन करना छोड़ देंगे तब उन दुकानदारोंको दुकानें न चलनेसे दु:ख होगा इत्यादि, अत: उनका पाप उपदेश देकर छुड़ानेवाले साधु गुरुओंको लगेगा इत्यादि कुतर्क व्यर्थ हैं। कारण कि उपदेशक किसीको प्रत्यक्ष (इरादा करके) दु:ख हानि नहीं पहुँचाना चाहते, न ही दूसरेका पाप दूसरेको लगता है यह नियम है, अपना-अपना फल लगता व भोगता है यह निष्कर्ष है, भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये ॥१००॥

दूसरे असत्य पापके प्रसंगमें—

आशंका होती है कि अणुव्रती श्रावक सर्वथा असत्यवचन (झूठ बोलने)का त्याग नहीं कर सकते, कारण कि गृहस्थाश्रममें व्यापार आदि आरम्भके कार्य (सावद्यकार्य) उसके पाये जाते हैं अत: उसमें कुछ न कुछ असत्य बोलना ही पड़ता है ? इस प्रश्नका समाधान रूप आचार्य सत्याणुव्रतका स्वरूप बतलाते हैं।

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्य[1]मक्षमाः मोक्तुम् ।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥१०१॥

पद्य

भोग और उपभोग कार्यके साधन जगमें जो होते।
जिनमें असत् पाप लगता है उन्हें त्याग यदि नहिं सकते ॥
उनको छोड़ शेष कामोंमें झूठ बोलना त्याग करे।
एक देश भी त्याग करेसे सत्य अणुव्रत कदम धरे ॥१०१॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [ये सावद्यं भोगोपभोगसाधनमात्रं मोक्तुमक्षमाः] जो जीव (गृहस्थ अव्रती) सम्पूर्ण भोगोपभोगके साधनोंको अर्थात् व्यापार कृषि आदि कार्योंको, जिनमें 'हिंसा झूठ पापों'का होना संभव व अनिवार्य है, उन सबको यदि नहीं छोड़ सकते हैं तो भी [तेऽपि शेषं समस्तं अनृतं नित्यमेव मुञ्चन्तु] उन असमर्थ (अव्रती) जीवोंको चाहिये कि उन प्रयोजनभूत आरंभादिके साधनोंको छोड़, (अतिरिक्त) शेष (बाकी) जो कार्य या साधन हों उनमें असत्य बोलनेका तो त्याग अवश्य करें और एकदेश सत्यव्रती जीवनमें अर्थात् अव्रतीपना (असंयमीपद) छोड़कर अणुव्रती बराबर बनें, यह कर्त्तव्य है ॥१०१॥

भावार्थ—व्रती जीवनसे ही मोक्ष होता है, अव्रतीसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती यह नियम है वह निष्फल है। अतएव यदि कोई गृहस्थ श्रावकपूर्ण या महाव्रत (त्याग) धारण

---

१. असत्य वचनरूप पापकार्य।

नहीं कर सकता तो उसका यह कर्त्तव्य है कि वह प्रयोजनभूत कार्यों (व्यापारादि) को छोड़कर जो अप्रयोजनभूत कार्य (साधन) हैं उनमें कभी झूठ न बोलें, ऐसा करनेसे उनके एकदेशव्रत हो सकता या पल सकता है तथा वे अणुव्रती—मोक्षमार्गी बन सकते हैं एवं कालान्तरमें वे मोक्ष जा सकते हैं अथवा परंपरया (व्यवहारनयसे) वे मोक्ष जा सकते हैं ऐसा समझना चाहिये। इसमें भूल या प्रमाद करना अज्ञानता है, जीवनके महत्त्वको नहीं समझना है। पद और योग्यता के अनुसार पाप या बुराईका त्याग करना अनिवार्य है। व्रती पुरुष प्रयोजनभूत कार्योंमें यदि पूर्ण पापका त्याग नहीं कर सकता है तो भी उसका लक्ष्य सदैव पूर्ण पापोंके त्याग करनेका अवश्य रहता है उन्हें वह हेय ही समझता है उपादेय नहीं समझता जैसाकि मिथ्यादृष्टि समझता है। जैनशासनमें तो जब सम्यग्दृष्टि अव्रतीका भी लक्ष्य पूर्ण वीतरागताकी ओर रहता है, वह तमाम संसार शरीरादिसे विरक्त रहता है तब व्रतीकी बात तो निराली ही है किम्बहुना। पदके अनुसार सभीका कर्त्तव्य निश्चित है अस्तु। ध्यान देना चाहिये। यद्यपि आंशिक-त्याग या प्रवृत्ति 'अपवाद मार्ग' है (अशुद्ध मार्ग है या व्यवहार मार्ग है) उससे साक्षात् मुक्ति नहीं हो सकती जब तक कि वह 'उत्सर्ग मार्ग' पूर्ण वीतरागता रूप या पूर्ण निवृत्तिरूप या निश्चय मोक्ष मार्गरूप नहीं हो जाता यह नियम है। अणुव्रतरूप या श्रावकके १२ व्रतरूप मार्ग 'अपवाद मार्ग' या प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यवहार मोक्ष मार्ग है, उसमें सरागता व वीतरागता दोनोंका मिश्रण रहता है अतः वह शुद्ध मार्ग नहीं है, उससे मुक्ति नहीं हो सकती। उसको उपचारसे मोक्षमार्ग आगममें कहा गया है। सम्यग्दृष्टि अव्रती श्रावक भी जैनधर्मी या अहिंसाधर्मी कहलाता है कारण कि वह अप्रयोजनभूत हिंसा आदि का त्यागी रहता है तथा उसे वह हेय समझता है, उसके होनेमें वह विषाद (दुःख पश्चात्ताप) करता है—विवेक रखता है इत्यादि। अतएव वह भी अहिंसा धर्मका कथंचित् (आंशिक) पालनेवाला है।

निष्कर्ष—त्याग दो तरहका होता है (१) सर्वदेश त्याग या सकलदेश त्याग (उत्सर्गरूप) (२) एकदेश या विकलदेश त्याग (अपवादरूप थोड़ा त्याग)। सर्वदेश त्याग करनेको सकलव्रत या महाव्रत कहते हैं और एकदेश त्याग करनेको अणुव्रत या देशव्रत कहते हैं, महाव्रत या सकलव्रतमें पूर्ण वीतरागता होना चाहिए और देशव्रत या अणुव्रतमें शुभराग होना चाहिये। (अशुभ राग नहीं होना चाहिए) तभी उनका सार्थक नाम हो सकता है, अन्यथा नहीं। उसके विना वैसा कहना उपचारमात्र है अस्तु। उसके भेद (फरक) को समझना और तदनुसार चलना (करना) नितान्त आवश्यक है। समझनेपर ही सारा दारोमदार है, विना समझे सब निष्फल है, अर्थात् सम्यग्ज्ञान हुए विना सब कुचारित्र कहलाता है जिसका फल उत्कृष्ट नहीं होता। कषायोंकी मन्दतामें भी वैसा हो सकता है, और तीव्रतामें भी हो सकता है, किन्तु उससे अभीष्ट सिद्धि नहीं होती, यह तात्पर्य है, अतएव वह व्यर्थका बोझा जैसा है ॥ १०१ ॥ सत्याणुव्रतका स्वरूप कहनेके पश्चात्—

(३) चौर्य पाप प्रकरणमें—

आगे अचौर्य अणुव्रत (धर्मका) स्वरूप बताया जाता है।

अवितीर्णस्य[1] ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।
तत्प्रत्येयं स्तेयं[2] सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१०२॥

पद्य

विना दिये धन आदि वस्तु को जो प्रमादवश ग्रहना है ।
नाम उसी का चोरी है अरु हिंसा पाप भी करना है ॥
कारण इसका दुःख देना है, जिससे हिंसा होती है ।
विना स्वीकृति वस्तु वरतना—चोरी है दर[3] खोती है ॥१०२॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [प्रमत्तयोगात् यत् अवितीर्णस्य परिग्रहस्य ग्रहणं] जो प्रमाद या तीव्रकषायके निमित्तसे विना दी हुई या विना मंजूर किये पर वस्तुका ग्रहण या स्तेमाल (उपयोग या वरतन) करना [तत् स्तेयं प्रत्येयं] उसको चोरी पाप समझना चाहिये । [च वधस्य हेतुत्वात् सा हिंसा एव] और वह चोरी प्राणघातका निमित्त होने से हिंसा पापरूप भी है, ऐसा समझना चाहिये। ऐसी स्थितिमें यदि हिंसा पापकी तरह अप्रयोजनभूत कामोंमें चोरीका त्यागकर दिया जावे तो निःसन्देह वह एकदेश चोरीका त्यागी अणुव्रती श्रावक (गृहस्थ) हो सकता है। परन्तु यह अपवाद मार्ग है पूर्ण उत्सर्ग या शुद्धवीतराग मार्ग नहीं है तथापि लाभदायक है जितना पापकार्य छूटा उतना ही अच्छा है ॥ १०२ ॥

भावार्थ—बहुतसे कार्य (भोगोपभोगके साधन) लोकमें ऐसे होते हैं कि जिनके करनेका जिन्दगीमें कभी अवसर ही नहीं मिलता (वे काम नहीं करना पड़ते) परन्तु उनका त्याग न होनेसे तज्जन्य पापका बंध होता ही रहता है। जैसे कि हिंसाका त्याग नहीं करनेसे वह जीव हिंसा करनेवाला माना जाता है अर्थात् उसकी गिनती हिंसक या हत्यारे जीवोंमें होती है एवं उसे हिंसाका पाप अवश्य लगता है। ऐसी स्थितिमें श्रावकका कर्त्तव्य है कि विवेकसे कार्य करे। तदनुसार अप्रयोजनभूत कार्योंमें हिंसा आदि सभी पाप छोड़ देवे, जिससे उसका जीवन संयम या व्रत-सहित बीते तथा वह अहिंसा सत्य आदि व्रतधर्मका पालनेवाला बने इत्यादि। अरे ! यदि श्रावक समझदार हो तो रात्रिको सोते समय तमाम परिग्रहका त्यागकर देवे जबतक कि वह न जगे। उसमें उसको बड़ा लाभ होगा यदि कदाचित् सोतेमें उसकी मृत्यु हो जाय तो उसका मरण व्रती अवस्थामें होना कहलायगा व उसको सद्गति प्राप्त होगी। इस तरह चोरी पापके प्रसंगमें 'अचौर्य' धर्म भी पल सकता है ऐसा समझना चाहिये ॥ १०२ ॥

---

१. विना मंजूरी या विना दिये द्रव्यको ।
२. चोरी पाप ।
३. इज्जत या विश्वास नष्ट कर देती ।

उक्तं च—निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम् ।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥ ५७ ॥ रत्न० श्रा०

धर्म्यं यशः शर्म च सेवमानाः केप्येकशोजन्मविदुः कृतार्थम् ।
अन्ये द्विशो विद्म वयं त्वमोघान्यहानि यान्ति त्रयसेवयैव ॥१४॥ सा० धर्मा० अ० १

अर्थ—संसारमें सबसे उत्तम धर्म, कीर्ति व सुख ये तीन चीजें मानी जाती हैं। उनमेंसे कोई जीव धर्म या पुण्य प्राप्तकर लेने मात्रसे संतुष्ट या कृतकृत्य हो जाते हैं। कोई नामवरी या कीर्ति फैल जानेसे संतुष्ट हो जाते हैं, तो कोई इष्ट प्रयोजन सिद्ध हो जानेसे (मनोरथ पूरा हो जानेसे, संतुष्ट या सफल हो जाते हैं क्योंकि लोककी रुचि भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। परन्तु विवेकी पुरुष उपर्युक्त तीनों (धर्म, यश, शर्म)को प्राप्त करके अपनेको कृतकृत्य मानते हैं यह भेद है। यही उचित है। अर्थात् पद व योग्यताके अनुसार संयोगी पर्यायकी भूमिकामें रहते हुए अरुचि रूप उपर्युक्त सभी कार्योंका करना अनुचित नहीं माना व कहा जा सकता। कारण कि वह विवेकी सबको विवेक दृष्टिसे देखता है उसके न्याय है अस्तु। विवेकी जीव संसारके छूटनेको ही कृतकृत्य होना मानते हैं किन्तु संसारमें रहकर मनचाहा कार्य करनेको कृतकृत्य होना नहीं मानते, यतः वे सदैव संसार शरीर भोगोंसे उदास (विरक्त) रहते हैं ॥ १०२ ॥

आचार्य आगे इस बातका खुलासा करते हैं कि 'परधनका चुराना' जीवका घात (हिंसा) करना है (उससे हिंसा पाप लगता है) सो कैसे ? समाधान करते हैं।

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम् ।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥

पद्य

अर्थ नाम धनका अरु प्राणोंका है लोक बताते हैं।
अतः धनादिक हरनेवाले निशदिन पाप कमाते हैं ॥
धन है बाहिर प्राण जीवके इससे वे मर जाते हैं।
हिंसापाप उन्हें लगता है परधन जो खा जाते हैं ॥ १०३ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [एते ये अर्था नाम एते पुंसाम् बहिश्चराः प्राणाः सन्ति] लोकमें जितने धनके नाम हैं वे सब जीवोंके बाहिरी प्राण हैं अर्थात् बाह्यप्राणोंके धनादि नाम हैं ऐसा समझना चाहिये अतएव [यो जनः यस्य अर्थान् हरति स तस्य प्राणान् हरति] जो मनुष्य दूसरेके धनको चुराता है वह मानो उसके प्राणोंको चुराता या घात करता है अर्थात् उसे मार डालता है (यहाँपर निमित्तकारणकी मुख्यता समझना) ॥१०३॥

भावार्थ—यह सब अज्ञान या मिथ्यात्वकी महिमा है कि मिथ्यादृष्टि जीव परपदार्थमें एकत्व (अभेद) बुद्धि करता है कि ये सब संयोगी पर्यायमें प्राप्त हुई चीजें मेरी हैं (तन धन जन आदि सभीको इष्ट अनिष्ट मानता है)। अतएव वह धन दौलतको अपने ही प्राण (जीवन देनेवाले) समझता है, उनमें राग व इष्ट बुद्धि करता है। ऐसी अवस्थामें यदि धनजन आदि

इष्टपदार्थका हरण (चोरी) या वियोग हो जाय तो वह अत्यन्त दुःखी होकर प्राणतक छोड़ देता है (उसका मरणतक हो जाता है) या वह वह उस वियोगजन्य पीड़ाको नहीं सह सकता तब आत्मघाततक कर डालता है, यह उसकी बड़ी भूल है। वह परद्रव्य कभी आत्मा (जीव)की नहीं हो सकती, कारण कि दोनों चीजें एक—तादात्म्यरूप नहीं हैं—संयोगरूप भिन्न-भिन्न हैं। उनका स्वभाव आदि सभी पृथक-पृथक है, फिर वे एक कैसे हो सकती हैं व मानी जा सकती हैं यह विचारणीय है ? परन्तु मूर्ख अज्ञानी यह विचार नहीं करता, इसीलिये दुःखी होता है। वस्तुका संयोग वियोग होना स्वभाव है वह कृत्रिम (परकृत) नहीं है, स्वतः सिद्ध या जन्मसिद्ध अधिकार है जब जैसा होना है सो होगा ही। बस, यह उक्त प्रकारकी परमें एकत्वरूप भूलके निकलनेपर ही संयोगी पर्यायके तमाम पाप पुण्य व सुख दुःख नष्ट हो जाते हैं किम्बहुना। मोहीजीव विवेकको खो बैठता है तब अपने सिरमें पत्थर मारकर स्वयं दुःखी होता है व चिल्लाता है। हाय ! पत्थर मार दिया इत्यादि यह विडंबना सब कर्म (पुद्गलकी पर्याय) कृत है अर्थात् उसके उदयरूप निमित्तके मिलनेपर होती है यह निर्धार है। फलतः निमित्तकारणकी अपेक्षा धन एवं प्राणको एक-सा बतलाया गया है ऐसा समझना चाहिये। परन्तु है यह उपचार कथन। अन्तरंग या भीतरी हिंसा पाप, संक्लेशतारूप परिणाम होनेसे आत्माके भावप्राणोंका घात होता है वह लगता है ॥ १०३ ॥

वादी तर्क करता है कि चोरीका सम्बन्ध हिंसासे कैसे जोड़ा जा सकता है, जबकि चोरीका सम्बन्ध परद्रव्यसे है और हिंसाका सम्बन्ध प्राणघात (मरण)से है ? अतएव दोनोंकी व्याप्ति (संगति) नहीं बैठती। इसका समाधान किया जाता है।

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः[2] सुघट एव सा यस्मात् ।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥ १०४ ॥

पद्य

चोरी और जु हिंसाका है अविनाभाव सदा मानो।
यतः उभयका कारण है वह एक प्रमादयोग जानो ॥
अतः नहीं है अव्याप्तिका भय इसमें निश्चय मानो।
जहाँ चौर्य वहाँ हिंसा होती दोनोंको तुम पहिचानो ॥ १०४ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हिंसायाः स्तेयस्य च अव्याप्तिः न] हिंसा (प्राणघात) और चोरीमें व्याप्तिका अभाव है, फिर वैसी शंका (तर्क) नहीं करना चाहिये, [यस्मात् सा सुघट एव] क्योंकि वह व्याप्ति बराबर सिद्ध होती है। देखो [अन्यैः स्वीकृतस्य द्रव्यस्य अन्यैः ग्रहणे

१. अदत्तादानं स्तेयम्, तत्त्वार्थसूत्र अ० ७

२. व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव या साहचर्य नियम।

प्रमत्तयोगोऽस्ति] दूसरेके द्वारा प्राप्त किये गये (संचित) धनको, यदि कोई दूसरे आदमी (जिन्होंने कमाया नहीं है) ग्रहण करते हैं अर्थात् चुरा लेते हैं तो वहाँ प्रमादयोग अवश्य होता है अर्थात् उनके तीव्रराग या तीव्रकषाय सहित प्रवृत्ति बराबर पाई जाती है। इस तरह चोरके शुद्ध भाव-भाणोंका घात होनेसे उसको हिंसा पाप तथा चोरीका पाप (हिंसारूप) दोनों लगते हैं। अथवा कदाचित् धनवालेका मरण हो जाय तो निमित्ततासे लोकमें उसका अपराधी भी चोर होता है। सजा मिलती है, ऐसी व्याप्ति समझना चाहिये ॥ १०४ ॥

भावार्थ—यहाँपर निश्चय हिंसा और व्यवहार हिंसा तथा निश्चय चोरी और व्यवहार चोरी का प्रदर्शन किया गया है, जो स्वाश्रित और पराश्रित है, इसे ठीक-ठीक समझना चाहिये। जो जीव चोरी करनेका, हिंसा करनेका, झूठ बोलनेका, कुशील सेवन करनेका तथा परिग्रह करनेका इरादा या संकल्प करता है वह अपने स्वभावभावकी चोरी या हरण (घात) करता है अथवा स्वभावभावको प्रकट नहीं होने देता है जो अपराध है। अतएव वह निश्चय या स्वाश्रित चोरी है। तथा परद्रव्यको चुराना यह पराश्रित या व्यवहार चोरी है। उसके होनेसे भाव व द्रव्य दोनों हिंसाओंका होना सम्भव है। कारण कि उसका निमित्तकारण एक कषायकी तीव्रतारूप प्रमादयोग ही है। तब हिंसा व चोरीकी व्याप्ति (संगति) बननेमें कोई बाधा नहीं आती—निश्चितरूपसे व्याप्ति सिद्ध होती है किम्बहुना। सब पापोंकी खान (योनि या आयतन) हिंसा है और हिंसाकी खान प्रमाद है, ऐसा समझना चाहिये। मुख्यतया जहाँ प्रमादपूर्वक चोरी की जाय, वहाँ तो चोरीका पाप लगता है, परन्तु बिना प्रमादके नहीं लगता, ऐसा आगमका न्याय है। फलतः खाली परद्रव्यका ग्रहण होना मात्र चोरी नहीं कहलाती, जिसमें प्रमाद न हो, जैसे ईर्यापथास्रव होता है वहाँ चोरीका दूषण नहीं लगता। लोकमें भी बिना इरादेके गलती हो जानेपर गलती नहीं मानी जाती। यद्यपि बन्ध (सजा)के कारण कषाय और योग दोनों हैं तथापि कषाय मुख्य है उसीसे स्थिति, अनुभाग पड़ता है इत्यादि।

न्यायशास्त्र में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव ये तीन दोष लक्षणके माने जाते हैं। उनका स्वरूप यथा संभव बताया जायगा, वह सुलभ है। अस्तु।

नोट—इस स्थलमें चोरी और हिंसा दोनोंमें अव्याप्ति दोष नहीं है कि कहींपर चोरी तो हो और हिंसा न हो। ऐसा स्थल कोई नहीं है—सर्वत्र जहाँ-जहाँ चोरी हो वहाँ-वहाँ हिंसा अवश्य होती है। परन्तु ऐसी व्याप्ति प्रमादपूर्वक चोरीके साथ है—प्रमादरहित चोरी (परद्रव्यका ग्रहण) के साथ व्याप्ति नहीं है, यह विशेषता है। लोकमें गठबन्धनको व्याप्ति कहते हैं। यदि यहाँ यह प्रश्न किया जाय कि कोई-कोई जीव चोरी हो जानेपर सदमासे नहीं मरते तो क्या उस चोरको हिंसाका पाप नहीं लगेगा? इसका समाधान यह है कि उसके (धनीके) यदि संक्लेशता न हो या राग द्वेष न हो बराबर चोरके निमित्तसे धनी हिंसा पापसे बच सकता है अन्यथा संक्लेशता होनेपर चोर व साहूकार दोनोंको हिंसाका पाप लगना अनिवार्य है, चोरके परिणाम खराब होनेसे वह हिंसा पापका भागी हर हालतमें होता है इत्यादि।

सारांश—'यत्र-यत्र चोरी तत्र-तत्र हिंसा' अर्थात् जहाँ-जहाँ प्रमाद योग सहित चोरी हो वहाँ-वहाँ हिंसा अवश्य होती है। फलितार्थ यह कि जहाँ-जहाँ कषाय हो वहाँ-वहाँ हिंसा अवश्य होती है अर्थात् हिंसाकी व्याप्ति कषायके साथ है और यह हिंसाका लक्षण 'प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा' (त० सू०) विल्कुल निर्दोष (अव्याप्ति अतिव्याप्ति-असंभव दोषरहित) है ऐसा समझना चाहिये। कषायरहित मन-वचन-काय इन तीनों योगोंकी प्रवृत्ति या क्रिया, हिंसा पाप है अस्तु। हिंसासे मतलब केवल बाह्य प्राणोंके घात होनेका नहीं है कि शरीर नष्ट हो जाय, किन्तु भावप्राणोंके घात होनेका भी है कि आत्माके ज्ञानादिक गुणोंका नष्ट होना भी हिंसा कहलाती है। ऐसी स्थितिमें कषाय उत्पन्न होते समय कोई न कोई हिंसा अवश्य होती है वच नहीं सकती। तब कहना पड़ेगा या कहना चाहिये कि कषायोदयकी और हिंसाकी व्याप्ति बरावर है। यदि कदाचित् बाह्य हिंसा (द्रव्य हिंसा) न हो तो अन्तरंग हिंसा (भाव हिंसा) हो ही जाती है इति।

चोरीका अर्थ, परद्रव्यका अपहरण करना है जो लोकव्यवहार है उसे लोकमें चोरी करना कहा जाता है। तथा चोरी करनेका भाव होना अर्थात् परद्रव्य ग्रहण करनेका राग (कषाय) होना, यह अलौकिक या अन्तरंग चोरी है। इस तरह दो चोरियाँ होती हैं। परन्तु दोनोंका मूल कारण एक 'प्रमाद योग' है अतएव वह हिंसारूप है। तव यह नहीं कहा जा सकता कि चोरी करनेमें हिंसा नहीं होती और इसीलिये चोरीको हिंसाके साथ व्याप्ति नहीं है (अव्याप्ति दूषण है)। यदि वैसा कहा जाय तो गलत होगा अस्तु। 'जहाँ-जहाँ प्रमाद है वहाँ-वहाँ हिंसा है' यह हिंसाका लक्षण निर्दोष है अर्थात् अव्याप्ति व अतिव्याप्ति व असंभव, इन तीन लक्षणके दोषोंसे रहित है—शुद्ध है। तदनुसार झूठ, चोरी, कुशील आदि करनेके भाव होना, सब प्रमादमें शामिल हैं और हिंसारूप हैं। तथा तज्जन्य क्रिया—योगप्रवृत्ति भी हिंसा पापरूप है। यतः कारणके अनुरूप कार्य होता है ऐसा न्याय है किम्वहुना ॥ १०४ ॥

नोट—यथासंभव पेश्तर अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव, इन तीनों दोषोंका लक्षण बताया जा चुका है कि जो लक्षण पक्ष (समुदाय) के एक हिस्सेमें रहे या घटित होवे उसको 'अव्याप्ति दोष' कहते हैं और जो लक्षण,अलक्ष या विपक्षमें भी रहे या घटित होवे उसको 'अतिव्याप्ति दोष' कहते हैं जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें रहे उसे अतिव्याप्ति दोष कहते हैं और जो लक्षण लक्ष्य या पक्षमें विलकुल न रहे या घटित न होवे उसको 'असंभव दोष' कहते हैं ऐसा संक्षेपमें समझना ॥ १०४ ॥

यहाँपर यदि कोई यह शंका करे कि जब विना दी हुई परवस्तुका ग्रहण करना चोरी कहलाता है तव केवली वीतरागी भी तो विना दिये कर्म ग्रहण करते हैं अतः उनको भी चोरीका दोष लगना चाहिये ?

आचार्य समाधान करते हैं कि हिंसाके लक्षणमें 'अतिव्याप्ति' दोष भी—नहीं है जैसा अव्याप्ति दोष नहीं है यथा—

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्[1] ।
अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात्[2] ॥१०५॥

पद्य

अतिव्याप्ति दूषण नहिं होता कर्मग्रहणके करनेमें ।
विना प्रमाद होत है वह तो वीतरागता धरनेमें ॥
ग्रहण विसर्जन किया जात है जहाँ कषाययोग[3] वरते ।
अन्य जगह[4] जो क्रिया होत है वह स्वभावसे ही वरते ॥ १०५ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अपि नीरागाणां कर्मानुग्रहणे तयोः अतिव्याप्तिः न] और वीतरागियों (विपक्षियों) के जो प्रति समय कर्मोंका (अदत्त) ग्रहण होता है उससे हिंसाके लक्षणमें अथवा चोरी और प्रमादरूप हिंसामें या एकतामें कोई अतिव्याप्ति नामका दूषण नहीं आता, कारण कि [प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्] विरागियोंके जो कर्मग्रहण होता है वहाँ प्रमाद-योग नामक मुख्य कारण मौजूद नहीं रहता, अर्थात् वह नष्ट हो जाता है (सम्पूर्ण मोहका अभाव हो जानेसे) अतः [स्तेयस्य अविद्यमानत्वात्] चोरीके न होनेसे, वह (कर्मग्रहण) स्वभावतः (अपने आप खाली योगके निमित्तसे विना कषायके) होता रहता है, जो वस्तु स्वभाव है, वह वैभाविकी क्रिया नहीं है यह तात्पर्य है। ऐसी स्थितिमें वीतरागी जीव, पक्षरूप (कषाय सहित संसारी) नहीं हैं किन्तु वे विपक्षरूप हैं। अतएव अतिव्याप्ति दूषण नहीं हो सकता। ऐसा समझना ॥ १०५ ॥

भावार्थ—सर्वत्र प्रमाद और हिंसाकी एकता (व्याप्ति) मिलाई जाती है जो सत्य सिद्ध होती है, उसमें कोई दूषण नहीं आता। वीतरागी साधु या देव (अर्हन्त) कषायसे सर्वथा रहित हैं अर्थात् प्रमादवाले नहीं हैं अतएव कर्मोंका ग्रहण करने मात्र (प्रति समय सातावेदनीयका सिर्फ प्रकृति प्रदेशबन्ध होता है) से वे हिंसक नहीं होते अर्थात् उन्हें हिंसाका दोष या चोरीका दोष नहीं लगता, कारणकि कर्मरूप पुद्गल किसीके अधीन नहीं हैं अर्थात् उनका कोई खास स्वामी नहीं है, वे सर्वत्र ठसाठस भरे हुए हैं व स्वतन्त्र हैं। अतएव उनमे दत्त या अदत्त (चोरी) का विकल्प ही नहीं होता। इसके सिवाय उनका आना जाना प्रमाद (कषाय सहितयोग-परिस्पंदन) से नहीं होता तब हिंसा काहेकी ? वह अहिंसारूप है ऐसा समाधान होता है। अस्तु। आगममें कषायसहित योगप्रवृत्तिको या तीव्रकषायको प्रमाद कहते हैं यह लक्षण है किम्वहुना—

---

१. अभाव होनेसे।

२. वीतरागियोंके, अलक्ष्यरूपवाले विसदृशजनोंके याने विपक्षभूतोंके। इस श्लोकमें 'विरोधात्' पदके स्थानमें 'विशेषात्' होता तो क्लिष्ट कल्पना न करना पड़ती सरल होता।

३. विभावभाव।

४. विरागियों त्यागियों के।

सारांश—शंकाकारका कहना है कि यदि चोरी और हिंसा एक साथ होती है तब वीतरागी महात्मा भी बिना दिये कर्मोंको ग्रहण करते हैं, जो चोरी है 'अदत्तादानं स्तेयम्' यह तत्त्वार्थ-सूत्र है। ऐसी स्थितिमें हिंसाका लक्षण अलक्ष्य (विपक्ष) वीतरागियोंमें चला जानेसे अतिव्याप्ति[1] दूषण लग जायगा इत्यादि। इसका खंडन आचार्यदेवने लक्ष्यसे भिन्न अर्थात् विपक्ष या वीतरागी बताकर किया है किम्बहुना ॥ १०५ ॥

अन्तमें आचार्य अणुव्रती श्रावकको सारांशरूप उपयोगी शिक्षा देते हैं, जिससे व्रतमें बाधा न आवे।

अप्रयोजनभूतका त्याग कराते हैं

असमर्था ये कर्तुं निपान[2]तोयादिहरणविनिवृत्तिम् ।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥

पद्य

जो श्रावक नहिं छोड़ सकत हैं, पर के पानी आदि को।
उनका भी कर्त्तव्य यही है, अन्य छोड़ दें अदत्त को॥
पदके माफिक बरतन करना, नहिं अन्याय कहाता है।
त्यागी अत्यागी में अन्तर, यही समझमें आता है ॥१०६॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [ये निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिं कर्तुं असमर्थाः] जो गृहस्थ या श्रावक (अणुव्रती) दूसरोंके कुआँ आदिका पानी (प्रयोजनभूत) विना दिया हुआ नहीं त्याग सकते अर्थात् मालिककी आज्ञा या स्वीकृतिके विना भी उपयोगमें (वर्त्तावमें) लाते हैं, उसको वे पदके अनुसार उपयोगमें लावें किन्तु [तैरपि समस्तमपरं अदत्तं नित्यं परित्याज्यं] उन प्रयोजनभूत चीजोंके सिवाय (अतिरिक्त) अन्य सभी अप्रयोजनभूत चीजोंका विना आज्ञा या स्वीकृतिके हमेशा त्याग कर देना चाहिये (श्रावकोंका यह कर्त्तव्य है आज्ञा है) इससे एकदेश चोरीका त्याग करके वे त्यागी अणुव्रती बने रह सकते हैं, अर्थात् उनका अणुव्रत भंग नहीं हो सकता ॥१०६॥

भावार्थ—असंयमी और अव्रती जीवनकी मोक्षमार्गमें कोई कीमत नहीं है अतएव सम्यग्दर्शन सहित यथाशक्ति व्रत धारण करना प्रत्येक गृहस्थ श्रावकका कर्त्तव्य है, परन्तु वह सब पद और योग्यताके अनुसार होना चाहिये) अन्यथा लाभके स्थानमें हानि हो जाती है। यही बात

---

१. अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तित्वम्, यह लक्षण है।

२. सिर्फ जल-मिट्टीका उल्लेख छहढालामें 'जलमृतिका विन और नाहिं कुछ गहें अदत्ता' किया गया है मालूम पड़ता है यह उदाहरणमात्र है, सीमा नहीं है अर्थात् दो ही चीजोंकी छुट्टी नहीं है और भी प्रयोजनभूत हैं—विचार किया जाय।

इस श्लोकमें आचार्यने कही है। थोड़ा-थोड़ा प्रमाद छोड़कर प्रमादरहित व्रत या त्याग (शुद्ध वीत-रागतारूप) अवश्य करना चाहिये तभी जीवन सफल हो सकता है। कमसे-कम अप्रयोजन भूत कार्योंका त्याग तो कर ही देना चाहिये, उसमें अधिक सोचने-विचारनेकी जरूरत नहीं है। तथा क्रमशः प्रयोजनभूतका त्याग करना भी अनिवार्य है तभी मानव जीवन पानेकी सार्थकता है। पुरुषार्थी जो करना चाहे सो कर सकता है। जब कठिनसे-कठिन मोक्षकी साधना कर सकता है तब और क्या कठिन है, जिसके लिए वह कायरता दिखलावे ? नहीं, अपनी शक्तिको देखकर बराबर आगे बढ़ना चाहये, प्रमाद नहीं करना चाहिए और वह भी आत्मकल्याणके कार्य करनेमें, न कि संसारके कार्योंमें, तभी वह पुरुषार्थी कहा जावेगा अन्यथा नहीं, यह ध्यान में रखना चाहिये। किम्बहुना[1] ॥१०६॥

आचार्य (४) कुशील (अब्रह्म) पापका स्वरूप बताते हैं।

एकदेश सुशीलको पालनेके लिए

यद्वेदरागयोगान्मैथुन[2]मभिधीयते तदब्रह्म[3]।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्रसद्भावात् ॥१०७॥

पद्य

वेदरागके होनेसे जो मैथुनकर्म जीव करता।
है 'अब्रह्म' नाम उसका अरु नाम कुशील वही करता॥
हिंसा उसमें होत निरन्तर द्रव्यभाव दोई प्राणों की।
कारण मुख्य प्रमाद कहा है सब पापों के खानों की ॥१०७॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यत् वेदरागयोगात् मैथुनमभिधीयते तत् अब्रह्म] जो वेदरूप रागके निमित्तसे कामसेवनका भाव या क्रिया की जाती है, उसको 'अब्रह्म' या कुशील कहते हैं। और [तत्र सर्वत्रवधस्य सद्भावात् हिंसा अवतरति] उस मैथुनमें सम्मूर्च्छनादि जीवोंका घात होनेसे हिंसा पाप लगता है, यह हानि है अतएव वह त्याज्य है ॥१०७॥

भावार्थ—जितने कषाय व परिग्रह (विषय)के भेद हैं वे सभी पापरूप हैं और पापके कारण हैं, अतएव आचार्योंने उन्हींको त्याग करनेका उपदेश दिया है व त्याग करवाया है। उसीका पृथक्-पृथक् रूपसे स्पष्टीकरण पाँच पापोंके प्रकरणमें किया जा रहा है। अब्रह्म या कुशील

---

१. प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः, कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्, मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ॥१९०॥—कलश

२. मिथुनस्य भावः कर्म वा मैथुनम्। दो प्राणियों (स्त्री-पुरुष) की परस्पर रमण करनेकी इच्छा या क्रियाको मैथुन या कुशील कहते हैं। कुशील भावरूप व द्रव्यरूप दोनों तरहका होता है।

३. ब्रह्मचर्यका अभाव। पूर्ण स्वभावकी कमी।

सेवन भी पाप ही हैं (अशुद्धता है) क्योंकि उसमें द्रव्य हिंसा (योनिगत असंख्यात सम्मूर्च्छन जीवोंका विघात) होती है तथा परिणाम या भाव खराब (प्रमादरूप तीव्र कषाय) होनेसे आत्मा के भावप्राणोंका भी घात होता है ऐसी स्थितिमें उभयथा हिंसाका होना अनिवार्य है, अतः यह पाप भी त्याज्य है। वेद तीन तरहके होते हैं—(१) पुरुषवेद, (२) स्त्रीवेद, (३) नपुंसकवेद। ये तीनों ही रागकषायमें शामिल हैं। इनके द्रव्य व भावके दो भेद होते हैं। द्रव्यवेद (लिंग) नामकर्मके आश्रित है वह शरीरमें आकारादिकी रचनारूप है तथा भाववेद कषाय या विकारीभाव-रूप है। दोनोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। भाववेदके निमित्तसे (भाववेदरूप विकारी परि-णामसे) कायवचनादिमें क्रिया (हरकत) होती है तथा उसके लिए जीव निमित्त मिलता है। वचनप्रयोग, कायप्रयोग आदि करता है और उसके आंगोपांग चलाता है तथा मेल मिलाता है इत्यादि। स्त्रीके गुह्य स्थानोंमें (योनि, काँख, कुच आदिमें) असंख्याते जीव स्वतः सम्मूर्च्छन जन्मवाले होते रहते हैं अतः परस्परके संघर्षसे वे सब मर जाते हैं जिससे द्रव्यहिंसा होती है, इत्यादि पापकी खान मैथुन कर्म है अतः वह त्याज्य है।

वेदके विषयमें विशेषता

द्रव्यकर्म, भावकर्म की तरह, वेदनाम नोकषायके भी द्रव्य भाव ये दो भेद हैं या माने जा जा सकते हैं।

(१) द्रव्यवेद, नोकषायरूप पुद्‌गलका पिण्ड है, जिसके उदय होनेपर जीवके भाव खराब होते हैं। अतः वह द्रव्यवेद है।

(२) भाववेद, स्त्री-पुरुषके खोटे भावोंका होना है, जिनसे क्रिया की जाती है। उन परि-णामोंको भाववेद कहते हैं।

(३) नामकर्मके उदयसे होनेवाली पुद्‌गलकी रचना, लिंग या चिह्न कहलाती है—वह आकार-प्रकार, जिससे स्त्री-पुरुष-नपुंसककी पहिचान होती है, ऐसा भेद समझना चाहिये।

नोट—स्त्रीवेदके उदयमें स्त्रीके जैसे भाव होते हैं—अर्थात् पुरुषसे रमण करनेके भाव होते हैं। पुरुषवेदके उदयमें पुरुषके जैसे भाव होते हैं। अर्थात् स्त्रीसे रमनेके भाव होते हैं। नपुंसक वेदके उदयमें नपुंसकके जैसे भाव होते हैं, उभयसे रमनेके इत्यादि।

आगे आचार्य उसी द्रव्यहिंसाकी पुष्टि उदाहरण देकर करते हैं।

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥ १०८॥

पद्य

तिलनालीके अन्दर जैसे तप्तलोहके पड़नेसे।
तिलका क्षय हो जात, तत्क्षण आपसमाहिं रगड़नेसे॥
उसी तरह योनिके भीतर रहनेवाले जीवोंका।
घात होत है मैथुनमें जब अंग रगड़ता दोनोंका॥ १०८॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यद्वत् तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिलाः हिंस्यन्ते] जिस प्रकार तिलीसे भरी हुई पुंगरिया (नाली)में तपे हुए लोहेके सरियाको डालनेसे तिली जल जाती या नष्ट हो जाती है [तद्वत् मैथुने योनौ बहवो जीवाः हिंस्यन्ते] उसी तरह मैथुन करनेसे योनिमें रहनेवाले बहुतसे सम्मूर्च्छन जीव मर जाते हैं, जिससे द्रव्यहिंसारूप पाप लगता है अतः वह छोड़ना चाहिये ॥ १०८ ॥

भावार्थ—कुशील या मैथुन या अब्रह्म इन तीनोंका अर्थ एक ही होता है। परन्तु कुशील नाम क्यों पड़ा है ? यह विचारणीय है। शीलका अर्थ स्वभाव है अर्थात् निर्विकार (सहज) आत्माका परिणाम है। तदनुसार आत्मामें विकारका होना (विभावभाव उत्पन्न होना) कुशील ही है अर्थात् स्वभावसे रहित या विचलित होना है। जिसकी प्रतिक्रिया मैथुनादिके रूपमें होती देखी जाती है जो सब कुशीलमें शामिल है। किन्तु लोकाचार या लोकके न्यायमें 'स्वस्त्री' सेवनको कुशील नहीं कहा जाता, 'परस्त्री' सेवनको ही कुशील कहा जाता है। अतएव स्वस्त्रीके सेवनमें दंड नहीं मिलता और परस्त्रीके सेवनमें दंड मिलता है। परन्तु परलोकमें (आगमके न्यायसे) वह 'अब्रह्म' पाप है अर्थात् ब्रह्म जो आत्मा, उसके स्वभाव (रागरहित)से विचलित होना है, इसलिये उसकी सजा सभीको मिलती है यह तात्पर्य है। अथवा जीवहिंसा होनेसे सभी अपराधी समझे जाते हैं, क्योंकि मुख्यपाप हिंसा ही है। लोकका न्याय परलोकमें नहीं लगता, दोनों न्याय जुदे-जुदे हैं। मैथुनक्रिया (कर्म)के समय पुरुषके पुरुषवेदका व स्त्रीके स्त्रीवेदका तीव्र उदय रहता है अतएव दोनोंके कर्मबन्ध होता है व द्रव्यहिंसा भी होती है भावहिंसा तो होती ही है ऐसा समझना चाहिये ॥ १०८ ॥

विशेष विचार—लोकमें कहा जाता है कि 'ब्रह्म' परब्रह्म परमात्मा (ईश्वर)से ही जगत् (संसार)की और गुणकर्म स्वभावसे चार जातियों (वर्णों)की उत्पत्ति होती है, इत्यादि इसका खुलासा क्या है यह थोड़ा बताया जाता है।

ब्रह्मशब्दका अर्थ या वाच्य 'आत्मा' है। सो वही आत्मा अपने गुणकर्म स्वभावसे—बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि), अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि), परमात्मा (सर्वज्ञकेवली) बन जाता है किन्तु यह कहना कि 'ब्रह्म'से ब्राह्मण (जाति) उत्पन्न होते हैं यह गलत है, क्योंकि शरीर या कुल-जाति वंश सब पौद्गलिक हैं–पुद्गलकी रचना है, जो रजवीर्यादिकसे होती है। आत्मा उससे भिन्न है और नित्य अजन्मा है, अतः उसे कोई उत्पन्न नहीं कर सकता इत्यादि। फलतः गलत-धारणा निकाल देना चाहिये। यथार्थ बात यह है कि जो 'ब्रह्म' अर्थात् आत्माको पहिचान लेवे या जान लेवे, वह ब्राह्मण (भेदज्ञानी अन्तरात्मता सम्यग्दृष्टि) है। और जो ब्रह्मको यथार्थ न जान सके, वह अब्राह्मण (मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा) है। उसके पश्चात् जो रागादिक विकारीभावोंको भी, मिथ्यात्व (अज्ञान)के साथ निकाल देवे, उसको 'परमात्मा वीतरागी' कहते हैं। उसके—(१) सकलपरमात्मा (२) निकलपरमात्मा दो भेद होते हैं यथा अर्हन्त व सिद्ध जानना।

लौकिक जातियाँ—सब कुल (माता-पिता) व कर्म (व्यापारादि व स्वभाव) पर निर्भर

रहती हैं और उनका स्थायित्व नहीं है—सिर्फ वर्त्तमान जीवनतक ही वे रहती हैं। जैसे कि (१) जो पठन पाठन व संध्यावन्दन पूजा आदि कार्य करता है, वह ब्राह्मण कहलाता है। (शील-संतोषी) (२) जो हथयार आदि चलाता है देशकी रक्षा व शासन करता है वह क्षत्रिय कहलाता है। (उग्रस्वभावी तेज) (३) जो चीजोंका क्रय विक्रय या संचय करता है वह वैश्य कहलाता है। (सहनशील) (४) जो सबकी सेवावृत्ति करता है वह शूद्र कहलाता है इत्यादि (दीनवृत्ति)। परन्तु ये सब खानदानी या कुलपरम्पराकी चीजें नहीं हैं। जीवनमें हर कोई वैसे कर्म (व्यापार) कर सकता है व करते हैं तब स्थायित्व (नित्यत्व) कहाँ रहता है। ऐसी स्थितिमें जाति आदि अनित्य चीजोंका अहंकार क्यों करना ? नहीं करना चाहिये[1]। फिर भी ब्राह्मण मूलमें चार तरहके होते हैं—(१) कुलकृत-ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए। (२) ज्ञानकृत-विशेषज्ञानी-पठनपाठन करनेवाले श्रोत्रिय वेदपाठी। (३) क्रियाकृत कर्मकाण्डी (याज्ञिक) (४) तपःकृत–तपस्या करनेवाले। मत्स्यपुराणमें १० भेद माने गये हैं, उनमें नीचकर्मी भी बतलाए हैं। अतएव ये जाति कृत भेद थोथे हैं अमान्य हैं। कर्मसे हर एक जैसा चाहे बन सकता है। गुणकृत भेद जो ऊपर बतलाये हैं सम्यग्दृष्टि आदि वे सब समुचित व मान्य हैं व हो सकते हैं। भरतमहाराजने गुणकृत ब्राह्मणोंकी ही स्थापना की थी ऐसा समझना, किम्बहुना। लोकाचार रूढ़िरूप होता है वह मिथ्या है अस्तु।

तर्क और उसका खण्डन या युक्तिपूर्वक समाधान किया जाता है।

अनंगक्रीड़ाके विषयमें

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि[2][3]।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितंत्रत्वात्[4] ॥१०९॥

पद्य

वेद उदयकी उत्कटतासे जो अनंगमें रमता है।
उससे भी हिंसा होती है ज्ञानादिक गुण नशता है॥
इससे उसका भी क्षय करना मैथुनका है वह संगी[5]।
कारण राग एक है उसका अतः न करो उसे अंगी[6] ॥१०९॥

---

१. जन्मसे जाति माननेपर लोग अहंकारी बन जाते हैं, पुजापा कराते हैं तथा आलसी प्रमादी बन जाते हैं। खानदानी (जन्मजात) बनकर अत्याचार अन्याय करते हैं, गुणों व कर्मों (आचरणों) को नहीं बढ़ाते। मूर्ख कदाचारी होनेपर भी परमात्माका अंश मानते हैं, अतः जन्मसे जाति नहीं मानी जाती, गुणकर्मसे मानना चाहिये।

२. उद्रेक—तीव्रोदय वेदका वेग।

३. कामसेवनके अंगों (योनि) से भिन्न अंगों या स्थानोंको अनंग कहते हैं।

४. अधीन या आश्रय।

५. साथी।

६. स्वीकार।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अपि मदनोद्रेकात् यत् किंचित् अनंगरमणादि क्रियते] मैथुनके सिवाय तीव्र वेदके उदय (वेग) में जो कुछ अनंग क्रीड़ा की जाती है। अर्थात् प्राकृतिक काम सेवनके अंगोंको छोड़कर अन्य अंगों द्वारा (हस्तमैथुन-गुदामैथुन-पशुमैथुन आदि) मैथुन या कामसेवन किया जाता है। [तत्रापि रागाद्युत्पत्तितंत्रत्वात् हिंसा भवति] उसमें भी रागादिककी अधिकतासे हिंसा (भावहिंसा) होती ही है—अवश्य होती है। अतएव वह भी वर्जनीय है, पापका कारण होनेसे। जहाँ रागादिक रूप प्रमाद है वहाँ हिंसा अनिवार्य है ॥१०९॥

भावार्थ—शरीर भरमें जहाँ तहाँ जीवराशि पाई जाती है किन्तु गुप्त स्थानोंमें अधिक पाई जाती है, अतः द्रव्य हिंसाको बचानेके लिए उन स्थानोंका मैथुन कर्म छुड़ाया जाता है और उसके साथ-साथ अन्य स्थानोंका भी भावहिंसा बचानेके लिए त्याग कराया जाता है अर्थात् द्रव्य और भाव दोनों हिंसाओंके छूटने पर ही 'अहिंसा धर्म' का पालनेवाला जीव हो सकता है और तब मोक्ष जा सकता है इत्यादि, किम्बहुना।

इसी तरह श्रावकके एक देश संयम या व्रत पल सकता है अर्थात् अप्रयोजनभूत कुशीलके छोड़नेसे एवं प्रयोजनभूतके सेवन करनेसे कथंचित् अणुव्रती बन सकता है। अर्थात् जितने रागादिक घट जायेंगे व हिंसा कम हो जायगी, उतना ही व्रती वह हो जायगा और अभ्यास करते करते वह सबका त्यागकर पूर्णव्रती बन जायगा, यह लाभ है। इसीमें स्वदारसंतोष—परस्त्री त्याग आदि गर्भित हैं पश्चात् पूर्ण ब्रह्मचारी या ब्रह्मव्रती होता है। चरणानुयोगका यह क्रम है, जो विलम्बसे होता है, उसका नाम अन्तरंग त्याग है। अन्तरंग परिग्रह सब कषाय या विकाररूप है। साधक सभी बातोंका ध्यान रखता है और रखना चाहिये—भूलना उसका स्वभाव नहीं है—स्मरण रखना उसका स्वभाव है अस्तु। स्मरण करके त्रुटियोंको निकालना उसका कर्त्तव्य है किम्बहुना। वह हमेशा सावधानी रखता है कर्मधाराके समय भी वह आत्माको सतर्क करता रहता है या बुराईसे बचता रहता है अरुचि करवाता है ॥१०९॥

आचार्य श्रावकके लिए चौथे कुशीलपापके त्यागनेका क्रम बतलाते हैं।

एकदेश ब्रह्मचर्यको पालनेके लिए

ये निजकलत्रमात्रं[1] परिहर्तुं[2] शक्नुवन्ति न हि मोहात्[3]।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं[4][5] न तैरपि कार्यम् ॥११०॥

१. स्त्री-निजपत्नी।
२. त्याग न करना।
३. चारित्रमोहका उदय।
४. सम्पूर्ण स्त्रीमात्र।
५. स्त्रियाएँ। उक्तं च—

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥५९॥

पद्य

चरित मोह के तीव्र उदय से निज स्त्री न हि तज सकते।
उनका भी कर्त्तव्य यही है अन्य सभी को तज देते॥
मैथुन त्याग दो तरह होता निज स्त्री पर स्त्री का।
पर स्त्री के त्याग करे से एकदेश व्रत पलने का॥११०॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [ये मोहात् निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं न हि शक्नुवन्ति] जो त्रक चारित्रमोहके (वेदके) विशेष उदय से सिर्फ अपनी स्त्रीका त्याग नहीं कर सकते अर्थात् के सेवनमें ही सन्तुष्ट रहते हैं [तैरपि निःशेषशेषयोपिन्निषेवणं न कार्यम्] उनका भी कर्त्तव्य यही (मुख्य कर्त्तव्य है) कि वे अन्य सम्पूर्ण स्त्रीसमाजका (चेतन-अचेतन या देवी मानुषी तिर- ोंका) त्याग कर देवें, जिससे वे एकदेश ब्रह्मचारी अर्थात् कुशीलत्यागी बन सकते हैं यह त्पर्य है ॥११०॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्यका अनुपम व अद्वितीय महत्त्व है, अतएव उसका पूर्ण पालन करना तो ुमुक्षुका कर्त्तव्य है ही किन्तु जब वह पूर्ण पालन करनेमें असमर्थ हो अर्थात् चरित्रमोहके उदयसे स्त्रियोंका त्याग न कर सके तब अपवादरूपसे वह स्वदारसन्तोषी (निज स्त्री मात्रमें सन्तुष्टी कर बाकी सभी स्त्रीसमुदायका त्याग कर देवे, जिससे अणुव्रती या एकदेश ब्रह्मचर्य व्रतधारी बन जाय। यही अप्रयोजनभूतका त्यागी कहलाता है। जबकि सभी स्त्रियोंका संसर्ग नहीं हो कता (असंभव है) तब व्यर्थमें उनका त्याग क्यों नहीं कर देता—क्यों मुहमिल (अत्यागी- थिलाचारी) बना रहता ? यह शिक्षा है। निष्प्रयोजन चीजको पासमें रखनेसे क्या लाभ है ? छ नहीं, बुद्धिमानों विवेकियोंको उनका त्याग कर ही देना चाहिये ॥११०॥

व्रत प्रतिमा (दूसरी कक्षा) धारी श्रावक (नैष्ठिक श्रावक अणुव्रती) का कर्त्तव्य है कि ह १२ व्रतोंका पालन करे। उन्हीं बारहमें ४ चौथे नम्बरका कुशील त्याग है (अब्रह्मत्याग)। सके दो भेद या प्रकार हैं (१) स्वदारसन्तोष (२) परदारत्याग। यद्यपि स्वदारसन्तोषी स्वस्त्रीसेवी) के पूर्ण कुशील (विभाव) का त्याग नहीं होता तथापि परस्त्रीका त्याग कर देनेसे मसे-कम एकदेश कुशीलका त्याग हो जाता है अतः वह पूर्ण कुशीलसेवी नहीं माना जा सकता, पितु वह एकदेश कुशीलसेवी कहा जा सकता है। फलतः वह थोड़ा पापबन्ध करनेसे बच जाता यह लाभ होता है।

नोट—स्त्रीमात्रका त्यागी (स्वस्त्री-परस्त्री-बजारूस्त्रीका त्यागी) सप्तम प्रतिमाधारी हो र्णी या ब्रह्मचारी कहला सकता है। परन्तु वह भी अपूर्ण है जबतक कि त्रियोगसे व कृतकारित नुमोदनासे त्याग नहीं कर पाता। हाँ, श्रावकके आचारके अनुसार वह खाली दो भंगोंसे अर्थात् त व कारित से त्याग करनेपर अणुव्रती मध्यम ब्रह्मचारी कहला सकता है। इसका कारण केवल र द्रव्यका अर्थात् बाह्यवस्तुका (स्त्रीरूपका) त्याग है। उसीकी लोकमें इज्जत व प्रतिष्ठा है— र्थात् लोकमें बाह्य चीजोंका त्याग करने वालेको ही त्यागी या व्रती कहते हैं—यही तो एक देश

है (दोमेंसे अर्थात् अन्तरंग व वहिरंग इन दो परिग्रहोंमेंसे केवल एक परिग्रह अथवा वाह्यपरिग्रहका त्याग करना है)। १० वीं प्रतिमाधारी तीसरे अनुमोदना भंगसे भी त्याग कर देता है अतएव उसे उत्तमश्रावक कहते हैं, परन्तु वह भी तो वाह्यपरिग्रह मात्रका त्यागी होनेसे अपूर्ण त्यागी व अपूर्ण ब्रह्मचारी है अथवा एक देशत्यागी है। फलतः ११ वीं प्रतिमाधारी वारह व्रतोंके धारी सभी एक देश त्यागी हैं ऐसा समझना चाहिये, विचार किया जाय। रूढ़िकी वात (मान्यता) दूसरी होती है और शास्त्रकी वात (मान्यता) दूसरी होती है, किम्वहुना।

सागारधर्मामृतादिमें इस विषयमें विषमता पाई जाती है उसका यहाँपर निष्प्रयोजन और विवादकारक होनेसे विचार नहीं किया गया ऐसा समझना।

चारित्रके सम्वन्धमें

आगे अथावसर विचार किया जायगा—संक्षेपमें चारित्र, पर्यायरूप है और वह पर्याय द्रव्यके अनुरूप होना चाहिये अर्थात् जैसी द्रव्य हो वैसी पर्याय हो सव वह पर्याय चारित्र कहलावे। तदनुसार आत्मद्रव्य शुद्ध, रागादि दोष रहित वीतरागता गुणरूप है तव उसकी पर्याय भी तो वीतारागता रूप होना चाहिये, किन्तु रागरूप नहीं होना चाहिये, यह न्याय व सिद्धान्त है, उस चारित्र के धारण करनेका निषेध नहीं है—विधि है सो धारण किया जाय इत्यादि। प्रवचनसार अध्याय ३ में देखो।

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः चरणस्य सिद्धौ द्रव्यस्य सिद्धिः।
बुध्वेति कर्माविरताः परे ये द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ॥ १ ॥ टीकाकार

नोट—यहाँपर शुद्ध वीतराग चारित्र धारण करवानेकी योजना (प्रेरणा) की गई है। और अशुद्ध शुभराग रूप चारित्र धारण न करनेकी शिक्षा दी गई है ऐसा समझना और भी नियमसारमें इसी तरह 'द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षं। तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं। द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य'॥ सारांश यह कि चारित्र तो वह है जो वन्धको दूर करे अतः वह वीतरागता रूप है। और जो वन्ध करावे वह कैसा चारित्र ? अतः वन्धकारक शुभराग चारित्र नहीं हो सकता, वैसा मानना उपचार या व्यवहार मात्र है अस्तु।

परिग्रहपाप प्रकरण

आचार्य परिग्रहका स्वरूप वताते हैं।

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

पद्य

मूर्च्छा नाम परिग्रहका है पाप पांचवां कहलाता।
मोह उदयके कारणसे वह होता यह प्रभु वतलाता॥
मूर्च्छा ममता और परिग्रह नाम भेद उसके जानो।
मूल पदारथ एकहि है नहिं भेद रूप उसको मानो॥ १११॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं [या इयं मूर्च्छा नाम] जो यह मूर्च्छा है अर्थात् जिसको लोकमें मूर्च्छा नामसे कहा जाता है, [हि एषः परिग्रहः ज्ञातव्यः] निश्चयसे उसीका नाम परिग्रह है ऐसा समझना चाहिये अर्थात् मूर्च्छा और परिग्रहमें कोई भेद नहीं है। कारण कि [तु मोहोदयात् उदीर्णः ममत्वपरिणामः मूर्च्छा] क्योंकि मोहकर्मके उदयसे जो ममतारूप अर्थात् रागरूप (मेरा यह है) परिणाम (भाव) होता है उसीका दूसरा नाम 'मूर्च्छा' है। मूर्च्छाका अन्तरंग निमित्त-कारण मोहका उदय है॥ १११।

भावार्थ—मूर्च्छा नामका परिग्रह अन्तरंग परिग्रह कहलाता है और धनधान्यादि बाह्यपदार्थ, बाह्य या बहिरंग परिग्रह कहलाता है। जब पूर्णरूपसे दोनोंका त्याग हो जाता है तब जीव पूर्ण-त्यागी-निष्परिग्रही-वीतरागी कहलाता है या कहा जा सकता है। उसको किसी तरहकी इच्छा नहीं रहती, अन्यथा वह परिग्रही होनेसे मोक्ष नहीं जा सकता, यह तात्पर्य है। इच्छा, बांछा, अभि-लाषा, ममता, राग, द्वेषादि ये सब ही परिग्रहमें (अन्तरंगमें) शामिल हैं। उनके रहते हुए प्रमाद पाया जाता है जिससे द्रव्य और भावहिंसाका होना अनिवार्य है बस वही पाप है। अतएव यह परिग्रह त्याज्य ही है विकार या पर है किम्बहुना। ज्ञानी विवेकी जीव परिग्रहका त्याग अवश्य करें, क्योंकि वह संसारका कारण है। संसार व मोक्ष ये दोनों आत्माकी ही पर्याएँ हैं। आत्माकी विकारी पर्याय संसार है और शुद्ध पर्याय (विकार रहित पर्याय) मोक्ष है। फलतः बाह्य पदार्थोंके संयोगमें न संसार है, न उनके वियोग (त्याग) में मोक्ष है ऐसा समझना चाहिए इत्यादि।

उक्तं च— ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह॥१४८॥ समयसारकलश

अर्थ—ज्ञानी आत्माके पास कर्म, राग (रुचि या चिकनाई)का अभाव होनेसे परिग्रहपनेको प्राप्त नहीं होते अर्थात् अधिक समयतक नहीं ठहरते (वैराग्य परिणति होनेसे उनकी स्थिति अनुभाग घट जाता है और वे जल्दी नष्ट हो जाते हैं) जिस तरह बिना कषायले रसके (चिक-नाईके) कपड़ाका रंग जल्दी छूट जाता है अधिक समयतक नहीं टिकता, ऐसी विशेषता समझना चाहिए। विकार ही नुकसान पहुँचाता है। मूर्च्छा भी विकार है रागका भेद है॥१११॥।

नोट—सम्यग्दृष्टि जीव भोगोंको भोगता हुआ भी उनमें रुचि नहीं रखता, अपितु अरुचि रखता है वह उन्हें बिगारी की तरह भोगता है यह भाव है॥१११॥

आचार्य मूर्च्छा और परिग्रहके सम्बन्धमें होनेवाली शंकाका खण्डन कर समाधान करते हैं।

मूर्च्छा[1]लक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो[2] मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः[3]॥११२॥

---

१. ममता, चाह, राग, रुचि आदि सब विकारी भाव।

२. परिग्रहसहित अर्थात् परिग्रहवाला।

३. धनधान्यादि बाह्यपरिग्रह बिना।

पद्य

मूर्च्छा नाम परिग्रह का है–ऐसी व्याप्ति परस्पर है।
जहाँ मूर्च्छा पाई जाती–वहाँ परिग्रह निश्चित हैं॥
अतः विना धनधान्यादि के भी जिनके ममता होती हैं।
वे सब होत परिग्रह धारी व्याप्ति उसी से वनती हैं॥११२॥

अन्वय अर्थ--आचार्य कहते हैं कि [मूर्च्छालक्षणकरणात् परिग्रहत्वस्य व्याप्तिः सुघटा] अभी नं० १११ के श्लोकमें जो मूर्च्छा या परिग्रहका लक्षण बताया गया है वह दोष सहित अर्थात् अव्याप्ति दोषवाला नहीं है किन्तु व्याप्ति सहित निर्दोष है क्योंकि जहाँ-जहाँ मूर्च्छा (अन्तरंग परिग्रहरूप ममताभाव रुचि) पाई जाती है, वहाँ-वहाँ परिग्रह वरावर है। फलतः [किल शेष-सगेभ्यः विनापि मूर्च्छावान् सग्रन्थो भवति] निश्चयसे यदि--किसीके--बाह्य धनधान्यादि परिग्रह न भी हो और मूर्च्छा या ममता या रुचि या चाह हो तो अवश्य ही नियमसे वह परिग्रही समझा जाता है अर्थात् उसको परिग्रहवाला समझना चाहिए। कारण कि असली परिग्रह तो अन्तरंग-परिग्रह (विकारीभाव) कहलाता है। अतएव उपर्युक्त परिग्रहका लक्षण सुलक्षण है अर्थात् अति-व्याप्ति आदि तीनों दोषोंसे रहित है॥११२॥

भावार्थ--वाह्य धनधान्यादिको परिग्रह उपचार (व्यवहार) से माना गया है अर्थात् मूर्च्छाका निमित्तकारण होनेसे, उसका परिग्रह मान लिया है। असलमें परिग्रह ममत्व आदिरूप विकारीभाव हैं। ऐसी हालतमें यदि बाह्य परिग्रह (धनधान्यादि) किसीके न भी हो (जैसे गरीव मनुष्य, पशु-पक्षी आदि) परन्तु उसकी चाह (रुचि) या अभिलाषा होनेसे वह निःसन्देह परिग्रही है वह संसारका पात्र है। फलतः पहिले मूल (अन्तरंग) परिग्रहका त्याग करना चाहिए तभी वह परिग्रह त्यागी कहा जा सकता है। बाह्यपरिग्रह तो अपने-आप छूट जाता है या छूटा-सा है, कारण कि जव उसको ग्रहण करनेवाला या अपनानेवाला राग न होगा तव न काययोग ग्रहण-क्रिया करेगा (प्रयत्न या व्यापार न करेगा) न वचनयोग कुछ करेगा तव वहाँ जहाँका-तहाँ धरा रहेगा, इत्यादि फिर उसका ग्रहण कैसे होगा ? नहीं होगा, यह विचारिये। इसके सिवाय कदाचित् वह वाह्य परिग्रह वस्तु स्वभावसे स्वयं आ जाय या कोई दूसरा जीव पास पहुँचा देवे तो क्या विना रागके या स्वामित्वके उसका वह हो जायगा ? नहीं होगा ऐसा परस्पर संयोग-वियोग तो हर समय हर एकके होता ही रहता है। परन्तु वह अपराधी या चोर परिग्रही नहीं हो जाता, जब-तव राग या रुचि न हो। फलतः विना ममता (मूर्च्छा) के कोई परिग्रही नहीं होता यह तात्पर्य है। अस्तु। आगे इसीके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर किया जायगा॥११२॥

परिग्रहके पूर्वोक्त लक्षण करनेसे सिर्फ अन्तरंग परिग्रह ही मुख्यतया परिग्रह सिद्ध होता है और वही हिंसा पापका कारण माना जा सकता है अतएव उसीको मानना चाहिये, शेष दश प्रकारकी धनधान्यादि वाह्य वस्तुओंको परिग्रह मानना व्यर्थ है ? उनको परिग्रह नहीं मानना चाहिये (वाह्यके १० भेद हैं) इसका समाधान आचार्य करते हैं।

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंगः ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छा निमित्तत्वम् ॥११३॥

पद्य

मुख्य परिग्रह मूर्च्छा ही हैं, इसमें करना नहीं विकल्प ।
फिर भी बाह्य परिग्रह माना, व्यवहर नयसे कर संकल्प ॥
कारण उसमें निमित्तता है, मूर्च्छादिकके होनेमें ।
अतः त्यागना उसका भी है, निर्विकल्पता होनेमें ॥११३ ।

अन्वय अर्थ—आचार्य करते हैं कि शंकाकारका यह कहना सर्वथा सत्य नहीं है कि [यदि एवं सदा खलु कोऽपि बहिरंगः परिग्रहः न भवति] यदि मूर्च्छाको ही (अन्तरंगचोज विकारको ही) मुख्य परिग्रह माना जाय या मानते हो तो निश्चयसे बाह्य परिग्रह कुछ भी न बनेगा (असिद्ध रहेगा) अर्थात् बाह्य परिग्रहका मानना व्यर्थ सिद्ध होगा (निष्फल है)। किन्तु उक्त तर्कका उत्तर (समाधान) यह है कि वैसा नहीं है [यतोऽसौ मूर्च्छा निमित्तत्वं नितरां धत्ते] कारण कि बाह्य वस्तुएँ भी परिग्रहरूप (लगावरूप) मानी जाती हैं (उनका खंडन नहीं किया जा सकता) क्योंकि वे मूर्च्छाके होनेमें हमेशा निमित्त कारण होती हैं अर्थात् उनके रहते हुए मूर्च्छा होती है। अतएव व्यवहारनयसे निमित्तताकी वजहसे वे भी परिग्रहरूप हैं इत्यादि समाधान है ॥ ११३ ॥

भावार्थ—आजकल प्रायः लोगोंकी दृष्टि निमित्तोंकी ओर मुख्यतासे हो रही है—निमित्तको ही सर्वेसर्वा मान रहे हैं अर्थात् निमित्तसे हो सब कुछ कार्य होता है यह धारणा बन गई है जो अभूतार्थ है (व्यवहारमात्र है)। निश्चयसे उपादान ही सर्वेसर्वा (सबकुछ मूल कारण) है ऐसा समझना चाहिये। परन्तु अज्ञानी जीव बाह्य धनधान्यादि सब या आरंभ (साधन) को ही परिग्रह मानते हैं, अन्तरंग मूर्च्छा परिणामको परिग्रह नहीं मानते, क्योंकि वह दृष्टिगोचर नहीं होता अतः वे भ्रममें पड़ जाते हैं। यदि उनका मानना सत्य होता तो बाह्य परिग्रहसे रहित पशुपक्षी मनुष्य सभी मोक्ष चले जाते, क्योंकि मोक्षका कारण निर्ग्रन्थता (परिग्रह रहित-पना) बतलाया है। परन्तु वैसा नहीं होता—वह सब विपरीतता है। अतः असली परिग्रह तो अन्तरंग मूर्च्छा ही है किन्तु निमित्तरूप होनेसे बाह्य धनधान्यादि भी व्यवहार या उपचारसे परिग्रह माने गये हैं। फलतः मुख्यतया अन्तरंग परिग्रहका त्याग करना जरूरी है। बाह्य तो भिन्न है ही, उसके छोड़नेमें क्या देरी या अड़चन है ? कुछ नहीं, वह आसानी (सरलता) से छूट सकता है 'मूलाभावे कुतः शाखा' यह न्याय है। परन्तु अन्तरंग परिग्रहका छोड़ना कठिन है और वही हिंसाके साथ व्याप्ति रखता है—बाह्य नहीं यह तात्पर्य है अस्तु।

नोट—बाह्य परिग्रहका दूसरा अर्थ, बाह्य अर्थात् दृश्यमान पदार्थ, उनका परिग्रह अर्थात् त्रियोगसे या एकत्व मानकर ग्रहण करना—बाह्यपरिग्रह कहलाता है, सो वह कब होता है जबकि अन्तरंग कारण हो, वह अन्तरंग कारण मूर्च्छा (मिथ्यात्व) या रागादि परिणाम हैं, अतएव

सच्चा परिग्रह वही सिद्ध होता है किम्बहुना । 'यत्र२ मूर्च्छा तत्र२ परिग्रहः (ग्रहणं)' ऐसी व्याप्ति बराबर बनती है । उपचार या आरोप कई तरहके होते हैं (१) कारण (निमित्त) में कार्यका आरोप—जैसे 'अन्नं वै प्राणाः' (२) कार्यमें कारणका आरोप—जैसे उजेलेको दीपक कहना इत्यादि यथायोग्य संगति बिठालना चाहिये । यहाँपर बाह्य परिग्रहमें निमित्तता इस प्रकार है कि उसके रहते हुये मूर्च्छा या ममत्वरूप परिणाम हुआ करते हैं बस इतना ही सामान्य निमित्त नैमित्तिक-पना परस्पर पाया जाता है और कुछ विशेष नहीं पाया जाता, यह तात्पर्य है । अतएव निमित्तता (लगाव) की दृष्टिसे बाह्य धनधनयादि परिग्रह भी त्याज्य है—त्यागा जाना अनिवार्य है ।। ११३ ।।

मूर्च्छाको परिग्रहका लक्षण माननेमें अतिव्याप्ति दोष (वादीके तर्कके अनुसार) नहीं आता, यह बताया जाता है ।

एवमतिव्याप्तिः स्यात् परिग्रहेस्येति चेद् भवेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ।।११४।।

पद्य

केवल परके आनेसे यदि परिग्रहवान् कहा जावे ?
बिना कषाय कर्म आने पर वीतराग भी बँध जावे ।।
पर ऐसा नहीं होत विपर्यय, मूर्च्छा ही परिग्रह होता ।
बिन मूर्च्छा के दोष न आता, अतिव्याप्तिका भ्रम थोता ।।११४।।

अन्वय अर्थ—वादी कहता हैं कि जैन शासनमें जो परिग्रहका लक्षण (मूर्च्छा) किया गया है, उसमें 'अतिव्याप्ति' दोष आता है कारण कि वह परद्रव्यके ग्रहण या संग्रह करने रूप है । ऐसी स्थितिमें उत्तर दिया जाता है—

[चेत् एवं परिग्रहस्य अतिव्याप्तिः स्यात्] आचार्य कहते हैं कि यदि तुम ऐसा कहते हो (शंका करते हो) कि पूर्वोक्त परिग्रहका लक्षण अतिव्याप्ति दोष सहित है क्योंकि अलक्ष्य (कषाय रहित वीतरागियों) में वह चला जाता है (लागू हो जाता है) अर्थात् वे भी कर्मनामक परद्रव्य-का ग्रहण करते हैं । इसका खण्डन (आचार्य) करते हैं कि [नैवं भवेत् यस्मात् अकषायाणां कर्म-ग्रहणे मूर्च्छा नास्ति] इस प्रकार अतिव्याप्ति दूषण नहीं है न हो सकता है कारण कि राग—कषाय रहित वीतरागियोंके मात्र कर्मोंका ग्रहण होना परिग्रह नहीं कहा जा सकता इसलिए कि वह मूर्च्छा (राग-कषाय) पूर्वक नहीं होता, खाली योगके द्वारा होता है । अतएव अतिव्याप्ति दूषण लागू नहीं होता, वह ख्याल गलत (थोथा) है । इसके सिवाय परिग्रहका विचार व कथन सरागियों (सकषायों) के माध्यमसे है, उन्हीं में दोष ढूँढ़ना चाहिये जो सपक्षरूप हैं ।।११४।।

भावार्थ—जहाँका कथन हो वहीं करना चाहिए तब फिट बैठता है । परिग्रहका कथन परि-ग्रहियोंमें ही लगाना (जोड़ना) चाहिये, न कि अपरिग्रहियों (कषायरहितों) में । तथा निश्चय या अन्तरंग परिग्रहके विचार करते समय बहिरंग या व्यवहार परिग्रहसे दोष देना व्यर्थ है । उसकी

व्याप्ति कदापि नहीं मिल सकती तब व्यर्थका विवाद क्यों करना ? विना कषायके मूर्च्छा नामका परिग्रह नहीं होता—योगजन्य परिग्रह अर्थात् परद्रव्यका आगमन या सम्बन्ध या संचय, परिग्रहका रूप धारण नहीं करता—वह ऊपर२ अतराता जैसा रहता है। समवशरणादिकी अपार विभूति अर्हन्त देवका परिग्रह नहीं माना जाता है, वह तो भक्तोंका कर्त्तव्य है—उससे वे ही परिग्रही होते हैं ऐसा समझना चाहिये। फलतः अतिव्याप्तिका लक्षण विरागियोंमें परिग्रहको लेकर घटित नहीं होता। किम्बहुना—

नोट—इसी तरहका सामंजस्य (समन्वय) श्लोक नं० १०५ में पेश्तर बैठाया गया है। अतएव उसको वारीकीसे समझना चाहिये। दोनों श्लोकोंका एक ही लक्ष्य है और वह संसारी रागी द्वेषी जीवोंकी अपेक्षा है। कारण कि उक्त पाँच पापों एवं उनके त्याग आदिकी चर्चाका आधार गुणस्थान व मार्गणास्थान हैं और वे सब संयोगी पर्यायमें औपशमिकादि ५ पाँच भावोंसे सम्बन्ध रखते हैं, उन्हींकी अपेक्षा गुणस्थान मार्गणास्थान बने हैं। मूलकारण पाँच भाव हो हैं (षट्खंडागम पुस्तक १)

अन्तमें परिग्रहके भेद बतलाये जाते हैं।

स्पष्टीकरणार्थ

अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥११५॥

पद्य

मूलभेद दो हैं परिग्रहके अन्तरंग बहिरंग जानो।
अन्तरंगके भेद चतुर्दश, बहिरंगके दो भिद मानो॥
सब मिलकर सोलह[1] होते हैं—क्रमसे इसका त्याग करे।
परिग्रह रहित होय जब प्राणी मुक्तिवधू तब उसे वरे॥११५॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अतिसंक्षेपात् स द्विविधः—आभ्यन्तरः बाह्यश्च] संक्षेपमें वह परिग्रह दो प्रकारका होता है (१) आभ्यन्तर या अंतरंग परिग्रह (२) बाह्य या बहिरंग परिग्रह। [प्रथमः चतुर्दशविधो भवति] प्रथम अर्थात् अन्तरंग परिग्रहके चौदह भेद होते हैं। [तु द्वितीयः द्विविधः भवति] और द्वितीय अर्थात् बहिरंग परिग्रहके दो भेद होते हैं। कुल १६ भेद समझना जो आगे बताए जानेवाले हैं ॥११५॥

भावार्थ—परिग्रह मूलमें दो प्रकारका होता है अन्तरंग और बहिरंग। इनमेंसे वादी (अन्यमती) केवल बाह्य परिग्रहको ही जानता व मानता है, अन्तरंग परिग्रहको नहीं जानता

---

१. विस्तारसे २४ भेद हैं अर्थात् अंतरंग परिग्रहके १४ भेद और बाह्यपरिग्रहके १० भेद कुल २४ भेद होते हैं।

मानता तभी वह तर्क (शंका) करता है। खास बात यह है—यह स्पष्टीकरण है। संभवतः अब आगे वह तर्क न करेगा इत्यादि। बाह्य परिग्रह नाममात्रका है, वह अकेला (विना अन्तरंग परिग्रहके) कुछ विगाड़ सुधार नहीं कर सकता। वह खाली देखनेमात्र विजूकाके समान है। परन्तु शैतान कुछ न करे पर हलाकान करता है, इस न्यायसे उसका भी त्याग करना ही चाहिये। क्योंकि परवस्तुका संयोग भी वुरा होता है। संयोगके छूटनेपर ही अर्थात् वियोगके होनेपर ही मुक्ति होती है। अन्तमें यह उदाहरण है इसे समझना। किम्वहुना—बाह्य परिग्रहका लगाव अन्तरंग परिग्रहके साथ निमित्तरूपसे माना जाता है। इति ॥ ११५ ॥

अन्तरंग परिग्रहके १४ भेद बताए जाते हैं।

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तराः ग्रन्थाः ॥११६॥

पद्य

पहिला भेद मिथ्यात्व अरु वेदत्रय पहिचान।
चार कषाय मिलाय पुन नोकषाय छह जान॥
सब मिलाकर चौदह भये, अन्तर परिग्रह भेद।
इन सबको निखारना[1], इनसे होता खेद[2] ॥११६॥

अन्वय अर्थ—[मिथ्यात्ववेदरागा] मिथ्यात्त्व और रागरूप तीन वेद (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) [तथैव हास्यादयः षट् दोषाः] और हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा, ये छह नोकषाएं [च चत्वारः कषायाः] और क्रोध मान माया लोभ, ये चार कषाएं, [चतुर्दशाभ्यन्तराः ग्रन्थाः] ये कुल मिलाकर १४ चौदह अन्तरंग परिग्रह होते हैं। अर्थात् इनका अस्तित्त्व भीतर आत्माके प्रदेशोंमें पाया जाता है, बाहिर आकार प्रकारसे जाहिर नहीं होते इत्यर्थः ॥ ११६ ॥

भावार्थ—उपर्युक्त १४ भेद सब मूर्च्छा अर्थात् रागद्वेष मोहरूप होनेसे अन्तरंग परिग्रहमें शामिल हैं—उनमेंसे एकके भी रहते मोक्ष नहीं होता यह नियम है। फलतः सभीका निर्मूल त्याग होना चाहिए इत्यादि। इसीका नाम निर्ग्रन्थता या निष्परिग्रहपना है जो साक्षात् मुक्तिका कारण माना जाता है, ऐसा जीव ही निकट संसारी समझना चाहिये। किम्बहुना—

आगे बहिरंग परिग्रहके दो भेद बतलाए जाते हैं—जिनसे हिंसा होती है।

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ ।
नैषः कदापिसंगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम् ॥११७॥

---

१. निकालना, त्यागना चाहिये।
२. दुःख या संसार।

पद्य

वाह्य परिग्रह दो प्रकार है—जीव अजीव उसे जानो।
उसके रहते राग होत है—हिंसा उसको पहिचानो॥
परिग्रह हिंसा व्याप्ति कहा है, इसमें झूठ नहीं कोई।
ऐसा परिग्रह कोई नहीं है, जिसमें हिंसा नहिं होई॥११७॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अथ वाह्यस्य परिग्रहस्य निश्चित्तसचित्तौ द्वौ भेदौ] इसके बाद अर्थात् अन्तरंग परिग्रहके कथन करनेके पश्चात्, बहिरंग परिग्रहके अचित्त (जड़) और सचित्त (चेतन) ये दो भेद मूलमें होते हैं। इनमेंसे [सर्वोऽपि एषः संगः कदापि हिंसां न अतिवर्त्तते] कोई भी परिग्रह ऐसा नहीं है जिसमें हिंसा (साक्षात् या परंपरया, प्रत्यक्ष या परोक्ष) कभी न होती हो ? अर्थात् सर्वदा होती है—अनिवार्य है॥ ११७॥

भावार्थ—परिग्रहको और हिंसाकी पक्की व्याप्ति है (अविनाभाव नियम है) कभी टल नहीं सकती। अतएव अन्तरंग परिग्रह हो या बहिरंग परिग्रह हो बराबर मूर्च्छारूप होने व उसका निमित्त होनेसे हिंसाका होना अनिवार्य है। बाह्यपरिग्रह मूर्च्छा (अन्तरंग परिग्रह)का निमित्तकारण होता है। अतः वह भी हेय है। सामान्यतः वाह्यपरिग्रहके अन्यत्र (१) सचित्त (२) अचित्त (३) मिश्र ऐसे तीन भेद माने गये हैं। जैसेकि क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्ण धन धान्य दासी दास कुप्य भांड (वस्त्र और बर्त्तन) इनमें सिर्फ दासीदास चेतन हैं, शेष आठ अचेतन हैं ऐसा समझना चाहिये। अस्तु॥ ११७॥

आगे आचार्य उपसंहार (सारांशरूप) कथन करते हैं।

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः[1] सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविधपरिग्रहवहनं[2] हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः[3]॥११८॥

पद्य

साररूप यह कथन किया है आगमके ज्ञाताओंने।
हिंसा और अहिंसा दोनों–भेद किये हैं परिग्रह ने॥
दोनों रहत परिग्रह जिनके–हिंसा उनके होती है।
नहिं परिग्रह जिनके होता–अहिंसा उनसे पलती है॥११८॥

अन्वय अर्थ—[जिनप्रवचनज्ञाः आचार्या–उभयपरिग्रहवर्जनमहिंसेति सूचयन्ति] जिनागमके-ज्ञाता आचार्य, दोनों तरहके परिग्रहका त्याग कर देना सो 'अहिंसा धर्म है' और [द्विविध

---

१. छोड़ना-त्यागना।
२. ग्रहण करना।
३. आगम या जिनवाणीके जानकार।

परिग्रहवहनं, हिंसा इति सूचयन्ति] दोनों तरहके परिग्रहको धारण करना (संग्रह करना या आसक्त रहना) सो 'हिंसा' है ऐसा सारांश कहते हैं, अर्थात् यह संक्षेप कथन है ऐसा समझना चाहिए ॥ ११८ ॥

भावार्थ—अनादिकालसे दोनों प्रकारका परिग्रह जीवोंके साथ संयोगरूपसे मौजूद रह रहा है, उसीकी वदौलत संसारसे पार नहीं हो पाते। जव वह निःशेष (पूर्णरूप) छूट जाता है तभी जीव मुक्त या संसारसे पार होता है। इसका रहस्य यह है कि जवतक परिग्रह साथ रहता है तवतक हिंसापाप लगता रहता है अर्थात् 'अहिंसाधर्म' परिपूर्ण नहीं होता और विना उस धर्मके पूर्ण हुए वह जीव मोक्ष नहीं जा सकता—संसारमें ही निवास करता है। वह अहिंसाधर्म, आत्मा या जीवका स्वभाव है और हिंसा अथवा परिग्रह जीवका विभाव है। तव उसके रहते हुए स्वभाव प्राप्त नहीं हो सकता, परस्पर विरोधी होनेसे। इसीलिये शुद्धोपयोगको ही—वीतरागतारूप अहिंसक स्वभावभावको ही, मोक्षका कारण अध्यात्मशास्त्रोंमें वतलाया गया है। शुद्धका अर्थ है विकारसे रहित आत्माका परिणाम (भाव) जो कि ज्ञानानन्द स्वरूप है। फलतः उस शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके लिये संयोगी पर्यायमें अन्तरंग विकारीभाव (मिथ्यात्वादि १४ प्रकार परिग्रह) और उनके निमित्तभूत १० दशप्रकारके या संक्षेपमें सचित्त (चेतन) अचित्त (जड़) दो प्रकारके वहिरंग परिग्रहका त्याग अवश्य करना चाहिये तभी प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है, नान्यथा इति

'अहिंसा'का उद्‌गमस्थान या आयतन आत्मा ही है परन्तु वह तव प्रकट होता है जव कि संयोगी (साथी) विकार अन्तरंग व निमित्त वहिरंग दूर हों। वस उसीके लिये पुरुपार्थकी आवश्यकता मानी गई है। अतः उसे करना ही चाहिये परन्तु निमित्तमान करके, उपादान नहीं, यह लक्ष्य रखना नितान्त आवश्यक है। किम्वहुना।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके परिग्रहपनेमें पूर्व पश्चिम जैसा अन्तर (भेद) रहता है (१) सम्यग्दृष्टि वाहिर परिग्रही देखनेमें आता या लगता है। किन्तु भीतर परिग्रही नहीं है। कारण कि वह परवस्तु मात्रसे विरक्त रहता है—अरुचि रखता है, होनेका विषाद (दुःख) करता है—पुष्कर पलाशवत् निर्लिप्त रहता है। अतः कथंचित् परिग्रही नहीं है और मोक्षमार्गी है। तथा मिथ्यादृष्टि वाहिर भीतर दोनोंसे परिग्रही है, उसको भेदज्ञान न होनेसे सवको अपना ही मानता है कभी उन्हें त्याज्य नहीं समझता, न अरुचि करता है। निरन्तर उनमें रुचि या राग करता हुआ मस्त रहता है। अतः वह मोक्षमार्गी-निष्परिग्रही नहीं है, प्रत्युत संसारमार्गी है। इत्यादि ॥११८॥

आचार्य—अन्तरंग और वहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहोंमें हिंसा वतलाते हैं।

निमित्त नैमित्तिक सम्वन्धसे

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरंगसंगेपु।
वहिरंगेपु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम् ॥११९॥

पद्य

हिंसाकी पर्याय कहेसे यदि हिंसा मानी जावे।
अन्तरंग परिग्रहमें मित्रो ! बाह्य परिग्रहमें धावे॥
जब कोई जन बाह्य वस्तुको ग्रहण करे मन ललचावे।
वही रूप हिंसाका जानो—शंका सबकी मिट जावे॥११९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अन्तरंगसंगेषु हिंसापर्यायत्वात् हिंसा सिद्धा] यदि कोई अन्तरंग परिग्रहमें हिंसाकी पर्याय होनेसे, हिंसाका होना मान लेता है। (मंजूर करता है) (कोई विवाद न हो) तो फिर [तु बहिरंगेषु संगेषु मूर्च्छा नियतं–हिंसात्वं प्रयातु] बहिरंग परिग्रहमें जो मूर्च्छा (ममता आदि) होती है बस वही तो हिंसा है। अतएव निमित्तताको अपेक्षासे बाह्य परिग्रहकी नाईं (तरह) हिंसा निर्विवाद सिद्ध होती है—यह सबको मानना चाहिये॥११९॥

भावार्थ—मूर्च्छाका होना ही हिंसा है, सो वह मूर्च्छा अन्तरंग परिग्रहमें भी होती है (रागद्वेषादिभावरूप) और बाह्य परिग्रहमें भी होती है। तब दोनोंमें समानता होनेके कारण दोनों ही परिग्रह हेय हैं। क्योंकि हिंसारूप कार्य दोनों करते हैं। आत्मामें मूर्च्छा अर्थात् राग-परिणति, स्वयं ही उदयमें आती है (प्रकट ही है) और परवस्तु (बाह्यवस्तु के दर्शन, स्पर्शन, ग्रहण आदि निमित्तसे भी उदीरणारूप नैमित्तिक होती है, यह तात्पर्य है। अस्तु, हिंसा दोनों तरहसे होती है अर्थात् स्वयं उदयमें आनेपर या दूसरोंके द्वारा उदयमें लानेपर, उसमें अन्तर कुछ नहीं होता। ऐसा समझना चाहिये। स्वाभाविक या नैमित्तिक दो भेद अवश्य माने गये हैं, जो कारणताकी अपेक्षासे हैं, कार्यकी अपेक्षासे नहीं हैं। अस्तु, उक्त समाधान सही है व मान्य है इतिभावः।

निष्कर्ष—अध्यवसायभाव (विकारोभाव) सर्वथा त्याज्य हैं क्योंकि आत्मामें बन्धके साक्षात् कारण वे ही हैं, (उससे आत्मा स्वयं बँध जाती है) परन्तु वे भी कर्मबन्धके प्रति निमित्तरूप ही हैं। निश्चयसे उपादानरूप कार्माणद्रव्यगत रूप रस गंध स्पर्श ही हैं। अतएव रागादिरूप अध्यवसानभावोंको कर्मबन्धका कारण मानना उपचार या व्यवहार है। और आत्मबन्ध (जीव-बन्ध)के प्रति रागादि विकारीभावों (अध्यवसानों)को कारण मानना अशुद्धनिश्चयनयसे सत्य है (भूतार्थ है) उपचार या व्यवहार नहीं है। तब बाहिरी बाह्य कारण (पर द्रव्यें-इन्द्रियविषय) सब निमित्त कारण हैं इत्यादि। अतएव वे बाह्य निमित्त स्वयं हिंसारूप नहीं हैं किन्तु हिंसाके निमित्त हैं लेकिन कब जब उनके जरिये रागादिक विकार होवें तब, अन्यथा नहीं हैं ऐसा सारांश समझना चाहिये। किम्बहुना—जो जीव सिर्फ बाह्य वस्तुओंके वियोग करने (कारणवश त्यागने) को ही मुख्यत्याग मानते हैं व उनके त्यागसे त्यागी होना मानते हैं वे एकान्ती–अज्ञानी हैं यतः तत्त्वज्ञानपूर्वक मुख्यत्याग विकारों (कषायों)का त्याग करना है॥११९॥

शंकाकार (वादी) शंका करता है कि यदि मूर्च्छाका नाम परिग्रह रखा जावे तो फिर परिग्रहमें कोई भेद न होगा—सभी जीव एकसे परिग्रहवाले समझे जावेंगे ?

इसका उचित समाधान आचार्य करते हैं।

एवं न विशेषः स्यात् उन्दररिपुहरिणशावकादीनाम् ।
नैवं, भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण ॥१२०॥

पद्य

परिग्रहमें भी भेद होत है, नहीं एकसा होता है।
तीव्र मन्द इत्यादिक बहुविध, फल वैसा ही लगता है॥
इसीलिये बिल्ली अरु बच्चा हिरणीके परिणामोंमें।
तीव्रमन्दता देखी जाती–उनके खाद्यपदार्थोंमें ॥१२०॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि मूर्च्छा (रागादि)को परिग्रह माननेपर भी [एवं उन्दररिपुहरिणशावकादीनां विशेषः नस्यात्] यदि बिल्ली और हरिणके बच्चेके परिग्रहमें कोई भेद (अन्तर) न रहेगा—एकसा माना जायगा ऐसा वादीका तर्क ठीक नहीं है। आगे उसीका खंडन करते हैं [नैवं, तेषां मूर्च्छाविशेषेण विशेषः भवति] कि वादीका कहना (तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि बिल्ली और हरिणके बच्चेकी मूर्च्छा (परिग्रह)में बड़ा अन्तर (भेद) पाया जाता है और प्रत्यक्ष देखनेमें भी वैसा आता है कि एकसी मूर्च्छा नहीं होती। जिसका खुलासा भावार्थमें आगेके श्लोकमें बताया जाता है ॥१२०॥

भावार्थ—मूर्च्छा, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम और मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक प्रकारकी होती है अतएव परिग्रह भी अनेक प्रकारका समझना चाहिये। देखो बिल्लीके अत्यन्त तीव्र मूर्च्छा होती है, तभी वह मारखानेपर भी अपना शिकार (चूहा या दूध आदि)को नहीं छोड़ती और हरिणका बच्चा जरा भी आहट आनेपर अपना खाद्य (घास वगैरह) और स्थान छोड़कर भाग जाता। है अतः उसके मन्दमूर्च्छा है। इति। इसीका स्पष्टीकरण (परिग्रहमें भेद) आगे आचार्य स्वयं कर रहे हैं। अस्तु ॥१२०॥

आचार्य आगे परिग्रहमें हीनाधिकता बतलाते हैं।

हरिततृणांकुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा ।
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥१२१॥

पद्य

हरितघासके खानेवाले मृगमें मूर्च्छा कम होती।
चूह समूह मिटानेवाली बिल्ली मूर्च्छा बहु धरती॥
अतः उसीसे हिंसा होती, कमवढ़ भेद रूप जानो।
परिग्रहमूल दुःखका कारण, त्याग अहिंसा पहिचानो ॥१२१॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हरिततृणांकुरचारिणि मृगशावके मूर्च्छा मन्दा भवति] हरे घासको खानेवाले मृग (हरिण) के बच्चेमें मूर्च्छा मन्द अर्थात् कमती या मामूली होती है और [उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव तीव्रा जायते] चूहोंके समुदाय (कुल) को खानेवाली बिल्लीमें वही मूर्च्छा तीव्र (अधिक) होती है। इस तरह मूर्च्छा अनेक तरहकी होती है—एक तरहकी (समान) नहीं होती, यह तात्पर्य है ॥१२१॥

भावार्थ—असंख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके भेद हैं—उत्तम मध्यम जघन्यादिके भेदसे। अतएव जैसे जिसके परिणाम (मूर्च्छारूप भाव) होते हैं वैसा ही फल उनको मिलता है अर्थात् उन परिणामोंके अनुसार हिंसा पाप लगता है और नवीन कर्मोंका बन्ध भी कम बढ़ होता है, एवं फल स्वरूप दुःख आदि भी कमबढ़ होता है ऐसा समझना चाहिए। तीव्र मन्द मूर्च्छा (आसक्ति या राग) का परिचय बाहिर देखनेमें भी बिल्ली व मृगके बच्चोंमें खुलासा आता है। बिल्लीके बच्चेमें अत्यन्त आसक्ति रहती है क्योंकि वह अपनी शिकारमें या दूध वगैरहके पीनेमें इतना मस्त आसक्त या गृद्ध रहता है कि डंडा वगैरह मार पड़ने पर भी उसे नहीं छोड़ना चाहता, जिससे मालूम पड़ता है कि उसके अत्यन्त तीव्र मूर्च्छा है। तथा हरिणके बच्चेमें इतनी कम (मन्द) मूर्च्छा है कि वह थोड़े से भय या खटका मालूम होने पर तुरन्त खाना (घास) छोड़कर भाग जाता है। इस तरह दोनोंका प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। तदनुसार दोनोंको कमबढ़ हिंसा पाप लगता है और पापका बन्ध भी वैसा ही होता है। अतएव मूर्च्छा (ममता) त्यागने योग्य ही है, चाहे वह मनुष्य या पशु किसीके भी हो वह आफतका ही घर (स्थान) है। अस्तु, उक्त प्रकारसे वादीका तर्क (समानताका) खंडित हो जाता है॥ १२१॥

आचार्य कहते हैं कि निश्चयसे मूर्च्छामें तरतमभाव (हीनाधिकता) स्वभावतः (प्राकृतिक) होता है वह कृत्रिम या नैमित्तिक नहीं है, परन्तु व्यवहारसे वैसा कहनेमें आता है जो उपचार है। चेतन अचेतन वस्तुमें तरतम भाव (परिणमन) निराबाध (अप्रतिहत) रहता है यथा—

निर्बाधं[1] संसिद्धचेत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।
औधस्यखंडयोरिव माधुर्यप्रीतिभेद इव ॥१२२॥

पद्य

कार्य विशेष होत है वैसा—जैसा कारण होता है।
कारण के अनुसार कार्य का होना जग विख्याता है॥
दूध खाँड़ दोनों ये कारण[2], प्रीति भेद के करता है।
जैसा मीठा तैसी प्रीति नहिं विवाद कोई धरता है॥१२२॥

---

१. बाधा रहित, निर्विवाद, स्वभावतः।
२. पदार्थ या द्रव्यें।

अभीतक आचार्य देवने समुदायरूपसे अन्तरंग परिग्रहका कार्य बताया है। आगे प्रत्येक कषाय व कर्मका पृथक्-पृथक् कार्य बताते हैं। न्यायदृष्टिसे विश्लेषण करते हैं।

तत्त्वार्थाश्रद्धाने[1] निर्युक्तं[2] प्रथममेव मिथ्यात्त्वम् ।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च[3] चत्त्वारः ॥१२४॥

पद्य

तत्त्वार्थ श्रद्धा उलटती हैं, उदय जब मिथ्यात्त्वका।
अरु सुभश्रद्धा होत नाहीं, उदय[4] होय अनंतका ॥
इस भाँति अन्तर कर्मका दो कार्य करते हैं पृथक्।
उनको पृथक् करना अहो! पुरुषार्थ सच्चा वह अर्थक[5] ॥१२४॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [प्रथमेव तत्त्वार्थाश्रद्धाने मिथ्यात्त्वं नियुक्तं] हमने सबसे पहिले अन्तरंग परिग्रह मिथ्यात्त्वका कार्य, जीवादि प्रयोजनभूत सात तत्त्वोंमें विपरीत (उल्टी) श्रद्धाका होना बतलाया है (कहा है श्लोक नं० २२ में) सो जानना परन्तु अब अनतानुवंधी कषाय (अन्तरंग परिग्रह) का कार्य बताते हैं कि [चत्त्वारः प्रथमकषायाः सम्यग्दर्शनचौराः] अनंतानुवंधी कषायके चारों भेद सम्यग्दर्शनको चुराते हैं अर्थात् सम्यक्श्रद्धा या सम्यग्दर्शन नहीं होने देते (रोकते हैं) यह कार्य भेद दोनोंका है ॥ १२४ ॥

भावार्थ—न्यायदृष्टिसे दो परिग्रहके या कर्मके दो पृथक्-पृथक् कार्य होते हैं, दोनोंका कार्य एक नहीं है। अन्यथा एक व्यर्थ सिद्ध हो जायगा यह आपत्ति आती है। यह विचित्र विश्लेषण आचार्य महाराजने (अद्वितीय) किया है। वे कहते हैं कि 'मिथ्यादर्शन' नामका परिग्रह (कर्म) जीवोंकी श्रद्धा—(प्रयोजनभूत सात तत्त्वोंमें) विपरीत करता है (विधिरूप कार्य करता है) और अनंतानुवंधी कषाय नामक अन्तरंग परिग्रह—(कर्म) (प्रयोजनभूत सात तत्त्वोंमें) सम्यक् श्रद्धा (सम्यग्दर्शन)को रोकता है अर्थात् नहीं होने देता (निषेधरूप कार्य करता है)। इस प्रकार विपरीत श्रद्धाको करना और सम्यक् श्रद्धाको न होने देना दो कार्य दो कर्मके हैं, एकके नहीं हैं। ध्वन्यर्थसे भले ही कोई एक अर्थ निकाले परन्तु वह यथार्थ नहीं हो सकता इत्यादि।

विशेष नोट—सिद्धान्तमें भी मिथ्यात्त्व कर्मका चतुष्टय जुदा है और अनंतानुवंधी कर्मकी

---

१. सात तत्त्वोंमें उल्टा या विपरीत श्रद्धान।
२. तीनों भेद–मिथ्यात्त्व, मिश्र, सम्यक्त्व।
३. अनंतानुवंधी क्रोध मान माया लोभ चारों।
४. सम्यक्श्रद्धा अर्थात् अविपरीत श्रद्धा अथवा सम्यग्दर्शन।
५. अधिक।

चतुष्टय जुदा है तव कार्य भी उसके जुदे-जुदे हैं ऐसा तथ्य समझना चाहिये। हाँ सामान्य विवक्षासे एक कह दिया जाता है। परन्तु यथार्थ वात नहीं है। तभी तो अनंतानुबंधी कषायके चार भेदोंमेंसे किसी एक कषायका उदय आनेपर सम्यक्श्रद्धासे शिथिल होकर मिथ्यात्वको ओर नीचेको चतुर्थ गुणस्थानवाला जाता है। यह सैद्धान्तिक चर्चा है (सम्मत्तरयण पव्वय इत्यादि) व आदिम सम्मत्तद्वा (इत्यादि गो० जीवकांड गाथा १९२०) देखना चाहिये।

चरित्रकी अपेक्षासे वह स्वरूपाचरणचारित्रको भी घातती या रोकती है—नहीं होने देती।

इस प्रकार अनंतानुबंधी कषाय दो कार्य करती है अर्थात् (१) सम्यग्दर्शन (सम्यक् श्रद्धा) को रोकती है—नहीं होने देती (२) स्वरूपाचरणको भी रोकती है। इसका खुलासा पेश्तर कर दिया गया है (श्लोक ३७ में चारित्रपाहुड़ और षट्खंडागमका प्रमाण देकर) अतएव सन्देह नहीं करना चाहिये, यह निर्धार सत्य है। इसके विषयमें एक उदाहरण दिया जाता है उससे स्पष्ट समझमें आ जायगा।

एक नाकेपर दो आदमी खड़े हैं, उनमेंसे एक आदमी उल्टा मार्ग (रास्ता) बताता है। और एक आदमी सही मार्गपर नहीं चलने देता—बन्द किये हुए है। ऐसी हालतमें वह पथिक (मुसाफिर) भटकता फिरता है, ठिकाने नहीं लगता। उसी तरह मिथ्यात्व उल्टा मार्ग वतलाता है और अनंतानुवंधी कषाय सुमार्गपर नहीं चलने देती, फलतः परस्पर दो निमित्तोंके दो भिन्न-भिन्न कार्य होनेसे जीव भटकता फिरता है और यह सब सम्भव है, ऐसा विश्लेषण दोनोंका समझना। आचार्यने यह विशेष जानकारी दी है, इसपर लक्ष्य देना चाहिये। सारांश यह कि मिथ्यात्व परोन्मुख करता है और अनंतानुवंधी कषाय स्वोन्मुख नहीं होने देती यह भेद पाया जाता है। किम्वहुना–जव दोनों प्रकृतियोंका अभाव (उपशमादिरूप) होता है तभी 'सम्यग्दर्शन' गुण प्रकट होता है अर्थात् विपरीतश्रद्धा नष्ट हो जाती है व सम्यक्श्रद्धा प्रकट होती है, व स्वरूपाचरण चारित्र भी व्यक्त होता है। अस्तु।

दूसरा अर्थ

(१) मिथ्यात्व, ४ अनंनानुवंधी कुल ५ कर्म प्रकृतियाँ अनादि मिथ्यादृष्टिके सम्यग्दर्शनको घातती हैं, नहीं होने देतीं और सादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व (दर्शन मोह)की ३ अनंतानुवंधीकी ४ कुल ७ प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शनको रोकती हैं, यह सामान्य अर्थ है। पाठक यथारुचि तत्त्वको समझें दोनों अर्थोमें संगति बिठा लें। किम्वहुना ॥ १२४ ॥

विशेषार्थ (खुलासा)

असलमें मिथ्यादृष्टिकी गलती क्या हो जाती है? कि वह वस्तुके नियत स्वभावको भूल जाता है। अर्थात् मिथ्यात्वके समय वह अपने स्वभावसे और परके स्वभावसे भी विचलित हो जाता है। उसको यह ख्याल या स्मरण नहीं रहता कि प्रत्येक वस्तु सदैव अपने स्वभाव (गुण या पर्याय) में ही स्थिर रहती है, पर स्वभावरूप नहीं होती, यह शाश्वतिक अखंड नियम है। तभी वह अपने

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हि कारणविशेषात् कार्यविशेषः निर्बाधं संसिद्धयेत्] निश्चयनयसे यह नियम है कि 'जैसा कारण (द्रव्य) होता है वैसा ही कार्य होता है, अर्थात् कारण विशेष (परिणामी द्रव्य विशेष) हो तो कार्य विशेष अवश्य होगा ऐसा निर्विवाद निर्धार होता है—इस निर्णयमें किसीको विवाद नहीं हो सकता। उदाहरण स्वरूप [औधस्यखण्डयोरिव माधुर्य्यप्रीतिभेद इव] जिस प्रकार दूध और खांड़रूप कारण (द्रव्य) से अर्थात् उनमें रहनेवाली विशेषता (माधुर्य) से खानेवालोंकी प्रीति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है अर्थात् कमबढ़ प्रीति होती है—दूधमें कम प्रीति और खांडमें अधिक प्रीति होती है ॥१२२॥

भावार्थ—प्रीति (मूर्च्छा या रुचि) भेदका कारण, निमित्तकी दृष्टिसे (व्यवहारसे) बाह्यपदार्थ (भोगोपभोगके साधन) होते हैं या माने जाते हैं जैसे कि दूध कम मीठा होता है अतएव उसमें कम प्रीति (मूर्च्छा या आसक्ति) होती है तथा खांड़ (शक्कर) में अधिक मिठास होनेसे उसमें अधिक रुचि होती है ऐसा देखा जाता है। इस न्यायसे लोकमें 'कारणगुणाः कार्यगुण-मारभन्ते' कारणके समान कार्य होता है ऐसा कहा जाता है। तदनुसार अन्तरंग निमित्तकारण मूर्च्छा माना जाता है, उसके अनुसार बाह्यपदार्थों (परिग्रहों) में अधिक या कम प्रीती होती है। अर्थात् तीव्र मूर्च्छा हो तो भोगोपभोगके साधनों (विषयों) में अधिक या तीव्र रुचि प्रीति या आसक्ति अथवा इष्ट वुद्धि होती है और यदि मन्द मूर्च्छा हो तो कम रुचि प्रीति या आसक्ति होती है, इत्यादि भेद है।

यहाँ पर यह विचारणीय है कि जड़ पदार्थों (दुग्धादि) में मधुरता कमबढ़ कौन करता है ? उत्तरमें कहना होगा कि वह सव स्वभावसे होती है, कोई परद्रव्य उसमें वह पैदा नहीं कर देता—वह स्वभाव सिद्ध है, पारिणामिक है। अन्यथा मानने पर वस्तुकी स्वतन्त्रता नष्ट होती है। इसी तरह कमती-बढ़ती मूर्च्छा भी स्वयं स्वोपादानके स्वतः परिणमनसे होती है व मिटती है, उसमें परद्रव्यको कारण मानना अज्ञान या व्यवहार है, जो स्वतन्त्रताका बाधक है। ऐसी वस्तु स्थिति है। तथापि निमित्तकी दृष्टिसे बाह्यपरिग्रह भी हेय है, क्योंकि परस्पर निमित्त नैमित्तिकता मानी जाती है। अस्तु।

नोट—निश्चयनयकी अपेक्षा 'कारणविशेषका अर्थ' उपादान कारणकी विशेषता मानना चाहिये और व्यवहारनयकी अपेक्षासे 'कारण विशेषका अर्थ' निमित्तकारणकी विशेषता मानी जाती है, यह खास भेद है। इसी व्यवहारका आगे दृष्टान्त द्वारा खुलासा किया जानेवाला है। अस्तु ॥१२२॥

आगे आचार्य निमित्तकारणकी मुख्यतासे प्रीतिभेद (मूर्च्छा भेद) बतलाते हैं अर्थात् व्यवहारनयका कथन करते हैं।

> **माधुर्य्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्य्ये।**
> **सैवोत्कटमाधुर्य्ये खंडे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥१२३॥**

पद्य

अल्प मिठास सहित वस्तु में अल्प प्रीति होती है नित्त ।
जैसे दूध पदारथ माहीं, अल्प प्रीति रखता है चित्त ॥
बहुत मिठास सहित वस्तुमें, अधिक प्रीति होती है नित्त ।
जैसे खांड़ पदारथ माहीं, तीव्र प्रीति रखता है चित्त ॥१२३॥

अन्वय अर्थ—आचार्य दृष्टान्त देते हैं कि [किल मन्दमाधुर्ये दुग्धे मन्दा माधुर्य्यप्रीतिः] जिस प्रकार निमित्तकी अपेक्षासे स्वभावतः (लोकमें) थोड़े मिठासवाले दूधमें स्वभावतः मन्द (अल्प) प्रीति या मूर्च्छा-रुचि होती है। और [उत्कटमाधुर्ये खंडे सैव तीव्रा व्यपदिश्यते] अधिक मिठासवाली खांड़ (शकर) में वही मूर्च्छा, प्रीति या रुचि, स्वभावत. तीव्र या अधिक होती है। उसी तरह इष्ट पदार्थोंमें अधिक और साधारणपदार्थोंमें कमती रुचि (मूर्च्छा) होती है। अतः ऐसा समझना चाहिए कि भेदका कारण परपदार्थ है जो व्यवहारमें सत्य है और वैसा माना भी जाता है ॥१२३॥

भावार्थ—लोकमें दृश्यमान बाह्यपदार्थों (निमित्तों) की ही मुख्यता मानी जाती है— उसीके द्वारा कुल कार्य होते हैं, ऐसा लौकिकजन मानते हैं और इसका कारण एक ही कालमें उनका मौजूद रहना है। लौकिकजन बहिर दृष्टिसे (नेत्रोंसे) देखते हैं, अतः उन्हें भीतरी वस्तु नहीं दिखती, तब उसका उन्हें महत्त्व मालूम नहीं होता। यदि कहीं वे अन्तर दृष्टिसे (भेदज्ञान से) देखते होते तो उन्हें निःसन्देह सत्यार्थताका पता लगता और वे उस तरफ रुचि या प्रीति रखते उसका महत्त्व वर्णन करते इत्यादि। यह खास कमी मिथ्यादृष्टि या लौकिकजनों के रहती है। और सम्यग्दृष्टि भेदज्ञानीकी अन्तरदृष्टि होनेसे वह भीतरी असलीतत्त्व समझ लेता है व हेयोपादेयका बोध हो जानेसे वस्तुके यथार्थ स्वरूपको अपनाता है, उसीमें संलग्न होता है। उसकी पराश्रितता या पराधीनता छूट जाती है। उसे उपादान व निमित्तका यथार्थ ज्ञान होनेसे वह कभी भूल या भ्रममें नहीं पड़ता, वह सत्यका उपासक बन जाता है। यदि कदाचित् संयोगी पर्यायमें उसकी व्यवहारदृष्टि होती भी है तो वह उसमें भूलता नहीं है, उसको उपादेय नहीं मानता न प्रसन्न होता है उसमें उसे दुःख ही होता है और उसको हटानेका प्रयत्न (पुरुषार्थ) करता है, लेकिन उस स्वकीयपर्याय या परिणमनका कर्त्ता पुरुषार्थ द्वारा नहीं बनता, यह कर्तृत्व त्यागता है। उपादानतासे कर्त्ता होता है निमित्ततासे कर्त्ता नहीं होता इत्यादि समझना चाहिये॥ १२३ ॥

नोट—सम्यग्दृष्टि बाह्यपरिग्रह अधिक होनेपर (चक्रवर्ती जैसा) भी निष्परिग्रही जैसा अल्प मूर्च्छावान् (रागी) है और मिथ्यादृष्टि बाहिरमें अल्प परिग्रह होनेपर भी भीतर रुचि होनेसे अधिक परिग्रहवाला माना जाता है। अतएव बाह्यपरिग्रहके पीछे मूर्च्छा मन्द या तीव्र नहीं मानी जा सकती, यह तात्पर्य है। वह तो स्वतः ही वस्तु (आत्मा) का परिणमन है, अतः वह ही उसका कर्त्ता व भोक्ता माना जाता है ऐसा जानना ॥ १२३ ॥

स्वभाव (सिर्फ जानना देखना व सबसे पृथक् रहना) को छोड़कर पर अर्थात् शरीर व धनादिमें एकता या अभेद स्थापित करता है जो त्रिकालमें असंभव है। वस्तु स्वभावके प्रतिकूल है अर्थात् कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमें स्वभाव छोड़कर सर्वथा तादात्मरूपसे मिल नहीं सकता न कभी अनादिकालसे मिला है, स्वभावको लिये हुए सब जुदे-जुदे रहे हैं। 'स्वभावो नातिवर्त्तते' यह कहा गया है। न्यायके अनुसार यद्यपि जीव (आत्मा) अपना ज्ञाता दृष्टा (चेतन) स्वभाव को छोड़कर, जड़ स्वभाववाले पुद्गलादिरूप (तन्मय) नहीं हो सकता तथापि या फिर भी मिथ्यादृष्टि हठसे प्रकृतिविरुद्ध परके साथ मिलने या तादात्मरूप होनेका प्रयत्न करता है यह उसकी महान् भूल व अज्ञानता है अर्थात् वस्तु स्वभावकी विस्मृति है। इस प्रयत्नमें (असंभव कार्यमें) जब वह सफलता नहीं पाता तब दुःखी होता है, इष्ट अनिष्ट व रागद्वेषरूप वुद्धि करता है, इत्यादि विपरीतता मानना व वैसा आचरण करना मिथ्यात्वका प्रभाव है, वही विपरीत श्रद्धा या मान्यताको जन्म देता है अर्थात् वस्तुस्वभावको भुलवा देता है तब तत्त्वार्थ या वस्तु स्वभाव में वह गलती करने लगता है, कुछ से कुछ मानने लगता है। इसीका नाम नास्तित्त्व या अन्यथा-पना है। ऐसी स्थितिमें वह अपराधी रहता है एवं संसारमें रहनेकी सजा (दंड) पाता है। अतएव सबसे पहिले जीवको यही असली व बड़ी भूल (मिथ्यादृष्टि) निकालना चाहिये तथा सम्यक्त्व (सम्यक्दृष्टि) प्राप्त करना चाहिये तभी जीवनकी सफलता है, अन्यथा नहीं यह निष्कर्ष है।

> बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं।
> तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम् ॥
> स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते।
> स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते॥२१२॥ समयसार कलष ॥२१५॥ भी।

नोट—पुराणोंमें श्रीरामचन्द्रजीको मर्यादापुरुषोत्तम लिखा है वह व्यवहारका कथन है। क्योंकि उन्होंने सीताजीको भी अग्नि परीक्षा लेकर लोक पद्धतिका निर्वाह किया था, भंग नहीं किया था किन्तु निश्चयसे मर्यादा पुरुषोत्तम सम्यग्दृष्टि जीव ही होता है जो वस्तुकी मर्यादा (स्वभाव) को नहीं छोड़ता—उसीमें स्थिर रहता है इत्यादि। मिथ्यादृष्टि मर्यादा (स्वभाव) तोड़ देते हैं—विचलित हो जाते हैं इति—

विशेषार्थ (स्पष्टीकरण)

मिथ्यात्व और अनंतानुबंधीमें विश्लेषण

(१) मिथ्यात्वकर्म, सम्यग्दर्शन गुणको घातता है अर्थात् वह विपरीत श्रद्धान करता है अथवा मोक्षमार्गोपयोगी जीव अजीवादि सात तत्त्वोंकी यथार्थ श्रद्धा नहीं होने देता—उसको ढाँकता है, प्रकट नहीं होने देता, यह मुख्य कार्य है।

(२) अनंतानुबंधीकर्म स्वरूपाचरण चारित्रको घातता है, यह मुख्य कार्य है। किन्तु

सम्यग्दर्शनको घातना इसका मुख्य कार्य नहीं है किन्तु गौण कार्य या उपचार है और उसका खास हेतु साहचर्य संबंध है, संयोगीपर्याय है।

(३) दोनों बहुधा साथ-साथ रहते हैं और साथ-साथ उदयमें भी आते हैं, अतएव काल दोनोंका एक है। इस तरह द्रव्य (अधिकरण) क्षेत्र (आत्मप्रदेश) काल (उदय) एक होने पर भी भाव या कार्य दोनोंका जुदा-जुदा है--एक नहीं है।

(४) अनंतानुवंधीकर्म (कषाय) में दो शक्तियाँ या स्वभाव माना गया है कि वह सम्यग्दर्शनको भी घातती है और स्वरूपाचरणचारित्रको भी घातती है (जीवकांड गोम्मटसार गाथा २० तथा षट्खंडागम संतसुत्त जीवट्ठाण पृष्ठ १६६ देखो) ऐसा वहाँ लिखा गया है। सो क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर—

(५) उक्त प्रकारका उल्लेख गौण मुख्यकी अपेक्षासे या निश्चयव्यवहार कथनकी अपेक्षासे है अर्थात् मुख्यतासे दोनों एक-एक कार्य ही करते हैं, मिथ्यात्वकर्म सम्यग्दर्शनको ही घातता है और अनंतानुवंधीकर्म स्वरूपाचरण चारित्रको ही घातता है, लेकिन गौणता (व्यवहार या उपचार) से अनंतानुबंधीका कार्य सम्यक्तको घातना भी बतलाया गया है। अतएव यहाँ श्लोक नं० १२४ में 'सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्त्वारः, लिखा गया है और वहाँ जीवकांड गाथा २० में भी वैसा ही ध्वन्यर्थ रूपमें लिखा गया है। 'सम्मत्तरयणपव्वय सिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो, णासियसम्मत्तोसो सासठाणामो मुणेयव्वो ॥ २० ॥

भावार्थ—दूसरे सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें अनंतानुबंधी कषायके चार भेदोंमेंसे किसी भी एक भेदका उदय होने पर सम्यक्तरूपी रत्नके पर्वत परसे नीचे धरतीकी ओर जीवका भाव हो जाता है अर्थात् नीचे मिथ्यात्व (पहिले) में जानेको उन्मुखता या योग्यता (प्रागभाव) उसको प्राप्त हो जाती है न कि वहाँ वह चला जाता है, जिससे मिथ्यादृष्टि वह कहलावे। जबतक व्यक्ति या प्रकट दशा न हो जाय तबतक प्रकट दशा मानना उपचार मात्र है, सत्य नहीं है। है। यदि सचमुच ऐसा होता तो उसको सासादन सम्यग्दृष्टि न कहकर खुलासा मिथ्यादृष्टि कहते परन्तु वह नहीं कहा जाता। इससे भविष्यपर्यायको ध्वन्यर्थसे मानना व्यर्थ है। सत्य बात तो यह है कि उसको उस समय द्रव्यनिक्षेपसे वैसा कह सकते हैं (मिथ्यादृष्टि) किन्तु भावनिक्षेप से नहीं। अतएव अनंतानुवंधी कषाय सम्यक्त्वको मुख्यतासे नहीं घातती, उपचारसे घातती है। जिस प्रकार चोरी करनेवाला असलमें चोर है किन्तु व्यवहारमें चोरकी सहायता करनेवाला या साथमें रहनेवाला भी चोर कहलाता है, यही न्याय यहाँ पर मिथ्यात्वके साथ होनेसे अनंतानुवंधीको भी लगता है (संगतिका दोष लगता है) इत्यादि। यदि सत्य कहा जाय तो सासादनका काल सम्यक्त्वका ही बकाया काल है (छह आवली काल) वह मिथ्यात्वका काल नहीं है जैसा कि सम्यग्दर्शन होनेके पहिले करणत्रयका काल मिथ्यात्वका ही है, सम्यक्त्वका नहीं है। तब अपने-अपने कालमें उसका पद या स्वरूप कैसे बदल जायगा, यह विचारणीय है, इसमें हठ या पक्षका प्रयोजन नहीं है—तत्त्वका निर्धार करना है। जैनागम या जैन साहित्यमें ऐसा प्रसंग या प्रकरण अनेक जगह आया है। अतएव कोई नवीन बात नहीं है। तत्त्वका निर्धार करना गुण है, दोष या

अपराध नहीं है। अपराध या दोष उल्टा मानना या निर्धार न करना है, यह ध्यानमें रखा जाय। अस्तु।

वस्तुस्वभावके अनुसार अपना कार्य करते हुए दूसरेको सहायता देना या मदद करना कर्त्तव्य पालन है। तदनुसार मिथ्यात्वकर्म अपना मुख्य कार्य विपरीत श्रद्धाका करना, यह करते हुए दूसरा गौण कार्य सम्यक् श्रद्धाको घातना याने उससे हटाना या व्यावृत्ति करना, यह भी करता है अथवा अनंतानुबंधीको स्वरूपाचरण चारित्रके घातनेमें मदद देता है। इसी तरह अनंतानुबंधी कषाय अपना मुख्य कार्य, स्वरूपाचरण चारित्रको घातना करती है। और गौण कार्य मिथ्यात्वको मदद देना भी करती है। तब कोई विरोध नहीं आता, सब विरोध प्रश्न व शंकाएँ समाप्त हो जाती हैं। हाँ गौण कार्यको कभी मुख्य कार्य नहीं समझना चाहिये जो वस्तु स्वभावगत है। इसके सिवाय एक बात और भी है कि यदि अनंतानुबंधी कषायको सम्यक्त्वकी घातक मानी जाय तो वह पूरी घातेगी या खंड रूपसे यह प्रश्न होगा। यदि सभीको घातेगी तो जब एक साथ चारों भेदों (क्रोधादि) का उदय होगा तभी वह समर्थ होगी—सबको घातेगी; एक-एकके उदय होने पर तो अंश-अंश रूपसे घातेगी, तब एक कालमें आंशिक सम्यक्त्व व आंशिक मिथ्यात्व दोनों मिश्ररूप रहेंगे यह आपत्ति आयेगी? ऐसी स्थितिमें मुख्य गौण मार्गका अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर है—साध्यका साधक है। किम्बहुना—विचार किया जाय, हमलोगोंका क्षायोपशमिक अल्प ज्ञान है।

आचार्य आगे अप्रत्याख्यानावरणकषाय (परिग्रहमल) का कार्य बतलाते हैं।

प्रविहाय[1] च द्वितीयान्[2] देशचरित्रस्य[3] सम्मुखायातः।
नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति ॥१२५॥

पद्य

दुतियकषाय त्यागता जब है—देशचरित्र प्राप्त होता।
अतः सिद्ध होता है इससे—देश चरित्र बात होता॥
अप्रत्याख्यान कषाय छोड़ना, अणुव्रत धारण कहलाता।
धर्म अहिंसा पलता है अरु देशचरित्री गिना जाता॥१२५॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [च द्वितीयान् विहाय] जीव जब दूसरी कषाय अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण कषायको त्याग देता है (पृथक् कर देता है) तब [देशचरित्रस्य सम्मुखायातः] देशचारित्र अर्थात् अणुव्रत या देशचारित्र धारण करनेके योग्य होता है अर्थात् उसको देशचारित्र प्राप्त होता है, यह नियम है। इससे मालूम पड़ता है कि [हि ते कषायाः नियतं देशचरित्रं

---

१. छोड़ देने पर अर्थात् पृथक् कर देने पर।
२. अप्रत्याख्यानावरण कषाय।
३. अणुव्रत या देशव्रत।

निरुन्धन्ति] वे दूसरी प्रत्याख्यानावरण कषायके चारों (क्रोध, मान, माया, लोभ) भेद निश्चय या अनिवार्य रूपसे, देशचारित्रको घातते हैं अर्थात् प्रकट नहीं होने देते । अतएव उनका भी त्याग करना चाहिये, क्योंकि वे भी प्रमादरूप व हिंसाकारक हैं, देशचारित्रके घातक हैं ॥ १२५ ॥

भावार्थ—जितने भी आवरणी कर्म होते हैं वे सभी व्यक्ति (प्रकटता) को रोकते हैं, शक्तिका कुछ भी विगाड़ नहीं कर सकते, शक्ति बरावर मौजूद रहती है। सिर्फ ऊपरसे आवरण पड़ जानेके कारण वाहिर प्रकट नहीं हो पाती, यह तात्पर्य है। यदि कहीं आवरण शक्तिका घात (नाश) कर देवे तो वह वस्तु ही नष्ट हो जाय तथा फिर नष्ट हुई शक्ति नवीन उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि 'असत्का उत्पादन नहीं होता' यह सिद्धान्त है, और सत् (शक्ति) का विनाश भी नहीं होता, यह अटल नियम है। फलतः इसीलिये आचार्यने 'निरुन्धति' क्रिया लिखी है, जिसका अर्थ रोकना या आवरण करना (ढकना) होता है इत्यादि विचारणीय है। अप्रत्याख्यनावरण कषायका उदय होने पर एकदेश अर्थात् स्वमात्र भी व्रत (चारित्र) नहीं होता यह उसका कार्य है (अर्थात् नहीं, प्रत्याख्यान अर्थात् त्यागव्रत,) यह निरुक्ति है—उसका शब्दार्थ है, सभी आवरण रूप हैं ॥ १२५ ॥

विशेष वक्तव्य

यह है कि इस श्लोकके आगे अभी पृथक् रूपसे 'प्रत्याख्यानावरण' तीसरी कषाय तथा 'संज्वलन' चौथी कषायका कार्य नहीं वताया गया है। अतएव भ्रममें नहीं पड़ जाना चाहिये किन्तु सर्वेषामन्तरंगसंगानाम्' १२६ श्लोकके इस समुदायरूप कथनसे सभी अन्तरंग परिग्रहोंका त्याग करना, समझ लेना चाहिये। जिसका खुलासा इस प्रकार है—प्रत्याख्यानावरणकषाय व संज्वलन-कषाय तथा हास्यादि ९ नोकषाय, ये सभी अन्तरंग परिग्रह हैं और प्रमादके अन्तर्गत हैं, उनसे हिंसा अवश्य होती है। देखो ! प्रत्याख्यानावरणकषाय 'सकलसंयम (चारित्र) या सकलव्रत, को रोकती है। अतएव उसकी प्राप्तिके लिये अथवा मुनिपद धारण करनेके लिये उस कषायका त्यागना अनिवार्य है, उसके त्याग किये विना कोई मुनि (सकलचारित्री) नहीं वन सकता तथा संज्वलन-कषाय व नवनोकषायोंके त्याग किये विना 'यथाख्यात' चारित्रधारी नहीं हो सकता, न निर्विकल्प समाधि हो सकती है, और फलरूप न केवलज्ञान उत्पन्न हो सकता है। अतएव उन सबका त्याग करना भी अनिवार्य है।

सभी कषायोंके त्याग करने पर ही 'शुद्धोपयोग व श्रामण्य व समभाव या माध्यस्थभाव' हो सकता है (होना संभव है) अन्यथा नहीं, ऐसा समझना चाहिये। किम्बहुना–शेषपुनः ॥१२५॥

आगे आचार्य समुदायरूपसे अन्तिम शिक्षा देते हैं।

बचे हुए अन्तरंग परिग्रह त्यागने की

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरंगसंगानाम् ।
कर्त्तव्यः परिहारोमार्दवशौचादिभावनया[1] ॥१२६॥

---

१. भावनाका अर्थ आकांक्षा करना, चित्तको लगाना या एकाग्र करना होता है।

पद्य

शक्तिप्रमाण परिग्रह त्यागे—शेष अन्तरंग बचे हुए।
मोक्ष सिद्धि का कारण वह है—साथ भावना लिए हुए॥
हैं निमित्त कारण वे भावन—मार्दव शौच आदि जानो।
नहिं अनर्थ होता है उनसे, चरित रूप गुण पहिचानो॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [निज शक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरंग संगानाम्] अपनी खुदकी शक्तिके अनुसार अर्थात् स्वावलम्बनसे (परावलम्बनसे नहीं) शेष बचे हुए (प्रत्याख्याना-दिकषायरूप) सम्पूर्ण अन्तरंग परिग्रहका भी [परिहारः कर्त्तव्यः] त्याग करना चाहिये। परन्तु उसके त्याग करनेका सच्चा उपाय [मार्दवशौचादिभावनया] मार्दव शौच इत्यादि अन्तरंग निमित्तरूप भावनाएँ हैं अतः उनका अवलम्बन लेना चाहिये ॥१२६॥

भावार्थ—अन्तरंग परिग्रहका त्याग अन्तरंग कारणोंसे ही होता है—बाह्य कारणोंसे नहीं होता। वे अन्तरंग कारण कषायोंकी मन्दता या अभाव होनेपर ही [वैराग्यरूप] प्रकट होते हैं—उनको भावनाएँ (संस्कार) कहते हैं। अर्थात् जब कषाएँ मन्द होती हैं अर्थात् साधारण रूपसे उदयमें आती हैं और विकारीभाव जोरदार नहीं होते—नाममात्रउदयमूल होते हैं, तब जीवके अच्छे शुभ विचार होते हैं अर्थात् परिणामोंमेंसे कठोरता (तीव्रता) निकल जाती है व मृदुता (मन्दता) आ जाती है—दयाभाव व करुणाभाव होने लगता है—परोपकार आदिकी वृद्धि प्रकट होती है—जिससे मार्दव धर्म पलता है, मानकषाय घटती है, इत्यादि। तथा लोभ कषायकी मन्दतासे त्यागके भाव होते हैं—उदारता आती है, परिग्रह या आसक्ति छूटती है, जिससे आत्मामें पवित्रता (शौचधर्म) प्रकट होती है, इत्यादि। उधर धीरे-धीरे क्रमशः अन्तरंगमें विकारीभावोंके छूटने (हटने) से आत्मशक्ति या आलम्बन प्रकट होता है, बढ़ता है, अर्थात् वीतरागता बढ़ती जाती है, जिसके निमित्तसे अन्तरंगपरिग्ररूप बचे हुए विकारीभाव सत्तामेंसे निकलते हैं (भाव निर्जरा होती है) इत्यादि अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध होता है। विकारको अविकार हटाता है। फलतः भावना भाते-भाते अर्थात् परिग्रह छोड़नेका विचार व प्रयोग करते-करते उसका इतना जबर्दस्त संस्कार पड़ जाता है कि उसीका राज्य हो जाता है और वही स्वतन्त्र रह जाता है। अतएव अच्छे वैराग्यके संस्कार हमेशा डालना चाहिये, संसारसे छूटनेकी बारंबार भावना (स्मृति) करना चाहिये ॥ १२६ ॥

नोट—यहाँपर मार्दव शौच आदिकी भावना, निश्चयसे मानादिकषायोंसे विरक्त होनेका अहर्निश चित्तवन करना रूप है अर्थात् वैराग्य भावनासे प्रयोजन है उसीसे परिग्रहरूप कर्मोंकी निर्जरा होना संभव है। अन्तरंग परिग्रह उसीसे छूट सकता है इत्यादि। वीतराग भावना ही हितकारी है। भावनाका अर्थ बारंबार चिन्तवन करनेका है और प्रयोग एवं पुरुषार्थ करनेका भी है। किसी भी कार्यका बार-बार और सतत प्रयास करनेसे वह सिद्ध और सरल हो जाता है, ऐसा नियम है। उसका कारण संस्कारका पड़ना है, वह संस्कार बड़ा कार्य करता है तथा वह

जन्मजन्मान्तर तक साथ जाता है। फलतः रागका संस्कार न डालकर सम्यग्दृष्टि वैराग्यका संस्कार अपने आत्मामें निरन्तर डालता है अर्थात् परकी ओरसे हटाकर अपना ज्ञानोपयोग अपनी ओर लाता है और उसीमें स्थिर करता है, जिससे उस एकाग्रताके द्वारा निराकुल होकर अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करता है अथवा स्वाद लेता है, तब महान् सुख उत्पन्न होता है। उस आस्तिक सुखके सामने वैषयिक सुख तुच्छ मालूम होते हैं तथा उस समय वह अपनेको कृतकृत्य मानता है। ऐसी स्थितिमें अन्तरंग परिग्रह छुटानेके लिये निश्चयरूप अर्थात् वीतरागता रूप 'मार्दव-शौच' धर्मकी भावना कर्त्तव्य है, क्योंकि रागद्वेषादिरूप अन्तरंग परिग्रहका विनाश उसके विपक्षी वैराग्यसे ही होना सम्भव है। वह भावना संक्षेपमें कहा जाय तो 'एकाग्रता' करना है। अर्थात् उपयोग (चित्त)के हटनेपर (चंचल होनेपर) पुरुषार्थ करके पुनः पुनः उसको आत्मस्वरूपमें लगाना चाहिये, इत्यादि। तभी भावनाको सार्थकता मानी जा सकती है। किम्वहुना ॥ १२६ ॥

आगे आचार्य यह बताते हैं कि अन्तरंग परिग्रहका त्याग करना तो मुख्य है ही किन्तु वाह्य परिग्रहका त्याग करना भी अनिवार्य है, वह उपेक्षणीय नहीं है अपितु अपेक्षणीय है।

वहिरंगादपि संगाद्यस्मात् प्रभवत्यसंयमो[1]ऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥१२७॥

पद्य

वाह्य परिग्रह वर्जनीय है—उससे होत असंयम है।
वह स्वभाव नहिं जीव द्रव्यका—व्यर्थ कलंक लगाता है॥
भेद अनेकों उसके हैं पर, मुख्यभेद दो होते हैं।
एक अचित्त नाम है दूजा—नाम सचित्त वताते हैं ॥१२७॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यस्मात् वहिरंगादपि संगात् अनुचितः असंयमः प्रभवति] जवकि वहिरंग परिग्रहके निमित्तसे भी अनुचित असंयम उत्पन्न होता है इसलिये [तमचित्तं वा सचित्तं परिवर्जयेत्] उस अचित्त व सचित्त (पूर्वोक्त) दो प्रकारके वाह्य परिग्रहका भी त्याग करना अनिवार्य है। क्योंकि उससे [अनुचितः असंयमः प्रभवति] अनुचित असंयम उत्पन्न होता है अर्थात् उसके निमित्तसे व्यर्थ ही (आनुषंगिक) असंयमभाव प्रकट होता है। अन्तरंग परिग्रहका त्याग हो जानेपर वाह्यपरिग्रहका रखना या रहना वेकार है—निष्प्रयोजन है (फालतू है) ॥१२७॥

भावार्थ—वाह्यवस्तुओंका ग्रहण अर्थात् परिग्रह (संग्रह) अन्तरंग परिग्रहसे ही किया जाता है अर्थात् उसके रहते हो उसका संग्रह व संरक्षण आदि होता है, कारण कि कषायके द्वारा संसारके प्रायः सभी कार्य हुआ करते हैं। तथा उसकी शोभा या कार्यपटुता भी तभीतक रहती

---

१. हिंसा या पाप होता है। अहिंसाव्रत नहीं पलता इत्यर्थः।

है। कषाय या अन्तरंग परिग्रहके नष्ट हो जानेपर सब व्यर्थ सिद्ध होता है। जैसे कि मर जानेपर स्नान पूजन सब बेकार है। ऐसी स्थितिमें बाह्य परिग्रहका त्याग करना अनिवार्य है, जिससे असंयमपना (हिंसा या त्रुटि) उत्पन्न न हो अर्थात् बाह्यपरिग्रहधारी, असंयमी (हिंसक) कहलाता है एवं उसको मोक्ष नहीं होता—निष्परिग्रही (दोनों परिग्रह रहित अहिंसक-असंयोगी या वियोगी) ही मोक्ष जाता है, यह नियम व तात्पर्य है। फलतः वाह्यपरिग्रहका भी त्यागकर देना चाहिये, व्यर्थ ही क्यों असंयमी या परिग्रही-संयोगी बना जाय। वह लांछन (कलंक) है। अस्तु—सिद्धान्ततः एकवस्तु जब स्वभावसे अन्य वस्तुसे भिन्न है अर्थात् अपनेमें ही नियंत्रित होकर सदैव रहती है तब उसके साथ संयोगरूपसे भी दूसरी वस्तुओंका रहना या उन्हें साथमें रखना विरुद्ध है, न्यायके प्रतिकूल है। अतएव एकत्त्व विभक्तरूप-आत्माका रहना ही निष्कलंक और उत्तम है, कारण कि जबतक बिना कषाय (अन्तरंग परिग्रह)के भी बाह्य शरीरादि परिग्रह रहेगा तबतक मोक्ष कदापि न होगा[1]—यह नियम है। अतएव बुद्धिपूर्वक उसका त्याग करना ही उचित है, इत्यादि ॥१२७॥

आगे आचार्य कहते हैं कि परिग्रह तो सभी त्यागने योग्य है, किन्तु जो जीव (गृहस्थ) सभी का इकदम त्याग नहीं कर सकते उनका कर्त्तव्य है कि थोड़ा-थोड़ा उसे कमती करें।

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनूकरणीयः[2] निवृत्तिरूपं[3] यतस्तत्त्वम्[4] ॥१२८॥

पद्य

जो समर्थ नहिं पूर्ण त्यागको—धनधान्यादि परिग्रह को।
उसे चाहिये कमती करना—शुद्ध स्वरूप विचारकको॥
सभी वस्तुएँ परसे निरवृत्त, कोई किसीमें मिलत नहीं।
क्यों फिर मेल करत हो परसे, तुम निजरूप विचार सही॥ १२८॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [योऽपि धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि त्यक्तुं न शक्यः] जो भी श्रावक (परिग्रही) ऐसा हो कि वह धन धान्य, मनुष्य (दासीदास), मकान, खेत, रुपया, चाँदीसोना आदि बाह्य परिग्रहका पूर्ण त्याग नहीं कर सकता (असमर्थ है) [सोऽपि तनूकरणीयः] उसका भी कर्त्तव्य है कि बाह्य परिग्रहको कम करे। अर्थात् अप्रयोजनभूत परिग्रहका तो पूर्ण त्याग करे ही तथा प्रयोजनभूतको भी थोड़ा-थोड़ा घटावे [यतः तत्त्वं निवृत्तिरूपं] कारण कि

---

१. परम यथाख्यात चारित्र न होनेसे उसका घात या हिंसा होगी व वियोग (पृथक्त) न होगा।
२. कमती करना-घटाना।
३. परसे भिन्न-स्वतंत्र व शुद्ध।
४. वस्तुस्वरूप या आत्मस्वरूप सबसे भिन्न एकरूप या चारित्ररूप।

वस्तुका स्वरूप निवृत्तिरूप है अर्थात् परसे सभी वस्तुए (आत्मादि) तादात्म्यरूपसे पृथक् रहती हैं, यह नियम है। अतएव परिग्रहसे आत्माको क्यों लिप्त करना? नहीं करना चाहिये। यह विवेक अर्थात् सम्यग्दर्शनका तकाजा है, स्मरण दिलानारूप कार्य है ॥ १२८ ॥

भावार्थ—इस श्लोक द्वारा आचार्यने पदके अनुसार परिग्रहका त्याग करना बताया है। यद्यपि परिग्रह सभी त्याज्य है, वह एक साथ नहीं त्यागा जा सकता, किन्तु पद और योग्यता (शक्ति) के अनुसार त्यागा जाता है। श्रावक (गृहस्थ) उस आश्रममें रहते हुए सबका त्यागी नहीं वन सकता, क्योंकि उसे गृहस्थीके कार्य करना पड़ते हैं। अतएव वह धन-धान्यादि संग्रह भी करता है और दानादि कार्य (खर्च) भी करता है। ऐसी स्थितिमें वह सर्वथा परिग्रहका त्यागी नहीं हो सकता, कुछ त्यागी हो सकता है, यह नियम है। तथापि उसके लिये भी विधि (कर्त्तव्य) बतलाई गई है कि वह प्रयोजनभूत परिग्रहका परिमाण (सीमा) करके शेषको छोड़ देवे तथा अप्रयोजनभूतका पूर्ण त्याग कर देवे, जिससे मोक्षमार्गका साधक देशव्रती वना रहे। वस्तुस्वभावका विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि परिग्रह परपदार्थ है, वह आत्माका नहीं है, अतएव उसका सम्बन्ध आत्माके साथ क्यों रखा जावे? नहीं रखना चाहिये, वह कलंककी बात है (विरुद्ध है), परत्वकी भावनासे सभी सम्यग्दृष्टि परसे विभक्त होते हैं एवं प्रारंभसे ही विरक्त रहते हैं। किम्बहुना। विचार किया जाय। पर द्रव्यका त्याग करना उचित है। अस्तु।

विचारधारा (पद्धति)

विचारधारा दो तरहकी होती है (१) सैद्धान्तिक दृष्टि (निश्चयनय) से (२) नैमित्तिक दृष्टि (व्यवहारनय) से। वहिरंग परिग्रहका त्याग करना क्यों आवश्यक है? इसका समाधान इस प्रकार है कि उसके निमित्तसे असंयम (हिंसा–द्रव्यहिंसा) होता है अर्थात् बाह्य चीजों (वास्तुक्षेत्र धनधान्यादि) के साथमें रहनेसे उनकी उठाधरी–रक्षा सँभाल आदि करते समय बराबर जीवघात होता है, उससे असंयम होना अनिवार्य है अतः वह असंयम (द्रव्यहिंसा) नैमित्तिक होनेसे वर्जनीय है अर्थात् बाह्य परिग्रहका त्याग करना जरूरी है। (२) सैद्धान्तिक दृष्टिसे—बहिरंग परिग्रह आत्माका है नहीं, वह आत्मासे भिन्न है—प्रत्येक वस्तु या द्रव्य, दूसरी वस्तुसे भिन्न व स्वतंत्र है। फलतः आत्मा भी सबसे पृथक्—एकत्वविभक्तरूप है। तब जानते हुए उसके साथ वाह्य परिग्रहका सम्बन्ध जोड़ना—संयोग स्थापित करना अज्ञानता है अथवा जिनोपदेशकी अवहेलना करके अपराधी बनना है। अतएव बाह्य परिग्रहका सर्वथा त्याग करना, सम्यक्त्वका चिह्न है—मोक्षमार्गका सेवन है। किम्बहुना। पापोंके त्याग करनेका प्रमुख उद्देश्य—संयम (चारित्र) या अहिंसाधर्मका पालना है। और उनका त्याग न करना असंयम या हिंसारूप अधर्मका संचय करना है। अतः यथासंभव अहिंसा या संयम श्रावकको अवश्य प्राप्त करना चाहिये। अस्तु ॥१२८॥

परस्परसंगति (व्याप्ति) या शंका समाधान

आगे प्रश्न उठता है कि परिग्रह त्यागके साथमें रात्रि भोजनका त्याग करना क्यों बतलाया

जाता है ? क्या परिग्रहका और रात्रि भोजनका परस्पर सम्वन्ध है ? (व्याप्ति है) इसका उत्तर दिया जाता है कि दोनोंका कार्य समान होनेसे परस्पर संगति है यथा—

रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा ।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥ १२९ ॥

पद्य

रात्रि समयके भोजनमें भी जीव वहुतसे मरते हैं।
अतः अहिंसाव्रतके धारी रात्रि भोजको तजते हैं ॥
वाहिर हिंसा दिख पड़ती है अन्तरंग भी होती है।
रागमूल हिंसा होती है—भावप्राणको हरती है ॥ १२९ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यस्मात् रात्रौ भुंजानानां अनिवारिता हिंसा भवति] जव कि रात्रिको भोजन करनेवाले जीवोंके हिंसा (जीवघात) का होना अनिवार्य है अर्थात् भावहिंसा व द्रव्यहिंसा दोनों होती हैं [तस्मात् हिंसाविरतैः रात्रिभुक्तिरपि त्यक्तव्या] तव हिंसाके त्यागियों को अर्थात् अहिंसाव्रत (धर्म) के पालनेवालोंको नियमसे रात्रिभोजनका त्याग कर ही देना चाहिये। जिससे यथासंभव द्रव्य व भावहिंसा न हो ॥ १२९ ॥

भावार्थ—रात्रिको भोजन करना धार्मिक दृष्टिसे तो वर्जनीय है ही क्योंकि उससे द्रव्य व भाव हिंसा दोनों होती हैं। देखो जव अत्यधिक राग होता है तभी तो रात्रिको वनाया व खाया जाता है, जिससे वाह्य असंख्यात जीवोंका घात (मरण) होता है तथा भीतर प्रचुर या अधिक राग होनेसे भाव प्राणोंका विनाश होता है। इसके सिवाय लोकनिन्दा भी होती है, धर्मशास्त्रकी आज्ञाका उल्लंघन (अनादर) भी होता है, जिससे धर्ममें अश्रद्धा जाहिर होती है। एवं लौकिक जीवनमें हानि होती है—वैद्यकशास्त्र कभी रात्रिको भोजन करनेकी आज्ञा नहीं देता—वह कमसे कम सोनेसे ४ घंटा पहिले भोजन करनेकी आज्ञा देता है जिससे स्वास्थ्य अच्छा रहे, वीमारी आदि न हो, हजम (पाचन) होनेमें कष्ट न हो[२] इत्यादि—आगे और भी दोष व हानियाँ वतलाई जावेंगीं उनपर ध्यान रखना जरूरी है। इसके सिवाय दिनके भोजनसे रात्रिके भोजनमें सूर्य प्रकाश (स्वच्छ)के समान प्रकाश न होनेसे गिरने मरनेवाले जीव स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ते, इत्यादि अधिक हानि होती है। फलतः हिंसाके आयतन होनेसे परिग्रह व रात्रि भोजन दोनों ही वर्जनीय सिद्ध होते हैं, यह सारांश है। किम्वहुना—दीपकके प्रकाशका तर्क करना असंगत

---

१. रात्रिको भोजन करना भी परिग्रहका साथी है क्योंकि उससे भी हिंसा होती है—समानता है। द्रव्य-हिंसा व भावहिंसा दोनों होती हैं (रागसे भावहिंसा व भक्षण करनेसे द्रव्यहिंसा होती है)।

२. सोनेसे ४ घंटा पहिले भोजन करनेपर रात्रि हो ही नहीं पाती, दिन ही रहता है। जैसे ९ वजे सोने का समय हो तो ५ वजे भोजन दिनमें कर लेना पड़ेगा। १० वजे सो जाय तो ६ वजे भोजन करना पड़ेगा, दिन रहेगा।

और असंभव है—वह सर्वत्र सुलभ नहीं है, न सूर्य प्रकाशकी बराबरी कर सकता है कृत्रिम उपाय सब कष्ट साध्य होते हैं—दुर्लभ होते हैं, सुलभ नहीं होते। इत्यादि नैतिक व धार्मिक दोनों दृष्टियोंसे रात्रि भोजन वर्जनीय है, यतः वह प्रमाददोषमें शामिल है ॥१२९॥

रात्रि भोजनमें हिंसा किस तरह होती है वह आचार्य बताते हैं।

स्पष्टीकरण करते हैं

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्त्तते[1] हिंसां।
रात्रिन्दिवमाहरतः कथं हिं हिंसा न संभवति ॥१३०॥

पद्य

रागादिकके तीव्र उदयसे त्याग भाव नहिं होता है।
विना त्यागके हिंसा होती, नियम अटल नहिं टलता है॥
जो इतने बहुरागी होते, जब तब भोजन करते हैं।
विना विवेक जीव इस जगमें हरदम हिंसा करते हैं॥१३०॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिः हिंसां नातिवर्त्तते] रागादिक की प्रचुरतासे जो त्यागभाव (निवृत्तिः) नहीं होता है अर्थात् संयम धारण नहीं किया जाता है, उससे हिंसा बराबर होती है, कारण कि रागसे ही तो हिंसा होती है। अतएव [रात्रिन्दिवमाहरतः हिंसा कथं न संभवति ?] विना नियमके दिनरात जबतक मनचाहा भोजन करनेवालेके हिंसा यथार्थमें क्यों न होगी ? अवश्य होगी (अनिवार्य है) यह भाव है ॥ १३० ॥

भावार्थ—रागकी प्रचुरतासे भावहिंसा व द्रव्यहिंसा दोनों होती हैं, क्योंकि अन्तरंग कारण हिंसा पापका वही है। अनादिसे संसार अवस्था उसीने की है, अतएव विवेकी-ज्ञानी पहिले उसीको हटाते हैं, वह बड़ा शत्रु है। सब बातोंका नियम है, परन्तु जो जीव नियम नहीं पालते आहार विहार आदिमें दिन रात्रिका कोई भेद नहीं रखते वे मनुष्य नहीं हैं प्रत्युत राक्षस या दानव हैं—मानव नहीं हैं, मानवका आचार विचार उच्च व आदर्श होना चाहिए। मनुष्य योनि बहुत उच्च योनि है क्योंकि उसीसे मुक्ति होती है, अन्यसे नहीं। तब क्या उसमें विवेक नहीं होना चाहिये ? विना विवेक और बिना संयम (अहिंसा धर्म) जीवन निरर्थक माना गया है, जैसे कि अजा (बकरी)के गलेके स्तन बेकार पाये जाते हैं। फलतः भोजन पान दान हवन पूजन आदि मंगल कार्य व नित्यकार्य दिनमें ही होना चाहिये—रात्रिमें नहीं होना चाहिये, धर्मशास्त्रकी यही सम्मति है। किम्बहुना—हिंसा व पापसे जीवका उद्धार नहीं होता यह नियम है। सदाचारका मूल्य अत्यधिक होता है, उसका आदर जरूर करना चाहिये। मनुष्य और अन्य जीवोंमें संयम (अहिंसा धर्म) की ही विशेषता पाई जाती है अर्थात् मनुष्य संयम पालता है और दूसरे संयम नहीं पाल सकते

---

१. अत्याग वनाम प्रवृत्तिः।

इत्यादि खास अन्तर (भेद) समझना चाहिये। नैतिक दृष्टिसे अनेक पशुपक्षी भी रात्रिको खाना नहीं खाते ऐसा नियम देखा जाता है—रात्रिका समय विश्राम करनेका है। अस्तु ॥ १३० ॥

वादी तर्क करता है कि जिस प्रकार रागकी प्रचुरतासे रात्रि भोजनमें हिंसा होती है उसी प्रकार दिन भोजनमें भी होना सम्भव है तब रात्रिकी तरह दिनका भोजन क्यों न त्याग दिया जाय, दोनोंमें समानता है। इसका उत्तर आगे दिया जाता है। (पूर्वपक्ष)

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥१३१॥

पद्य

रात्रि समय नहिं भोजनका है, वह विश्रामकरनका है।
और न उसमें दिख पड़ता है, जीवविघात जो होता है॥
अतः कुतर्क नहीं यह करना, दिनका भोजन त्याग करे।
दिनमें दीख पड़त है सब कुछ, हिंसा आलस दूर टरे ॥१३१॥

अन्वय अर्थ—वादी कुतर्क करता है कि [यद्येवं–तर्हि दिवा भोजनस्य परिहारः कर्त्तव्यः] यदि रागादिककी प्रचुरतासे और सदाकाल भोजन करनेसे रात्रिका भोजन त्याग कराया जाता है क्योंकि उससे अधिक हिंसा होती है, तो दिनको भोजन करना भी छोड़ देना चाहिये, क्योंकि उसमें भी तो राग होता है [तु निशाया भोक्तव्यं] और रात्रिको भोजन करना चाहिये [इत्थं हिंसा नित्यं न भवति] ऐसा करनेसे हमेशा हिंसा न होगी अर्थात् एकबार ही होगी जब भोजन किया जायगा। अर्थात् बार-बार भोजन न करनेसे बार-बार हिंसा न होगी यह लाभ होगा ॥१३१॥

भावार्थ—यह कुतर्क वादीका उचित नहीं है कि बार-बार अर्थात् दिन रात भोजन करनेसे जब हिंसा होती है तब उस हिंसासे बचनेके लिये दिनको भोजन करना तो बन्द कर देना चाहिये और रात्रिको ही (एकबार) आरामसे भोजन करना चाहिये इत्यादि। कारण कि रात्रिको भोजन करना अनेक दृष्टियोंसे हानिकर तथा वर्जनीय है क्योंकि उसमें अत्यधिक हिंसा होती है अर्थात् द्रव्य और भाव दोनों हिंसाएँ होती हैं। दिनको भोजन करनेमें हिंसा कम और लाभ अधिक होता है, अतः वैसा श्रावकका कर्त्तव्य है। वास्तवमें देखा जाय तो यह श्लोक पूर्वपक्षका है, उत्तरपक्षका श्लोक आगेका है अस्तु ॥१३१॥

उत्तर पक्ष—आचार्य इस श्लोक द्वारा रात्रि भोजनका खंडन करते हैं।

नैवं वासरभुक्तेः भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेः भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२॥

---

१. यदि भवेत् क्रिया होती तो वेहतर होता, विचार किया जाय।

पद्य

मित्र तुम्हारा तर्क ठीक नहिं, रात्रि भोजके करनेका।
रात्रि भोजमें हिंसा बहु है, अधिक रागके धरनेका॥
जैसे अन्न भोजमें कमती रागादिक सब होते हैं।
मांस भोजमें अधिक रागका होना निश्चित करते हैं॥१३२॥

अन्वय अर्थ—आचार्य उत्तर देते हैं (पूर्वपक्षका खंडन करते हैं) कि [नैवं, रजनिभुक्तौ वासरभुक्तेः हि रागाधिको भवति] भाई (मित्र) तुम्हारा पूर्वपक्ष (रात्रि भोजनकी पुष्टि करना) उचित या वजनदार नहीं है, कारण कि निश्चयसे देखा जाय तो दिनके भोजनकी अपेक्षा रात्रिके भोजनमें अधिक राग होता है जो अधिक हिंसाका कारण है। दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं [अन्न-कवलस्य भुक्तेः मांसकवलस्य भुक्तौ इव] जैसे कि अन्न खानेकी अपेक्षा मांसके खानेमें अधिक राग पाया जाता है, जिससे अधिक हिंसा होती है, अतएव वह हेय है॥१३२॥

भावार्थ—जीवनमें भोजन-पान करना अनिवार्य है—सभी संसारीजीव भोजन-पान किया करते हैं कारण कि व्यवहारनयसे भोजन-पान ही प्राण माने गये हैं, क्योंकि उनके बिना जीवन स्थिर नहीं रह सकता। परन्तु भोजन अनेक किस्मका होता है और अनेक तरहके जीव भी होते हैं। ऐसी स्थितिमें हरएकका भोजन (खुराक) प्रायः नियत रहता है, किसीका भोजन कोई नहीं करता न हर समय करता है ऐसी व्यवस्था प्राकृतिक देखनेमें-सुननेमें आती है। तदनुसार मनुष्यका मुख्य भोजन (प्राकृतिक) अन्न है (मांसादि नहीं है) पशुओंका भोजन घास फूल आदिका खाना है इत्यादि। परन्तु अज्ञानतावश अप्राकृतिक भोजन (मांसादि) प्रायः करने लगा है, यह बड़े दुःख व आश्चर्यकी बात है, इतना ही नहीं वरन् रात्रिको भी और बार-बार जहाँ तहाँ जिस तिसका भोजन करने लगा है व पतित हो गया है। प्राणीका हरएक कार्य नियमित व सीमित होना चाहिये तभी उसकी शोभा है व महत्त्व है। जितने कार्य विपरीत होते हैं वे प्रायः अज्ञान व रागादिक विकारोंकी अधिकतासे ही होते हैं अतएव वह महान् हिंसक व पापी समझा जाता है जिससे वह संसारसे पार नहीं हो सकता। फलतः अहिंसाधर्मको ही धारण करना चाहिये, वही मोक्षका मार्ग है, दूसरा नहीं, उसकी पूर्ति दिनके भोजनसे ही हो सकती है जो प्राकृतिक है। किम्बहुना। कुतर्क करना बेकार है। अस्तु॥१३२॥

आचार्य—लोकप्रसिद्ध व अनुभवसिद्ध उदाहरण देकर दिवा भोजनकी ही पुष्टि करते हैं।

अर्कालोकेन विना भुंजानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितप्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्॥ १३३॥

पद्य

दीपकके उजालेमें भी ज्ञान होत है जीवोंका।
पर सूरज सम नहीं होत है, यही भेद है दोनोंका॥

सूक्ष्म जीव नहिं दिख पड़ते हैं दीपकके उजियालेमें।
अतः उन्हींका मरना संभव, रात्रि भोजके करनेमें ॥ १३३ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अर्कालोकेन विना प्रदीपे बोधितः अपि भुंजानः] सूर्यके उजेले बिना (रात्रिको) दीपकके उजेलेमें देखकर भी भोजन करनेवाला जीव (मनुष्यादि) [भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानां हिंसां कथं परिहरेत्] भोजनमें पतित होनेवाले सूक्ष्म जीवोंकी हिंसाका त्याग कैसे कर सकता है ? अर्थात् कभी नहीं कर सकता—उसका होना अनिवार्य है ॥ १३३ ॥

भावार्थ—रात्रिके समय भोजन सामग्री (खाद्य वस्तुमें रसोईमें) में स्वयं ही असंख्यात जीव विचरते हुए उस रसोईमें गिर पड़ते हैं और वे भोजनके साथ भक्षण करनेमें मर जाते हैं, जिससे वह हिंसा रात्रिके खानेवालोंसे नहीं बच सकती, यह नियम है। अतएव रात्रिको भोजन छोड़ना अनिवार्य है, अवश्य त्याग देवें। ऐसा करनेसे जैन समाजमें धार्मिकता और श्रमणसंस्कृतिका संरक्षण—पालन हो सकता है। परन्तु दुःख है कि जैन समाजमें भी अधिकांश व्यक्ति अन्य लोगोंके सम्पर्कसे उनकी देखादेखी वैसा ही आचरण करने लगे हैं, जो रागकी प्रचुरताका द्योतक है, या धार्मिक श्रद्धाका अभाव जाहिर करता है। 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' धर्मात्मा बने बिना धर्म नहीं चल सकता। अर्थात् धर्मके पालनहारे धर्मात्मा ही हुआ करते हैं। धर्मसे बढ़कर कोई दूसरी चीज आत्माकी हितकारी नहीं है, अतः धर्मका बड़ा भारी महत्त्व[1] है। यद्यपि धर्मके अनेक रूप (प्रकार) संसारमें प्रचलित हैं तथापि सबसे उत्तम (उत्कृष्ट-अनुपम) धर्म 'अहिंसा' ही है। इस तथ्यको सभी विवेकीजन मानते हैं। किम्बहुना। यद्यपि धर्म आँखोंसे दिखनेवाली चीज नहीं है, तथापि उसका फल (बाह्यविभूतिरूप) अवश्य देखनेमें आता है। अतः उसपर विश्वास करके लोग बाह्य व्यवहारीधर्म धारण करते हैं। तथापि (निश्चय) में धर्म, अमूर्तिक व आत्माकी चीज है, उसका दर्शन या प्रत्यक्ष ज्ञाननेत्रके द्वारा ही होता है, जिसका फल पूर्ण सुख व शान्ति है। अतएव उसको जानना व प्राप्त करना मनुष्यका मुख्य कार्य है। अस्तु ॥ १३३ ॥

आगे आचार्य उपसंहार अर्थात् सबका सारांशरूप (निचोड़) कथन करते हैं।

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥१३४॥

पद्य

बहुत कहेसे क्या मतलब है, सार यही सबका जानो।
मनवचकाय तीन योगोंसे रात्रिभोज तजना मानो ॥

१. उक्तंच—धर्मो वसेन्मनसि यावदलं स तावद्धन्तान् हन्तुरपिपश्यगतेऽथतस्मिन्।
दृष्टा परस्परहतिर्जनकात्मजानां रक्षा ततोऽस्यजगतः खलु धर्म एव ॥२६॥
अर्थ—जबतक आत्मामें धर्म मौजूद रहता है तबतक शत्रु भी बदला नहीं ले सकता और जब धर्म नष्ट हो जाता है तब बाप बेटाको और बेटा बापको मार डालता है। फलतः धर्मसे ही संसारकी रक्षा होती है। इति ॥२६॥

पूर्ण अहिंसाधर्म वही है जो गुणिजन धारण करते।
कर्म काट शिवपुरको जाते सदा काल सुखमय रहते ॥१३४॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [किं वा बहुप्रलपितैः] बहुत विस्तार के साथ और बारंबार एक ही बातको कहनेसे कोई लाभ नहीं होता। अतएव [यः मनोवचनकायैः रात्रिभुक्तिं परिहरति] जो प्राणी (मनुष्य विवेकी) मन-वचन-काय इन तीन योगोंसे (भंगोंसे) रात्रिभोजनका त्याग करता है [स सततं अहिंसां पालयति] वह निरंतर (अहिंसा) को पालता है [इति सिद्धं] यह सारांश निकलता है (सिद्ध होता है) ॥ १३४ ॥

भावार्थ—इस ग्रंथमें मोक्षमार्गका अथवा 'अहिंसा धर्म'का मुख्यतासे निरूपण किया गया है (जिसके पालक—श्रावक व मुनि होते हैं) अस्तु। श्लोक नं० ४० से हिंसा (अधर्म)के साधनभूत पाँच पापोंका वर्णन किया है। फिर श्लोक नं० १११ से हिंसाके महान् साधन परिग्रह पापका विस्तारके साथ कथन किया है। उसके बाद श्लोक नं० १२९ से रात्रिभोजन पाप (परिग्रहके भेद)का विस्तारके साथ वर्णन किया है। और 'अहिंसा' धर्मको पालन करनेके लिये उक्त सभी बातोंका त्याग करना जरूरी वतलाया है, जिसका सारांश इस श्लोक (१३४) में बतलाया है। जब कोई विवेकी जीव वुद्धि व श्रद्धाबलसे हेय-उपादेयको समझकर वैसा आचरण (वृत्ति) करता है तभी वह संसारसे मुक्त होता है। धर्मका स्वरूप तभी समझमें आता है जबकि स्वपरका भेदज्ञान होता है। स्वपरका भेदज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानके अभाव होनेपर होता है, अतएव पेश्तर उनका भी अभाव (क्षय) करना अनिवार्य है। रत्नत्रयकी प्राप्ति करना ही 'पुरुषार्थ की सिद्धिका उपाय' है जो अहिंसा या वीतरागता रूप है किम्बहुना ॥ १३४ ॥

जो मुमुक्षु जीव निरन्तर रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गका सेवन करते हैं उनको मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है, यह फल दिखाते हैं।

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

पद्य

स्वहित चाहनेवालोंको यह, है उपदेश अन्तमें अब।
है हित उनका मोक्ष पदारथ, मार्ग तीन विध माने तब ॥
ऐसा निश्चय करके जो जन, मोक्ष मार्गमें लगते हैं।
मोक्ष उन्हें मिलता है जल्दी, जब उसमें वे पगते हैं ॥१३५॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [ये स्वहितकामाः अत्र त्रितयात्मनि मोक्षस्य मार्गे] आत्मकल्याणके इच्छुक (मुमुक्षु) जो भव्यजीव इस रत्नत्रयरूप मोक्षके मार्गमें [अनुपरतं प्रयतन्ते] निरन्तर प्रयत्न या पुरुषार्थ करते रहते हैं [ते अचिरेण मुक्तिं प्रयान्ति] वे जल्दी ही मोक्षको

चले जाते हैं अर्थात् मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं, यह फल बताया जाता है, इसे प्राप्त करना चाहिये ॥ १३५ ॥

भावार्थ—यह न्याय या नीति है कि बिना प्रयोजन या फलके कोई मूर्ख आदमी भी किसी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं करता किन्तु फल प्राप्त होनेके ही लोभसे हर कार्य करता है। तदनुसार सांसारिक सभी तरहके पदार्थ व तज्जन्य सुख आदिका त्याग करना सरल कार्य नहीं है उसका त्याग हर कोई नहीं कर सकता, परन्तु जिन भेदज्ञानियोंको यथार्थ ज्ञान हो जाता है, असली सुख व उसके साधनोंका तथा उनसे प्राप्त होनेवाले फलका पता लग जाता है वे उत्साहके साथ बिना भयके उन सांसारिक सभी चीजोंका त्याग बातकी बातमें कर देते हैं और उसके फलस्वरूप मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं यह तात्पर्य है। संसारी संसारके भोगविलासोंको छोड़नेमें भय व संकोच करते हैं वे कदापि मोक्ष नहीं जा सकते, संसारी मोक्ष ही एक ऐसा पदार्थ-निरुपद्रव निर्भय सुखमय अनुपम नित्य सुख सहित जीवन व्यतीत करते हैं। कर सकता। फलतः आत्महितैषी विवेकी जीव ही दुःखमय अनित्य चीजकी बराबरी कोई नहीं बदलेमें नित्य सुखमय चीज प्राप्त करते हैं यह विशेषता ज्ञानी व अज्ञानियोंमें का त्यागकर उसके मोक्षका मार्ग या उपाय निश्चयसे एक (रत्नत्रय) ही है—दूसरा नहीं है ऐसा है। लेकिन उस चाहिये, किम्बहुना। इस ग्रन्थमें व इस प्रकरणमें आचार्य महाराजका यह अन्तिम पक्का समझना अब सावधान होओ, गफलतमें व्यर्थ समय मत खोओ, यह नरभव मिलना म वक्तव्य है कि इत्यादि ॥ १३५ ॥ ा फिर कठिन है

उक्तं च

> त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं।
> स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ॥
> बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल—
> च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १९१ ॥ कलश

अर्थ—अशुद्धता या विकारको उत्पन्न करनेवाली चीजोंको अर्थात् सम्पूर्ण परद्रव्योंको छोड़कर जब ज्ञानी आत्मा अपने निज स्वरूपमें उपयोगको लगाता है तब वह अपराध है तथा उसका पूर्ण बंध नष्ट होता है। इस तरह भावबन्ध (रागादिरूप) और द्रव्यबंध से छूटता वरणादि कर्म नोकर्म) दोनोंसे छूटकर अर्थात् अपराधसे मुक्त होकर या शुद्ध निरपराध (ज्ञाना- जल्दी ही मोक्षको जाता है अन्यथा नहीं, यह भाव है। फलतः मुमुक्षुओंको यही सनातन होकर पकड़कर उसपर निःसन्देह चलना चाहिये तभी कल्याण होगा, यह निष्कर्ष है ॥ १३५ ॥ त मार्ग

छठवाँ अध्याय

सप्तशील प्रकरण

आचार्य व्रतों (पाँच अणुव्रतों)की रक्षाके लिये सात शीलोंका अर्थात् ३ गुणव्रत ४ शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हैं और पालनेका उपदेश देते हैं ।

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

पद्य

अणुव्रतोंकी रक्षा करना जिनको अति ही प्यारी है ।
सप्तशीलको पालन करनेके वे ही अधिकारी हैं ॥
सप्तशीलको पालन करके व्रतरक्षा हो जाती है ।
यथा नगरकी रक्षा देखो कोट खाईसे होती है ॥१३६॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [परिधय नगराणि इव] जैसे कोट व खाई नगरकी रक्षा करते हैं उसी तरह [किल शीलानि व्रतानि पालयन्ति] निश्चयसे सातशील अणुव्रतोंकी रक्षा करते हैं (कुशीलका प्रवेश नहीं होने देते) । [तस्मात् व्रतपालनाय शीलान्यपि पालनीयानि] इसलिये व्रतोंकी रक्षाके लिये सप्तशीलोंका पालना भी अनिवार्य है (अवश्य पालना चाहिये) ॥१३६॥

भावार्थ—मूलकी रक्षा (पूंजीकी रक्षा) करते हुए वृद्धि करना विवेकियों—समझदारोंका कर्त्तव्य है । इस न्यायसे जबतक मूलव्रतों (अणुव्रतों)की रक्षा न की जायगी तबतक आगे प्रगति (उन्नति) होना असम्भव है । ऐसी स्थितिमें मूलव्रतोंकी रक्षाका उपाय सातशीलोंका पालना ही है, उनके पालनेसे उनमें गड़वड़ी (दोष आदि) नहीं हो सकती । जिस प्रकार शहर या नगरके चारों ओर कोट खाईके रहनेसे डाकू चोरोंका प्रवेश नहीं हो पाता व शहरकी रक्षा रहती हैं तथा शहरकी उन्नति भी हो सकती है इसलिये शहरकी रक्षा करना अनिवार्य है । तात्पर्य इसका यह है कि जब व्रतीके भोगोपभोगके बाह्यसाधन सीमित हो जायंगे तब उनके बाहिर प्रवेश करना या प्रवृत्ति करना स्वतः बन्द हो जावेगी, तब वहाँ संबंधी अपराध भी न होगा, और बिना अपराधके सजा भी न मिलेगी, एवं अपने क्षेत्रमें ही चित्तवृत्ति स्थिर हो जावेगी, फलतः व्रतकी रक्षा बनी बनाई है, सुख व शान्ति, त्यागसे ही प्रकट होती है । गमनागमन, लेनदेन, खानपान, रहन सहन, आदि सब सीमित या परिमित हो जानेसे, आरम्भ परिग्रह कम हो जाता है, आकुलता चिन्ता कम हो जाती है, जिसका नतीजा संसारवास भी कम हो जाता है, तथा आत्माके गुणोंकी वृद्धि होती

है इत्यादि सारांश है। जबतक बाह्यपरिग्रहका सम्बन्ध (संयोग) रहता है तबतक हिंसा आदि पापोंसे आत्माकी रक्षा करना अनिवार्य है और सदाचारसे रहना भी महज जरूरी है यही सब शील पालनेका प्रयोजन है इत्यादि ॥१३६॥

नोट—परिधिकी उपमा–वारी या रोक लगानेसे है। अतएव 'अहिंसा' आदि सभी अणुव्रतोंकी रक्षाका उपाय करना जरूरी है अर्थात् अतिचारोंके न लगने देनेसे ही मूलव्रतकी रक्षा होना सम्भव है। नौ तरहसे अर्थात् नौ भंगोंसे व्रतका पालना अथवा रक्षा करना खंडित न होने देना ही शील (स्वभावभाव)की रक्षा करना है।

ब्रह्मचर्य व्रतकी रक्षाके लिये निम्नलिखित बाह्यसाधनोंका त्याग करना चाहिये।

तियथल[1]वास, प्रेमरुचिनिर[2]खन, देखरीझ भाखन[3]मधु बैन।
पूरवभोगकेलि रस[4]चिंन्तन, गरुय अहार लेत[5] चित चैन ॥
कर शुचितन श्रृं[6]गार बनावत, तियपर्य[7]ंक मध्य सुख सैन[8]।
मन्मथ[9]कथा, उदरभर[10] भोजन, ये नवबाढ़ जान मत जैन ॥१॥

ज्ञानार्णवमें १० दोष टालना बतलाया है, इनसे उनमें कुछ अन्तर है। पर वे भी निषिद्ध हैं। ब्रह्मचर्य व्रतमें बाधक हैं गिनती लिखनेसे मर्यादा सिद्ध नहीं होती, अपितु एक तरहकी जाति मालूम होती है ऐसा समझना चाहिये। इयत्ता (परिमाण)का निश्चय करना अल्पज्ञानियोंके वशकी बात नहीं है, अस्तु ॥१३६॥

आचार्य अणुव्रतोंकी रक्षाके लिये १ पहिला साधन (शील) (१) दिग्व्रतनामका बतलाते हैं जिसका दूसरा नाम 'गुणव्रत' है।

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्त्तव्या विरतिरविचलिता ॥१३७॥

पद्य

दशों दिशाओंमें प्रसिद्ध जो पर्वत आदि ठिकाने हैं।
मर्यादा उन तक ही करके आगे कभी न जाना है ॥
ऐसा प्रण त्रियोगसे करके पूर्वदिशादिकका तजना।
अटल प्रतिज्ञा करनेपर ही दिग्व्रत धारण है शरना ॥१३७॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [सर्वतोऽपि सुप्रसिद्धैः अभिज्ञानैः मर्यादां प्रविधाय] त्रियोग द्वारा सर्वत्र लोकप्रसिद्ध पर्वतादिकके ठिकानो (चिह्नों)की मर्यादा (सीमा) करके जो [प्राच्यादिभ्यः दिग्भ्यः अविचलिता विरतिः कर्त्तव्या] पूर्वादिदिशाओंमें आगे न बरतने (प्रवृत्ति या

---

१. चिह्न या लिङ्ग।

व्यवहार न करने) का पक्का या अटल त्याग किया जाता है, वही दिग्व्रत कहलाता है ॥१३७॥

भावार्थ—लोकप्रसिद्ध स्थानोंतक वरतनेकी मनवचनकायसे अटल प्रतिज्ञा करके दशों दिशाओंमें उस मर्यादाके आगे जीवनपर्यन्त कभी नहीं वरतना दिग्व्रत कहलाता है, उससे आगे सव तरहका व्यवहार छोड़ देनेसे वहाँ सभी पाँचों पाप वच जाते हैं—नहीं लगते हैं अतएव उनसे व्रती आत्माकी रक्षा वरावर होती व हो सकती है, कोई सन्देहकी वात नहीं है। प्रारम्भमें जवतक जीव संयोगी पर्यायमें रहता है तवतक पूर्ण परिग्रह या पापोंका त्याग करना सम्भव नहीं होता (असम्भव व अशक्य है) अतएव क्रम-क्रमसे ही थोड़ा-थोड़ा त्याग किया जाता है तभी वह पूर्णताको प्राप्त होता है। ऐसी स्थितिमें जीव अनादिकालसे अशुद्ध या संयुक्त अवस्थामें ही रहता आया है अतः क्रम-क्रमसे ही उससे पृथक् होना सम्भव है। आत्मशक्तिका भी विकास एक साथ पूरा नहीं होता। तव पूर्णताका लक्ष्य कायम रखते हुये शनैः त्याग करते-करते आगे बढ़ना चाहिये, यह पूर्व परम्परा है। जव एक पाँव पूरा जम जाय तव दूसरा पाँव उठाया जाय अर्थात् दिग्व्रतमें परिपक्व हो जानेपर ही देशव्रत धारण किया जाय यह आदेश है—जिनाज्ञा है, अस्तु। इसका ध्यान रखना चाहिये, परन्तु दिग्व्रत यमरूपसे (जीवनपर्यन्त) होता है यह उसमें विशेषता है यह ध्यान रखना चाहिये ॥१३७॥

आगे आचार्य दिग्व्रत धारण करनेका फल (लाभ) वतलाते हैं।

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो वहिस्तस्य।
सकलासंयमविरहात् भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥१३८॥

पद्य

मर्यादा के भीतर ही जो प्रवृत्ति अपनी करता है।
मर्यादा के वाहर उसके सकल असंयम टरता है॥
तव उसके नित पलत अहिंसा व्रत रक्षा तव होती है।
इसी विधि से करते-करते पूर्ण अहिंसा पलती है॥१३८॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [इति नियमितदिग्भागे यः प्रवर्त्तते] पूर्वोक्तप्रकार दिशाओंकी मर्यादा (दिग्व्रत) के भीतर जो अणुव्रती प्राणी प्रवृत्ति करता है [तस्य ततो वहिः सकलासंयमविरहात्] उसके मर्यादाके बाहिर सम्पूर्ण असंयम (हिंसा) का अभाव होनेसे [पूर्णं अहिंसा व्रतं भवति] पूर्ण अहिंसाव्रत पलता है अर्थात् उपचारसे प्राप्त हो जाता है ऐसा समझना चाहिये ॥१३८॥

भावार्थ—हिंसाका या असंयमका न होना ही 'अहिंसा व्रत' कहलाता है। तदनुसार मर्यादा के वाहर जव विलकुल सम्वन्ध छूट जाता है—कोई प्रवृत्ति नहीं होती न कोई कारोवार होता

है तब वहाँ सम्बन्धी हिंसा आदि पाप कैसे लगेगा? नहीं लग सकता, अतएव वहाँ पूर्ण अहिंसा व्रतका होना सम्भव है।

नोट—यद्यपि वह श्रावक अणुव्रती ही कहलाता है—महाव्रती नहीं हो जाता, परन्तु उपचारसे तत्सदृश वहाँ हो जाता है यह तात्पर्य है। अतएव दिग्व्रत धारण करना ही चाहिए उससे बड़ा लाभ होता है—हिंसा आदि पाँचों पाप नहीं होते, जिससे बन्ध होना भी बन्द हो जाता है, संसार कम हो जाता है इत्यादि। उक्त क्रमसे ही लक्ष्य पूर्ति होती है, किम्बहुना।

आगे आचार्य देशव्रत (सीमाके भीतर सीमा करना) नामके गुणव्रतका भी उपदेश देते हैं।

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापण[1]भवनपाट[2]कादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशा[3]त् ॥१३९॥

पद्य

दिग्व्रत में भी कमती करना देशविरत कहलाता है।
नियत कालतक कमती करना, बड़ सीमा में होता है॥
ग्राम बजार मकान मुहल्ला, सीमित इसमें होता है।
आगे हिंसा पाप बचत है, धर्म अहिंसा पलता है॥१३९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [च तत्रापि नियतकालं] उस दिग्व्रतकी सीमाके भीतर ही नियत कालतक (समय-समयपर सुविधानुसार) [ग्रामापणभवनपाटकादीनां परिमाणं प्रविधाय] किसी गाँव या बाजार (हाट) मकान (किला वगैरह) मुहल्ला आदिकी सीमा करके [देशात् विरमणं करणीयम्] उस सीमित क्षेत्रसे बाहर (आगे) का त्याग कर देना चाहिये—उसको देशव्रत कहते हैं॥१३९॥

भावार्थ—दिग्व्रत और देशव्रत दोनोंमें क्षेत्रका परिमाण (सीमा-मर्यादा) होता है परन्तु दिग्व्रतमें परिमाण जन्म पर्यन्तको किया जाता है और देशव्रतमेंमें परिमाण अल्प समयको सुविधानुसार किया जाता है, यह दोनोंमें भेद है। यह सब क्षेत्रन्यास करनेका क्रम व अभ्यास है जो समयपर (अन्तिम समय) काम देता है। निःशल्य होनेका एवं रागादि छूटनेका यही तरीका (मेथड) है। ऐसा करनेसे महान् लाभ होता है। अणुव्रती–पंचमगुणस्थानवाला देशव्रती या संयमासंयमी (नैष्टिक श्रावक) ऐसा ही हमेशा करता रहता है कि आज हम अमुक स्थान तक ही प्रवर्त्तन (कारोबार या व्यापार) करेंगे, आगे नहीं इत्यादि। तब इच्छाओंके सीमित हो जानेसे

---

१. बाजार।
२. मुहल्ला।
३. क्षेत्र—परिमित क्षेत्रसे आगे और दिग्व्रत क्षेत्रके भीतर।

विकल्प कम होते हैं, राग छूट जाता है—संवर हो जाता है—बंध नहीं होता और वैराग्य होनेसे पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा भी होती है। यह सब ध्यान देनेकी बात है। जब यह निश्चित है कि एक साथ एक काल सर्वत्र प्रवर्त्तन नहीं हो सकता तब उसका त्याग कर देना ही असमर्थतामें उत्तम है बुद्धिमानी है, व्यर्थ ही विना प्रवर्त्तन किये अपराधी क्यों बना जाय ? नहीं बनना चाहिये।

ज्ञानीके ज्ञानधारा व कर्मधारा दोनों साथ-साथ बहती हैं अतएव वह संयोगी पर्यायमें तमाम कार्य करता हुआ भी ज्ञानधारासे उन पर्यायाश्रित कार्योंका कर्त्ता या स्वामी नहीं बनता, सबको विकार या औपधिकभाव समझता है एवं उन सबसे विरक्त या उदासीन रहता है, अरुचि करता है। फलस्वरूप उनके प्रति हमेशा हेयबुद्धि रहती है, उनके होनेमें उसे प्रसन्नता (खुशी) नहीं होती, पीड़ा न सह सकनेके कारण वह कड़वी औषधिकी तरह उनका सेवन बाध्य होकर करता है यह विशेषता उसके पाई जाती है। जीवनका मूल्य वीतरागता व विज्ञानता ही है।

नोट—मर्यादाका काल, इसमें दिन रात्रि पक्ष महीना ऋतु (दो माह) अयन (छह माह) संवत्सर (एक वर्ष) आदि रूप होता है। उसी क्रमसे करना चाहिये, अस्तु ॥१३९॥

आगे क्षेत्रपरिमाण (देशव्रत) करनेका फल (लाभ) आचार्य बताते हैं।

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् ।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥१४०॥

पद्य

देशव्रतीके हिंसा होती अल्प, बहुत हिंसा टलती।
इसीलिये बहुलाभ होत है, बहुत अहिंसा भी पलती ॥
ऐसा सोच विचार करत है, विज्ञानी निर्मल बुद्धिः।
उसको फल तत्काल मिलत है, पूर्ण अहिंसामय शुद्धिः ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [विमलमतिः इति बहुदेशात् विरतः] भेदविज्ञानी निर्मल-बुद्धिका धारक श्रावक पूर्वोक्त प्रकार बहुतक्षेत्रमें प्रवर्त्तन (व्यवहार—आनाजाना आदि) बन्द कर देनेसे अर्थात् अल्प या सीमित क्षेत्रमें निर्वाह, प्रवृत्ति या कारोबार करनेसे [नियतकालं तदुत्थ-हिंसाविशेषपरिहारात्] नियतकाल तक बहुत क्षेत्रमें (दिग्व्रतमें) निर्वाह करनेसे उत्पन्न होने-वाली अधिक हिंसाके त्यागसे [विशेषेण अहिंसां श्रयति] विशेष अहिंसाको प्राप्त कर लेता है, इस तरह लाभ होता है ॥ १४० ॥

भावार्थ—नियत काल तक अर्थात् कालकी मर्यादा लेकर किये हुए त्याग पर्यन्त, क्या होगा कि अधिक क्षेत्र व उसमें होनेवाले प्रवर्त्तन (निर्वाह)का त्याग कर देनेसे तत्संबंधी अधिक हिंसा न होकर सिर्फ वर्तमानमें उपयोग आनेवाले क्षेत्रके भीतर ही अल्पहिंसा होगी और बहुत अहिंसाव्रत (संयम) पलेगा, यह लाभ होगा, ऐसा विचार करके ही विवेकी दूरदर्शी पुरुष

दिग्व्रतादि धारण करते हैं व क्रमशः उच्चपद या सकल संयम या महाव्रतको प्राप्तकर मुनि वनते हैं और आगे बढ़ने-बढ़ते यथाख्यात चारित्रके धारी सर्वज्ञ केवली हो जाते हैं किम्वहुना। आत्माकी शक्ति अचिन्त्य है एवं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानकी महिमा अपम्पार है यह दिग्व्रतादिका फल है अतएव अवश्य धारण करना चाहिये, यही मोक्षका मार्ग है जो निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो तरहका होता है पेश्तर यह कहा जा चुका है ॥ १४० ॥

तीसरा गुणव्रत, अनर्थदंडत्याग है। उसके पाँच भेद हैं। उनमेंसे पहिले अपध्यानका त्याग करना वताते हैं।

पापर्द्धिजयपराजयसंगरपरदारगमनचौर्याद्याः।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४१॥

पद्य

विना प्रयोजन कार्य जगत्में करना अनरथ कहलाते।
उनका दंड अवश्य ही मिलता त्याग इसीसे करवाते॥
पापवृद्धिके करनेवाले जीत हार विकलप करना।
सेवन परस्त्री अरु चोरी आदि करनमें चित धरना॥
अपध्यान है नाम इसीका प्रथम भेद इसको जानो।
इसका त्याग करेसे मित्रो! अणुव्रतकी रक्षा मानो॥१४१॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [पापर्द्धिजयपराजयसंगरपरदारगमनचौर्याद्याः कदाचनापि न चिन्त्याः] निष्प्रयोजन, जिनसे अपनेको कुछ मिलना-जुलना न हो ऐसे पापवर्द्धक खोटे विचारोंका करना, या खोटा चिन्तवन करना, अनर्थदंड कहलाता है। जैसे कि, उसकी जीत हो जाय, उसकी हार हो जाय, उनकी लड़ाई हो जाय, उसकी स्त्री मेरी स्त्री वन जाय या मुझे वह मिल जाय, उसकी मैं चोरी कर लूँ या उसकी चोरी हो जाय, इत्यादि विकल्प या आर्त्त रौद्र परिणाम करना, खुशी मनाना अनर्थदंड (व्यर्थका अपराध) कहलाता है—वह कभी नहीं करना चाहिये अर्थात् उसका वुद्धिमानोंको त्याग ही कर देना चाहिये [यस्मात् केवलं पापफलं भवति] क्योंकि उससे सिर्फ पापका ही वंध होता है—वही मिलता है और उसका फल दुःख ही परभवमें व इस भवमें मिलता है, किन्तु चिन्तवन की हुई चीजोंमेंसे कुछ नहीं मिलता, यह तात्पर्य है ॥ १४१ ॥

भावार्थ—अपध्यान (खोटा विचार व चिन्तवन) का फल या नतीजा खोटा ही (हानिकारक) होता है—कभी अच्छा नहीं हो सकता, अतएव वह त्याज्य ही है। उससे भावहिंसा होती है—वे विकारी परिणाम हैं (विभाव भाव हैं, स्वभाव भावके विघातक हैं) तव उस जीवके 'अहिंसा आदि अणुव्रत' नहीं पल सकते, यह निश्चित है। इसलिये अणुव्रतीको विना प्रयोजनके अर्थात् अप्रयोजनीभूत कार्य करना वन्द ही कर देना चाहिये तथा प्रयोजनभूत कार्योंमेंसे भी

कमती कर देना चाहिये। संसारी जीव, रागद्वेष मोहवश संयोगी पर्यायमें न जाने कितने विकल्प उठाते रहते हैं जिनसे कुछ मतलब (स्वार्थ) ही नहीं निकलता। इसीसे संसारकी वृद्धि होती रहती है। हीनता नहीं होती यह दुःखकी बात है। यद्यपि व्यवहार दशामें परका आलम्बन लेना अनिवार्य रहता है (पराश्रितो व्यवहारः) तथापि विवेकबुद्धि तो होना ही चाहिये, जिससे संसार घटे। परन्तु अज्ञानी जीव विना विवेकके अन्धाधुन्ध परका आलम्बन करते रहते हैं और उसमें अपनायत (एकत्व आत्मीयता) करके कर्त्तव्य पालन नहीं करते। स्वभावसे एकाकी (एकत्व विभक्तरूप) आत्मा जबतक परका सम्बन्ध विच्छेद नहीं करता तबतक संसारसे पार नहीं हो सकता तथा विकल्प नहीं छूट सकते इत्यादि।

नोट—श्लोकमें 'चौर्याद्याः' पद है, उससे किसीको मारने या बरवाद होने, बंधनमें डालने, अंगोपांग छेदने, सर्वस्व हरण करने, कष्ट देने आदिका खोटा चिन्तवन करना भी मना है ऐसा समझना चाहिये, अहिंसाका पालन मनवचनकायसे होना चाहिये, अर्थात् मनमें वुरा चिन्तवन नहीं करना, कायसे वैसा खोटा कार्य नहीं करना, वचनसे वैसे बोल न बोलना, तभी वह व्रत रक्षित रह सकता है॥ १४१॥

आचार्य अनर्थदंडके दूसरे भेद पापोपदेशका त्याग करना वतलाते हैं।

विद्या[1]वाणिज्य[2]मषी[3]कृषि[4]सेवा[5]शिल्प[6]जीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव करणीयम्॥१४२॥

पद्य

विद्यादिक छह कार्योंसे जो गुजर बसर अपनी करते।
उन्हें कभी उपदेश पापका देना नहिं शिक्षा देते॥
हिंसा कार्य बताकर उनकी जो वृद्धि करना चहते।
नहीं हितैषी वे है उनके निजपरको बधन करते॥१४२॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्] कला, व्यापार, मुनीमी, खेती, नौकरी, मकान आदि बनाना इन छह आजीविकाके साधनों द्वारा आजीविका करने वाले गृहस्थों अर्थात् कर्मभूमिके मनुष्योंको (सात्त्विक जीवन वितानेवालोंको)

१. कला-गाना वजाना आदि।
२. व्यापार खरीद वेचना।
३. मुनीमी आदि लिखापढ़ी।
४. खेती किसानी।
५. नौकरी-सिपाहीगिरि आदि।
६. कारीगरी मकानादि वनाना।

[पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव करणीयम्] पाप कार्यका अर्थात् पापमय आजीविका करनेका, उपदेश (शिक्षा) कभी नहीं देना चाहिये—वह वर्जनीय है क्योंकि उससे अनर्थदंड होता है अर्थात् व्यर्थ ही पापका वंध होता है। अणुव्रतीका वह कर्त्तव्य नहीं है, कारण कि उससे अहिंसाव्रत नहीं पल सकता, यह हानि है ॥ १४२ ॥

भावार्थ—मुख्य लक्ष्य (अणुव्रतोंकी रक्षा)की ओर सदैव दृष्टि रखना विवेकी पुरुषोंका कर्त्तव्य है। तदनुसार अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिये हर संभव उपाय करना चाहिये (अनिवार्य है)। परीक्षा मौकेपर ही होती है, अतएव व्रतीको स्वयं अपनी आजीविका उक्त छह कार्यों (साधनों) मेंसे अपने योग्य कार्यों द्वारा करना चाहिये। किन्तु लोभ लालचमें आकर हिंसावर्द्धक आजीविका कभी नहीं करना चाहिये और दूसरे गृहस्थोंके लिये भी हिंसापापमय आजीविकाका उपदेश नहीं देना चाहिये, तभी उसका अणुव्रत रक्षित रह सकता है अन्यथा नहीं, यह तात्पर्य है या सारांश है। व्रती विवेकी पुरुष अन्याय व पापसे सदैव डरते रहते हैं, यह उनकी विशेषता है या साधारण जनसे भिन्नता (व्यावृत्ति) है। लोकेषणामें (लोक ख्यातिमें) पड़कर कभी अनर्थका कार्य नहीं करना चाहिये। यद्यपि लोभका संवरण करना बड़ा कठिन है—वह ही पापका वाप (जड़) बतलाया गया है, उससे सभी पाप, जीव करने लगता है। वह १० वें गुणस्थान तक साथमें जाता है और समस्त पाप प्रकृतियोंका वंधन करता है तथापि धर्मवीर विवेकीके लिये कोई असाध्य नही है, वह सबकुछ साध्य कर सकता है, अतएव शक्तिको संभालते हुए कायर नहीं बनना चाहिये। आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है किम्बहुना। आत्मशक्तिका परिचय, विकारके कारण उपस्थित होनेपर भी स्वयं विकृत न होनेपर ही तो मिलता है, यही अटलता कहलाती है अस्तु। ध्यान रहे।

नोट—आदिनाथ भगवान्‌ने कर्मभूमिके प्रारंभमें उपर्युक्त ६ कर्मोंका उपदेश आजीविका चलानेको दिया था। इनमें प्राय. संकल्पी हिंसा नहीं होती, यह खास विशेषता पाई जाती है— संकल्पी हिंसा सबसे बड़ा पाप है इत्यादि।

आचार्य तीसरा भेद प्रमाद[1]चर्या (आचरण)का त्याग बतलाते हैं।

भूखननवृक्षमोटनशाड्[2]वलदलनाम्बुसेचनादीनि ।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३॥

पद्य

विना प्रयोजन पृथ्वी जल अरु अग्नि वनस्पति तजना है।
जिससे हिंसा पाप न होवे व्रत रक्षा नित करना है॥
प्रयोजनभूत न तज सकता है श्रावक पृथ्वी आदिकको।
फिर भी व्यर्थ दोष नहिं लगता विना प्रयोजन त्यागीको ॥१४३॥

---

१. तीव्रकषाय—विवेकशून्यता।
२. हरा घास।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [निष्कारणं भूखननवृक्षमोटनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि] निष्प्रयोजन (अप्रयोजनभूत वेमतलव) पृथ्वी या जमीनका खोदना, वृक्षोंका काटना, हरा घास या वनस्पतिको काटना उखाड़ना, पानी उड़ेलना (सींचना) [च दलफलकुसुमोच्चयानपि] और पत्र फलफूल आदिका संचय करना भी [न कुर्यात्] नहीं करना चाहिये अर्थात् वर्जनीय है, कारण कि वह अनर्थदंड है अतः उसका त्याग करना व्रतीको व्रतरक्षाके लिये अनिवार्य है ॥१४३॥

भावार्थ—निष्प्रयोजन (जरूरतसे ज्यादह या जरूरतके विना) कार्य करना 'अनर्थदंड' कहलाता है। ऐसी स्थितिमें गृहस्थ श्रावक अपने पद और आवश्यकताके अनुसार पृथ्वी आदि पाँच स्थावरोंकी हिंसा कर सकता है, कारण कि उसका सम्बन्ध उनके साथ रहता है। आजीविकाके लिये खेती करता है—बाग बगीचा लगाता है, मवेशी रखता है, घास-पत्ती संग्रह करता है फलफूल उपयोगमें लाता है क्योंकि उनके विना उसका कार्य नहीं चल सकता। अतः वे गृहस्थाश्रममें अनिवार्य हैं (जरूरी हैं) फलतः उन कार्योंके करनेकी उसकी आज्ञा (विधि) है। किन्तु सबकी सीमा निर्धारित है, अर्थात् जितनी जरूरत हो (जितनेसे प्रयोजन हो) उतना ही वह वर्त्तावमें लावे—उससे अधिक उपयोगमें न लावे, यह कैद है। अन्यथा वही कार्य अनर्थदंडमें शामिल हो जाता है जो वर्जनीय है। यही एकदेश व्रतका अर्थ (मायना) है, ऐसा करनेसे ही उसकी रक्षा हो सकती है अस्तु[1] ॥१४३॥

आचार्य चौथा भेद (४) हिंसादान नामक अनर्थदंडका त्याग करना बताते हैं।

असिधेनुविषहुताशनलांगलकरवालकार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां[2] हिंसायाः[3] परिहरेत् यत्नात् ॥१४४॥

पद्य

हिंसाके उपकरण न देना छुरी कटारी आदिक को।
उनके देनेसे लगती है, हिंसा अनरथत्यागी को ॥

---

१. उक्तं च १—भूपयः पवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम् ।
यावत् प्रयोजनं स्वस्य, तावत्कुर्यादयं तु तत् ॥ यशस्तिलककाव्य ॥

अर्थ—पृथ्वी जल वायु अग्नि वनस्पति आदिसे जितना अपना प्रयोजन हो उतनी हिंसा गृहस्थ कर सकता है, वह अनुचित नहीं है किन्तु उससे अधिक (अप्रयोजनभूत) करना अनुचित व वर्जनीय है इति।

२. वितरणका अर्थ देना अथवा स्वयं प्रयोग करना समझना चाहिये।

३. हिंसाके उपकरण (साधन) जितने भी हों उन सबका वितरण करना या रखना निषिद्ध है क्योंकि जिनका नाम लिखा गया है उतने ही साधन नहीं है। कुत्ता, विल्ली आदि हिंसक जानवरोंका रखना भी मना है।

अत: अनर्थव्रती वह होता, जब उपकरणादिक नहिं देवे।
अपनेसे अतिरिक्त जनोंको जो नित हिंसादिक सेवे ॥१४४॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हिंसाया: उपकरणानां] अणुव्रतीका कर्त्तव्य है कि वह हिंसाके उपकरणों (साधनों)का जैसे कि [असिधेनुविषहुताशनलांगलकरवालकार्मुकादीनां] छुरी-कटारी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुषवाण, आदि चीजोंका [वितरणं यत्नात् परिहरेत्] पर-स्वार्थके लिये देना (जो हिंसक मनुष्य हों) विवेक और चतुराई सहित वन्द कर देवे, जिससे उनको वुरा न लगे इत्यादि अथवा स्वयं भी उनका उपयोग वड़ी सावधानीसे करे, जिससे हिंसा न होने पावे। तभी हिंसादान अनर्थदंडका त्याग करना कहलावेगा ॥१४४॥

भावार्थ—अणुव्रती श्रावक श्लोकमें लिखी हुई वस्तुएं अपने प्रयोजनके लिये (रक्षाके लिये) वरावर रख सकता है—उनके रखनेकी मनाही नहीं है कारण कि अपनी रक्षाके लिये वह उनको रखता है जब कि वह गृहस्थाश्रममें है। पदपदपर उनकी जरूरत पड़ना सम्भव है। हाँ, वह सिर्फ अपनी रक्षाके लिये ही रख सकता है किन्तु परस्वार्थके लिये नहीं रख सकता और प्रयोजनसे अधिक भी नहीं रख सकता, अन्यथा उसको नैमित्तिक दोष (हिंसा) लगेगा इत्यादि—तभी तो इस श्लोकमें 'यत्नात् व वितरणं' पद लिखा गया है कि वड़े यत्नसे अर्थात् चतुराई व सावधानीके साथ अपने ही पासमे रखे व प्रयोग करे, अन्य किसी अविश्वासीको हिंसाके लिये न देवे न यश प्राप्त करे (बड़वारी न चाहे) तथा ऐसा भी न करे कि जरूरतसे ज्यादह परस्वार्थके लिये रखे, क्योंकि उससे हानि होती है–निमित्त मिला देनेसे उसका अपराध दानीको लगता है। कारण कि जव किसी जीवके विशेष रागद्वेष होता है तभी वह परोपकार या परस्वार्थकी भावना रखता है एवं उसके वाह्यसाधन मिला देता है। फलत: उन परिणामों (भावों)का फल उसे अवश्य मिलता है यह तात्पर्य है। अतएव हिंसाके साधनोंको दूसरोंके लिये हिंसाके खातिर कभी नहीं देना चाहिये तभी व्रतकी रक्षा हो सकती है। यहांपर यदि कोई यह तर्क करे कि कदाचित् अपने साधनों (हथयार आदि)से दूसरोंकी रक्षा भलाई होती है तो देनेवालेको दयालुतासे (करूणा भावसे) उपकरण दे देना चाहिये। उससे देनेवालेकी लोकमें बड़वारी (प्रशंसा-कीर्ति) होगी और दयाका फल लगेगा (पुण्यवंध होगा) इत्यादि लाभ भी होगा ? इसका समाधान (उत्तर) इस प्रकार है कि वैसा तर्क करना गलत धारण है अर्थात् अज्ञानता है। जैसे कि कोई यह कहे कि 'शेर या सिंह'को मार डालनेसे अनेक जीवोंकी रक्षा होती है अर्थात् उनपर दया या करुणा करना होता है या पलता है, जिससे पुण्यका बन्ध हो सकता है अतएव शेर (हिंसक)को मार डालनेमें कोई हानि नहीं है अर्थात् मार डालना चाहिये कोई पाप नहीं है इत्यादि। वह सव गलत ख्याल है। भावुकतामें दूसरेको मार डालनेवाले शिकारोको यह भी तो सोचना चाहिये कि जब कोई क्रूर परिणाम (अदयारूप) करके शेरको मारता है तब उसके दया परिणाम कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता, फिर पुण्यका बन्ध कैसे होगा ? किसी भी जीवका मारना दयासे नहीं होता अदयासे होता है, उससे पाप ही वंधता है। अत: गलत धारणा नहीं करना

चाहिये[1]। संक्लेशता और दयाका परस्पर विरोध है अस्तु। कोई पैसेके लोभसे परोपकारके नामपर कार्य करता है तो कोई ख्याति प्रतिष्ठाके लोभसे कार्य करता है परन्तु दोनों ही बुरे कार्य हैं यतः वह सापेक्षता है, निरपेक्षता नहीं है अतः हेय है। तर्कका विशेष समाधान इस प्रकार है कि इसका कोई भरोसा (गारंटी) भी नहीं है कि शेर मर ही जायगा व अनेक जीव बच ही जावेंगे मरेंगे नहीं। कदाचित् निशाना चूक गया तो क्या होगा ? और जीवोंको मरना ही होगा तो क्या होगा ? जो होनहार है वह होगी ही, तब फिर अपने भावोंको क्यों बिगाड़ना। विवेकीजीव सदैव अच्छा विचार करते रहते हैं वही कर्त्तव्य है ॥१४४॥

आगे आचार्य—दुश्रुतिनामक (५) पांचवें अनर्थदंडका त्याग कराते हैं।

रागादिवर्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षाणादीनि ॥१४५॥

पद्य

जिनसे रागद्वेष बढ़ता है, ऐसी दुष्ट कथाओंका।
सुनना-पढ़ना शिक्षा देना, कर्त्तव नहिं है व्रतियोंका ॥
व्रती सदा दृष्टि रखते हैं, व्रतकी रक्षा करनेकी।
दोष हटानेसे वह होती, दुष्ट कथा नहिं सुननेकी ॥१४५॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जो दुःश्रुति नामक अनर्थदंडका त्यागी (अणुव्रती) हो उसको [अबोधबहुलानां रागादिवर्धनानां दुष्टकथानां] अज्ञान और मिथ्यात्वसे भरी हुई (पोषक) तथा रागद्वेषको बढ़ानेवाली ऐसी खोटी (खराब) कथा कहानियों–चर्चाओंका [कदाचन श्रवणार्जनशिक्षणादीनि न कुर्वीत] कभी सुनना-पढ़ना याद करना–शिक्षा देना नहीं चाहिये अर्थात् वह उक्त कार्य कभी न करे, तभी दुःश्रुतित्याग अणुव्रत सुरक्षित रह सकता है याने पल सकता है ॥१४५॥

भावार्थ—खेतकी रक्षाको जिस प्रकार वाड़ी (तार वगैरह)का लगाना जरूरी है उसी तरह व्रतोंकी रक्षाके लिये, मन वचन काय व कषायोंका रोकना, उनको नियंत्रणमें रखना अनिवार्य है। फलतः दुष्ट कथाओंके सुनने आदिका राग (कषाय) नहीं करना यही बंधन या वारी है। रागद्वेष आदिके वशीभूत होकर ही प्राणी खोटी कथाकहानियों (मनगढ़न्त उपन्यास आदि कषाय पोषक) वार्त्ताओंको वड़ी दिलचस्पीके साथ सुनता है हर्ष विषाद करता है, स्वयं पढ़ता है दूसरोंको पढ़ाता है प्रेरित करता है जिससे कर्मबन्ध होता है और कुमार्गका प्रचार होता है, व निजको कुछ लाभ होता नहीं है। अतएव अनर्थ जानकर विवेकियोंको उनका त्याग करना ही बतलाया गया है। उक्तं च–'आतमके अहित विषय कषाय इनमें मेरी परिणति न जाय' इत्यादि।

१. अपना घर जलाकर तमाशा नहीं देखना चाहिये, यह लोकनीति है। अपनी हिंसा करके परकी दया नहीं करना चाहिये।

विवेकी त्यागी व्रती पुरुष अपना समय, स्वाध्याय-तत्त्वचर्चा पूजा भक्ति संयम सामायिक आदि अच्छे कार्योंमें व्यतीत करते हैं—समयका सदुपयोग करते हैं, दुरुपयोग नहीं करते—रागादिवर्द्धक कथा उपन्यास, कोकशास्त्र आदि नहीं पढ़ते सुनते व सुनाते हैं किम्बहुना। सदैव पापोंसे डरते रहना चाहिये और अहिंसाका ख्याल रखना चाहिये तथा यथासंभव वैसा कार्य (बरताव) भी करना चाहिये ॥१४५॥

इस तरह

नामोंके अनुसार यहाँतक अनर्थदंडके पाँच भेद बतलाए गये हैं।

विशेष प्रकरण (विवरण)

आचार्य अनर्थदंडके सिलसिलेमें ही, अनर्थकारी जुआ (द्यूत) आदिका भी त्याग करनेका उपदेश देते हैं, उससे व्रतरक्षा होती है वह अनर्थोंकी जड़ है।

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य[1] सद्म[2] मायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्[3] ॥१४६॥

पद्य

सब अनर्थका मूल, दगाबाजीका घर है।
चोरी झूठ अन्याय, अशुचिका कूड़ाघर है॥
हिंसाका है स्रोत, खजाना व्यसनोंका है।
ऐसा जुआ जु छोड़, व्रती कर तब तेरा है ॥१४६॥

अन्वय अर्थ—आचार्य अनर्थदंडके सिलसिलेमें ही कहते हैं कि [द्यूतं सर्वानर्थप्रथमं शौचस्य मथनं मायायाः सद्म, चौर्यासत्यास्पदं] जुआ (व्यसन) सभी अनर्थोंका मुखिया (जड़ या राजा) है तथा निर्लोभताका भक्षक (नाशक) है, माया दगाबाजी छल कपटका घर (खान या खराब स्थान कूड़ा घर) है, चोरी और झूठका अड्डा (स्टेन्ड) है अतएव [दूरात्परिहरणीयम्] अणुव्रतियोंको (प्रारंभिक त्यागियोंको) वह दूरसे ही छोड़ देना चाहिये, नहीं खेलना चाहिये ॥१४६॥

भावार्थ—व्यसनों या अनर्थोंका राजा जुआ महापाप माना गया है। उसके होते सभी पाप हो जाते हैं। उसके बारेमें शास्त्रोंमें बड़ी-बड़ी कथाए हैं। अतएव उसका त्यागना भी व्रतीके लिये अनिवार्य है। परन्तु साधारणतः गृहस्थ (अव्रती)के लिये भी वह वर्जनीय है। कारण कि वह पापोंका कूड़ा घर है—जीवनको बरबाद कर देता है। जुआड़ी मद्य, मांस सेवन करने लगता है, चोरी करने लगता है, असत्य बोलता है, परस्त्रीसेवन करता है, शिकार खेलता है,

---

१. निर्लोभता।

२. घर—उत्पत्ति स्थान।

३. जुआ व्यसन—दाव लगाकर खेल खेलना, सट्टा आदि।

वेश्यागमन करता है इत्यादि जिससे वह लोक व परलोक दोनों विगाड़ लेता है। लोकमें बदनामी, अविश्वास आदि वेइज्जती होती है और परलोकमें नरकादि दुर्गति होती है किम्बहुना। अतएव अणुव्रतकी रक्षाके लिये जुआका त्याग व्रतीको करना ही चाहिये ॥१४६॥

आचार्य अन्तमें अनर्थोंका उपसंहाररूप त्याग बतलाते हैं।

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुंचत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥

जुआ समान और भी जो हों, उनको तुम अनर्थ समझो।
उनका निशदिन त्याग करेसे, देश अहिंसाव्रत समझो ॥
दोप रहित जब व्रत होता है, तभी अहिंसा होत विजय।
इससे दोप रहित व्रत धरना, संसारी दुखका हो क्षय ॥१४७॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यः एवंविधमपरमपि अनर्थदंडं ज्ञात्वा मुंचति] जो अणुव्रती पुरुष जुआके ही समान अन्य (मदिरा पीना आदि) चीजोंको भी अनर्थदंड स्वरूप समझकर उनका त्याग कर देता है [तस्य अनिशं अनवद्यं अहिंसाव्रतं विजयं लभते] उसका निर्दोष (निरतिचार) अहिंसाणुव्रत निरन्तर विजयको प्राप्त करता है अर्थात् सफल होता है ॥१४७॥

भावार्थ—निरतिचार अहिंसाव्रत (धर्म)को पालनेवाला पुरुष ही संसार व उसके दुःखोंकी जड़ मोहादि अष्टकर्मोंको पृथक् करके (क्षय करके) सुखमय नित्य निरुपद्रव मोक्ष स्थानको प्राप्त हो सकता है दूसरा कोई (कायर अव्रती जीव) उसको प्राप्त नहीं कर सकता, यह तात्पर्य है। इसका कारण यह है कि 'अहिंसा वीतरागतारूप है' अतएव उसीसे कर्मबन्धन छूट सकता है, किन्तु सरागतासे कर्मबंधन नहीं छूटता उल्टा बंधता है। अतएव उस मार्ग (उपाय)को कदापि नहीं अपनाना चाहिये वह उपादेय नहीं हो सकता। फलतः मोक्षका मार्ग एक ही है और वह अहिंसा-रूप या वीतरागतारूप शुद्ध निश्चय है। इसके सिवाय शुभरागको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है अभूतार्थ है, निश्चय या भूतार्थ नहीं है ऐसा जानना किम्बहुना।

●

अथ शिक्षाव्रतप्रकरण

आगे आचार्य चार शिक्षाव्रतोंमेंसे (१) सामायिक शिक्षाव्रतको बताते हैं।

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यम्[1]वलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धि[2]मूलं बहुशः सामा[3]यिकं कार्यम् ॥१४८॥

---

१. समताभाव—रागद्वेष रहित परिणाम (पक्षपातरहित निर्विकल्प अवस्था)।
२. आत्मस्वरूपकी प्राप्ति—अनुभूति।
३. स्वरूपस्थिरता—स्वरूपलीनता—भेदभावरहित दशा—निर्विकल्पबुद्धि इत्यादि।

पद्य

सब द्रव्योंमें रागद्वेषका त्याग करे जो होता है।
ऐसा साम्यभाव धारणकर आत्मस्वरूप बताता है॥
आत्मसिद्धिका मूल यही है सामायिकव्रत तुम जानो।
बारबार उसको करना भवि, शिक्षा प्रभुकी यह मानो॥१४८॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि भव्यजीवोंका कर्त्तव्य है कि वे [निखिलद्रव्येषु रागद्वेष-त्यागात् साम्यमवलम्ब्य] सम्पूर्ण द्रव्योंमें रागद्वेषको त्यागकर समताभाव धारण करें (निष्पक्ष होवें) और [तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्] आत्मस्वरूपकी प्राप्ति (मुक्ति) या अनुभूतिका मूलकारण (मुख्य उपाय) सामायिकको बार-बार करें, यह सर्वज्ञदेवका उपदेश (शिक्षा) है। बिना सामायिक किये आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती॥१४८॥

भावार्थ—जबतक आत्मानुभव प्राप्त न हो अर्थात् आत्माके शुद्ध स्वरूपका ज्ञान न हो व स्वाद न आवे तबतक जीवोंको रुचि परपदार्थोंकी ओर रहती है—हटती नहीं है। अर्थात् उन्हीं परपदार्थो (इन्द्रियोंके विषयों)का स्वाद आता है और उन्हींमें रुचि या श्रद्धा रहती है यह प्रायः नियम है। और जब उनके विपक्षी आत्म पदार्थ (द्रव्य)का स्वाद आता है तब उसके सामने और शेष सब वस्तुओंके स्वाद फीके (तुच्छ) पड़ जाते हैं वही स्वाद सर्वोत्कृष्ट मालूम होने लगता है। फलतः उन सबसे रुचि हटकर अपने आत्मामें ही होने लगती है और उसीमें यथाशक्ति लीन या तन्मय हो जाता है। परन्तु ऐसा होने या करनेके लिये रागद्वेष या पक्षपातका अभाव-रूप 'साम्यभाव' होना चाहिये, क्योंकि वही 'सामायिक' आत्मस्रूपमें एकाग्रता या लीनताका मूलकारण है। अर्थात् समताभाव (साम्यभाव) हुए बिना एकाग्रता नहीं होती और रागद्वेष छूटे बिना समताभाव नहीं होता, ऐसी अवस्थामें पहिले सब द्रव्योंमें रागद्वेषका छूटना अनिवार्य है। आत्मस्वरूपकी प्राप्ति (अनुभूति)का साक्षात्कारण, सामायिक है, सामायिकका कारण 'साम्यभाव' है—साम्यभावका कारण, रागद्वेषका अभाव है, ऐसा समझना चाहिये और उसके लिये बार-बार सामायिकका अभ्यास करना चाहिये, यह निष्कर्ष है अस्तु।

यह सामायिकरूप साधन, व्रती अव्रती सभीके लिये उपयोगी पड़ता है (लाभदायक है) चित्तवृत्तिको स्थिर करना रोकना मामूली काम नहीं है, संसार या कर्मबन्धन छूटनेका यही एक उपाय है और सरल उपाय है, उसके करनेमें बाह्यपरीषह या त्याग कुछ भी नहीं करना पड़ता है सिर्फ मनको (उपयोगको) थोड़ा रोकना पड़ता है जो अतिचंचल है। उससे यह विशेष लाभ होता है कि आत्मस्वरूपकी पहिचान या अनुभूति होती है, जिससे वह जीव स्वोन्मुखदृष्टि करके परका त्यागकर मोक्ष जा सकता है। इसके सिवाय सामयिकको करते समय चित्त स्थिर हो जानेसे निराकुलता होती है और उससे सुख व शान्ति मिलती है इत्यादि।

नोट—'समय' शब्दसे सामायिक बनता है। समयके अनेक अर्थ हैं (१) आत्मा (२) काल (३) शास्त्र (४) औषधि (५) धर्म इत्यादि। परन्तु यहांपर 'आत्मा' अर्थ लेना है।

अतएव आत्माका 'एकीभावको प्राप्त होना' सामायिक समझना चाहिये।

(२) सामायिक शिक्षाके रूपमें (अभ्यासरूपमें) और प्रतिमाके रूपमें दो तरह की जाती है परन्तु उसमें प्रतिमारूपका अधिक महत्त्व है क्योंकि वह नियमबद्ध और निरतिचार होती है। जबकि शिक्षाव्रतमें नियमबद्ध और निरतिचार नहीं होती ऐसा भेद समझना चाहिये ॥१४८॥

आचार्य—सामायिकका काल और विधि बतलाते हैं। साथमें लाभ भी बतलाते हैं।

रजनीदिवयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्[1][2] ।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥१४९॥

पद्य

दिन रात्रिके अन्त समयमें सामायिक करना नित है।
अन्य समयमें करनेसे भी होता अवश आत्महित है॥
शिक्षाव्रतमें नियम वार दो तीन बार नहिं होता है।
प्रतिमामें है तीन बारका नियम, दोष[3] नहिं लगता है ॥१४९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि सामायिकशिक्षाव्रतवालेको [रजनीदिवयोरन्ते तत् अविचलितं अवश्यं भावनीयम्] चाहिये कि वह प्रातःकाल रात्रिके अन्तमें (ब्राह्ममुहूर्त्तमें) और दिनके अन्तमें—संध्या समय, इस तरह दो बार नियमसे सामायिक करे, चूके नहीं। और [पुनः इतरत्र समये-तत् दोषाय कृतं न गुणाय कृतं भवति] कदाचित् दोबारसे अधिक अनेक बार सामायिक की जाय तो गुण (लाभ) ही होता है, दोष (हानि) नहीं होता ॥१४९॥

भावार्थ—इस श्लोकमें शिक्षाव्रतीके लिये सामायिकका काल बताया गया है किन्तु विधि नहीं बताई गई है कारण कि वह अनेक जगह बतलाई गई है, वैसी समझना। इसमें विशेषता नियतकालकी (सुबह शामकी) है, वह नहीं चूकना चाहिये, वह अनिवार्य है। अभ्यासरूपसे अनेक बार करनेकी भी विधि (आज्ञा) है किम्बहुना। अमृत कभी नुकसान नहीं देता। सामायिक वास्तवमें आत्माका 'एकत्त्वविभक्त' स्वरूप है। सामायिक यथार्थमें शुद्धोपयोगरूप—वीतराग निर्विकल्प अवस्था है। लेकिन व्यवहारनयसे अर्हन्तपरमेष्ठीका नाम जपनेरूप-शुभोपयोगवृत्तिको भी 'सामायिक' कहा जाता है यह भेद है। व्यवहारसामायिक—भक्ति आदि शुभरागरूप, सविकल्प होती है, जिससे पुण्यबंध होता है उससे सामायिकका लक्ष्य (निर्जरा व मोक्षका होना) पूरा नहीं होता इत्यादि। तथापि अपेक्षाकृत उससे भी लाभ होता है-अशुभोपयोगसे बचता है जो पापबंधका कारण है और पुण्यबंध होता है। जो लोग यह कहते हैं कि वह शुभोपयोग परम्परया

---

१. करना चाहिये।
२. अटल नियम रूप—अवश्य ही करना चाहिए।
३. अतिचार रहित होना चाहिये।

निर्जरा या मोक्षका कारण है वह अज्ञानता है। कारण कि शुभोपयोगसे कभी मोक्ष नहीं हो सकता, असंभव है, यतः वह परिग्रह (अन्तरंग) है, बंधका कारण है। अतएव उनको 'परम्परया' का सही अर्थ 'व्यवहार' समझना चाहिये। अर्थात् व्यवहारनयसे शुभोपयोग मोक्षका कारण है इत्यादि। हमेशा साक्षात्का अर्थ 'निश्चय' और परंपराका अर्थ 'व्यवहार' समझना चाहिये। अतः कथंचित् वह भी उपादेय है किम्बहुना। प्रारम्भ दशामें ऐसा ही होता है अस्तु।

सामायिक करनेकी विधि दंडकक्रिया द्वारा (स्वामिकार्तिकेय) वतलाते हैं।

वाह्यकर्त्तव्य (विधि) चार प्रकारका है। यथा—(मनवचनकायकी क्रिया) (१) नमस्कार (२) आवर्त्त (३) शिरोनति (४) थोस्सामि (स्तुतिपाठ)।

(१) मनमें सामायिक करनेका अनुराग या संकल्प होना और उसके लिये आदरभक्ति व विनयरूप परिणामोंका होना अंतरंग नमस्कार कहलाता है जो उल्लासरूप है। तथा बाहिरमें कायद्वारा मस्तक नवाना, हाथ जोड़ना, भूमि स्पर्श करना, बहिरंग नमस्कार कहलाता है।

(२) हाथोंकी अंगुलि को तीन बार घुमाना 'आवर्त्त' कहलाता है (कायका व्यापार है)

(३) मस्तकको झुकाना 'शिरोनति' कहलाता है (कायकी क्रिया है)।

(४) स्तुतिपाठ वगैरह पढ़ना 'थोस्सामि' कहलाता है (वचनकी क्रिया है)।[1]

शुद्धता वगैरहकी कुछ और भी क्रियाएँ हैं । यथा—

(१) हाथपाँवमुंहशुद्धि करना (२) पाँवोंका अन्तर रखना (३) हाथकी याने अंगुलियोंकी तथा गुरियोंकी माला रखना (४) शुद्धमंत्र पढ़ना (५) दृष्टि सौम्य रखना (६) बाहिर शब्द नहीं निकलना (७) स्थिरमुद्रा होना (८) एकान्त स्थान होना (९) निःशल्य होना (मायाशल्य मिथ्याशल्य निदानशल्यसे रहित होना चाहिये), विकल्प या शल्यके रहते हुए एकचित्त या एकाग्रता नहीं हो सकती। (१०) योग्यदेश व क्षेत्र होना, जहाँ पर आकुलता न हो, डांस, मच्छर, खटमल, बिच्छू, सर्प, शेर, शिकारी, पशुपक्षी न हों—गीली या ठंडी या उष्ण जगह न हो, उपद्रव सहित स्थान न हो इत्यादि। (११) योग्यकाल हो—प्रातःकाल, मध्याह्न (दोपहर) संध्याकाल। (१२) योग्य आसन हो—ऊँचीनीची कंकरीली न हो याने अचलयोग हो। (१३) योग्य मुद्रा हो, भयंकर रौद्राकार न हो, सौम्य मुद्रा हो। (१४) मन शुद्ध हो—विकार रहित हो। (१५)

---

१. चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिके द्विनिपद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसंध्यमभिवन्दी ॥१३९॥ र० श्रा० स्वा० समन्तभद्राचार्य

अर्थ—सामायिक करते समय, मनवचनकाय शुद्ध रखे, दो आसनोंमेंसे कोई एक आसन (खड्गासन या पद्मासन) धरे, परिग्रह रहित होवे, चारों दिशाओंमें तीन-तीन आवर्त करे, चार प्रणाम करे (नमस्कार करे) और तीनकाल सामायिक करे। यह विधि सामायिककी है। इसमें दो दंडक होते हैं (१) प्रारंभ (२) समाप्ति। अर्थात् जैसी क्रिया प्रारंभमें की जाय वैसी ही क्रिया समाप्तिमें भी की जाय इत्यादि।

वचन शुद्ध हो, शुद्ध पाठ व मंत्र बोला जाय। (१६) काय शुद्ध हो—अशुचिता (मलादि) से रहित हो इत्यादि साधनसामग्री अनुकूल रहते सामायिक ठीक बनती है। कार्यकी सिद्धिमें अंतरंग व बहिरंग दोनों कारण होना चाहिये ।। १४९ ।।

आचार्य सामायिक करनेसे जो विशेष लाभ होता है वह बताते हैं।

मात्र उस समय महाव्रती जैसा हो जाता है

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्य[1]योगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥१५०॥

पद्य

सामायिक करनेवालेको अकथ लाभ यह होता है।
योग[2]कषाय सिमट जानेसे महाव्रती सम बनता है॥
यद्यपि चरितमोहका उसके उदय उस समय रहता है।
मन्द उदय के हो जानेसे 'नहीं' सरीखा लगता है ॥१५०॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [सामायिकश्रितानामेषां चरित्रमोहस्य उदयेऽपि] सामायिक करनेवाले इन अणुव्रतियोंके यद्यपि प्रत्याख्यानावरण आदि कषायनामक चारित्रमोहकर्मका उदय पाया जाता है तथापि [समस्तसावद्ययोगपरिहारात् महाव्रतं भवति] बाहिर सम्पूर्ण आरंभ आदि सावद्ययोग (कषायसहित क्रियाएँ योग) उस समय बन्द हो जानेसे, उनका अणुव्रत, महाव्रत जैसा मालूम पड़ने लगता है, यह विशेष लाभ होता है ॥१५०॥

भावार्थ—तत् (मूल) और तत्सदृश (मूलसमान)में बड़ा अन्तर है, फिर भी स्थूलदृष्टिसे एकसा मालूम होता है। इसी न्याय (विवक्षा) से पांचवें गुणस्थानवाले सामायिक शिक्षाव्रतीका सामायिक अणुव्रत, साक्षात् महाव्रत (निश्चयसे महाव्रत) नहीं है क्योंकि महाव्रतकी घातक (आवरण करनेवाली) प्रत्याख्यानावरण कषायका उस समय उदय पाया जाता है (छठवें गुण-स्थानमें उसका अभाव होता है) तथापि सामायिक करते समय उसके बाहिरी आरम्भ परिग्रह प्रायः छूट जाते हैं (बन्द हो जाते हैं—कषायपूर्वक योगक्रियाएँ नहीं होतीं)। अतएव चरणानुयोगकी पद्धतिसे वह महाव्रती सरीखा दृष्टिगोचर होता है। जैसे कि उपसर्ग कालका (सचेल) मुनि हो, क्योंकि उस समय वह कुछ भी गमनागमनादि नहीं करता है, न कषाय करता है इत्यादि। परन्तु करणानुयोगके अनुसार वह महाव्रती नहीं है न हो सकता है, कारण कि उसके प्रत्याख्यानावरण

१. पापाचरण या कषाय सहित योगप्रवृत्ति।
२. प्रत्याख्यानतनुत्वात् मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः।
सत्त्वेन दुरवधाराः महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥७१॥ रत्न० श्रा० स्थविर समन्तभद्राचार्य।

कषायका उदय मौजूद रहता है। फिर भी योग और कषायोंका सिमट जाना अर्थात् कम हो जाना साधारण विशेषता नहीं है अपितु महान् विशेषता है। अतएव सामायिक अवश्य करना चाहिये। इस विषयमें स्वामिसमन्तभद्राचार्य महाराजका भी मत है।

नोट—दिग्व्रतदेशव्रतधारीका भी अणुव्रत, इसी तरह महाव्रत जैसा हो जाता है यह लाभ समझना चाहिये ॥१५०॥

आगे आचार्य सामायिक शिक्षाव्रतीका और भी दूसरा कर्त्तव्य बतलाते हैं। (स्थिरताके लिये उपवास करना)।

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्त्तुम्।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥१५१॥

पद्य

प्रतिदिन सामायिक करने से संस्कार उसका पड़ता।
उसको दृढ़ करनेके खातिर, उपवासोंको अपनाता ॥
यह कर्त्तव्य व्रतीका होता, एक पक्षमें कर दो बार।
उससे बहुत समय है मिलता, दृढ़ होता सामयिक संस्कार ॥१५१॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि सामायिक शिक्षाव्रतीको [प्रतिदिनमारोपितं सामायिक-संस्कारं स्थिरीकर्त्तुम्] प्रतिदिन दो बार नियमित रूपसे की जाने वाली सामायिकके संस्कारको स्थिर (दृढ़) करनेके लिये [द्वयोरपि पक्षार्द्धयोः अवश्यं उपवासः कर्त्तव्यः] एक पक्षमें दो बार (अष्टमी व चतुर्दशीको) अवश्य ही उपवास धारण करना चाहिये। फलतः उस दिन अधिक समय मिलनेसे (उपार्जन करना व खाना पीना बन्द हो जानेसे) पर्याप्त समय तक बार-बार सामायिक की जा सकती है व फलस्वरूप उपयोग दृढ़ और स्थिर (अटल) रह सकता है यही संस्कारकी दृढ़ताका उपाय है ॥ १५१ ॥

---

१. सामयिके सारम्भाः परिग्रहाः नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥१०२॥ रत्न० श्रा० स्थविर समन्तभद्राचार्य।

अर्थ—प्रत्याख्यानावरणकषायकी हीनावस्था (मन्दता) होनेसे चारित्रमोहका परिणमन (बल) अत्यन्त कमजोर हो जाता है अर्थात् उसमें निर्बलता आ जाती है अतएव वह अधिक जोर नहीं करता। फलतः पंचमगुणस्थानवाले सामायिक अणुव्रतीके परिणाम अत्यन्त निर्मल हो जाते हैं। अतएव वह परिणामोंकी अपेक्षासे महाव्रती—उपसर्गकालीन मुनि जैसा प्रतीत होता है, यह आशय है। कोई भी कर्म हो मन्दोदयके समय कम शक्तिवाला हो जाता है, जिससे अधिक हानि या लाभ नहीं होता, मामूली रहता है। जब उदय होना बिलकुल मिट जाता है तब उसका अभाव माना जाता है यह नियम है। छठवें गुणस्थानमें प्रत्याख्यानावरणकषायका उदय नहीं होता अर्थात् अभाव हो जाता है।

भावार्थ—जबतक मन व आसन आदिको स्थिर रखनेका अभ्यास न हो तबतक सामायिक (चित्तकी एकाग्रता) कायम नहीं रह सकती, यह नियम है। अतएव सामायिकका संस्कार डालने व उसको स्थिर करनेके लिये प्रतिदिनके सिवाय पन्द्रह रोजमें दो बार, दुकानदारी आदिको छोड़ कर (बाहिर आरंभादि बन्द कर) एकान्त स्थानमें जाकर खूब सामायिक स्वाध्याय आदि धार्मिक कार्य जरूर करना चाहिये तभी सामायिकका संस्कार दृढ़ हो सकता है अर्थात् आरम्भादिका (निमित्तका) त्याग किये विना सामायिक (उपयोगकी) स्थिरता या एकाग्रता ठीक नहीं रह सकती, तव इंद्रियसंयम व प्राणिसंयम भी नहीं पल सकता, जिसकी व्रतीको खास आवश्यकता रहती है। फलतः श्रावकको सामायिक करनेका मुख्य लक्ष्य रखना चाहिये और उसका दृढ़ संस्कार डालना चाहिये। उसकी विधि उपवास करना भी मुख्य है। क्योंकि समय वगैरहको बचत होनेसे वह हो सकती है। स्वरूपमें स्थिरता लानेके लिये या निर्विकल्प होनेके लिये यह उपाय (साधन) जरूर-जरूर करना चाहिये। यह उपाय ही सर्वोत्तम उपाय है, उसीसे अनादि-कालके संचित कर्म नष्ट होते हैं तव मोक्ष होता है। यह सामायिक चारित्र[1]का भेद है, ऐसा समझना चाहिये। मन या चित्त बड़ा चंचल है वह बार-बार रागादिमें भटक जाता है। अतएव पुरुषार्थी पुरुष उसको बार-बार खींच कर आत्मस्वरूपमें लगाते हैं और ऐसा करते-करते अन्तर्मुहूर्त्त तक एक पदार्थमें स्थिर या एकाग्र कर देते हैं—विभावसे हटाकर स्वभावमें खचित (लीन) कर देते हैं इत्यादि ॥ १५१ ॥

आचार्य सामायिककी स्थिरताके लिए उपवास करनेकी पूर्ण विधि अथवा प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतका लक्षण कहते हैं।

मुक्तसमस्तारंभः प्रोषध[2]दिनपूर्ववासरस्यार्द्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्त्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥

पद्य

पहिले दिनके आधे दिनसे अन्नादिकका त्याग करे।
और सभी आरंभ त्यागकर निज आतमका ध्यान धरे॥
देहादिकसे ममत छोड़कर धारण वह उपवास करे।
प्रोषधके दिन धारण करके प्रोषधोपवास जु नाम वरे ॥१५२॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि सामायिकव्रतीका कर्त्तव्य है कि [प्रोषधदिनपूर्ववासर-स्यार्द्धे मुक्तसमस्तारम्भः] पर्व (अष्टमी या चतुर्दशी) के दिनसे एक दिन पहिलेके आधे दिनसे अर्थात् दोपहरसे सम्पूर्ण आरम्भ (व्यापारादि) का त्याग करते हुए और [देहादौ ममत्वमपहाय] शरीरादिकमें ममत्वको छोड़कर [उपवास गृह्णीयात्] उपवास धारण कर लेवे अर्थात् चारों प्रकार का आहार छोड़ देवे, यह विधि है जो प्रोषधोपवासव्रतका स्वरूप है ॥१५२॥

---

१. सामयिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति चरित्रं ॥१८॥ तत्त्वार्थसूत्र अ० ९।
२. पर्वका दिन, प्रोषधका अर्थ पर्व है। अथवा एकाशन है।

भावार्थ—प्रोषधोपवासका साधारण अर्थ, एकाशनपूर्वक उपवास करना होता है अर्थात् पर्वके एक दिन पहिले दोपहर (आधादिन) से उपवासको शुरू (प्रारम्भ) कर देना और १६ पहर या १२ पहर या ८ पहरमें समाप्त करना इस तरहसे उत्तम–मध्यम–जघन्य ऐसे तीन भेद उपवासके हो जाते हैं। जैसे कि पहले दिनके दोपहरसे लेकर तीसरे दिनके दोपहरको पूजनादि कर उपवास खोलना अर्थात् प्रासुक आहार लेना, उत्तम १६ पहरका उपवास है। तथा पहिले दिनके शामसे उपवास प्रारम्भ करके तीसरे दिनके प्रातःकाल पूजनादिकर खोलना मध्यम उपवास है। इसमें १२ पहर होते हैं। और उपवास अर्थात् पर्वके दिन ही प्रातःकालसे प्रारम्भ कर दूसरेदिन पूजनादि कर उपवास खोलना जघन्य उपवास ८ पहरका होता है। उपवासके दिन सारा समय धर्मध्यानमें बिताना चाहिए। किन्तु अन्य गृहस्थोके कामोंमें समय खर्च नहीं करना चाहिए वह कीमती समय है।।१५२।।

अथवा दूसरे तरह उपवासके भेद

(१) उपवासके समयमें अन्न-जल आदि कुछ भी ग्रहण नहीं करना, उत्तम उपवास कहलाता है जो १६ पहरका होता है।

(२) उपवासके दिन शक्तिहीनतावश सिर्फ उष्ण पानी एक बार ले लेना, मध्यम उपवास १२ पहरका कहलाता है।

(३) उपवासके दिन थोड़ा (ऊनोदर) आहार (अन्नादि) ले लेना जघन्य उपवास कहलाता है। इस विषयमें मार्गभेद पाया जाता है जो आगे बताया जा रहा है, अस्तु।

प्रोषधोपवासका लक्षण—(स्वामिसमन्तभद्राचार्य)

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः[1]।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ।।१०९।। रत्नकरण्डश्रावका०

अर्थ—चारों प्रकारका (अशनखाद्यस्वाद्यपेय) आहार त्याग देना अर्थात् नहीं करना उपवास, कहलाता है। और दिनमें एक ही बार भोजन करना प्रोषध (एकाशन) कहलाता है। तदनुसार प्रोषधपूर्वक उपवास करना 'प्रोषधोपवास, कहलाता है' यह लक्षण है। अभिप्राय (प्रयोजन) में पूज्य अमृतचन्द्राचार्य और समन्तभद्राचार्यमें कोई भेद नहीं है सिर्फ शब्दार्थभेद है। प्रोषधका अर्थ पर्व होता है और एकाशन (सकृद् भुक्ति) होता है, इत्यादि समझना। क्रिया दोनोंकी एक-सी है, अस्तु, कोई विरुद्धता नहीं है आगमके अनुकूल है।

इसी तरह एकार्थता अन्यत्र है

श्लोक नं० ११४ में लिखे गये 'प्रतिपूजा' पद और श्लोक नं० ११९ में लिखे गये 'परिचरण' पदका, एक ही अर्थ है अर्थात् अर्थभेद नहीं है। उसका अर्थ 'वैय्यावृत्य' या उपासना या सेवा-सुश्रूषा होता है। सिर्फ पात्रभेद पाया जाता है। अर्थात् गुरु (धर्मगुरु मुनि) की वैयावृत्य

१. एक बार भोजन करना।

करना 'प्रतिपूजा' कहलाती है और वीतरागदेवकी वैय्यावृत्य करना 'परिचरण' या पूजा (अष्ट-द्रव्यसे) कहलाती है। इसीका नाम 'सपर्या' भी है। साधारण बोलीमें 'आदर-सत्कार' भी कहा जाता है इस प्रकार समन्वय करना चाहिये, जिससे मतभेद न रहे, अस्तु। कहीं-कहीं 'परिचर्या' शब्द भी आता है, किम्वहुना। पाठक विचार करें।

नोट—पूजा व प्रतिपूजा यह सब वैय्यावृत्य नामक शिक्षाव्रतमें अन्तर्गत होता है जो श्रावकका मुख्य कर्त्तव्य है ऐसा समझना चाहिये। नवधा भक्ति, आहारादिदान, स्तुति, प्रणाम, आदि ये सब कार्य प्रतिपूजाके अन्तर्गत हैं।

शिक्षाव्रतोंमें मतभेद

श्री समन्तभद्राचार्य देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, वैयावृत्य, ऐसे चार भेद (नाम) मानते हैं। तथा श्री अमृतचन्द्राचार्य—सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगत्याग, अतिथिसंविभाग (वैयावृत्य) ये चार भेद मानते हैं। यहाँपर देशावकाशिक और भोगोपभोगमें अन्तर (भेद) है। समन्तभद्राचार्यने भोगोपभोगपरिमाण (त्याग) को—गुणव्रतोंमें शामिल किया है। और अमृतचन्द्राचार्यने शिक्षाव्रतमें शामिल किया है। अर्थ प्रायः एक-सा होनेपर भी नामभेद है। इसका कारण स्मृतिभेद हो सकता है, ऐसा समझना चाहिये, किम्बहुना ॥१५२॥

जैनशासनमें मार्गभेद

आगममें (१) उत्सर्गमार्ग (२) अपवादमार्ग ऐसे दो मार्ग बतलाए गये हैं। उत्सर्गमार्ग या शुद्ध वीतराग मार्गमें शिथिलाचारको स्थान नहीं रहता वह बड़ा कड़ा (अटल) रहता है। इससे उसमें कोई ढिलाई नहीं होती—वरावर १६ पहर तक निराहार उपवास रखना अनिवार्य है।

अपवादमार्गमें ढिलाई रहती है, उत्सर्गकी तरह कड़ापन नहीं रहता। अतएव उसमें पानी-मात्रका लेना या ऊनोदरका लेना वतलाया गया है। उसके दो भेद होते हैं। (१) आचाम्लाहार (२) कांजिकाहार (दक्षिण प्रदेशमें)।

(क) आचाम्लाहार—गरम (प्रासुक) तक्र (मठा) या मांडमें थोड़ा भात मिलाकर—जिसमें नमक वगैरह कोई रस न मिला हो—लेना, आचाम्लाहार कहलाता है।

(ख) कांजिकाहार—अकेला विना रस (नमकादिरहित) मांड या प्रासुक तक्र ही (विना-भातके) ग्रहण करना, कांजिकाहार कहलाता है। यह सब अपवाद मार्ग है। परन्तु जब उत्सर्ग मार्गके अपनानेमें संक्लेशता या आकुलता हो उस वक्त अरुचिपूर्वक वेगार जैसे इस मार्गको पकड़ना बतलाया गया है किन्तु शक्ति रहते हुए नहीं बतलाया गया है, ऐसा भेद समझना चाहिये। यही उत्सर्ग व अपवादकी सन्धि है किम्बहुना। (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा व सागारधर्मामृतमें देखो)। सबका लक्ष्य इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयम पालना है—अहिंसा धर्मको अपनाना है अस्तु ॥१५२॥

---

१. कपायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

आगे आचार्य प्रोषधोपवासके समयका और भी कर्त्तव्य वतलाते हैं।

पाँच श्लोकों द्वारा

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥

पद्य

पापारंभ त्याग करके सब निर्जन थानक प्राप्त करे।
मनवचकाय तीन योगोंको रोक विषयका त्याग करे॥
हो निःशल्य व्रतधारण करके आतम ध्यान अवश्य धरे।
जिससे निर्भय निर्विकल्प हो, कर्मादिक जल्दी कतरे ॥१५३॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि सामायिक व्रती (प्रोषधोपवासी)का कर्त्तव्य है कि [समस्तसावद्ययोगपरिहारात् विविक्तवसतिं श्रित्वा] सम्पूर्ण कषाययुक्त आरंभ परिग्रह (पापाचरण) का त्याग करके प्रोषधोपवासके समय 'एकान्त स्थान'को प्राप्त करे (जावे) और [सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिः तिष्ठेत्] पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त या त्यक्त होता हुआ मनवचनकायकी गुप्तिके साथ निवास करे अर्थात् निर्विकल्प होवे—तीनों पर विजय पावे और कर्मोंकी निर्जरा करे ॥१५३॥

भावार्थ—प्रोषधोपवास, सामायिकका एक अंग है (साधन है) अतएव उसके समय सभी अंगोपांग ठीक होना चाहिये। व्यापार व अन्नजलादिका त्याग करना, एकान्त स्थानमें जाना, सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको छोड़ना, इत्यादि सब वाह्यसाधन सामायिक (चित्तकी एकाग्रता)के

अर्थ—जिसमें कपाय-विषय-आहारका त्याग किया जाय वह अवस्था (क्रिया) उपवासकी है और जिसमें कषायका त्याग न हो न विषयोंका त्याग हो खाली आहारका त्याग हो, उसको लंघन कहते हैं।

सदुष्णे कांजिके शुद्धमाप्लाय भुज्यतेऽशनम्।
विजितेन्द्रियैस्तपोऽर्थं यदाचाम्ल उच्यतेऽत्र सः ॥

अर्थ—तत्कालका तैयार हुआ या उष्ण (प्रासुक) किया हुआ मठामें थोड़ा-सा भात आदि अन्न मिलाकर खाना वह भी तपकी वृद्धिके लिए, उसको 'आचाम्ल' भोजन कहते हैं। उदराग्निशमनाय अरुचि सहित।

आहारो भुज्यते दुग्धादिकपंचरसातिगः।
दमनायाक्षशत्रूणां यः सा निर्विकृतिमता ॥

अर्थ—दुग्ध या मीठा आदि ५ रसोंसे रहित सादा भोजन करना 'निर्विकार' भोजन कहलाता है। और वह भी इन्द्रियरूप शत्रुओंको वशमें करनेके उद्देश्यसे हो—शरीर पोषणके लिये न हो इत्यादि ॥१५२॥

हैं, जो निमित्त कारण हैं अतएव लक्ष्य (सामायिक-साध्य)की सिद्धिके लिये उनका मिलाना भी अनिवार्य व हितकर है। अतः उसीका उपदेश इस श्लोकमें दिया है। वह कर्मोंकी निर्जराका मुख्य साधन है किम्वहुना। चरणानुयोगकी यह पद्धति है अथवा भूमिकाशुद्धि है जो वाह्य अनिवार्य कर्त्तव्य है ॥१५३॥

आचार्य प्रोषधोपवासीका रात्रिके समयका कर्त्तव्य बताते हैं।

धर्मध्यानासक्तो[1] वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे[2] त्रियामां[3] गमयेत् स्वाध्यायजितनिद्रः ॥१५४॥

पद्य

धर्म ध्यान सहित जब पूरा दिनका टाइम हो जावे।
और शामको संध्या करके रात्रि समय लागू होवे ॥
शुचि विस्तरका लेय सहारा बीच-बीचमें सो जावे।
स्वाध्याय करते करते ही निद्रा रात उभय खोवे ॥१५४॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [धर्मध्यानासक्तः विहितसान्ध्यविधिं वासरमतिवाह्य] प्रोषधोपवासी, धर्मध्यानमें लीन (आसक्त) होकर एवं शामकी सामायिक (संध्या) पूरी करके दिन पूरा कर लेवे तब [स्वाध्यायजितनिद्रः शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्] पवित्र विस्तर (चटाई वगैरह)के ऊपर स्वाध्याय करते हुए व नींद लेते हुए रात्रिको वितावे अर्थात् बीच-बीचमें थोड़ा सोते हुए रात्रिका कर्त्तव्य पूरा करे ॥१५४॥

भावार्थ—प्रमाद और आलस्यका मूल (जड़) वहुधा भोजनपान है अतएव प्रोषधोपवासके समय अन्नजलादिकका त्याग हो जानेसे एक तो स्वभावसे नींद कमती हो जाती है। दूसरे धर्मध्यानमें चित्तको लगानेसे उपयोग बदल जाता है व नींद नहीं आती। फलतः निरालस होकर रात्रिके समय प्रोषधोपवासी सरलतासे विता देता है। फिर भी संकल्प करके अपना कर्त्तव्य समझ पूरा करना ही चाहिये। अर्थात् व्रतीको अपना समय व्यर्थ ही निद्रा और गपशप आदि अप्रयोजनभूत कामोंमें नहीं खो देना चाहिये, समयका सदुपयोग करना अनिवार्य है, क्योंकि रागादिकको घटानेके लिये ही तो व्रत धारण किये जाते हैं। अतः लक्ष्य पूरा करना ही चाहिये तभी विवेकशीलता समझी जायगी किम्वहुना। दिन व रात्रिका समय दोनों ही यथासंभव ध्यान व स्वाध्यायमें विताना चाहिये इत्यादि। क्योंकि आरम्भ परिग्रह तो प्रोषधोपवासके समय त्याग ही दिया जाता है जिससे वाह्य आकुलता मिट जाती है फिर चिन्ता काहेकी करना? नहीं करना चाहिये,

---

१. आरूढ़ या संलग्न होकर।
२. शुद्ध पवित्र विस्तर।
३. रात्रि।

निश्चिन्त या निःशल्य होकर मुख्यतया धर्मसाधन करना ही उचित है अस्तु। प्रशस्तकार्य स्वाध्याय ध्यान सामायिक तत्त्वचर्चा आदि हैं उनमें उपयोग (चित्त)को लगाना बुद्धिमानी है। प्रोषधोपवासी रात्रिको तीसरे पहर थोड़ा आराम लेकर पुनः चौथे पहर 'ब्राह्ममुहूर्त्त'में (दो घड़ी रात्रि शेष रहनेपर) पवित्र विस्तरोंपर ही या पृथक् पवित्र (निर्जीव) स्थानमें प्रातःकालकी सामायिक (सन्ध्या कार्य) करता है। उसके पश्चात् नित्यकर्म करता है वही आगे बताया जाता है ॥१५४॥

नोट—दिनका समय, पहिले प्रारम्भका आधा दिन और रात्रि तथा दूसरा दिन व रात्रि यहांपर ग्राह्य है क्योंकि श्लोकमें 'वासर व त्रियामा' ये सामान्यपद हैं ऐसा समझना चाहिये ॥१५४॥

आचार्य प्रोषधोपवास पूरा होनेके दिनका प्रातःकालीन कर्त्तव्य बताते हैं।

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं[1] जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः[2] ॥१५५॥

पद्य

प्रात समय उठ करके पहिले नित्यकर्म वह करता है।
पीछे धर्म कार्य में लगता, श्री जिनपूजन करता है॥
प्रासुक द्रव्य लेयकर पर वह पूजा भक्ति खूब करता।
लक्ष्य अहिंसाका रखता है, प्रोषध नाम विरत धरता ॥१५५॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि प्रोषधोपवासीका कर्त्तव्य है कि वह [प्रातः उत्थाय तात्कालिकं क्रियाकल्पं कृत्वा] प्रातःकाल उठकर (जागकर) और प्रातःकालीन सभी क्रियायें (शौचादि निपटना स्नान करना) करके [ततः प्रासुकैर्द्रव्यैः यथोक्तं जिनपूजां निर्वर्तयेत्] उसके पश्चात् प्रासुक द्रव्योंसे आगमोक्त विधिके अनुसार जिनेन्द्रदेवकी पूजा करे। करना चाहिये। तभी उसका फल मिलता है ॥ १५५ ॥

'विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः' ॥ ३९ ॥ त० सूत्र अ० ७

भावार्थ—इस उमास्वामीके सूत्रके अनुसार सभी बातोंकी विशेषता (योग्यता) मिलने पर फलमें विशेषता होती है यह नियम है! अतएव यद्वातद्वा पूजा करना लाभदायक नहीं होती किन्तु अच्छी विधिपूर्वक शुद्ध प्रासुक द्रव्यसे श्रद्धा सहित पूजा करने पर उसका अनुपम फल मिलता है। अतएव वैसी ही पूरी पूजा करना चाहिये वेगार सी नहीं टालनी चाहिये यह जिनाज्ञा है, इस पर ध्यान देना अनिवार्य है। पेश्तर पूजा करना श्रावकका मुख्य कर्त्तव्य है उसके पश्चात् प्रतिपूजा करना अर्थात् भक्तिपूर्वकद्वारा पेक्षण पड़गाहन करके पात्रदान देना दूजा कर्त्तव्य है। उसके

---

१. आगमके अनुकूल—जैसी विधि शास्त्रमें वतलाई गई है, तदनुसार करना चाहिए।
२. जीवरहित—अचित्तफलादि, सचित्तफलादि नहीं, वर्जनीय हैं ध्यान रहे—कारण कि उनमें जीवहिंसा होती है।

पश्चात् स्वयं भोजन करना (पेट पूजा) तीसरा कर्त्तव्य है। उसके पश्चात् गृहस्थाश्रमका काम करना आदि है। वही आगे बतावेंगे। श्लोक नं० १६७ में अतिथि संविभाग या वैयावृत्य बतलाया गया है जो प्रोषधोपवासी श्रावकको पारनाके दिन अवश्य करना चाहिये। गृहस्थ श्रावक धर्मीके लिये परस्पर सम्बद्ध तीन काम हैं १—पूजा (देवकी) २—प्रतिपूजा (गुरुकी) ३—उदरपूर्ति न्यायपूर्वक व्यापारादि करना, ये तीनों अनिवार्य हैं किम्बहुना ॥ १५५ ॥

आचार्य आगे उपसंहाररूपसे प्रोषधोपवासका काल बताते हैं।

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत् प्रयत्नादर्द्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥

पद्य

पूर्वकथित विधिके माफिक वह, दिन अरु रात्रि बिताता है।
दूजा दिन अरु रात्रि पूर्ण कर अर्ध तृतीय पकड़ता है॥
तीजे दिन भी प्राप्त कर्म कर, भोजन विधिसे करता है।
एक बार ही भोजन लेकर व्रत समाप्त वह करता है॥१५६॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि प्रोषधोपवासीका कर्त्तव्य है कि वह [उक्तेन विधिना दिवसं द्वितीयरात्रिं च नीत्वा] पूर्व कथित विधिके अनुसार डेढ़ दिन और दो रात्रिको बितावे (पूरा करे) [ततः प्रयत्नात् तृतीयदिवसस्य अर्धं च अतिवाहयेत्] उसके पश्चात् तीसरे दिनका आधा दिन (दोपहर तक) भी विना भोजन पानके बितावे पश्चात् विधिपूर्वक यथासंभव अतिथि संविभाग करके (पात्रदान देकर प्रतिपूजा करके) स्वयं भोजन करे और प्रोषधोपवास समाप्त करे। यह कर्त्तव्य प्रोषधोपवासी श्रावकका है॥१५६॥

भावार्थ—उत्तम प्रोषधोपवास ठीक सोलह पहर तक विधिपूर्वक साधना करनेसे पूर्ण व सफल होता है, ऐसा समझकर उसमें गलती या ढील (शिथिलता) नहीं करना चाहिये, यह उपसंहाररूप शिक्षा आचार्य दे रहे हैं अतः इसे मानना चाहिये। चरणानुयोगकी पद्धतिके अनुसार व्रतसंयम पालनेकी जैसी विधि गुरुओं व आचार्योंने बतलाई है, उसीके अनुसार चलनेसे लाभ होता है। एवं लोकमें उसका विश्वास और आदर होता है, इतना ही नहीं दूसरे विवेकी लोग भी अनुकरण कर आत्मकल्याणके मार्गमें लगते हैं, अतः उसमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। इसके सिवाय अन्तरंग परिणामोंका पता बाह्य आचरणसे ही लगता है अतएव बाह्याचरणकी शुद्धता परिचायक है फलतः उसको शुद्ध व निर्दोष होना चाहिये। आचरणशुद्धि या योगशुद्धिसे उपयोग (आत्मा)की शुद्धि मानी जाती है। अतएव लोकव्यवहारमें सदाचारी बनना चाहिये किम्बहुना॥१५६॥

---

१. द्वारापेक्षण और पात्रदान (गुरु—मुनिको आहारादि) देकर याने प्रतिपूजा करके पश्चात् वह भोजन करे।

आगे आचार्य प्रोषधोपवासका फल बतलाते हैं।

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७॥

पद्य

अखिल क्रियाओंको तजकरके जो व्रतपालन करता है।
सोलह पहर नियम है उसके पूर्ण अहिंसक बनता है॥
यदपि अहिंसक निश्चयसे नहिं, बाहिर वैसा दिखता है।
मन्दकषाय मुख्य है कारण दयाधर्मको धरता है॥१५७॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [इति यः परिमुक्तसकलसावद्यः षोडशयामान् गमयति] जो व्रती पूर्वोक्त प्रकारसे सम्पूर्ण पापक्रियाओंको त्यागकर १६ सोलह पहरतक निर्दोष रहता है [तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति] उसके उतने समयतक (१६ पहरतक) नियमसे पूर्ण अहिंसाव्रत होता है (सदैव नहीं होता है) ऐसा समझकर श्रावकको प्रोषधोपवास अवश्य करना चाहिये। उसे बड़ा लाभ होता है॥१५७॥

भावार्थ—सबसे बड़ा और निश्चयधर्म 'अहिंसा' ही है, उसके बराबर दूसरा कोई धर्म नहीं है कारण कि वह शुद्ध स्वभाव वीतरागतारूप है जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह तात्पर्य है। ऐसी स्थितिमें यदि वह १६ पहरतक हो होता है अर्थात् पापक्रियाओंको अरुचिके साथ छोड़ देता है तो उसके निमित्तसे असंख्यात गुणित कर्मोंकी निर्जरा प्रतिसमय होने लगती है। (गुण-श्रेणी निर्जरा) यह क्या कम लाभ है? महान् लाभ है, जीवनमें सफलता प्राप्त करना है। तथा उसीके साथ जितना व्रतसंयम धारण करनेका शुभराग या धर्मानुराग होता है और जीवरक्षा (दया करुणा)के भाव होते हैं, उससे पुण्यका बंध होता है, जिससे उस धर्मसे संसारमें उत्तम सुख प्राप्त होते हैं, फलतः उसको भी धर्म कहते हैं। परन्तु मोक्ष नहीं मिलता, अतएव उसको व्यवहारनयसे धर्म कहा जाता है। फिर भी दोनों धर्मोंके पालनेसे लाभ ही होता है घाटा नहीं होता। ऐसा समझकर धर्म नहीं छोड़ना चाहिये, किम्बहुना।

व्रत तीन तरहके माने जाते हैं (१) नियमरूप अर्थात् अन्तरंगमें प्रतिज्ञा या संकल्प आखड़ी करने रूप कि ऐसा करेंगे इत्यादि अथवा थोड़ा-थोड़ा व्रत पालना अभ्यास रूपसे, (२) शुभ कार्यमें प्रवृत्ति करने रूप जैसे कि शुभक्रियाएं करना, दया करना, दान पुण्य करना, पूजा प्रभावना आदि धार्मिक कार्य करना, व्रतसंयमादिका पालना, मुनिवेष धारण करना, (३) अशुभ या खोटे कामोंको छोड़ना रूप, पापक्रियाओंका छोड़ना, हिंसादि न करना[1]।

---

१. उक्तं च—संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः।
निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ॥८०॥ सागारधर्मा० अ० २

भावार्थ—व्रत पालनेमें उत्साह या रुचिका होना—व्रत धारण करनेके सन्मुख होना, व्रत कहलाता है। तैयारी करना या संरम्भ समारंभ करना। व्रतोंको प्रारम्भ कर देना अर्थात् शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना। अशुभ क्रियाओंको बन्द कर देना इत्यादि सब व्रतके तीन-तीन रूप हैं---सभीमें लाभ होता है ऐसा समझना चाहिये॥ १५७॥

आचार्य यह बताते हैं कि प्रोषघोपवासके समय व्यापारादि बन्द कर देनेसे त्रसहिंसा नहीं होती अतः अहिंसाव्रत पलता है उसी तरह भोजनपान आदि भोगोपभोगकी चीजोंका त्याग होनेसे स्थावर हिंसा भी नहीं होती तथा असत्य बोलना, चोरी करना, मैथुन सेवन करना (कुशील) परिग्रह संचय करना (मूर्च्छा) ये सब पाप भी त्रिगुप्ति धारण करनेसे छूट जाते हैं अतएव उतने समय पूर्ण अहिंसाव्रत पलता है—यह लाभ होता है। फलतः वह कर्त्तव्य है।

भोगोपभोगहेतोः[1] स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम्[2] ।
भोगोपभोगविरहात् भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥ १५८ ॥
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुचः संगो नाङ्गेऽप्यमूर्च्छस्य ॥ १५९ ॥

पद्य

भोग और उपभोग करे जब थावर हिंसा होती है।
उनका त्याग करेसे देखो हिंसा रंच न होती है॥
मौनालम्बन करनेसे नहिं झूठे वचन निकलते हैं।
कुछ भी ग्रहण न करनेसे वे चोरीसे भी बचते हैं॥
ब्रह्मचर्यके पालनसे नहिं मैथुन सेवन होता है।
अंग[3] ममत्व त्यागने से हाँ परिग्रह सारा खोता[4] है॥
पंचपापका त्याग जु होता [5]प्रोषधव्रतके धरनेसे।
और अहिंसा पूरण करता व्रत संयमके पलनेसे॥ १५८। १५९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि देशव्रतियों (अणुव्रत धारियों)के एवं अव्रतियोंके [भोगोपभोगहेतोः किल अमीषां स्थावरहिंसा भवेत्] भोग[6] और उपभोगके सेवन (निमित्त)से,

१. कारणसे।
२. जीवोंके---देशव्रतियोंके।
३. देह या शरीर।
४. हटाता है—छोड़ता है।
५. एक अकेले प्रोषधोपवास व्रतके पालनेसे।
६. जो एकवार भोगने (सेवन करने) में आवे उसको भोग कहते हैं जैसे भोजन पान गन्ध पुष्पादिक चीजें

स्थावर (पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय) जीवोंकी हिंसा अवश्य होती है, क्योंकि खाद्यपदार्थ तो वे ही हैं जैसे अन्न जल शाक आदि पदार्थ॰। किन्तु [भोगोपभोगविरहात् हिंसायाः लेशोऽपि न भवति] भोग व उपभोगका त्याग कर देनेसे रंचमात्र हिंसा नहीं होती—बच जाती है यह नियम है। इसके सिवाय [वाग्गुप्तेः अनृतं नास्ति] वचनगुप्तिके पालनेसे (मौन धारण करनेसे) झूठ नहीं बोला जाता (झूठका त्याग हो जाता है) [समस्तादानविरहतः स्तेयं नास्ति] सब चीजोंका ग्रहण न होनेसे, चोरी नहीं होती (त्याग हो जाता है) [मैथुनमुचः अब्रह्म न] ब्रह्मचर्य धारण करनेसे, कुशील सेवन नहीं होता (त्यागी हो जाता है) [अंगे अमूर्च्छस्य संगोऽपि न] शरीरसे ममत्व छोड़ देनेपर परिग्रह धारण नहीं करता (परिग्रह त्यागी हो जाता है)। इस तरह अनायास हिंसा आदि पाँचों पापोंका त्यागी प्रोषधोपवासके कालमें अणुव्रती श्रावक हो जाता है यह लाभ है ॥१५८।१५९॥

भावार्थ—सभी व्रतों और व्रतियों—संयमियोंका मुख्य लक्ष्य मोक्षकी या उत्तम सुखकी प्राप्ति करनेका रहता है। इसीलिये सामान्यतः व्यवहारसे उसकी प्राप्तिका बाह्य उपाय व्रत संयमको धारण करना, घरद्वार, स्त्रीपुत्र धनधान्यादिका त्याग करना बताया गया है, और आचरणमें लानेका उपदेश दिया है। परन्तु यह सब व्यवहारनयसे साधन हैं, कारण कि वे सब प्रवृत्तिमय होनेसे शुभरागरूप हैं व पुण्यबंधका कारण हैं राग व बंधसे मोक्ष नहीं होता इत्यादि। निश्चयनयसे वीतरागता या निवृत्तिरूप अवस्था अथवा शुद्धोपयोगरूप अहिंसा ही मोक्ष व उत्तम सुखका साधन हैं फलतः जब तक वे नहीं होते तबतक मोक्ष नहीं होता—असंभव है। परन्तु अनादिकालसे संसारी जीव व्यवहार दशामें (अशुभ या शुभ दशामें—अशुद्धोपयोगमय) रहते आये हैं, उन्हें कभी असली शुद्ध दशाका अनुभव ही नहीं हुआ है। अतएव करुणासागर आचार्य अशुभसे बचनेके लिये अगत्या शुभके साथ ही संबंध स्थापित कराते हैं ऐसा संस्कार उनको पाड़ते हैं। इसके सिवाय यदि कदाचित् अयत्नसाध्य (स्वतएव) किसी जीवकी अपनी शुद्ध दशाका अनुभव होता भी है तो वह अधिक समय तक स्थिर नहीं रहता—जल्दी ही बदल जाता है अर्थात् पुनः शुभ या अशुभमें उपयोग चला जाता है क्योंकि पुराने संस्कार पड़े हैं। और उसीमें आनन्द मानकर उसीका अवलम्बन करता है। लेकिन यह सब (शुभोपयोग व्रत संयमादिरूप) कषायकी मन्दतासे होता है उस समय यदि कोई सम्यग्दृष्टि हो तो शुद्ध धर्मानुराग करके (अकामनिर्जरा करता है) जिसके फलस्वरूप उत्तम विमानवासी देवोंमें उत्पन्न होता है यह कथंचित् लाभ होता है अतएव वह शुभोपयोग भी उपादेय है। और यदि वह मन्दकषायवाला शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि हो तो उसके भी अकामनिर्जरा होती है परन्तु वह अशुद्ध धर्मानुरागसे भवनात्रिक देवोंमें ही उत्पन्न होता है यह भेद है। बुद्धिपूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव अभ्यास करते-करते पुराने संस्कार (शुभोपयोगके)

---

७. जो वार-वार भोगनेमें आवे उसको उपभोग कहते हैं। जैसे स्त्री, शय्या, आसन, वस्त्र, सवारी गहना आदि।

उक्तं च—भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पांचेन्द्रियो विषयः ॥८३॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार

क्षीणकर वैराग्यके संस्कार डालता है एवं क्रमशः शुद्धोपयोगको प्राप्तकर मोक्ष व उत्तम सुखको प्राप्त करता है। लेकिन बीचमें कर्मधाराके सववसे अरुचिपूर्वक बाह्य व्रत संयमरूप निमित्तोंको भी मिलाता है और स्वभावतः (विना यत्नके) कभी वीतरागताको प्राप्त करता है अस्तु। निमित्तों को निमित्त समझते हुए उनको हीन दशामें कथंचित् उपादेय समझना चाहिये किम्वहुना। सम्यग्दर्शनादि गुण आत्माके यत्नसाध्य (नैमित्तिक) नहीं हैं ऐसा निश्चयसे समझना चाहिये, क्योंकि वैसा माननेसे वस्तुकी स्वतंत्रता नष्ट होती है जो वस्तुका स्वभाव है इत्यादि दोष आता है।

सारांश—व्यवहारनयसे प्रोषधव्रतीको भोगोपभोगके बाह्यसाधन इन्द्रियोंको व अन्तरंग साधन कषायोंको तथा इन्द्रियोंके विषयोंको अवश्य नियंत्रणमें रखना चाहिये तभी इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयम पल सकता है। फलस्वरूप गुप्ति व समितियोंका भी वह अभ्यासरूपसे पालन करे जिससे आगे विशेष लाभ होगा अस्तु। यह व्यवहारनयसे आचार्य महाराजका उपदेश है ॥१५८-१५९॥

आगे आचार्य उपसंहाररूप कथन करते हैं, जिसमें निश्चय और व्यवहारका खुलासा है—

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते न तु संयमस्थानम् ॥१६०॥

पद्य

पूर्वविधिसे जिस श्रावकने हिंसाको त्यागा है मित्त।
व्यवहरनयसे उसे कहा है महाव्रतीके सदृश मित्त॥
निश्चयनयसे महाव्रती नहिं, जवतक प्रत्याख्यान कषाय।
सकलव्रती नहिं हो सकता है देशव्रती अणुव्रतको पाय॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [इत्थमशेषितहिंसः स] पूर्वोक्त विधिसे जिसने अणुव्रत पालते हुए भी प्रोषधोपवासके समय पूर्ण हिंसाका त्याग किया है वह [उपचारात् महाव्रतित्वं प्रयाति] उपचारसे अर्थात् व्यवहारनयसे महाव्रतीपनेको प्राप्त करता है—अर्थात् निश्चयनयसे वह महाव्रती नहीं हो सकता, कारण कि [चरित्रमोहे उदयति तु संयमस्थानं न लभते] चारित्रमोहनीके भेद प्रत्याख्यानावरण कषायके उदय रहते हुए कोई जीव संयमस्थानको अर्थात् सकलव्रतको (मुनि-

१. सकलव्रतधारी—छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिपदको प्राप्त नहीं कर सकता, जहाँ प्रत्याख्यानावरणकषायका अभाव होता है या उदय नहीं है।

उक्तं च—वदसमिदिकषायाणां दण्डाण तहिंदियाण पंचह्लं।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संयमो भणियो ॥४६५॥ गो० जी०

अर्थ—व्रत धारण करना, समितियोंको पालना, कषायोंका निग्रह करना, अनर्थदण्डोंका त्याग करना, इन्द्रियोंको वशमें करना (विजय पाना) संयम कहलाता है जो छठवें गुणस्थानमें ही हो सकता है, पाँचवें गुणस्थानमें नहीं हो सकता।

पदको) नहीं प्राप्तकर सकता यह नियम है। तब देशव्रतीके प्रत्याख्यानावरणकषायका सूक्ष्म या मंद उदय पाया जाता है अभाव नहीं होता यह खुलासा है ॥१६०॥

भावार्थ—तत् और तत्सदृशमें भेद होता है। पंचमगुणस्थानवाला देशव्रती जब दिग्व्रतादिक और शिक्षाव्रतादिक पालता है तब मर्यादाके बाहिर पूर्ण त्याग होनेसे कषायकी मन्दताके सबब परिणामोंमें ऊँचे दरजेकी निर्मलता (विशुद्धता) होती है अतएव मन्दताके समय क्षय जैसी हालत हो जाती है, जिससे सदृशता तो आ जाती है किन्तु तद्रूपता नहीं आती। फलतः उपचारसे वैसा कह देते हैं किन्तु निश्चयसे वैसा वह नहीं होता। ऐसी स्थितिमें पंचमगुणस्थान वाले श्रावकके प्रत्याख्यानावरण कषाय (चारित्रमोहका भेद) का सर्वथा अभाव नहीं होता अपितु अत्यन्त मन्द उदय हो जाता है, जिससे महाव्रतकी कुछ समानता मिलने लगती है, (इसका खुलासा समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्डश्रावकाचारके श्लोक नं० ७१ में किया है। परन्तु निश्चयमें वह महाव्रती या सकलसंयमी नहीं है क्योंकि निश्चयसे महाव्रत और सकलसंयम एक ही चीज है, नामभेद है अर्थभेद नहीं है, और वह छठवें गुणस्थानमें ही होता है पहले नहीं होता, यह नियम है। यह उपसंहारमें सारांश कहा गया है इसे समझना चाहिये, भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये। छठवें गुणस्थान (मुनिपना) के पहिले यदि कोई सचेल श्रावक अभ्यास करता हो तो करे परन्तु वह निर्दोष नहीं पाल सकता किम्बहुना। मोक्षमार्गी दोनों होते हैं, शुभोपयोगी सम्यग्दृष्टि व शुद्धोपयोगी सम्यग्दृष्टि। किन्तु शुभोपयोगी व्यवहारनयसे मोक्षमार्गी है और शुद्धोपयोगी निश्चयनयसे मोक्ष-मार्गी है यह भेद समझना, सभी बराबरीके नहीं हैं। लोकमें सकलचारित्र या सकलसंयमकी बाहिर निशानी मुनिवेष[1] या महाव्रत है। सो जिन जीवोंके चारित्रमोहके भेद प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय नहीं होता (क्षयोपशम हो जाता है) उनके वह निशानी प्रकट होती है सभीके नहीं, अर्थात् वह निशानी ५ पाँचवें गुणस्थान (देशव्रती) वाले अणुव्रतीके प्रकट नहीं हो सकती क्योंकि उसके प्रत्याख्यानावरण कषायका सूक्ष्म उदय रहता है। फलतः सदाके लिये उसके आरंभादिकका पूर्ण त्याग नहीं हो जाता सिर्फ प्रोषधोपवास व्रतके समय नियमरूपसे कुछ होता है, उसके पश्चात् फिर वही आरंभादिकार्य करने लगता है यह खुलासा है ॥ १६० ॥

३—भोगोपभोगत्याग (परिमाण) शिक्षाव्रतका स्वरूप

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥१६१॥

पद्य

देशव्रतीके हिंसा होती भोग और उपभोगहि से।
और दूसरा कारण नहीं है, यह तुम जानो निश्चय से ॥

---

१. मुनिलिंग बाहिरमें ५ पाँच तरहका होता है (१) नग्नवेष (दिगम्बररूप) (२) केशलुंचन (३) शुद्धता (कुलजातिकी उच्चता) (४) आरंभादि बाह्य परिग्रहका त्याग (५) शरीरसंस्कारका त्याग। अन्तरंग लिंग भी ५ प्रकारका बताया है। प्रवचनसार चारित्र अधिकार।

वस्तु स्वरूप और निजशक्ति जान वस्तुका त्याग करे।
भोग और उपभोग रूप जो, देश अहिंसा धर्म धरे ॥१६१॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [विरताविरतस्य भोगोपभोगमूला हिंसा भवति नान्यत:] देशव्रती या अणुव्रती (विरताविरत) श्रावकके जो हिंसा होती है वह सिर्फ भोग और उपभोगके द्वारा ही होती है, दूसरा कोई हिंसाका कारण नहीं है ऐसी स्थितिमें [वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि अधिगम्य] इस मूल तथ्य (निश्चयकी वात) को और अपनी शक्तिको जानकर, उसके अनुसार [तौ अपि त्याज्यौ] देशव्रतीको भोग और उपभोग दोनोंका त्याग करना चाहिये (करे) यह उस श्रावकका कर्त्तव्य है ॥१६१॥

भावार्थ—मूल वात (वस्तुस्वरूप) को समझकर और अपनी योग्यताको देखकर कार्य करनेसे ही लाभ होता है अन्यथा नहीं, यह नियम है। ऐसी स्थितिमें विना समझे और विना योग्यताके कोई कार्य नहीं, करना चाहिए फिर व्रत-संयमके मामलेमें तो खासकर दोनों बातोंको देखना अनिवार्य है अन्यथा भ्रष्ट हो जाना निश्चित है। इसी तथ्यका उल्लेख इस श्लोकमें आचार्य महाराजने किया है। फलतः देशविरति श्रावकके हिंसा होनेके मूल साधन (निमित्त) भोगोपभोग और व्यापारादिक हैं. उनके करनेसे हिंसाका होना अवश्यंभावी है। अतएव उन्हीं व्यापारादिक और भोग उपभोगको शक्तिके अनुसार क्रमशः थोड़ा-थोड़ा त्यागना कर्त्तव्य है। एक साथ भावुकतामें आकर त्याग कर देनेवाले नियमसे भ्रष्ट हो जाते हैं। उस समय सिर्फ अपनी शक्ति और वीतरागता ही सहायता दे सकती है, परद्रव्य कुछ मदद नहीं कर सकती। परके भरोसे पर कार्य करना मूर्खता है। अन्तरंग या निश्चय कारण स्वकीय शक्ति है और बहिरंग या व्यवहार-कारण, परद्रव्य है जो खाली निमित्तरूप है व मानी जाती है। 'वस्तुत्त्व' या वस्तुका स्वभाव या सारकी वात, पेश्तर अपनी शक्तिको देखना है पश्चात् निमित्तोंको देखना है। कार्यसिद्धि अनेक कारणोंसे होती है एकसे नहीं, अतएव निमित्त व उपादान दोनों सापेक्ष रहते हैं, उनमें मुख्य व गौणका भेद रहता है। इस तरह भोगोपभोगत्याग नामक शिक्षाव्रतका पालना अनिवार्य है। जीवोंकी संयोगी पर्याय अनादि कालसे हो रही है। उसमें भोग उपभोगकी चीजें (खाना पीना आदि) तथा उनका उपयोग कराने वाली कषाएँ एवं निमित्तरूप वाह्य पदार्थ व इन्द्रियाँ आदि सभी संयोगरूप मौजूद हैं और एक दूसरेमें निमित्तता करते हैं। इस तरह आत्मा इन सब निमित्तोंसे जकड़ा हुआ है अतएव व्यवहार दृष्टि या निमित्तदृष्टिसे संयोगसे छूटनेका उपाय दृश्यमान भोग व उपभोगका छोड़ना वतलाया गया है। लोकमें उसीको त्याग व धर्म कहा जाता है। यद्यपि यह पराश्रित होनेसे व्यवहार है व हेय भी है तथापि व्यवहारीजन उसको ही मुख्यता देते हैं। हाँ, प्रारम्भिक (हीन) अवस्थामें वह एक सहारारूप है अशुभसे वचाने वाला है अतएव उसको अपनाया जाता है परन्तु यह हमेशा अपनानेकी वस्तु नहीं है क्योंकि उसके रहते स्वतंत्रताका अनुभव (स्वाद या सुख) प्राप्त नहीं हो सकता जो वस्तुका स्वभाव है इत्यादि समझना चाहिये और योग्यता (पद व स्वभाव शक्ति) के अनुसार कार्य करना चाहिये। एकान्त दृष्टि रखना उचित नहीं होता।

नोट—'वस्तुतत्त्वं' का अर्थ वस्तुका स्वरूप है। यहाँ पर वस्तु—हिंसा है क्योंकि उसीका प्रकरण चल रहा है, अतएव उसका स्वरूप 'आत्मपरिणामहिंसन है' ऐसी स्थितिमें व्रतीको सदैव वह कार्य करना चाहिये जिससे आत्माके परिणाम (स्वभावभाव) न घाते जाँय, तभी वह अहिंसक बन सकता है। जहाँ संक्लेशता व रागादिक विकारीभाव हों वहीं हिंसा है और वह वर्जनीय है। फलतः हिंसाके मुख्य (उपादान) कारण—कषायरूप विकारीभाव हैं, उनको प्रथम त्यागना चाहिये और पश्चात् निमित्तकारणोंको अर्थात् भोगोपभोग व उनके साधनों (व्यापारादि पंचेन्द्रियके विषयों) को त्यागना चाहिये। ऐसा यथार्थ समझने वाला जीव ही 'वस्तुस्वरूपका ज्ञाता' समझा जा सकता है अर्थात् निश्चय और व्यवहारज्ञ (उभयका ज्ञाता) ही सम्यग्ज्ञानी है यह निष्कर्ष है। किम्बहुना। इस पर ध्यान देना चाहिये। इसमें त्रसहिंसाके त्यागकी मुख्यता है, अस्तु।

त्यागी बननेके पहिले यह जानना जरूरी है कि त्याज्य (त्यागने योग्य) क्या है? जिसके त्यागनेसे ही त्यागी बना जा सकता है। धनधान्यादि ये सब तो परद्रव्य हैं, अतः उनके त्यागनेसे ही त्यागी कैसे कहा जा सकता है? त्यागी तो तब कहा जा सकता है जब कि अपने निकट या पासकी चीज छोड़ी जाय। विचार करनेपर अपने निकट—पासकी चीज 'कषाय' है विकारीभाव है), अतएव उसके छोड़नेपर ही त्यागी सच्चे अर्थमें हो सकता है, अन्यथा नहीं। बाह्य परवस्तु मात्रके (धनधान्यादिके) त्याग देनेसे त्यागी नहीं कहा जा सकता है, जो प्रत्यक्ष दूरवर्त्ती हैं। बिना कषायभावके त्यागे जीव 'द्रव्यत्यागी' कहा जा सकता है 'भावत्यागी' नहीं, यह भेद है। फलतः पेश्तर भावत्याग (कषाय व मिथ्यात्वका त्याग) करना ही कर्त्तव्य है। पश्चात् परद्रव्यको निमित्त जानकर उसका त्याग करना भी जरूरी है यह ध्यान रहे।

निष्कर्ष—देखो परवस्तुका त्याग तो अनेक तरहसे होता है। कभी परवस्तुके अभाव होने पर उसका सेवन करना बन्द हो जाता है अर्थात् अपने आप त्याग हो जाता है कभी मूल्य बढ़ जानेसे उसका त्याग हो जाता है (खरीद शक्ति कम हो जानेसे नहीं खरीद सकते) कभी परद्रव्यसे कोई नुकसान हो जानेसे उसे त्याग दिया जाता है। कभी मतभेद या शत्रुता हो जाने पर सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है। कभी तीव्रकषायवश पदार्थ छोड़ दिया जाता है और कभी दबाउरे या भयके कारण परद्रव्य छोड़ दिया जाता है कभी लोभ लालचमें पड़कर परद्रव्यका त्याग कर दिथा जाता है, कभी राज्यके कायदोंके अनुसार विवश होकर छोड़ देना पड़ता है और कभी कषायकी मन्दता होनेपर परद्रव्यका त्याग कर दिया जाता है और कभी वैराग्य आने पर या रागके छूटने पर परद्रव्यका त्याग कर दिया जाता है, ऐसी स्थितिमें त्याग करना किसको माना जाय और सच्चा त्यागी किसे कहा जाय? यह एक प्रश्न है इत्यादि। तत्त्वदृष्टिसे विचार करने पर एक ही निर्विवाद उत्तर हो सकता है और वह यह कि रागके छूटनेपर या वैराग्यके उत्पन्न होने पर जो रागके साथ-साथ वाह्य पदार्थका त्याग किया जाता है, उसको असली त्याग कहते हैं, उसके करनेमें जरा भी क्लेश या संकोच नहीं होता निर्विकल्प हो त्याग दिया जाता है, पीछे उसका ख्याल या स्मरण भी नहीं आता मानो वह उसके पास था ही नहीं, इतनी निर्लेप दृष्टि

उस त्यागीकी हो जाती है। परन्तु इसका मूलकारण कषायभावका छूट जाना (त्याग कर देना) ही है। फलतः जबतक कषाय नहीं छूटती, तबतक उपर्युक्त कारणोंसे परपदार्थका छूटना या त्यागना त्यागीका लक्षण नहीं है। जबतक बार-बार इच्छा हो, स्मरण आवे, लालसा रहे तबतक असली त्याग माना नहीं जा सकता। ऐसे ऊपरी (बाहिरी) त्यागको अज्ञानी लोक भले ही त्याग कहें परन्तु वह सत्य नहीं है किन्तु असत्य या अभूतार्थ है ऐसा समझना चाहिये। यही मूल भूल निकालना चाहिये। लोककी मान्यता पर निर्भर रहना नहीं चाहिये वह अलौकिक मान्यतासे भिन्न रहती है। लौकिक न्याय व अलौकिक न्यायमें बड़ा फरक रहता है यह सारांश है ॥ १६१ ॥

आगे भोगोपभोग त्यागी शिक्षाव्रतीका और भी कर्त्तव्य बताया जाता है।

स्थावर हिंसाका त्याग करना

एकमपि प्रतिजिघांसुर्निहन्त्यनंतान्यतस्ततोऽवश्यम् ।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्[1] ॥१६२॥

पद्य

एक जीव घातनका इच्छुक जीव अनंत घातता है।
है अनंत जीवोंकी काया खंध एक कहलाता है॥
अत: खंध थावरका खाना छोड़ देत व्रतधारी है।
साधारण वह काय कहाते—खाते स्वेच्छाचारी[2] हैं ॥१६२॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जो जीव (गृहस्थश्रावक) [यतः एकमपि प्रतिजिघांसुः] एक भी साधारण वनस्पतिका खाने-पीने अर्थात् भोगोपभोग करनेमें उपयोग करता है अर्थात् और सब साधारण वनस्पतियों आदिका त्यागकर एकमात्र (गड़न्तादि) को खाता है वह [अनंतान् निहन्ति] अनन्त जीवोंका विघात (हिंसा) करता है, कारण कि उस एक ही वनस्पतिके आश्रित अनंत साधारण जीव रहते हैं [ततः अशेषाणां अनन्तकायानां परिहरणमवश्यमेव करणीयम्] इसलिये सम्पूर्ण अनन्तकाय (साधारण) वनस्पतिका त्याग अवश्य ही कर देना चाहिये, यह भोगोपभोग-त्याग शिक्षाव्रतीका कर्त्तव्य है ॥१६२॥

भावार्थ—जिन जीवोंको वस्तुका स्वरूप तो मालूम नहीं हो, और वे त्याग तपस्या करना चाहें तो ठीक तरहसे नहीं कर सकते बल्कि उल्टा मार्ग पकड़कर नुकसान उठाते हैं। फलतः उनको व्रत-अव्रत, हिंसा-अहिंसा, हेय-उपादेय, निश्चय-व्यवहार आदिका ज्ञान अवश्य होना चाहिये। निश्चयसे व्रतका सम्बन्ध आत्मासे है क्योंकि वह आत्माका धर्म या स्वभाव है। और अव्रतका सम्बन्ध भी अशुद्ध निश्चयसे आत्माके साथ ही है क्योंकि वह विभाव या विकाररूप है।

---

१. साधारणकाय वनस्पति।

२. अव्रती-तीव्रकषायी।

इसी तरह व्यवहारनयसे व्रतका सम्बन्ध बाह्य भोगोपभोगकी चीजोंके छोड़नेसे है और अव्रतका सम्बन्ध भोगोपभोगकी चीजोंके ग्रहण करनेसे (त्याग न करनेसे) है। ऐसी स्थितिमें उनका जानना जरूरी है। तथा हिंसा व अहिंसा, हेय व उपादेयका निश्चय व्यवहारसे जानना भी अनिवार्य है। तभी व्रत धारण करना, पालन करना वन सकता है। तथापि व्यवहारकी मुख्यता होनेसे व्यवहार पद्धति (चरणानुयोग) के अनुसार साधारण आदि वनस्पतियोंका त्याग करना अनेक दृष्टियोंसे हितकर है, इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम दोनों पलते हैं लोकमें प्रतिष्ठा होती है—दूसरे जीव अनुकरण करते हैं—सदाचार पलता है इत्यादि लाभ होता है। तथा मन्दकषायरूप शुभ परिणामोंसे पुण्यका वन्ध होता है, पापका वन्ध नहीं होता, तब वाह्यविभूतिके पानेसे जीवन सुखमय वीतता है यही बड़ा लाभ है ॥१६२॥

अनन्त जीवोंके विघात होनेका खुलासा इस प्रकार है।

जीव दो तरहके होते हैं (१) त्रसजीव (२) स्थावर जीव। स्थावर जीवोंमें अनन्तकाय जीव हुआ करते हैं। यथा पाँच स्थावरोंमें, वनस्पतिकाय स्थावरके दो भेद माने गये हैं (१) साधारण वनस्पतिकाय (२) प्रत्येक वनस्पतिकाय तथा साधारण वनस्पतिकायके दो भेद हैं—(१) नित्यनिगोद (२) इतर निगोद। इनमेंसे साधारण जीवों (वनस्पतिकाय) का शरीर पिण्डरूप अनन्त जीवोंका मिला हुआ रहता है अतएव जब कोई भोजनार्थी पिण्डरूप (स्कंध नामक) वनस्पतिका अर्थात् शाक-भाजी आदिका उपयोग (खाना) करता है तब उसके आश्रित रहनेवाले अनन्ते जीवोंका विघात (हिंसा) अवश्य हुआ करता है। ऐसी स्थितिमें भोगोपभोगत्याग शिक्षाव्रतके पालनेवाले अणुव्रती उन अनन्तकाय (साधारण) वनस्पतियोंको खानेका त्याग कर देते हैं, जिनमें लाभ कम और हिंसा[1] अधिक होती है। विवेकी जन अपना चालचलन बड़े विचारके साथ करते हैं अर्थात् यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं, यद्वा तद्वा (शिथिलाचार पूर्वक) प्रवृत्ति नहीं करते, यह विशेषता रखते हैं, किम्बहुना। हमेशा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रमें कोई दोष (अतिचार) न लगने पावे यह विचार या लक्ष्य रखते हैं ॥१६२॥

विशेषार्थ—साधारण वनस्पतिमें प्रत्येक भेदको स्कन्ध कहते हैं, जिसमें साधारण वनस्पतिसे असंख्यातगुणें जीव रहते हैं। (जैसे अपना शरीर) उसमें अन्डर (हाथ पाँव जैसे) असंख्यातलोकप्रमाण जीव रहते हैं। एक अन्डरमें असंख्यात लोकप्रमाण पुलवी पाये जाते हैं (जैसे हाथ पाँवोंमें अंगुलियाँ)। एक पुलवीमें असंख्यात लोक प्रमाण आवास रहते हैं (जैसे अंगुलियोंमें पोराबूटी) एक आवासमें असंख्यात लोक प्रमाण निगोद शरीर (जैसे अंगुलीके पोरोंमें रेखाएँ) एक

---

१. उक्तं च—अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥८५॥ रत्न० श्रा०

अर्थ—अल्पफल या तुच्छफल, जिनमें रसादिक कम हों और जीव हिंसा अधिक हो, ऐसे गीले (सचित्त) मूली, गाजर, अदरख, नैनू (घृत), नीमकी कोंपल-फूल-केतकी (केवड़ा) के फूल इत्यादिका त्याग कर देना चाहिए यह कर्त्तव्य है व्रतीका।

निगोद शरीरमें सिद्धराशिसे अनन्तगुणें जीव पाये जाते हैं। (जैसे रेखाओंमें अनेक प्रदेश)। इस प्रकार साधारण वनस्पतिके एक टुकड़ेमें असंख्यात जीव रहते हैं जिन्हें जिह्वाके लोलुपी खाते हैं एवं विघात करते हैं ॥१६२॥

आचार्य भोजनमें अनन्तकायवनस्पति (साधारण) का त्याग करनेके सिवाय और भी अमर्यादित नवनीत (मक्खन) आदिका त्याग करना अनिवार्य है, जिसमें वहुत जीव हिंसा होती है—यह वताते हैं।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम् ।
यद्वापि पिंडशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किंचित् ॥१६३॥

पद्य

भोजनमें नैनू नहिं खाना जो जीवोंकी योनि है।
अथवा पिंड शुद्धि नहिं वनती जहँ अशुद्धता ठानी है ॥
पिंडशुद्धि कई तरह होत है श्रावक अरु मुनि व्रतियोंकी।
यथायोग्य उसको करना है, दृष्टि रखे व्रत रक्षा की ॥१६३॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि श्रावकका कर्त्तव्य है कि वह [पिंडशुद्धौ प्रभूतजीवानां योनिस्थानं नवनीतं च त्याज्यं] भोजनकी शुद्धिके लिये आहार देनेके ग्रासमें–असंख्यात जीवोंकी योनि स्वरूप अशुद्ध (अमर्यादित) नैनू (घृत)को कतई न देवे, तभी शुद्ध निर्दोष निरन्तराय भोजन देना कहलाता है [यद्वापि यत् किंचित् विरुद्धमभिधीयते तदपि त्याज्यं] अथवा अकेला नैनू ही नहीं किन्तु जो कोई भी पदार्थ पिंडशुद्धि या आहारशुद्धिमें वर्जनीय (विरुद्ध-अभक्ष्य) हो उसका भी त्याग कर देना चाहिये अर्थात् उसको न स्वयं ग्रहण करे और अन्य व्रतियों (मुनि आदि)को भी देवे, यह तात्पर्य है ॥१६३॥

भावार्थ—शुद्ध आहार पानका उपयोग करना व्रती संयमीका पहिला कार्य है जो ऐसा नहीं कर सकता वह व्रती बनने या कहलानेका पात्र नहीं है। जैनशासनमें यही मुख्य और आद्य व्यवस्था है, उसके अनुसार चलना व्रतीकी कर्त्तव्यनिष्ठा है, अभक्ष्य भक्षण करनेवाले जीव कभी व्रती नहीं बन सकते। इसीलिये अष्टमूलगुणधारी ही व्रती बन सकता है यह नियम रखा गया है। उसीके भीतर सब रहस्य भरा हुआ है। फलतः व्रतीके लिये अभक्ष्य त्यागकी (हिंसामय भोजन छोड़नेकी) अनिवार्यता है। व्रतीका भोजन—पान शुद्ध (निर्दोष—हिंसारहित) होना ही चाहिये, इस कठोर सत्यको कभी नहीं भूलना चाहिये अन्यथा सब वेकार (व्यर्थ)[1] है। मूलाचार[2]

---

१. व्रतीका भोजन श्रावकके आधीन है अतएव दाता श्रावकको पहिले शुद्ध भोजन करनेका नियम होना चाहिये तभी गलती न हो सकनेसे विशेष पुण्यका लाभ होता है।

२. उक्तं च—उग्गम उप्पादण एसणं च संजोजणं पमाणं च।
इंगाल धूम कारण अट्ठविहा पिंडसुद्धी दु ॥२॥ मूलाचार पिंडशुद्धि अधि० पृष्ठ ३३०

व अनगारधर्मामृतमें पिंडशुद्धि आठ प्रकारसे बतलाई गई है, जो विशेपरूप है वह तो पात्रदान देनेवाले श्रावकको उनके लिये करना ही चाहिये किन्तु अपने लिये भी अभक्ष्य या अशुद्ध भोजन का ग्रहण करना त्याग देना चाहिये। पिंडशुद्धि या भोजनशुद्धिका प्रभाव (असर) उपयोग या मनपर विशेष पड़ता है। तभी तो कहते हैं 'जैसा खावे अन्न तैसा होवे मन' इत्यादि। श्वेताम्बर आदि मतमें मुनि या साधुको नैनूका आहार देना माना गया है, उसका यह खंडन भी है। अस्तु, मर्यादित नैनू वनाम घृत तभी शुद्ध हो सकता है जबकि दूधसे लेकर अन्त तक विधिपूर्वक शुद्धि की जाय अर्थात् दूध लगाकर छानकर तुरंत अग्निपर तपाया जावे, (अन्तर मुहूर्त्तके भीतर) पश्चात् उसको शुद्ध जाउनसे जमाया जावे अर्थात् प्रासुक जाउन होना चाहिये। उसके वाद नैनू निकालने पर तुरंत ही अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्तके भीतर ही अग्निपर तपाया जावे और छानकर उपयोगमें (खानेमें) लाया जाय बस वही मर्यादित व शुद्ध घी है किम्वहुना। वही व्रतीके भक्ष्य है शेष अभक्ष्य है।

नोट—घृतशुद्धि (शुद्ध घी)के सम्वन्धमें आठ पहर या चार पहरका विचार पीछेकी कल्पना है। कारण कि जब दूध (मूल)से ही शुद्धता वरती जाय तव आठ या चारका विकल्प करना या उठाना ही व्यर्थ है वह कोई महत्त्व नहीं रखता। नैनू घृतकी पूर्वपर्याय है (मक्खन रूप) ऐसा समझना चाहिये ॥१६३॥

व्रतीके यद्यपि प्रयोजनभूत भोगोंका त्याग करना भी पद व शक्तिके अनुसार होता है तथापि प्रयोजनभूतमें भी दिन रात्रिका परिमाण करना बतलाते हैं।

अविरुद्धा[1] अपि भोगाः निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि[2] सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥१६४॥

पद्य

जो हैं सेव्य पदार्थ व्रती के शक्तिप्रमाण उन्हें त्यागे।
अरु अत्याज्य पदारथ जो हैं, दिन रात्रिप्रमा उनको त्यागे ॥
है कर्त्तव्य व्रतीका सीमित, योग्य अयोग्य कोई भी हो।
जवतक रागद्वेष है उसके, क्रम-क्रमसे बड़भागी[3] हो ॥१६४॥

अर्थ—उद्गम दोष १६, उत्पादन दोष १६, एषणा दोष (भोजन दोष) १०, संयोजन दोष ४, कुल ४६ दोष रहित या अंगार दोष, धूम दोष, कारण दोष ऐसे सामान्यरूप आठ दोष रहित पिंड शुद्धि होना चाहिए, तभी मुनि ग्रास (कवलाहार) ले सकता है अन्यथा नहीं। व्रत धारण पालन करना सरल नहीं है खाँडेकी धार है ऐसा समझना चाहिये।

१. पदके अनुकूल अर्थात् प्रयोजनभूत पदार्थ।
२. ग्राह्य या सेवन करने योग्य पदार्थ।
३. वड़े भाग्यवान्, मुनि आदि पदवीधारी।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [धीमता निजशक्तिमपेक्ष्य] बुद्धिमान् त्यागी विवेकी पुरुषोंको चाहिये (उनका कर्त्तव्य है) कि वे अपनी शक्ति (पद व योग्यता)को देख व सोचकर ही [अविरुद्धा अपि भोगाः त्याज्याः] प्रयोजनभूत और पदके अनुकूल भोगोंका भी त्याग करें अर्थात् पद और शक्तिके विरुद्ध कोई त्याग आदि कार्य न करें (यह बंधन है) इसके अतिरिक्त [अत्याज्येष्वपि एकदिवा निशा उपभोग्यतया सीमा कार्या] जो पदार्थ सेव्य अर्थात् उपभोगके योग्य हों (प्रयोजनभूत व पदके अनुकूल हों) उनमेंसे भी एक दिन या एक रात्रिका नियम या सीमाकर त्याग करें (अवान्तर त्याग या देशत्याग कहलाता है) यह विधि है ।।१६४।।

भावार्थ—त्याग यम और नियमरूपसे अर्थात् जीवनपर्यन्त और अल्पकालको किया जाता है। तदनुसार व्रती हमेशा प्रयोजनभूत (अत्याज्य) पदार्थोंमेंसे भी दिनरात घड़ी घंटा आदिका प्रण (प्रतिज्ञा) या नियम करके उन्हें छोड़ता है—(ममत्व कम करता है) और ऐसा क्रमसे करते-करते एक दिन वह बड़भागी मुनि आदि महत्त्वपूर्ण पदोंको भी प्राप्त कर सकता है या कर लेता है कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आत्मामें अनन्त शक्ति है। जबतक अपनी अनंत शक्तिको जीव नहीं पहिचानता (जानता) और उसको भूला रहता है, तभीतक दुर्गति होती रहती है और जब उसका ज्ञान व श्रद्धान हो जाता है तभीसे उसका कल्याण होना शुरू हो जाता है जो शनैः शनैः बढ़ते-बढ़ते अन्तिम लक्ष्य (सुख शान्तिका स्थान मोक्ष)को प्राप्त कर लेता है। परन्तु उसका एकमात्र उपाय त्याग ही है अर्थात् अज्ञान एवं रागादिकका तथा आनुषंगिक रूपसे भोगोपभोगादिरूप परपदार्थोंका त्याग करना ही अनिवार्य है और यही सनातन (प्राचीन) मार्ग है किम्बहुना। इसपर ध्यान देना कर्त्तव्य है अस्तु। जैसी-जैसी शक्ति बढ़ती जाय तैसा-तैसा त्याग करता जाय ।।१६४।।

आचार्य कहते हैं कि व्रतीके लिये अपनी शक्तिका निरीक्षण (संतुलन) हर समय करना चाहिये यह उसका कर्त्तव्य है।

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्त्तव्या[1] ।।१६५।।

पद्य

व्रती पुरुषका कर्म[2] यही है—शक्ति निरीक्षण करने का।
पूर्व और तत्काल[3] शक्तिको देख त्यागव्रत धरने का ।।

---

१. यहाँपर भवति एवं कर्त्तव्या दो क्रियाएं हैं, जिससे एक व्यर्थ होकर नियम जाहिर करती है कि 'कर्त्तव्या एव' करना ही चाहिये—अनिवार्य है।
२. कार्य या कर्त्तव्य।
३. वर्त्तमान।

नियम रूपसे सीमा भीतर सीमा व्रतकी करनेका।
प्रतिदिन ऐसा करते-करते पूर्ण शुद्ध हो जाने का ॥१६५॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि व्रती पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि वे [पुनरपि पूर्वकृतायां च तात्कालिकीं निजां शक्तिं समीक्ष्य] बार-बार अपनी पूर्वकी (प्रारंभ की) तथा वर्त्तमानकी अपनी शक्ति (योग्यता)का निरीक्षण या मिलान (संतुलन) करके [प्रतिदिवसं सीमन्यन्तरसीमा कर्त्तव्या भवति] प्रतिदिन नियमरूपसे मर्यादाके भीतर मर्यादा व्रतकी भोगोपभोगके त्यागनेकी करे या करना चाहिये, यह कर्त्तव्य अनिवार्य है ॥१६५॥

भावार्थ—सिंहावलोकनन्यायसे व्रतीको अपने व्रतों—नियमोंकी खतौनी बार-बार अवश्य ही करना चाहिये, जिसको अनुप्रेक्षा भी कहते हैं। उससे कभी शिथिलता नहीं आने पाती, सतर्कता रहती है। यह तो मंत्रके समान जगानेकी विधि है। फलतः विवेकी दूरदर्शी पुरुष ऐसा करके स्वयं अपना कर्त्तव्य पूरा करते हैं। उनकी यह स्वात्मदृष्टि स्वयं उन्हें ही लाभ पहुँचाती है और दूसरे लोगोंको आदर्श उपस्थित करती है, जिससे वे भी अनुकरण कर लाभ उठाते हैं। इस प्रकार संतानपरंपरा धर्म और व्रतकी चली जाती है, क्योंकि धर्म, धर्मात्माओंके बिना नहीं चलता यह नियम है। श्रावकके लिये सत्तरह-सत्तरह नियमोंका पालन करना प्रतिदिन बतलाया है।

भोजने षट्रसे पाने कुंकुमादि विलेपने, पुष्पताम्बूलगीतेषु नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके ॥१॥
स्नानभूषणवस्त्रादौ वाहने शयनासने, सचित्तवस्तुसंख्यादौ प्रमाणं भज प्रत्यहं ॥२॥

अर्थ—भोजनका, छह रसोंके त्यागका, जलादि पीनेका, इत्रफुलेल या टीका आदि लगानेका, माला पहिरनेका, पान खानेका, गीतगाने या सुननेका, नृत्य देखने या करनेका, ब्रह्मचर्य पालनेका, स्नान करनेका, गहना पहिरनेका, वस्त्र पहिरनेका, सवारीका, सोनेका, बैठनेका, सचित्त वस्तुके त्याग करनेका, प्रमाण (सीमा) प्रतिदिन करना चाहिये यह कर्त्तव्य है। यथाशक्ति कार्य करते रहनेसे वृद्धि ही (उन्नति ही) होती है, अवनति (हानि) नहीं होती यह नियम है, इसका ध्यान हमेशा रखना चाहिये ॥१६५॥ नियमका अर्थ सीमित समय तक है।

श्रावकके १७ यमव्रत (जीवन पर्यन्त)

कुगुरु कुदेव कुवृषकी सेवा, अनर्थदंड अघमय व्यापार।
द्यूत मांस मधु वेश्या चोरी परत्रिय हिंसादान शिकार ॥
त्रसहिंसा स्थूल झूठ अरु बिन छान्यो जल निशि आहार।
ये सत्रह अनर्थ जगमाहीं, यावज्जीव करो परिहार ॥

श्रावकका यह कर्त्तव्य है कि वह यमरूप जीवनपर्यंतको उपर्युक्त वस्तुओंका दृढ़तासे त्याग कर देवे, तभी उसके जीवनकी सफलता है अन्यथा नहीं। तथा इसके पहिले कहे हुए १७ कार्यों का यथावसर नियमरूपसे (मर्यादा सहित) त्याग करे अर्थात् कम-से-कम पर्वके दिनोंमें या अच्छे

अवसरों पर—उन चीजोंका भी अवश्य त्याग करे, जिनका उपयोग वह कर सकता है—वर्जनीय नहीं है यह विधि है। ये सब अशुद्ध जीवनको शुद्ध करनेके उपाय हैं सो करना चाहिये किम्बहुना। व्रती विवेकियोंका जीवन हमेशा सतर्कतापूर्ण एवं जागृत जैसा रहता है, वह अपने नित्य कर्त्तव्यके पालनेमें प्रमादी या गाफिल नहीं होता, क्योंकि शिथिलाचार दोषाधायक माना गया है। यही बात कुन्दकुन्द महाराजने निश्चय व्यवहारके रूपमें कही है कि जो व्रती योगी (मुनि) व्यवहार (अभूतार्थ) में मस्त या कार्यशील नहीं होते हैं अर्थात् सोते हैं—व्यवहारको नहीं अपनाते हैं (प्रमादी नहीं होते) वे अपने कर्त्तव्य (निश्चय-भूतार्थ) का पालन भलीभाँति करते हैं और जो साधु व्यवहारमें जागते हैं अर्थात् दिनरात उसीमें लगे रहते हैं वे अपना कर्त्तव्य पालन नहीं कर सकते अथवा मोक्षमार्गीकी साधनामें प्रमाद कर रहे हैं, निंद्य हैं। इत्यादि ॥ १६५ ॥

आगे आचार्य उपसंहाररूप कथन करते हैं।

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ।
बहुतर-हिंसा-विरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥ १६६ ॥

पद्य

भोगोंकी सीमा करके जो, संतोषी मित होता है।
इसीलिए वह बहुभोगोंका, त्याग खुशीसे करता है॥
बहुहिंसाका त्याग करेसे, विशेष अहिंसा पलती है।
यह सब लाभ होत विरतीको नहीं प्रतिज्ञा टलती है॥ १६६ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [इति परिमितभोगैः सन्तुष्टः यः बहुतरान् भोगान् त्यजति] पूर्वमें बतलाए हुए भोगोंका परिमाण (सीमा) करके जो व्रती जीव सन्तुष्ट हो जाता है अर्थात् अपनी इच्छाको रोक लेता है और फिर निःशल्य या आकांक्षा रहित होकर बहुतसे भोगोंका त्याग कर देता है [तस्य बहुतरहिंसाविरहात् विशिष्टा अहिंसा स्यात्] उसके बहुतसी या बहुत प्रकारकी हिंसाका त्याग (अभाव) हो जानेसे (मर्यादाके बाहिर सब छूट जाता है) विशेष रूपसे अहिंसा-व्रत पलता है अर्थात् वह पूर्ण अहिंसाव्रती जैसा लगता है अथवा उपचारसे महाव्रती कहलाता है॥ १६६ ॥

भावार्थ—यहाँ तक भोगोपभोगत्याग नामक तीसरे शिक्षाव्रतका स्वरूप कहा गया है। उसके पालनेका क्रम और फल भी बताया गया है। अतएव उसको पालना ही चाहिये तभी आत्मकल्याण हो सकता है। संयोगी पर्यायमें अनादि कालसे अविरत-अत्यागी या अव्रत दशा जीवकी रहती है, जिससे वह पृथक् नहीं हो पाता है और पृथक् हुए बिना व्रती या एकाकी बन

---

१. जो सु-त्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पगे कज्जे ॥ ३१ ॥ मोक्षपाहुड़

नहीं सकता। ऐसी स्थिति में वह सदैव दुःखी होकर संसारमें परिभ्रमण करता है। व्रत या विरतका अर्थ होता है त्याग करना या विरक्त होना। उसमें भी पहिले किसका त्याग करना और किससे विरक्त होना यह विचारणीय है। इसका समाधान यह है कि सबसे पहिले तो मिथ्यात्वका त्याग करना है और उसके बाद संसार शरीर भोगोंसे विरक्त होना है अर्थात् उनसे अरुचि करना है। फिर आगे चलकर जिनसे अरुचि होती है, उनका (संसार शरीर भोगोंका) यथाशक्ति त्याग करना है अर्थात् सम्बन्ध विच्छेद करना है। इस क्रमसे संसारसे छूटकर मोक्ष जाना है अर्थात् एकाकी बनना है किम्बहुना—त्याग तपस्याका बड़ा महत्त्व है। जो मनुष्य मुमुक्षु अपना समय (जीवन) अज्ञान और प्रमादमें रहकर व्यर्थ ही खो देता है, वह न आगे (परभव)की सोचता है न वर्त्तमान (इसभव)की सोचता है किन्तु मदांध होकर वनगजकी तरह अनर्थ ही करता रहता है, ऐसे नराधमका उद्धार कभी नहीं हो सकता। अतएव जीवको जब विवेक या भेदज्ञान प्रकट होता है तब वह सँभलता है और पुरुषार्थी अपनी अशुद्ध परम संयोगी अवस्थासे पृथक् होनेका उपाय भी करता है। वह बाह्य उपाय तो त्याग तपस्याका करता है और अन्तरंग उपाय रागादिकषायोंको छोड़नेका या मन्द करनेका करता है। इस तरह अन्तरंग और बहिरंग दोनों तरहका पर संग (परिग्रह) छोड़कर अकेला बनता है उसका क्रम यह है कि व्रती पहिले भोगोपभोगमें निरर्गल प्रवृत्तिको छोड़ता है या उसकी सीमा (मर्यादा) करता है पश्चात् शक्तिको देखकर नियमरूपसे उसमें भी कमती करता है व इच्छाओंको रोकता है। ऐसा अभ्यास करते-करते अन्तमें सबसे जुदा 'एकत्व विभक्तरूप' वह हो जाता है अर्थात् लक्ष्यसिद्धि कर लेता है इत्यादि।

शंका समाधान

यहाँपर यह शंका (प्रश्न) होती है कि भोगोपभोगत्याग शिक्षाव्रतमें, देशव्रत (गुणव्रत) जैसी गंध आती है (प्रतिदिन मर्यादा करनेसे) तब इस भोगोपभोगत्याग शिक्षाव्रतको जुदा नहीं बताना चाहिये ? इसका समाधान इस प्रकार है कि 'सामान्येऽन्तर्भूतस्यापि विशेषस्य प्रयोजन-वशात् पृथगुपादानं क्रियते' इस न्यायके अनुसार भोगोपभोगत्याग शिक्षाव्रतका—गुणव्रतसे जो पृथक् निर्देश किया गया है, उसका खास प्रयोजन है जो बड़ा महत्त्वका है और वह यह कि व्रती को ऐसा करना ही चाहिये तभी गुणव्रतोंकी सार्थकता सिद्ध होती है अर्थात् वैसा करना अनिवार्य है याने यह विशेषता जाहिर होती है अस्तु ॥१६६॥

गुणव्रत और शिक्षाव्रतमें आचार्योंका मतभेद (नकशा)

आचार्य नाम	गुणव्रत	शिक्षाव्रत
१—श्री समन्तभद्राचार्य	१—दिग्व्रत	१—देशावकाशिक
	२—अनर्थदंडत्यागव्रत	२—सामायिक
	३—भोगोपभोग परिमाणव्रत	३—प्रोषधोपवास
		४—वैय्यावृत्य+

२—स्वामि कार्तिकेय	१—दिग्व्रत २—अनर्थदंडत्यागव्रत ३—भोगोपभोगपरिमाणव्रत	१—देशावकाशिक २—सामायिक ३—प्रोषधोपवास ४—अतिथिसंविभाग+
३—उमास्वामि महाराज	१—दिग्व्रत २—देशव्रत ३—अनर्थदंडत्यागव्रत	१—भोगोपभोग परिमाण २—प्रोषधोपवास ३—अतिथि संविभाग ४—सामायिक+
४—अमृतचन्द्राचार्य	१—दिग्व्रत २—देशव्रत ३—अनर्थदंडत्यागव्रत	१—सामायिक २—प्रोषधोपवास ३—भोगोपभोगगरिमाण ४—वैय्यावृत्य+

नोट—श्रीसमन्तभद्राचार्य (स्थविर) और स्वामिकार्तिकेयका मत प्रायः एकसा है सिर्फ शिक्षाव्रतमें ४ चौथे शिक्षाव्रतमें स्वामिकार्तिकेय अतिथिसंविभाग नाम लिखते हैं जिसका अर्थ वैया-वृत्य ही होता है नाम भेद है। 'गुणव्रतमें कोई भेद नहीं है दोनों आचार्य एक-सा ही मानते हैं। गुणव्रतमें उमास्वामि व अमृतचन्द्राचार्यका मत प्रायः एक-सा है। शिक्षाव्रतमें भी नाममात्रका भेद है। उमास्वामि अतिथिसंविभाग लिखते हैं अमृतचन्द्राचार्य-वैय्यावृत्य लिखते हैं दोनों। आचार्य गुणव्रत एकसे ही मानते हैं कोई भेद नहीं है।

आगे चौथे अतिथिसंविभाग या वैयावृत्य शिक्षाव्रतका स्वरूप बताया जाता है।

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥१६७॥

पद्य

विधिपूर्वक अरु दातृगुणों सह, द्रव्य विशेष दान करना।
मुनिको और श्रेष्ठव्रतियों को—स्वपर अनुग्रह हित देना॥
है शिक्षा यह वैय्यावृत्तकी—श्रावक इसको सिर धरते।
अतिथि विभाग इसीकी संज्ञा, भेद नहीं इसमें करते॥१६७॥

---

१. तत्त्वार्थसूत्रकारने 'विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः' सूत्र ही लिख दिया है॥३९॥ अध्याय ७ श्लोक नं० ११३ रत्न० श्रावकाचारमें—
नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारंभाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥११३॥ प्रतिपत्तिः—आदरसत्कार या
आहारदेना आदि वैय्यावृत्तिः।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [दातृगुणवता विधिना द्रव्यविशेषस्य भागः जातरूपाय अतिथये] दाताके गुण सहित श्रावकका कर्त्तव्य है कि वह विधिपूर्वक (नवधाभक्तिपूर्वक) खास-कर (निश्चयसे) दिगम्बर वेषधारी मुनिको, और उपचारसे (व्यवहारसे) उत्कृष्ट श्रावकको भी अपना शुद्धद्रव्य या भोजन जो अपने लिये तयार किया गया हो ऐसा (उद्दिष्ट दोष रहित) भोजन, उसमेंसे कुछ हिस्सा [स्वपरानुग्रहहेतोः अवश्यं कर्त्तव्यः] अपने और उनके लाभ या कल्याणके निमित्त दानमें अवश्य-अवश्य देवे। बस, यही चौथा अतिथिसंविभाग (वैयावृत्य) कहलाता है ॥ १६७ ॥

भावार्थ—अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत पालना सरल नहीं है बड़ा कठिन है, उसमें दाता श्रावकको अनेक तरहकी सावधानी व शुद्धता रखनी पड़ती है यद्वातद्वा करनेका निषेध है। (१) पहिली और मुख्य सावधानी शुद्ध आहार तयार करनेकी है। वह शुद्ध आहार केवल आटा घी दूधकी शुद्धिसे नहीं होता किन्तु वह शुद्ध तब होता है जब शुद्ध सामग्रीसे खुद अपने लिये ही बनाया गया हो—दूसरोंके इरादे या उद्देश्यसे न बनाया गया हो, अन्यथा वह उदिष्ट होनेसे अशुद्ध या अग्राह्य हो जाता है, यह आचार्य कहते हैं। द्रव्यविशेषका यही अर्थ (मायना) है, उसके प्रतिकूल होना द्रव्यविशेष नहीं है ऐसा समझना। (२) दूसरी सावधानी दातार (श्रावक)को आगे कहे जानेवाले ७ गुण सहित होनेकी है। (३) तीसरी सावधानी नवधा भक्तिपूर्वक आहार दान देनेकी है। (४) चौथा सावधानी ऐसा आहार जातरूप (दिगम्बर वेषधारी) मुनि (उत्तमपात्र)को ही देनेकी है (मध्यम या जघन्य पात्रको देनेकी नहीं है) (५) पाँचवीं सावधानी दाता और पात्रको लाभ पहुँचानेकी है कि दाताको पुण्यबंध हो (परोपकार हो और पात्रको संयम पालनेमें सहायता मिले, कारण कि संयोगी पर्यायमें एकबार शुद्ध भोजनका मिलना अनिवार्य है उसके बिना परिणाम स्थिर नहीं रह सकते—विकारमय—चंचल हो जाते हैं जिससे आस्रव और बंध होता है इत्यादि। परन्तु वह विरक्तिपूर्वक तप बढ़ावनहेतु लेते हैं शरीर पोषणहेतु नहीं लेते यह विशेषता पाई जाती है अस्तु शिक्षाव्रत पालनेकी विधि पूर्वोक्त प्रकार है सरल नहीं है ऐसा समझना। और श्रावक गृहस्थके लिये जो भोगोपभोग या प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतको पालता है, अतिथि संविभागका करना अनिवार्य है क्योंकि उसके लिये आज्ञा है 'मुनिको भोजन देय फेर निज करहिं अहारे' उस कर्त्तव्यको पूरा करना अत्यावश्यक है (परस्पर संगति है) विचार करना—श्रावकके लोभ कषाय कम होती है, जिससे पापका बंध न होकर पुण्यका बंध होता है, पात्रोंको संतोष व शान्ति मिलती है।

विशेषार्थ—हमने अपने अनुभवसे कुछ थोड़ा अर्थ श्लोकका बढ़ा दिया है। श्लोकमें आचार्यका मत स्पष्ट जाहिर है कि अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत पालनेवाले श्रावकको चाहिये कि वह विधिपूर्वक (नवधाभक्ति सहित) और सातगुण सहित दिगम्बरमुनि (उत्तम पात्र)को ही ऐसा शुद्ध (अनुद्दिष्ट, जो अपने लिये ही बनाया गया) आहार देवे इत्यादि। फलतः उत्कृष्ट श्रावकका देनेका यह विधि और आज्ञा नहीं है, उसको विधि भिन्न प्रकारका है अतः दोनोंकी संगति नहीं बैठा लेना चाहिये अन्यथा आज्ञाविरुद्ध होगा यह कथन निश्चयका है। किन्तु हमने

जानबूझकर व्यवहारसे अभ्यासी उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक-क्षुल्लक-आर्यिका-क्षुल्लिका)के लिये भी शुद्ध आहार देनेकी बात लिखी है ऐसा समझना ताकि उद्दिष्टताका दूषण न लगे और अनुद्दिष्ट भोजन उन्हें प्राप्त हो, शेष विधिके लिये प्रतिबन्ध नहीं है, साधारण रूप हो सकती है विचार किया जावे। यह सब प्रतिपूजा है, जो हम पहिले लिख चुके हैं किम्बहुना ॥१६७॥

आचार्य—आगे दाता द्वारा करने योग्य विधि (नवधा भक्ति)को बतलाते हैं।

संग्रह[1]मुच्चस्थानं पादोदक[2]मर्चनं[3] प्रणामं[4] च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषण[5]शुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥

पद्य

आह्वानन अरु उच्चस्थान, पादधोवना अर्चन भी।
नतमस्तक होना त्रयशुद्धि—मनवचतनसे करना भी ॥
भोजनशुद्धि विधिसे करके नवधाभक्ति प्रकट करना।
इस विधिसे जो दान देत है, सद् गृहस्थ उसको कहना ॥१६८॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकं अर्चनं प्रणामं] संग्रह करना अर्थात् आदरपूर्वक पासमें अपने घरपर बुलाना (पड़गाहना-आह्वान करना), ऊँचा स्थान (चौकी आदि) देना, पाँवोंको धोना, स्तुति या आरती करना, दंडक या नमस्कार करना, मनवचनकायको शुद्ध करना अर्थात् मनमें विकार या खोटे भाव न रखना, झूठवचन नहीं बोलना, शरीरको शुद्ध रखना, अभक्ष्यका त्याग करना, तथा भोजनको शुद्ध बनाना अर्थात् मर्यादित सामग्रीसे अपने खुदके लिये बनाना और वही निरुद्दिष्ट देना। यह विधि आहारदानकी है गणधरादि आचार्योंने कही है। परन्तु जो दाता (गृहस्थ) खुद हो वैसा नहीं करता है और सिर्फ वचनोंसे वैसा कहता है, वह पात्रदान देनेका अधिकारी नहीं है–(असल बात तो यह है)। ऐसा करना सबसे बड़ा शिथिलाचार व पाप है, जिससे गृहस्थदाताको बहुत नुकसान होता है यह ध्यान रखना चाहिये, यही गुप्त पाप कहलाता है ॥१६८॥

भावार्थ—फलभावोंका लगता है, वचनों या शरीरकी क्रियाओंका नहीं लगता, यह नियम है। तब भाव शुद्ध हुए विना अच्छा फल कैसे मिलेगा ? नहीं मिलेगा। फलतः भाव शुद्ध करनेके लिये पहिले निमित्तरूप बाह्य अशुद्ध चीजोंके उपयोग (स्तैमाल) करनेका त्याग कर देना चाहिये

---

१. आदरपूर्वक पास बुलाना (पड़गाहना) या प्रार्थना करना।
२. पांव धोवना।
३. आरती उतारना स्तुति पढ़ना।
४. नमस्कार करना।
५. भोजन शुद्धि करना अर्थात् शुद्ध भोजन है (अपने लिये बनाया गया है) ऐसा कहना।

यह लौकिक विधि है (व्यवहार पद्धति है)। ऐसी स्थितिमें व्रतीको या श्रावकको अभक्ष्यका त्याग भोजनपानमें अवश्य कर देना चाहिये अर्थात् श्रावकको अष्टमूलगुण धारण कर लेना चाहिये, तभी वह स्वयं शुद्धाहारी होकर दूसरोंको शुद्धाहार दे सकता है अन्यथा नहीं, यह पक्का नियम है। जो लोग अज्ञानतासे पांव धोनेके पानीको आचमन करते हैं या पीते हैं वे शुद्धता खोते हैं। क्या शुद्धाहारी वह धूल कीचड़ भरा जल पी सकता है? उसके पीनेमें शुद्धता कहाँ रही, जो अशुद्ध रास्ताकी चीजोंसे संयुक्त हो, जरा विवेकसे देखो और विचार करो। किम्वहुना। मल या मैल कभी शुद्ध या शुचि नहीं होता यह ध्यान रहे। इसी तरह 'अर्चन'का अष्ट द्रव्यसे पूजन करना नहीं है अपितु शुद्ध भक्तिपूर्वक आहार देना वैयावृत्ति करना गुणगान करना इत्यादि है। उसीको दूसरे शब्दोंमें पूज्य आचार्य समन्तभद्र महाराजने श्लोक नं० ११४ र० श्रा०में प्रतिपूजा शब्दसे उल्लेख किया है और श्लोक नं० ११३में प्रतिपत्ति शब्दसे उल्लेख किया है जो श्रावकके-देवपूजा गुरुपास्ति आदि ६ नित्यकर्मोंमें शामिल है उसीका नाम गुरुकी उपासना है। यदि सप्रमाण कथन मिले तो विपरीत धारणा या श्रद्धाको वदल देना सम्यक्त्व कहलाता है। नामभेद हो जाना सम्भव है परन्तु अर्थभेद नहीं होना चाहिये तभी लाभ होता है अस्तु ॥१६८॥

नोट—अष्टद्रव्यसे पूजा देवकी ही होती है अन्य (गुरु)की नहीं होती। इसमें आर्ष प्रमाण 'परमात्मप्रकाश' उत्तरार्धमें—

दाण ण दिण्णऊ मुणिवरहिं, ण वि पुज्जिउ जिणणाहु।
पंच ण वंदिउ परमगुरु किमु होसइ सिवलाहु[1] ॥१६८॥

इसकी संस्कृत टीका और भाषाटीका पं० दौलतरामजी कृतमें स्पष्ट लिखा है सो देख लिया जाय। भ्रममें न रहा जाय।

आचार्य आगे दाताके ७ सात गुण वताते हैं।

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटता न सूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥१६९॥

पद्य

लौकिकफलकी चाह विना अरु क्षमावान् निश्छल होना।
ईर्षारहित प्रसन्नचित्त अरु अहंकार शून्यहि होना॥
खेदरहित होना ये सातहि गुणदाताके निश्चित हैं।
फल उनको मिलता है अद्भुत, जो इनपर अवलम्बित हैं ॥१६९॥

---

१. उक्तं च—परिग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥ नवधा भक्ति ॥ रत्न० श्रा०
श्रद्धातुष्टिर्भक्तिः विज्ञानमलुब्धता क्षमा सत्त्वम्।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥ दाताके ७ गुण ॥ रत्न० श्रा०

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्तिः, निष्कपटता, अनसूयत्वं, अविषादित्वमुदित्व, निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः सन्ति] इस भवके फलकी इच्छा नहीं रखना (हमारा अमुक कार्य सिद्ध हो जाय इत्यादि नहीं विचारना) अर्थात् दान देते समय पूर्णसमनिरपेक्ष रहना, क्षमाभाव धारण करना, (स्वभाव रखना) मायाचार या कपट नहीं करना, ईर्षाभाव नहीं करना (न आने पर दुखी नहीं होता) प्रसन्नचित्त रहना (प्रमोद या हर्ष रखना—दिलगीर न होना) अहंकार नहीं करना, ये सात गुण दातामें होना चाहिये—वही समर्थ दाता कहलाता है अन्यथा दोषवाला दाता है, इत्यादि सोच लेना चाहिये ॥ १६९ ॥

भावार्थ—द्वारापेक्षण करते समय अपना कर्त्तव्य समझकर कार्य करे, कोई विकल्प या चिन्ता न करे। यह सोचे कि यदि संयोग होगा तो दे देवेंगे और न होगा तो जब होना होगा तब देंगे क्या बिगड़ेगा वह तो वस्तुका परिणमन है जो यत्नसाध्य नहीं है, अर्थात् पुरुषार्थसे सिद्ध नहीं होता इत्यादि संतोष और समभाव बराबर रखे यह महान् उदारता है जो विकारीभावोंको स्थान नहीं देती इत्यादि। इसीका नाम निष्कामभक्ति है, इसका महान् फल मिलता है किन्तु सकामभक्तिका फल अल्प मिलता है अतएव वह वर्जनीय है।

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ यह नीति है।

आगे आचार्य देयद्रव्य (आहारादि) की विशेषता बतलाते हैं।

रागद्वेषासंयममदद्दुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥ १७० ॥

पद्य

रागद्वेष अविरति अरु मद भी दुःख भयादिक नहिं होवें।
ऐसा द्रव्य देय है मुनिको तप स्वाध्याय वृद्धि होवें ॥
यह कर्त्तव्य दानदाताका, इतनी बुद्धि होय जिसमें।
उक्त दोष उपजें जिस द्रवसे देनेसे नहिं फल उसमें ॥ १७० ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यत् द्रव्यं रागद्वेषासंयममदद्दुःखभयादिकं न कुरुते] जो द्रव्य (आहारादि) पात्रको (मुनिको) रागद्वेष असंयम मद दुःख भय आदि विकारीभावोंको उत्पन्न न करे तथा [सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरं तदेव देयमिति] तप स्वाध्याय ध्यान आदिका बढ़ानेवाला हो, ऐसा शुद्ध (उत्तम) द्रव्य ही दानमें देना चाहिये। इसके प्रतिकूल फल देनेवाला द्रव्य कभी नहीं देना चाहिये यह श्रावकका कर्त्तव्य है—बुद्धिमानी है ॥ १७० ॥

भावार्थ—देयद्रव्य अनेक प्रकारका होता है और वह निमित्त कारणरूप है, उसके निमित्तसे जीवोंके परिणाम भी तरह-तरहके होते हैं अर्थात् अच्छे निमित्तसे अच्छे परिणाम होते हैं और बुरे

निमित्तसे बुरे परिणाम होते हैं। उसमें भी भोजनके निमित्तोंका प्रभाव (असर) खासकर आत्मा पर पड़ता है 'अतएव भोजनका शुद्ध होना सबसे जरूरी है। तभी तो श्लोकमें मुनियोंको देनेवाला भोज्यद्रव्य उत्कृष्ट होना बतलाया है जिससे रागद्वेषादि विकारीभाव न हों और तप एवं स्वाध्यादिमें बाधा न आवे न स्वास्थ्य विगड़े अन्यथा निमित्तताका दोष दाता पर होगा अर्थात् दाता उस दोषका अपराधी सिद्ध होगा। [1]मूलाचार ग्रन्थमें इसके बाबत एक दृष्टान्त दिया गया है कि जिस प्रकार कोई शिकारी थोड़ेसे पानी (गड्ढा) में मौजूद मछलियोंको बेहोश करके पकड़नेका इरादा रखकर कुछ मादक द्रव्य (मदिरा आदि) उसमें डालता है। उस जलको मछलियाँ पीती हैं और साथ-साथ मेंढक भी पीते हैं। परन्तु फलस्वरूप मछलियाँ बेहोश या मदोन्मत्त हो जाती हैं, उन्हें शिकारी आसानीसे पकड़ लेता है किन्तु मेंढक मदोन्मत्त नहीं होते न उन्हें वह पकड़ता है। इसका सारांश, उद्देश्य या इरादाके अनुसार फलका लगना है अर्थात् उद्देश्य (संकल्प) का असर अवश्य पड़ता है। मछलियोंको बेहोश करनेका इरादा शिकारीने किया था अतएव उनपर ही मदिराका प्रभाव पड़ा, उनके साथमें रहनेवाले मेंढकों पर नहीं पड़ा।

ऐसी स्थिति (न्याय) में पात्रोंको या मुनियोंको 'उद्दिष्ट' भोजन देना (उनके निमित्तसे बनाया गया भोजन देना) मना है—निषिद्ध है, नहीं देना चाहिये, न जानकार मुनिको वह लेना चाहिये यह विधि (आगमाज्ञा) है। इसके विरुद्ध करना या चलना बड़ा अपराध है। किम्बहुना। ध्यान दिया जाय। व्रतका पालना सरल नहीं है—खांडेकी धार है, लड़कोंका खेल नहीं है। जो शक्ति व योग्यता रखते हों उनको ही उच्च व्रत पालना व धारण करना चाहिये तथा उनको ही दीक्षा देना चाहिये, सभी मनचलोंको नहीं, यही पुष्टि श्लोक नं० १८ में पेश्तर की गई है। जिन्हें जिनवाणी पर आस्था (श्रद्धा) और भय होगा वे ही उसका आदर और पालन करेंगे, सभी नहीं कर सकते यह तात्पर्य है। भावुकतामें आकर यद्वा तद्वा करना अनुचित है ॥ १७० ॥

आचार्य—पात्रोंके भेद बतलाते हैं, जिन्हें दान दिया जाता है।

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् ।
अविरतसम्यग्दृष्टिः[2] विरताविरतश्च[3] सकलविरतश्च[4] ॥ १७१ ॥

पद्य

मोक्षमार्गकी प्राप्ति जिसे, हो—वह ही पात्र कहाता है।
तीन भेद उसके होते हैं, अविरत आदि विख्याता है ॥

---

१. जह मच्छयाण पयदे मदणुदये मच्छया हि मज्जन्ति ।
ण हि मंडूगा एवं परमट्ठकदे जदि विशुद्धो ॥ ६७ ॥ मूलाचारपिंडशुद्धि अधिकार

२. चतुर्थ गुणस्थानवाले जघन्य पात्र ।

३. पाँचवें गुणस्थानवाले मध्यम पात्र ।

४. छठवें आदि गुणस्थानवाले उत्तम पात्र ।

चौथे पंचम षष्ठम गुणकृत, क्रमशः नाम धराए हैं।
मोक्षमार्गके चालनहारे, जातिभेद ठुकराए हैं॥ १७१॥

अन्वय अर्थ—आचार्य आगे कहते हैं कि [मोक्षकारणगुणानां संयोगः पात्रं, त्रिभेदमुक्तं] ोक्षके कारणभूत गुणों (सम्यग्दर्शनादित्रय) का संयोग अर्थात् प्राप्ति, जिसको हो जावे, वह ात्र' कहलाता है। उसके तीन भेद आगममें कहे हैं। यथा [अविरतसम्यग्दृष्टिः, विरताविरतश्च, कलविरतश्च] अविरतसम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवाला (१) जघन्यपात्र। विरताविरत अर्थात् चम गुणस्थानवाला (२) मध्यमपात्र। सकलव्रती अर्थात् छठवाँ आदि गुणस्थानवाला (३) त्तम पात्र। इनका लक्षण या स्वरूप पेश्तर कई बार वताया जा चुका है सो समझ लेना॥ १७१॥

भावार्थ—मोक्षके कारणरूप गुण या मार्गरूप उपाय तीन हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, न्यक्चारित्र। इनमेंसे जिन्हें एक या दो या तीनों प्राप्त हो जाते हैं वही 'पात्र' कहलाता है। ौर जिसको ये प्राप्त न हों वह अपात्र या कुपात्र कहलाता है व उसको मोक्ष प्राप्त नहीं होता, वह ंसारमें ही घूमता रहता है। यहाँ पर कार्यपर्यायकी मुख्यता होनेसे व्यक्तिरूप (प्रकट हुए) म्यग्दर्शनादिकी प्राप्ति वाला ही 'पात्र' कहा गया है अर्थात् जिसके भव्यत्व शक्तिका विकास हो ुका हो वही 'पात्र' है। वैसे तो कारणकी अपेक्षासे जिसके भव्यत्त्वशक्ति (गुण) का विकास ोनेवाला हो वह भी 'पात्र' (योग्यता वाला) कहलाता है ऐसी शास्त्रीय चर्चा है, परन्तु अभी हाँ पर कारणपर्यायका जिक्र (कथन) नहीं है सिर्फ कार्यपर्यायका है। तदनुसार चतुर्थ गुण-थानवाला अव्रती-असंयमी भी, सम्यग्दर्शन प्रकट् हो जानेकी अपेक्षासे 'पात्र' कहा गया है वह ात्रोंकी श्रेणीमें शामिल है। इसी तरह विरताविरत पंचम गुणस्थानवाला पूर्ण व्रती नहीं है फिर ी सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे 'पात्र' है। छठवाँ गुणस्थानवाला भी अंतरंग परिग्रह रहित पूर्ण व्रती ाहीं है तथापि सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे 'पात्र' है इत्यादि। अतएव मोक्षमार्गी तीनोंको समझना ाहिये किम्बहुना। विना सम्यग्दर्शनके 'पात्र' नहीं हो सकता।

तब प्रश्न होता है कि

क्या द्रव्यलिंगी मुनि (सम्यग्दर्शनके विना २८ गुणधारी दिगम्वर मुनि) पात्र नहीं हो सकते ? क्या वे पात्र या कुपात्र है ? इसका उत्तर इस प्रकार है कि निश्चयनयसे वे (सम्यक्त्वके विना) मोक्षमार्गी नहीं हैं न 'पात्र' हैं किन्तु वे व्यवहारनयसे व्रतादिक पालनेकी अपेक्षासे 'कुपात्र' हैं अपात्र नहीं हैं। कारण कि वे व्रतादि पूर्ण धारण करते हैं अर्थात् उनके करणानुयोगके अनुसार 'सम्यग्दर्शन' तो है नहीं, किन्तु चरणानुयोगके अनुसार वाह्य चारित्र पाया जाता है जिससे असंयमी व अव्रती नहीं हैं। लेकिन वे मिथ्यात्व साथमें होनेकी वजहसे 'कुपात्र' कहलाते हैं। तथा वे अपात्र नहीं है, इसलिये कि उनके सिर्फ सम्यग्दर्शम नहीं है शेष व्रत हैं। परन्तु अपात्रके न सम्यग्दर्शन होता है न व्रत होते हैं यह भेद है, जैसे संड मुसंड फकीर वगैरह। ऐसा समझना चाहिये। फलांशमें—पात्रोंको दान देनेसे सुभोगभूमिके सुख मिलते हैं और कुपात्रोंको—(सम्यक्त्व रहित व्रतधारियोंको) दान देनेसे कुभोगभूमिके सुख मिलते हैं और अपात्रोंको दान देनेसे कोई

खास फल नहीं मिलता वह दान व्यर्थ जाता है इत्यादि। व्यवहारनयकी मान्यतामें भी कुछ अंश सचाईका होना चाहिये तब वैसा माना जा सकता है अन्यथा वैसा नहीं माना जा सकता। तदनुसार 'द्रव्यलिंगीके यहाँ' सचाई (सम्यग्दर्शनादित्रय)का कुछ भी अंश नहीं है, अतएव व्यवहारनयसे भी 'द्रव्यलिंगी' मोक्षमार्गी नहीं हैं यह निर्धार है। हाँ, दयादानकी अपेक्षासे अपात्र आदि दीन दुखी सभी जीवोंको दान दिया जा सकता है, उसकी मनाही नहीं है, वह तो करुणादान है जो मन्दकषायका फल है अर्थात् कषायकी मन्दतासे होता है, उसमें परोपकारकी भावना रहती है, अपने स्वार्थ पूर्तिकी भावना नहीं रहती, यह मन्दकषाय व तीव्र कषायमें भेद है इसको समझना चाहिये। मूलमें दो भेद पात्रोंके हैं (१) पात्र (२) अपात्र। पात्रों (सुपात्रों)के ३ भेद उत्तम, मध्यम, जघन्य ॥ १७१ ॥

अपात्रोंके दो भेद (१) कुपात्र (२) अपात्र। लक्षण निम्न प्रकार है।

उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम्।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं, युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ॥ सा० ध०

आगे पात्रोंके विषयमें आचार्योंका मतभेद बताया जाता है।

(१) उक्तं च—

सावयगुणेहिं जुत्ता पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
जिणवयणे अणुरत्ता उपशमशीला महासत्ता ॥१९६॥ स्वा० अनु०

अर्थ—पाँचवें व छठवें गुणस्थानवाले मध्यम पात्र हैं तथा ७ वें गुणस्थानवाले भी मध्यम पात्र हैं। तथा जिनवाणीका अभ्यास करनेवाले श्रुतज्ञानी ८ वें गुणस्थानसे लगाय ११ वें गुणस्थानवाले शुक्लध्यानी उत्तम पात्र हैं, उपशमश्रेणी मांड़नेवाले ॥१९६॥

(२) उक्तं च—

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥ नियमसार, कुन्दकुन्दाचार्य।

अर्थ—जो व्रतीं ६ छह आवश्यक सहित होता है, वह मुनि सम्यग्दृष्टि (अन्तरात्मा) है। और जो व्रती ६ छह आवश्यक रहित होता है, वह द्रव्यलिंगी मुनि है (बहिरात्मा है) मिथ्यादृष्टि है।

---

१. सागारधर्मामृत श्लोक ६७ में देखो अध्याय २ दूसरा। यथा—
न्यग्मध्योत्तमकुत्स्यभोगजगतीभुक्तावशेषाद्वृषात्तादृक्पात्रवितीर्णभुक्तिरसुदृग्देवो यथास्वं भवेत्।
सद्दृष्टिस्तु सुपात्रदानसुकृतोद्रेकात् सुभुक्तोत्तमस्वर्भूमर्त्यपदोऽश्नुते शिवपदं व्यर्थस्त्वपात्रे व्ययः ॥६७॥
अध्याय २

इसीके अन्तर्गत अनुष्टुप्श्लोक

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादविरतः सुदृक् ।
प्रथमः क्षीणमोहोऽन्त्यो मध्यमो मध्यमस्तयोः ।।१४९।।

अर्थ—चतुर्थ गुणस्थानवाले जघन्यपात्र हैं, और १२ बारहवें गुणस्थानवाले उत्तमपात्र हैं तथा चतुर्थ और वारहवेंके वीचवाले अर्थात् ५ वेंसे ११ वें तक गुणस्थानवाले जीव मध्यमपात्र हैं ऐसा समझना चाहिये ।।१४९।।

(३) उक्तं च—

अमृतचन्द्राचार्यका मत

श्लोकनं १७१में लिखा ही है—पात्रं त्रिभेदमुक्तमित्यादि ।

नोट—पूर्वोक्त प्रकार कुछ मतभेद आचार्योंमें परस्पर पाया जाता है, उसे समन्वित करना चाहिये । न्यायके अनुसार सवसे स्थविर आचार्य कुन्दकुन्दका मत अनुकरणीय व मननीय है—किम्वहुना । उसीसे मिलता-जुलता मत स्वामी कार्तिकेयजीका भी है ऐसा हमारा ख्याल है । अतएव वहुचर्चित मतको श्रेष्ठ स्थान दिया जाना चाहिये ।। १७१ ।।

आचार्य आगे दानका फल वतलाते हैं । यथा—

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने ।
यस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ।।१७२।।

पद्य

पात्रदान देनेसे देखो, लोभकषाय विनशती है ।
लोभ कषायरूप है हिंसा—दान देतसे टलती है ॥
इसीलिये है दान वितरना—पात्रोंको वतलाया है ।
पुण्यवंध अरु हिंसा टलना दो विध लाभ सुझाया है ।।१७२।।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अत्र दाने हिंसायाः पर्यायः लोभः निरस्यते] इस पात्रदानके देनेसे हिंसा (पाप) की पर्याय लोभ कषायका अभाव या विनाश होता है । [तस्मात् अतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम्] इसलिये पात्रों (अतिथियों) को दान देना मानो हिंसाका छूटना अथवा अहिंसाका पालना ही है । ऐसी स्थितिमें दानका देना अनिवार्य है, देना चाहिये ।। १७२ ।।

भावार्थ—श्रावककी शोभा देवपूजा-पात्रदान, गुरूपासना आदिके विना नहीं हो सकती, अतएव देवपूजादि कार्य करना श्रावका मुख्य कर्त्तव्य है । इसके विपरीत जो दानपुण्य, ख्यातिलाभ पूजादिके निमित्तसे या उद्देश्यसे किया जाता है, उसका फल भी विपरीत होता है क्योंकि वह तीव्रकषायसे किया जाता है अर्थात् ख्यातिलाभ पूजा (प्रतिष्ठा) की चाह होना तीव्रकषाय

कहलाती है, जो त्याज्य है, उसके पीछे बड़े-बड़े त्याग (दान आदि) प्राणी कर डालते हैं, उनके करनेमें वैराग्य या अरुचि नहीं होती न परोपकारकी भावना होती है अतः वह तीव्रकषाय है ऐसा समझना चाहिये अस्तु। सच्चा दान वही है जिसमें किसी तरहका लोभ (चाह) न हो अर्थात् ख्याति (लोकप्रसिद्धि) लाभ (धनादिककी प्राप्ति) पूजा (नामवरी-आदरसत्कार) की वांछा न हो किन्तु लोभ नष्ट हो जाय, और फलस्वरूप आत्मस्वभावका घात न होनेसे 'अहिंसा' धर्म पले। बस, वही दान है ऐसा समझना चाहिये। अरे! फल मिलना तो आनुषंगिक रहता है और वह परिणामोंके अनुसार हुआ करता है, चाहे उसकी चाह (आकांक्षा) की जाय या न की जाय, वह तो मिलेगा ही—निश्चित है! तब माँग कर नीचा क्यों बनना? बिना माँगे (चाहे) मिलने वालोंको वह उचित नहीं है—शोभा नहीं देता यह तात्पर्य है। फलतः निरपेक्ष होकर पात्रदान देना आवश्यक है—गृहस्थ श्रावकका कर्त्तव्य है (मध्यम श्रावक तक कर सकता है । दान देते समय भक्तिस्तुतिरूप प्रशस्त राग (शुभराग) होता है जिससे पुण्यका बंध भी होता है। अतएव संवर निर्जरा व पुण्यबंधको करनेवाला पात्रदान अवश्य देना चाहिये। यों तो श्रावकके छहों कार्य ऐसे ही हैं ॥१७२॥

आचार्य आगे पात्रदान न करनेसे हानि बतलाते हैं—

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते ।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ? ॥१७३॥

पद्य

बिना बुलाये आनेवाले गुणनिधिके जो धारी हैं।
भ्रमरक्रियावत् लेनेवाले परपीड़ा परिहारी हैं॥
ऐसे यतिको नहिं देता जो भोजनदान आदि श्रावक।
वह लोभी निन्दा पाता है, हिंसापाप करत व्यापक ॥१७३॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [यः गृहमागताय] जो श्रावक बिना निमंत्रण दिये घरपर आनेवाले (स्वयं ही भिक्षार्थ चर्या करनेवाले) और [मधुकरवृत्त्या परानपीडयते] अपनी मधुकरी वृत्तिसे दूसरे दाता आदि जीवोंको दुख-बाधा नहीं पहुँचाते (संक्लेश परिणाम नहीं करते) जैसा कि भौंरा फूलों पर बैठकर मात्र रस लेता है किन्तु फूलोंको नुकसान नहीं पहुँचाता। तथा [गुणिने अतिथये] महान् गुणी ऐसे अतिथि अर्थात् उत्तमपात्र मुनि (अभ्यागत अतिथि) को [न हि वितरति] आहारादि नहीं देता अर्थात् अपने लिये बने भोज्यमेंसे—हिस्सा नहीं बँटाता [सः कथं लोभवान् न भवति] वह श्रावक अत्यन्त लोभी नहीं होता क्या? अवश्य लोभी व हिंसक होता है व कहना चाहिये॥ १७३॥

भावार्थ—साधु या मुनिकी वृत्ति या चर्या मुख्यतया ४ चार तरहकी बतलाई गई है (१) भ्रामरीवृत्ति (जो अभी बतलाई है) (२) गोचरीवृत्ति, जिसमें मुनि नीची दृष्टि किये हुए

गृहस्थ श्रावकके परिकर आदिको नहीं देखा जाता है, कौन कैसा है इत्यादि, सिर्फ शुद्ध भोजन पर दृष्टि रखता है—भोजन कर पीछे आश्रम आदिको चला जाता है। जैसा कि गाय जंगलमें जाकर वहाँकी शोभा आदि नहीं देखती उसका ध्यान चरोखर पर ही रहता है। (३) अक्षमृक्षणवृत्ति अर्थात् जैसे गाड़ीको चलानेके लिये ओंगन या चिकनाई देनेकी जरूरत होती है किन्तु घीका ओंगन है या तेलका इसकी जरूरत नहीं है, उसी तरह मुनिको रूखा-सूखा शुद्ध भोजन लेनेका ही प्रयोजन रहता है दूसरा नहीं (४) गर्त्तपूरणवृत्ति अर्थात् जैसा गड्ढा पूरनेके लिये कैसे भी पत्थर कचरा डालनेकी जरूरत रहती है वह गड्ढा पूर दिया जाता है, उसी तरह अतिथि साधु रसविरस ठंडा गरम भोजनका ख्याल न रखकर स्वभावसे उदर भरता है इत्यादि विशेषता मुनि, भोजनादिमें रखते हैं। इस प्रकार समयपरिणामी साधुको दान देनेमें श्रावकको अपना अहोभाग्य समझना चाहिये अर्थात् मेरा जीवन सफल हुआ, ऐसा मानना चाहिये क्योंकि भाग्वान्को ही पात्रदानका अवसर मिलता है, जिसके सम्पूर्ण योग्यता हो वह योग्यता पुण्य या धर्मसे ही प्राप्त होती है अतएव दानपुण्य अवश्य करना चाहिये किम्वहुना। उससे हिंसापाप नहीं लगता, पुण्यवंध होता है। लोभी पापवंध करता है अर्थात् लोभरूप विभावभावसे स्वभावभावका घात करता रहता है और पुण्यका वंध भी नहीं होता यह दुहरी हानि लोभीको होती है लोकाचारमें भी वह हीन दृष्टिसे देखा जाता है अतएव पात्रदान अवश्य देना चाहिये ॥ १७३ ॥

आचार्य यथार्थमें त्यागी व दानी कौन है और किसको उसका अहिंसा फल मिलता है यह वताते हैं।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥ १७४ ॥

पद्य

त्यागधर्मकी इच्छा जो नित अपने मनमें रखता है।
ऐसा दाता अपने खातिर वना भोज्य दे देता है॥
दुःख संकोच न होता उसको निर्लोभी वह होता है।
तभी अहिंसाव्रत पालन कर सार्थक नाम जु करता है ॥ १७४ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [भावितस्त्यागः आत्मार्थं कृतं भक्तं मुनये ददाति] जो श्रावक त्याग या पात्रदानकी भावना या प्रबल इच्छा रखता हो और खुद अपने लिये बनाया गया आहार (भोजन) भी निःसंकोच हो उदारतापूर्वक मुनिको दे देता हो तथा [अरतिविषाद-विमुक्तः] दुःख और पछतावा कतई न करता हो। [शिथिलितलोभः एव अहिंसा भवति] वही उदारपरिणामी श्रावक निर्लोभी (दानी) होता है और उसके ही अहिंसाव्रत पलता है ऐस समझना चाहिये ॥ १७४ ॥

भावार्थ—मनुष्यको या प्राणिमात्रको भोजन (खाद्य) सवसे प्यारा पदार्थ है उसको मौके

पर किसीको भी नहीं देना चाहता है यह प्राकृतिक नियम है। ऐसी स्थितिमें यदि किसी कारणवश अपना भोजन किसी दूसरेको देना पड़े तो उसे बड़ा दुःख व पछतावा होता है, जो लोभकी निशानी (सूचक) है और हिंसाकी जननी है। इसके विपरीत जो इतना उदार हो कि अभ्यागतके लिये (मुनिके लिये) अपना निजी जो अपने लिये ही खास बनाया गया है—ऐसा भोजन भी बिना दुःख व संकोचके दे देवे, उसे वास्तवमें निर्लोभी समझना चाहिये अर्थात् सच्चा निरपेक्ष दानी वही है—वही त्याग व दानकी भावना रखनेवाला है और फलस्वरूप दानका फल अहिंसा धर्म, उसे ही प्राप्त हो सकता है। उस भोजनसे अतिथिको भी लाभ पहुँचता है अर्थात् उद्दिष्ट भोजन करने का दोष (अपराध) उसे नहीं लगता और श्रावक भी निमित्तमात्र होनेसे बचता है। मूलमें यही निर्दोष भोजन है किम्बहुना। यह खास तौरसे विचारणीय है। यहाँ तक दानी और उसका फल निश्चयसे बताया गया है, इस तरह यह अध्याय समाप्त होता है। जो भोजन अपने लिये बनाया जाय उसको देनेमें उल्लास (हर्ष व प्रसन्नता) होता है और पात्रके न आने पर दुःख पश्चात्ताप नहीं होता किन्तु दूसरोंके लिये बनाए जाने पर कदाचित् न आवें तो खेद होता है पछतावा होता है यह सारांश है। अतएव उक्त दोषसे बचना अत्यन्त जरूरी है। फिर क्यों गलती की जाय व दोष लगाया जाय ? यह बुद्धिमानी नहीं है किम्बहुना। कार्य ऐसा ही करना चाहिये जिसमें लाभ हो हानि न हो। निरुद्दिष्ट दान देनेसे उत्तम पुण्यबंध और अहिंसाकी प्राप्ति ये दोनों लाभ एक साथ होते हैं। सुभोगभूमिके व स्वर्गादिके अनुपम सुख पात्रदानसे मिलते हैं ऐसा समझना।

प्रकरणवश पात्रके लिये भोजन विधि

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छाइट्ठो हु सो मुणेयव्वो।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिपत्तं सचेलस्स ॥७॥ सूत्रपाहुड कुन्दकुन्दाचार्य
णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥१०॥

अर्थ—जो जिणवाणी और उसके अर्थको (प्रयोजनको) नहीं जानता न मानता है वह मिथ्यादृष्टि है—ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनिको और वस्त्रधारी त्यागीको भी विनोदके लिये (प्रदर्शनार्थ भी) पाणिपात्रमें भोजन नहीं करना चाहिये अर्थात् वर्जित है। श्रीजिनेन्द्रदेवने दिगम्बर वेषधारी (नग्नमुनि)को ही पाणिपात्रमें आहार करना कहा है कारण कि दिगम्बरवेष ही एक (शुद्ध) मोक्षका मार्ग है, दूसरा वस्त्र सहित या मिथ्यात्व मोक्षका मार्ग नहीं है ॥७।१०॥

आर्यिका और उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक क्षुल्लक) पाणिपात्र भोजन नहीं कर सकते न खड़े होकरकर सकते हैं—वह स्वांग या नाटकरूपमें भी वर्जित है अस्तु।

विनयके सम्बन्धसें आज्ञा

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीयो स सुरासुरमाणुसे लोए ॥११॥ सूत्रपाहुड

जो वावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता ।
ते होंति वन्दनीया कम्मक्खयणिज्जरा साहू ॥१२॥
अवसेसा जे लिंगा दंसणणाणेण सम्म संजुत्ता ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छमिज्जाग्र ॥१३॥

अर्थ—जो संयम सहित हों--आरंभ परिग्रहसे रहित हों, दिगम्बर मुनि हों (६वें ७वें गुणस्थानवर्त्ती) तथा शक्तिधारी २२ बाईस परीषह सहन करनेवाले हों (श्रेणी माड़नेवाले अष्टमादि गुणस्थानवर्त्ती) वे सुरअसुर व मनुष्योंकर वन्दनीय हैं, उनको साष्टांग नमस्कार करना चाहिये या वन्दना शब्द उच्चारण करके विनय करना चाहिये । शेष जो वस्त्रधारी होकर भी व्रती हैं (पांचवें गुणस्थानवाले) उनको इच्छामि कहकर विनय करे । अर्थात् हम आपके व्रतोंकी इच्छा करके विनय करते हैं इत्यादि ।

तथा

जो अव्रती वस्त्रधारी हैं, उनको जयजिनेन्द्र या जुहार कहकर विनय करना चाहिये यह तीन भेदरूप निर्धार विनयका है । तथा बदलेमें मुनि आदि श्रावकको दर्शनविशुद्धि या स्वस्ति कहकर आशीर्वाद देवें ऐसा खुलासा समझना चाहिये किम्बहुना ।

नोट—इस विषयमें प्रचलित पद्धति भिन्न-भिन्न प्रकार है । उसको यथासम्भव ठीक व संगत करना चाहिये । पांवधोक (पांव पड़ना) वगैरह यह लौकिकजनोंमें भी होता देखा जाता है अतएव उससे ठीक-ठीक निर्धार नहीं होता । मोक्षमार्गी या धर्मात्माओंका आचरण, श्रद्धा और आगमकी आज्ञाके अनुसार रहा करता है, उसका हमेशा ख्याल रखना चाहिये, लोकरूढ़ि कोई धर्म नहीं होता यह नियम है । सामान्यतः नमस्कार क्रियामें पांव पड़ना भी गर्भित हो जाता है निर्धार कर लेना अस्तु । विवादको वस्तु नहीं है ।

यहाँ तक नैष्ठिक श्रावकका वर्णन समाप्त हुआ ।

आगे प्रसंगवश १२ बारह विरतोंसे ११ ग्यारह प्रतिमाओंका निर्माण और उनके स्वरूपका कथन किया जाता है ।

भूमिका

यहां प्रश्न होता है कि व्रत और प्रतिमामें क्या अन्तर है तथा सामायिक शिक्षाव्रत एवं सामायिक प्रतिमामें क्या अन्तर है ? आगे भी प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत और प्रोषधप्रतिमामें क्या अन्तर है ? इसका समाधान निम्न प्रकार है—

व्रत और विरत इन दो शब्दोंमें भी अन्तर है। व्रतका अर्थ त्याग होता है और विरतका अर्थ उदासीन या विरक्त होता है। तदनुसार १२ बारह विरतका अर्थ उदासीनता होता है अर्थात् बारह प्रकारकी उदासीनताका होना। इसीसे पंचम गुणस्थानवालोंका नाम 'उदासीन श्रावक' पड़ता है, जिसका मतलब पूर्णत्यागका न होना अर्थात् एकदेश त्यागका होना या अतिचारका लगना हैं। ऐसी स्थितिमें व्रत या विरतधारीके अतिचार लगते रहते हैं और प्रतिमाधारीके अतिचार छूट जाते हैं यह अन्तर (भेद) है। अथवा अभ्यासदशा या भूमिका तयार होना व्रत कहलाता है और उसमें त्रुटि न रहना पूर्ण तयार हो जाना[1] प्रतिमा कहलाती हैं।

इसका भावार्थ यह है कि निरतिचार व नियमित व्रत पालनेका नाम प्रतिमा है और सातिचार तथा अनियमित व्रत पालनेका नाम विरत है इत्यादि सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये। निष्कर्ष शिक्षाव्रतमें अतिचार लगता है और प्रतिमामें अतिचार नहीं लगता है। न नियमभंग होता है दृढ़ता रहती है शिथिलाचार नहीं रहता किम्बहुना।

प्रतिमा प्रकरण (प्रसंगवश)

बारह विरतोंसे ११ प्रतिमाएँ बनती हैं।

बाह्यत्यागसे बाह्यमुद्रा व वेष बनता है

प्रतिमाएँ सब बाह्य त्याग-तपस्यापर निर्भर रहती हैं क्योंकि बाह्यत्यागसे वैसी मुद्रा व वेष बाहिर दिख पड़ता है जो चरणानुयोग (लोकाचार)की पद्धतिसे जीवनमें विशेषता समझी जाती है और आदरणीय होती है, उसके ११ दरजे (क्लासें) माने गये हैं। परन्तु सभीमें तरतमरूपसे बाह्यत्यागकी मुख्यता है जो संक्षेपमें निम्न प्रकार है। सभीका उद्देश्य इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयमका पालना है अर्थात् इन्द्रियोंकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको कम करना और जीवरक्षा करना है। तथा अन्तरंग (भीतर)में कषायोंका भी कम करना उद्देश्य है अस्तु।

१. **पहिली प्रतिमा**—दर्शन प्रतिमा है, इसमें सम्यग्दर्शनको शुद्ध किया जाता है और अशुद्धताका त्याग किया जाता है अर्थात् तीन मूढ़ताओंका त्याग किया जाता है (उनकी भक्ति-श्रद्धा पूजा आदि करना छोड़ दिया जाता है), आठ मदोंका त्याग किया जाता है, ६ छह अनायतनोंका त्याग किया जाता है, शंकादिक आठ दोषोंका त्याग किया जाता है कुल २५ दोष दूर किये जाते हैं जो जीवनमें अशुद्धता लानेवाले हैं। सम्यक् श्रद्धा न होनेसे ही जीव (आत्मा)का कल्याण व उद्धार हो सकता है वह नीवरूप है अस्तु। वह पहिला उपाय है जो होना ही चाहिये, उसीका नाम अन्तरंगमें मूलगुण है और बाहिरमें आठ (मद्यादि) अभक्ष्य चीजोंका त्याग करने रूप है, जो आगे व्रतधारण करनेकी शुद्ध भूमिकारूप है। इससे भी इन्द्रियसंयम (अहिंसा) और प्राणिसंयम (अहिंसा) पलता है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रतिमाका धारी निरतिचार आठ मूलगुण या निरतिचार सम्यग्दर्शन आठ अंग सहित, पालता है तभी तो उसका नाम 'प्रतिमा' पड़ता है। उसकी बाहिर खान-पानमें शुद्धि होने लगती है, शिथिलाचार या स्वच्छंदता मिट

---

१. अन्तर बाहिर एकसा जहाँ होय परिणाम। भोग अरुचि व्रत आदरे प्रतिमा ताको नाम॥ यह लक्षण है।

जाती है (फलतः) वह देशसंयमी कहलाने लगता है इत्यादि व्रती जीवन शुरू हो जाता है किम्बहुना। प्रतिमाएँ धारण करने वाला नैष्ठिक श्रावक (कर्त्तव्यपरायण) कहलाता है अर्थात् खाली भावना या विचारवाला वह नहीं होता किन्तु वह बाहिर करके दिखलाता है, जिससे उसपर लोगोंकी आस्था (श्रद्धा) हो जाती है। साथ ही सम्यग्दर्शनके पाँच अतिचार (श्लोक १८२ में कहे हुए) भी त्यागता है, नहीं लगाता है। ऐसी [1]दर्शनप्रतिमाधारी बनता है अस्तु। यह एकमात्र पंचपरमेष्ठीको उपासना बाहिरमें करता है अन्य कुदेवादिककी उपासना बन्द कर देता है। यथाशक्ति इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयम तो पालता ही है (अष्ट मूलगुणके रूपमें) संसार शरीर भोगोंसे विरक्त रहता है, व्यापारादि करता है, घरमें रहता है लेकिन परिणाम बदल जाते हैं भावना दूसरी हो जाती है। वसुनंदी आचार्य इसमें पाँच उदम्बर फलों तथा सात व्यसनोंका त्याग करना भी बतलाते हैं इत्यादि पाँच अणुव्रतोंका अभ्यास भी करता है।

२. **व्रतप्रतिमा**[2]—हिंसा आदि (असंयमरूप) मोटे-मोटे पाँच पापोंका निरतिचार त्याग करनेसे दूसरी प्रतिमा पलती है। मोटे-मोटेका अर्थ अप्रयोजनभूत एवं संकल्पपूर्वक या लोक प्रसिद्ध (दंडाई) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहका त्याग कर देना चाहिये। उससे (अव्रती) इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयम थोड़ा भी नहीं पलता, स्वच्छंद प्रवृत्ति रहती है (विवेकरहित आचरण होता है) जो पशुजीवनके तुल्य है। व्रतप्रतिमाधारी वैसा कार्य स्वयं नहीं करता (व्रतभंगका त्यागी होता है) वह जघन्य श्रावक कहलाता है। उसके पंचाणुव्रतोंमें अतिचार नहीं लगाना चाहिये तब उसका नाम 'व्रतप्रतिमाधारी' पड़ेगा अन्यथा नहीं। परन्तु वह कुछ अंशों तक अप्रयोजनभूत पाँचों पापोंका त्यागी होता है जिनका कथन पीछे (श्लोक नं० ४२ से लेकर ९० तक हिंसापापका, श्लोक नं० ९१ से लेकर १०० तक असत्यका, श्लोक नं० १०२ से लेकर १०६ तक चोरीका, श्लोक नं० १०७ से लेकर ११० तक कुशील का, श्लोक नं० १११ से लेकर १२८ तक परिग्रहका विस्तारके साथ) किया गया है देख व समझ लेना, यह प्रतिमा पाँच अणुव्रतोंसे बनती है अर्थात् पाँच अणुव्रतोंकी निरतिचार अपेक्षा इसमें पाई जाती है अस्तु। यह व्रती व्यापारादि, गुणव्रतोंके साथ करता है (दिग्व्रतादि धारण करता है) तमाम प्रवृत्ति नियमित व बंधन रूप हो जाती है—स्वच्छंद नहीं रहती इत्यादि। इसके गृहविरत व गृहनिरत दो भेद होते हैं। लक्षण स्वस्त्रीसे भी सम्बन्ध न रखना गृहविरत है। और सिर्फ स्वस्त्रीसे सम्बन्ध रखना गृहनिरत है। गृहका अर्थ गृहणी है इत्यादि अस्तु।

३. [3]**सामायिक प्रतिमा**—त्रिकाल निरतिचार सामायिक करनेसे यह प्रतिमा पलती है,

---

१. सम्यदर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पंचगुरुचरणशरणः दर्शनिकस्तत्त्वपथ्यगृह्यः ॥ १३७ ॥ —र० श्रा० समन्तभद्राचार्य

२. निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥१३८॥

३. चतुरावर्त्तत्रितयः चतुः प्रणामस्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यः त्रियोगशुद्धः त्रिसंध्यमभिवंदी ॥ १३९ ॥

इसमें मुख्यता इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयमको है क्योंकि थोड़े (सीमित) समयको सभी प्रवृत्तियाँ (आरंभादि) वन्द हो जाती हैं (निरवद्य योग हो जाता है) जिससे हिंसादि पाप नहीं होते यह लाभ होता है। यहाँ पर भी वाह्य आरंभादिका त्याग होनेसे शान्तमुद्रा (वेप) वनती है, उपल जैसी। इति वह आदरणीय मानी जाती है। इसमें सामायिक शिक्षाव्रतका वलाधान होनेसे उसी द्वारा वनी यह मानी जाती है। इसमें भी गुणव्रत साथ रहते हैं लगान लगी रहती है इत्यादि। इसमें प्रातःकाल मध्याह्नकाल (दोपहर) सायंकाल, तीनों समय नियमसे निरतिचार सामायिक करना अनिवार्य है।

४. **प्रोषध या प्रोषधोपवास प्रतिमा**[1]—भोजनादि क्रिया सीमित समयको वन्दकर देनेसे चौथी प्रतिमा पलती है। इसमें दूसरे शिक्षाव्रतका वलाधान रहता है उसीको निरतिचार पालनेसे प्रतिमा नाम पड़ता है। तथा वाह्य आरम्भादिकका इसमें त्याग होता है जिससे इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयम पलता है जो आदर्शरूप है। प्रतिमाओंमें पूर्व-पूर्वके सभी कर्त्तव्य चालू रहते हैं, वे छूटते नहीं हैं, उनका पालन करना अनिवार्य रहता है। इसकी विधि आगे श्लोक नं० १५२में वताई जावेगी। किम्वहुना।

५. **सचित्त[2] त्यागप्रतिमा**—भोजनपानमें सचित्त (जीवसहित) चीजोंका त्यागकर देना सचित्तत्याग प्रतिमा कहलाती है। यह भोगोपभोग शिक्षाव्रतका शुद्ध (निरतिचार) रूप है। उसीसे यह प्रतिमारूपमें वना है। इसमें भी इन्द्रियसंयम प्राणिसंयम पलता है। वह आदर्श उपस्थित करता है। वाह्य चीजें जैसे मूल-फल-शाक-शाखा-केरी-कन्द, फूल-वीज ये सव जव जीवों सहित (साधारण-अनंतकाय) होते हैं तव इनका खाना वर्जनीय है क्योंकि उनके खानेसे वहुतसे असंख्यात जीवोंका घात होता है, जिससे हिंसापाप लगता है यह हानि है, किन्तु जव उपर्युक्त चीजोंमेंसे कुछ चीजें, प्रासुक (जीवरहित) हो जाती हैं तव उनको खाया जा सकता है। ऐसा विधान आगम (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ)में है। अर्थात् चीजोंकी सभी अवस्थाएँ अभक्ष्य या भक्ष्य (अशुद्ध व शुद्ध) नहीं होतीं ऐसा सिद्धान्त है, उनमें परिवर्त्तन होता रहता है।

यहाँ तर्क किया जाता है कि उपर्युक्त चीजोंको कच्ची (अप्रासुक) खानेमें जव अधिक हिंसा होती है और खानेमें स्वादिष्ट नहीं लगतीं तव उनके खानेका निषेध ही क्यों किया जाता है ? वह व्यर्थ अर्थात् उनका त्याग कराना व व्रत वताना निष्फल है ? इसका धार्मिक व वैज्ञानिक

---

१. पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनि गुह्य।
प्रोपधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोपधानशनः ॥१४०॥ र० श्रा०

२. मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनवीजानि। नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥१४१॥

३. शुद्ध पाठ—तत्तं पक्कं सुक्कं अंविललवणेहि मिस्सयं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ॥३७९॥ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका

अर्थ—सूखी चीज, पकी चीज, तपी चीज, खट्टा-खारा मिली चीज, वटी कुटी चीज सवप्रासुक कहलाती हैं ऐसा आचार्य कहते हैं।

उत्तर इस प्रकार है कि ऊपर सचित्त चीजोंका त्याग केवल स्वादकी दृष्टिसे (अपेक्षासे) नहीं कराया गया है कि उनमें अच्छा स्वाद नहीं आता अतएव वे त्याज्य हैं किन्तु उनके खानेमें जैसे कि गढ़न्तके कच्चे खानेमें बहुत जीवोंका घात होता है तथा उनसे कामेन्द्रियमें विशेष विकार होता है अर्थात् कामोद्दीपन या कामवासना प्रबल होती है, जिससे पापका बंध अधिक होता है (कुशील सेवन होता है), अतएव उन चीजोंके कच्चे खानेसे हानि होती है, और उन्हींको पकाकर (सेंक या उबालकर) खानेसे उनकी कामोद्दीपन शक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे लाभ है क्योंकि स्पर्शन व रसना इन्द्रियोंको जीतना कठिन है, वे ही प्रबल हैं। वे जीती जाती हैं। जंगली पशु या घोड़ा बैल वगैरह कच्चा घास या जड़ी-बूटी खानेसे अधिक बलिष्ट (ताकतवर) होते हैं और शुष्क होनेपर खानेसे शक्ति घट जाती है ऐसा समझना चाहिए तब कुतर्क करना व्यर्थ है--ऊपरी दृष्टि है, किम्बहुना। इसीका नाम इन्द्रियसंयम है कि उन्हें वशमें करना, पाँचवीं प्रतिमामें यही सब होता है, अस्तु। इस प्रतिमाका मुख्य लक्ष्य इन्द्रियोंपर विजय पाना है तथा कषायोंको भी कम करना है। प्रासुक करके खाना या सचित्तका न खाना एक ही बात है उसको निरतिचार पालना चाहिये।

६. **रात्रिभोजनत्याग[1] प्रतिमा**—रात्रिके समय चारों प्रकारका आहार नहीं करना रात्रि भोजनत्याग प्रतिमा कहलाती है। इसमें भी इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयम होता है। इन्द्रिय (जिह्वा) पर नियंत्रण होता है व जीवघात नहीं होता। यह भी भोगोपभोगत्याग शिक्षाव्रत का सुधरा रूप है अतः उसीसे बनता है। यह दो भंगसे पाला जाता है अर्थात् स्वयं रात्रिको भोजन नहीं करता न दूसरोंको कराता है, यह मध्यम श्रावकका भेद है इत्यादि। यहाँ पर कहीं-कहीं मतभेद है वह ऐसा कि रात्रिमें भुक्त या भोग (मैथुन) करना अर्थात् दिनको भोग नहीं करना ऐसा लिखा है, इसमें भी इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयम दिनको त्याग देनेसे एकदेश पलता है।

७. **ब्रह्म[2]चर्य प्रतिमा**—इसमें अब्रह्मका त्याग किया जाता है अर्थात् बाहिर स्त्री मात्रका निरतिचार त्याग किया जाता है इस तरह वह आदर्श उपस्थित करता है—कठिन स्पर्शन इन्द्रिय-को जीतता है अर्थात् अनादिकालीन मैथुनसंज्ञापर विजय पाता है जो प्राणिमात्रके पाईं जाती है। इसका निर्माण चौथे अणुव्रतसे होता है। प्रतिमा नाम अतिचारोंके त्यागनेसे होता है (अति-चार आगे बतलाये जावेंगे) यह महान् व्रत है। इसका लोकमें बाह्य त्यागसे महत्व है, अस्तु। यह दो बार भोजन पान कर सकता है। क्योंकि यह मध्यम प्रतिमाधारी है। यह व्रत अन्तमें सर्वोत्कृष्ट हो जाता है जबकि शीलके पूरे १८ हजार भेद पलने लगते हैं—पूर्ण स्वभाव या शीलमें लीन हो जाता है उसके ब्रह्म (आतमा) में चर्या होने लगती है, अस्तु।

---

१. अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकंपमानमनाः ॥१४२॥ —र० श्रा०

२. मलबीजं मलयोनि गलन्मलं पूतगन्धिबीभत्सं।
पश्यनङ्गमनङ्गात् विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥ —र० श्रा०

८. **आरम्भत्याग प्रतिमा**[1]—जव कोई अणुव्रती वाहिर आरंभ (व्यापारादि) का निरतिचार त्याग कर देता है तव यह ८वीं प्रतिमा कहलाती है। इसमें व्यापारादि आजीविकाके वाह्य साधनोंका त्याग किया जाता है, जो एक आदर्शरूप है (वैसी मुद्रा या वेप) आदरणीय है, यह भी इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयमकी निशानी है। यह परिग्रहपरिमाण अणुव्रतका रूप है, उसी से यह वनती है। इसमें नवीन आरंभ (कमाई) करनेका निषेध है किन्तु संग्रहीत कमाईका निषेध नहीं है—अभी तक पासमें रुपया वगैरह रख सकता है। यह दो वार भोजनपान कर सकता है। इसके वाह्यपरिग्रह (धन) होनेसे सवारीका उपयोग यह कर सकता है इत्यादि।

९. [2]**परिग्रहत्याग (परिमाण) प्रतिमा**—जव कोई अपना पासका द्रव्य भी—भोजन-वस्त्रका ठहराव करके दूसरोंको पंचोंकी साक्षीपूर्वक दे देता है तव वह ९वीं प्रतिमाधारी होता है। यह भी मध्यम श्रावकका भेद है। यह दो वार भोजनपान कर सकता है। परिग्रहत्यागका ही निखरा रूप है, उसीसे होता है। यह भी सवारीका उपयोग परिमाणके अनुसार कदाचित् कर सकता है। यह अपने पास भी कुछ द्रव्य रख सकता है।

नोट—इस प्रतिमामें कदाचित् सवारीका त्याग हो जाता है—परावलंवी नहीं रहता स्वतंत्रवृत्ति अहिंसक होता है।

१०. **अनु[3]मतित्याग प्रतिमा**—सांसारिक वाह्य कार्योंके वावत यह किसीको कोई सलाह सम्मति नहीं देता, इतना निरपेक्ष हो जाता है। थोड़ा-सा वाह्यपरिग्रह इसके पास रहता है यह उत्तम त्यागी कहलाता है। यह एक ही वार भोजन पान करता है। लोटा व वस्त्र मात्र रखता है। पराश्रित भोजन हो जाता है परन्तु भिक्षा भोजन नहीं करता—स्वाध्याय आदिमें ही समय विताता है। जव कोई भोजनके समय अपने घर भोजनको लिवा ले जाता है तव भोजन करता है। यह भी परिग्रहके त्यागका एक शुद्ध रूप है इससे इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयम पलता है। अस्तु। यहाँपर भी अशक्तताके समय योग्यतानुसार सवारीका उपयोग कर सकता है वाध्य नहीं है। वह थोड़ा पराश्रितवृत्तिवाला है इत्यादि।

११. **उद्दिष्ट[4]त्याग प्रतिमा**—उद्दिष्ट भोजन पान आदि सभीका त्याग करनेवाला ग्यारहवीं

---

१. सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारंभतो व्युपारमति।
प्राणतिपातहेतो योऽसावारंभविनिवृत्तः ॥१४४॥ —र० श्रा०

२. वाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः सन्तोषपरः परिचितपरिग्रहात् विरतः॥१४५॥ —र० श्रा०

३. अनुमतिरारंभे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥१४६॥

४. गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकंठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखंडधरः ॥१४७॥

प्रतिमा धारी होता है। यह भी एकबार भोजन पान करनेवाला उत्तम श्रावक कहलाता है। परन्तु भिक्षा भोजन करता है। सिर्फ वस्त्र मात्रका थोड़ा परिग्रह रखता है और बैठकर पात्रमें भोजन करता है। इसके दो भेद हैं (१) क्षुल्लक (२) आर्यक (ऐलक)। यह सवारीका उपयोग कतई नहीं कर सकता। (१) क्षुल्लक, खंडवस्त्र (अंगोछा) और लंगोटी रखता है (२) ऐलक सिर्फ लंगोटी रखता है। ये दोनों अणुव्रती, मुनिसे दीक्षा लेते हैं--गृहविरत अर्थात् गृहस्थाश्रम छोड़ देते हैं। परिग्रहको अपेक्षासे दो लंगोटियां व दो पिछोरा पासमें रखते हैं किन्तु उपयोग (स्तैमाल) की अपेक्षा क्षुल्लक एक लंगोटी व एक अंगोछा ही वर्त्तावमें लाते हैं तथा ऐलक एक लंगोटी ही काममें लाता है। यह भेद है। इनके पाँचवाँ ही गुणस्थान होता है। मनवचकाय इन तीन भंगोंसे त्यागी होता है—उत्कृष्ट श्रावकका दर्जा है। यह भी एक बार बैठकर पात्रमें भोजन करता है।

इसी तरह आर्यिका भी साड़ी एक पहनती है, एक पासमें (स्टाकमें) रखती है तथा बैठकर पात्रमें भोजन करती है, वह भी उत्कृष्ट श्राविका है—भिक्षाभोजन विधिप्रकार करती है। आगमकी आज्ञाके अनुसार प्रवृत्ति करना (चलना) ही सम्यग्दृष्टिकी पहिचान है। निरतिचार १२ व्रत पालनेका फल १६ सोलहवें स्वर्ग तक जन्म लेना है और वहाँसे चलकर मनुष्यभाव पाकर मोक्षको जाना बतलाया गया है इसको ध्यानमें रखना चाहिये।

नोट—प्रसंगवश यहाँ पर १२ व्रतोंसे ११ ग्यारह प्रतिमाओंका निर्माण अल्पबुद्धिके अनुसार लिखा गया है। पाठकगण भूलकी क्षमा देंगे और सूचना देनेकी कृपा करेंगे। विषय कठिन है, स्वाध्याय और अनुभवके बल पर यह किया गया है उपयोगी समझ ग्रहण करेंगे। किम्बहुना।

सातवाँ अध्याय

सल्लेखना प्रकरण (साधकश्रावकाचार)

आचार्य साधक श्रावकका अन्तिम कर्त्तव्य वताते हैं।

भूमिका निर्माण

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया[1] पश्चिमसल्लेखना[2] भक्त्या ॥१७५॥

पद्य

सतत भावना जिसकी रहती कब सल्लेखन हो मेरे।
क्योंकि यह सामर्थ्य उसीमें साथ धर्मधन ले दौरे॥
इसीलिये कर्त्तव्य यही है, अन्तसमयमें वह करना।
ठान प्रतिज्ञा भूमिशोधना नित्य तयारी है करना॥१७५॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [मे धर्मस्वं मया समं नेतुम्] मेरे धर्मरूपी धनको मेरे साथ ले जानेके लिये [इयमेव एका समर्था] यही सल्लेखना ही एक समर्थ है—दूसरा कोई नहीं है। [इति सततं भक्त्या पश्चिमसल्लेखना भावनीया] इस प्रकार साधक श्रावकको निरन्तर भक्ति सहित अन्तिम (मारणान्तिकी) सल्लेखना करनेकी भावना या प्रतिज्ञा अवश्य करना चाहिये। यह भूमिका निर्माण है अर्थात् पेश्तरसे तयारी करना है॥१७५॥

भावार्थ-हर एक कार्यके लिये पेश्तरसे तयारी करना पड़ती है तभी वह अच्छी तरहसे सम्पन्न (परिपूर्ण) होता है यह नियम है। तव सल्लेखना जैसे महान् गुरुतर परन्तु दुःस्साध्य कार्यको साधनेके लिये 'मुनिजन' १२ बारह वर्ष पहिलेसे अभ्यास करते हैं। उसी तरह श्रावकको भी नैष्ठिक अवस्थामें रहते हुए पेश्तरसे ही मारणान्तिकी (पश्चिम) सल्लेखना करनेकी प्रतिज्ञा या भावना करते रहना चाहिये, क्योंकि भावना एक तरहका संस्कार है सो जब वह संस्कार दृढ़ हो जाता है तव वह प्रतिज्ञा पूरी कराके ही दम लेता है अर्थात् सफल व शान्त होता है। यही भूमिकाशुद्धि या भूमिका तयार करना है इत्यादि। सल्लेखनामरण दो तरहका होता है (१)

---

१. भावना करना प्रतिज्ञा लेना।

२. सत् + लेखना = सल्लेखना। अनादिसे मौजूद कषाय और कायको पृथक् करना या कमजोर करना, यह अन्तिम कर्त्तव्य श्रावक (साधक)का है करना चाहिये।

नित्य मरण (२) तद्भवमरण। नित्यमरण प्रतिसमय जो आयु और श्वासोच्छ्वासका वियोग होता है वह कहलाता है और तद्भव मरण—जो अन्त समयमें आयु और श्वासोच्छ्वासका पूर्ण वियोग होता है वह कहलाता है। फलतः सल्लेखना (मारणान्तिकी) करना क्यों जरूरी है ? दृष्टान्त द्वारा इसे बतलाते हैं।

जिस प्रकार देशान्तरमें संचय किये हुए द्रव्य (धन)को साथमें ले जानेके लिये नौका आदि साधनकी जरूरत रहती है, विना साधनके वह साथ नहीं ले जाया जा सकता। यदि कहीं उसको दूसरेके सुपुर्द कर दिया जाय तो वह पुनः प्राप्त न होगा वही हजम कर लेगा इत्यादि। इसी तरह मारणान्तिकी सल्लेखना ही परभवमें धर्मधनको ले जानेमें नौकाके समान साधन है। यदि उस समय सल्लेखना (समाधि) न की जाय तो परिणाम बिगड़ सकते हैं, जिससे दुर्गति हो सकती है, जीवनमें कमाया हुआ (अर्जित किया हुआ) धर्मधन व्यर्थ चला जायगा ऐसा सोचकर मारणान्तिकी सल्लेखना अवश्य करना चाहिये, जिससे धर्मधनको साथमें ले जाकर सद्गति प्राप्त हो। किम्बहुना। अन्तसमयका सुधारना ही कर्त्तव्य पालन करना है। उस समय जीवको भारी विकल्प और चिन्ताएँ व मोह होता है जब प्राण छूटते हैं, जिससे दुर्गतिका बंध होता है, (स्वभावभावका घात होकर विभावभाव उभड़ते हैं) और फलस्वरूप यह होना संभव है कि वह जीव खोटे भावोंके साथ मरकर अपना धर्मधन खो देवे। अतएव उसकी सुरक्षाके लिये अन्तसमयमें भाव या परिणाम नहीं बिगड़ना चाहिये यह उपदेश है, परन्तु उसके लिये पूर्व अभ्यासकी नितान्त आवश्यकता है ऐसा जानना चाहिये कि जीवनकी सफलता इसीमें है अस्तु, यथार्थतः यह आत्मसाधनाका कार्य, शुद्धनय द्वारा जिसने अपने शुद्ध स्वरूपको भलीभांति जान लिया हो, वही निर्मोही होकर कर सकता है, दूसरा नहीं। सामान्यतः धर्मगुरु आचार्यका सभी जीवोंके लिये यही उदार उपदेश है कि कम-से-कम जैनधर्मी श्रावकको अन्तिम समय (मरते वक्त) परिग्रहादि त्यागकर व्रती मरण तो करना ही चाहिये। किम्बहुना ॥१७५॥

आचार्य सल्लेखनाकी प्रतिज्ञा या भावना करनेका फल बतलाते हैं।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥१७६॥

पद्य

विधिपूर्वक सल्लेखन करनेका जो प्रण नित्य करते हैं।
करनेके पेश्तर ही वे जन नित सल्लेखन धरते हैं॥

---

१. अग्रिमकाल (भविष्य)।

२. स्वभावभाव या सल्लेखनाको साधना।

सल्लेखन दो विध होती है नित अरु अन्तसमयकी भी।
दोनों विध करनेसे भविजन करत हानि संसृ[1]तिकी भी ॥१७६॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जो जीव (व्रती) [अहं मरणान्ते अवश्यं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि] हम मरणके अन्तसमयमें विधिपूर्वक सल्लेखना अवश्य करेंगे [इति भावना-परिणतः] ऐसी भावना रखता है या प्रतिज्ञा करता है वह मानो [अनागतमपि इदं शीलं पालयेत] भविष्यकालीन स्वभावभावकी साधना भी वर्त्तमानमें करता है अर्थात् क्रमिक सल्लेखना करता है (प्रतिक्षण मन्दकषाय और वैराग्यकी प्रमुखता होनेसे) वर्त्तमानमें आगामी कर्मोंका संवर और निर्जरा बराबर करता है तथा विभावभाव हटनेसे स्वभावभाव प्रकट करता है ऐसा खुलासा समझना चाहिये ॥ १७६ ॥

भावार्थ—ऐसा कहा जाता है कि भावना 'भवनाशिनी' अर्थात् बारंबार भावना या चिन्तवन करनेसे अथवा प्रयोग करनेसे कभी न कभी प्रयत्न सफल अवश्य होता है। और मुमुक्षुजन भी लक्ष्यको भावना द्वारा जगाते रहनेसे (विस्मरण न होने देनेसे) लक्ष्य सिद्धि करनेमें समर्थ हो जाते हैं—संसारसे छूट जाते हैं, अतएव भावना साधन बड़ा उपयोगी है। अरे ! करनेके पहिले मात्र भावना करना भी कठिन है क्या ? तब वह पुरुषार्थी कैसा ? जो यह भी नहीं करता वह पार भी नहीं होता, यह निश्चय समझना चाहिये। प्रतिज्ञाधारी भावनाके बलसे बहुत अनर्थोंसे बच जाता है यह तात्पर्य है। विचारवान् विवेकी एक-एक समयका हिसाब लगाता है क्योंकि मनुष्यजीवन महान् कीमती है—मोक्ष ले जानेको वही समर्थ है। यह बार-बार जबतब नहीं मिलता उसके मिलनेका समय (काललब्धि) निश्चित है अतः इसे व्यर्थ नहीं खो देना चाहिये। तथा सल्लेखनाको उपयुक्त समय[2] पर करना चाहिये यह ध्यान रहे ॥ १७६ ॥

आगे सल्लेखनाके सम्बन्धमें वादी शंका (तर्क) करता है उसका ठोस उत्तर (अखंड जवाब) आचार्य देते हैं।

मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥ १७७ ॥

---

१. संसारका त्यागरूप क्षय।

२. उक्तं च—　　उपसर्गे दुर्भिक्षे जरासि रुजायां च निःप्रतीकारे।
　　धर्माय तनुविमोचनमाहुः　सल्लेखनामार्याः ॥ १२२ ॥ रत्न० श्रा० ॥

अर्थ :—जिसका प्रतीकार (बचाव) होना असंभव हो ऐसा दुर्भिक्ष (अकाल), उपसर्ग, रोग, बुढ़ापा, उपस्थित हो जाने पर धर्मप्राप्तिके उद्देश्यसे शरीरसे ममत्व छोड़ना अर्थात् कषाय घटाना सल्लेखना कहलाता है यह भाव है।

पद्य

जब पक्का यह निश्चय होवे, मरना अब तो निश्चित है।
उसी समय रागादि छोड़कर जो सल्लेखन करता है॥
कायकषाय त्यागनेसे नहिं, [1]आत्मघात कहलाता है।
आत्मघात करनेवालेके तीव्रकषाय जु होता है॥ १७७॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [मरणेऽवश्यंभाविनि] जब व्रती सल्लेखनाधारीको यह निश्चय हो जाय कि हमारा अब मरना निश्चित है अर्थात् लक्षणों आदिसे मालूम पड़ता है कि अब हम जीवित नहीं रह सकते अन्तिम समय है तब [रागादिमन्तरेण कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे व्याप्रियमाणस्य] रागद्वेषके बिना अर्थात् भविष्यमें किसीकी आकांक्षा आदि न करके (बिना चाहके) जो कषायोंको छोड़नेका प्रयत्न करता है और निकट एवं अनादिके साथी शरीरसे भी राग (कषाय) छोड़ता है उसके [आत्मघातो नास्ति] 'आत्मघात' नामक पाप (दोष) नहीं लगता अर्थात् वह 'आत्मघाती महापापी' नहीं बनता यह भाव है ॥१७७॥

भावार्थ—आत्मघात (कषायपूर्वक यत्न करके मरना) वही करता है जो तीव्रकषायी हो अर्थात् असह्य क्रोध हो या ख्यातिलाभ पूजाकी उत्कट अभिलाषा हो या कोई साधना करना हो या कषायपूर्ति करना हो, तभी वह अपने प्राणप्रिय जीवनको भी व्यर्थ ही खो देता है। इस प्रकार मरण करनेवालेको निःसन्देह आत्मघात या इच्छामरणका दोष लगता है और फलस्वरूप उसकी दुर्गति होती है। परन्तु जो इसके विपरीत मरण करता है अर्थात् जीवनका असाध्य अन्तिम समय समझकर धर्मलाभ करनेके लिये अथवा जानेवाली परचीजमें व्यर्थ ही राग (कषाय)को छोड़नेके लिये अन्न, जल, औषधादि सब छोड़कर निर्मोह (वीतराग) होता है तथा सिर्फ आत्मध्यानमें चित्त या उपयोगको लगाता है, स्वर्गादि या नामवरीकी इच्छा नहीं रखता वह आत्मघाती कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि उसका मरण निःस्वार्थ होता है, किसीके दबाउरे आदिमें आकर वह वैसा नहीं करता यह तात्पर्य है। इस प्रकार सल्लेखना जीवनको शुद्ध करनेका एक अपूर्व उपाय है (कषायकी मन्दता या अभावका करना है), किन्तु जीवनको अशुद्ध करनेका उपाय (तीव्रकषाय करनारूप) नहीं है। रागादिकषायोंको छोड़ना जीवका कर्त्तव्य है क्योंकि वे जीवका स्वभाव नहीं हैं—विभाव या विकार हैं जो कि संयोगी पर्यायमें ऊपर-ऊपर होते हैं, उनके साथ तादात्म्यसंबंध (एकत्व) नहीं होता किम्बहुना। आत्मघात होनेके भयसे उसको नहीं छोड़ना चाहिये, किन्तु निर्भय होकर सल्लेखना अवश्य करना चाहिये यह उपदेश है अस्तु।

जिस प्रकार कोई चतुर व्यापारी दुकानमें आग लग जानेके समय अधीर न होकर दुकानको बुझाने या बचानेका प्रयत्न करता है किन्तु जब दुकान बचती नहीं दीखती तब अपने हुंडो,

---

१. आत्मघात अपराध।

पुरजा, वही-खाता, नोट आदि बचानेका ही प्रयत्न करता है जिससे बजारमें उसकी शाख न मिटे, बनी रहे इत्यादि युक्ति काममें लाता है। उसी तरह व्रती साधक जब शरीर बचता दिखाई नहीं देता तब 'धर्मरत्न (धन)'को वह बचाता है शरीरमें कषाय या राग न कर, उससे ममत्व छोड़ता है, जिससे वह धर्म जीवको दुर्गतियोंसे बचाता है—शाख कायम रखता है इत्यादि समझना। सन्यास-समाधिमरण-सल्लेखना ये सब एकार्थवाची शब्द हैं किसी भी नामसे कहा जाय अर्थ एक है। अस्तु।

नोट—आयुक्षयका पक्का निश्चय न होनेपर यमसल्लेखना करनेकी मनाही है, नहीं करना चाहिये।

उक्तं च (विशेषार्थ)

भावविसुद्धिणिमित्तं वाहिरसंगस्य कीरए चाओ।
वाहिरचाओ विहलो, अब्भंतरसंगजुत्तस्स ॥ ३ ॥ भावपाहुड

अर्थ—मुमुक्षु जीव धनधान्यादि बाह्य परिग्रहका त्याग, परिणामोंको विशुद्ध (निर्मल) करनेके लिये निमित्त समझकर करते हैं किन्तु उपादान समझकर नहीं करते। अतएव जिन जीवों का अन्तरंग परिग्रह (कषाय व मिथ्यात्व) नहीं छूटता अपितु मौजूद रहता है और वे कषायकी मन्दता या तीव्रता (भयादि) से बहिरंग परिग्रहका कदाचित् त्याग करते हैं या कर देते हैं। उनका बहिरंग परिग्रहका त्याग करना निष्फल जाता है अर्थात् उससे साध्य (मोक्ष) की सिद्धि नहीं होती, संसार ही में निवास रहता है यह तात्पर्य है। ऐसी स्थितिमें सल्लेखना धारण करनेका मतलब कषायभावोंको कम करनेका है और उसीके लिये निमित्तरूप बाह्यपरिग्रह या औषधि अन्नपानादिका त्याग किया जाता है तथा वह उचित है। किम्बहुना। यहाँ पर तात्त्विक कथनमें बाह्य त्यागका महत्त्व नहीं गिराया जा रहा है किन्तु विधेयता (निमित्तता या आवश्यकता) कायम रखते हुए उसकी कीमत बताई जा रही है। ऐसी स्थितिमें जबतक हीन दशा रहती है तबतक उसका अपनाना भी कथंचित् लाभकर होता है परन्तु सर्वथा नहीं होता ऐसा समझना चाहिये।

सल्लेखनाके समयकी विधि

नग्नवेष (दिगम्बरपना) होना बहुधा आवश्यक है। साधक पुरुषके लिये तो यह कठिन नहीं है—संभव है किन्तु आर्यिकाके लिये महाकठिन है तथापि उसको एकान्त स्थानमें वैसा करने की आज्ञा है, वह उपचार महाव्रत धारण कर सकती है। यों तो उसके लिये साधारण अवस्थामें—नग्नता धारण करना, खड़े-खड़े आहार लेना, पाणिपात्र भोजन करना, मना है ये तीन कार्य उत्कृष्ट श्रावकव्रती नहीं कर सकता यह नियम है।

संथराकी विधि

भिन्न प्रकारकी है। अनेक प्रकारके योग्य आहार दिखाकर उसका दिल (भाव) टटोला

जाय, यदि वह इच्छा प्रकट करे तो वह देवे और यदि वह उसमें आसक्त हो तो धर्मोपदेश देकर उसका राग छुड़ावे, वार-वार उसे समझावे इत्यादि कर्त्तव्य है। अस्तु ॥ १७७ ॥

तथा च

आचार्य 'आतमघात'का स्वरूप वताते हैं।

यो हि कषायाविष्टः कुंभकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवंधः ॥ १७८ ॥

पद्य

जो कषायवश होकरके निजप्राण व्यर्थ खो देता है।
श्वासरोध जल अग्निशस्त्रसे, आत्मघाति वह होता है॥
आत्मघातमें महापाप है, नहीं विरागी करता है।
वह जो कुछ करता है तजना, धर्मरुचि रख मरता है॥ १७८ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हि यः कषायाविष्टः] निश्चयसे जो जीव तीव्रकषाय सहित होकर [कुंभकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः प्राणान् व्यपरोपयति] श्वासनिरोध (प्राणायाम), जलप्रवेश, अग्निप्रवेश, विषभक्षण, अस्त्रसंचालन आदि क्रियाओंके द्वारा अपने प्राणोंका उत्सर्ग (त्याग) करता है [तस्य सत्यं आत्मवधः स्यात्] उसके बराबर (निःसन्देह) आत्मघात होता है अर्थात् उसमें विवाद नहीं हो सकता ॥१७८॥

भावार्थ—तीव्रकषाके वेगमें जीव विवेक रहित हो जाता है उसको योग्य अयोग्यका विचार नहीं रहता, अतएव वह मनचाहा कार्य कर वैठता है। चाहे उससे उसकी बदनामी हो या कोई हानि हो, उसको वह नहीं देखता। जिनको किसीपर अत्यधिक क्रोध या रोष होता है वे क्रोध या मानके वशमें प्राण तक खो देते हैं। फाँसी लगाकर, रेलसे कटकर, आगी लगाकर, कुआमें कूदकर, घुटकी मसक कर इत्यादि साधनों द्वारा मर जाते हैं। इसी तरह धर्मके लोभमें पागल होकर अर्थात् स्वार्थी अज्ञानियोंके बहकाएमें आकर उनका झूठा उपदेश मान लेते हैं और उसका आचरण कर वैठते हैं कि 'जो अमुक कार्य करेगा उसको धर्मकी प्राप्ति होगी और धर्मसे उसको वैकुंठ या मोक्ष मिलेगा तथा जो यहाँ सब कुछ दे देगा उसे वहाँ परलोकमें सब कुछ तैयार मिलेगा।' इत्यादि अंध श्रद्धामें पड़कर वे 'आत्मघात' कर डालते हैं, जिससे परिणाम संक्लेशमय होनेसे वैकुंठ नहीं मिलकर नरकादि मिलता है। फलतः वैसी मूर्खता कदापि नहीं करना चाहिये। वह धोखा है किम्वहुना। कभी-कभी असह्य दुःख होनेसे भी—जैसे इष्टका वियोग हो जाने पर या अनिष्टका संयोग हो जाने पर भी तीव्र रागद्वेषवश आत्मघात जीव कर लेते हैं वेइज्जती (अपमान) होने पर भी मर जाते हैं, परन्तु है वह सब कषायकी तीव्रता आदि-आदि जो बुरी है अस्तु ॥ १७८ ॥

---

१. आत्मघातका दूसरा नाम 'इच्छामरण' है अर्थात् तीव्रकषायवश प्राण त्यागना इत्यादि।

सल्लेखना धारण करनेका मुख्य प्रयोजन क्या है यह बताते है।

(अहिंसाव्रतका पालना है)

नीयन्तेऽत्र कषायाः हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम्॥ १७९॥

पद्य

हिंसाके कारण कषाय हैं, उनको कमती करनेसे।
सल्लेखनव्रत नाम होत है, अर्थ 'अहिंसा' पलनेसे॥
उसका मुख्य लक्ष्य ये ही है—व्रती अहिंसाव्रत पाले।
परम अहिंसाधर्म प्राप्तकर, मुक्तिरमा माला डाले॥ १७९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अत्र यतः हिंसायाः हेतवः कषायाः तनुताम् नीयन्ते] जब सल्लेखनाव्रतमें हिंसाके कारणभूत कषायोंको कमती किया जाता है अर्थात् छोड़ा जाता है [ततः सल्लेखनामपि अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं प्राहुः] तब सल्लेखनाको भी प्रकारान्तरसे अहिंसाकी प्रसिद्धि करनेवाली समझना चाहिये अर्थात् सल्लेखनाका ही दूसरा नाम 'अहिंसा' है—अर्थभेद कुछ नहीं है अतः वह करना चाहिये॥ १७९॥

भावार्थ—सल्लेखना—समाधि—सन्यास आदिके नामोंमें व क्रियाओंमें भेद होने पर भी प्रयोजन (अर्थ) में भेद कुछ भी नहीं है, सबका लक्ष्य एक कषायों (विभावभावों) का कमती करना है—जो हिंसाके निमित्त कारण हैं क्योंकि उनसे स्वभावभावोंका घात होता है। फलतः सल्लेखना- में कषायभाव छूटनेसे हिंसा बचती है (स्वभावभावका घात नहीं होता) और अहिंसाव्रत पलता है यह लाभ होता है ऐसा समझकर सल्लेखना अवश्य-अवश्य करना चाहिये—अहिंसा ही परम धर्म है॥ १७९॥

आचार्य—सल्लेखनाका अन्तिम फल दिखाते हैं।

(उपसंहार कथन)

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः॥ १८०॥

पद्य

व्रतरक्षाके अर्थ विवेकी शील सल्लेखन करते हैं।
इसके सबब अहिंसक बनकर मुक्ति वधूको वरते हैं॥

---

१. उक्तं च— अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद् विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्॥ १२३॥ रत्न० श्रा०

ऐसी श्रद्धा धार व्रतीजन अन्तिम लक्ष्य अवश बाँधें ।
क्रम-क्रम कर बारह वर्षोंसे व्रत सल्लेखनको साधें ॥ १८० ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [इति यः व्रतरक्षार्थं सततं सकलशीलानि पालयति] पूर्वोक्त प्रकार जो श्रावक व्रतोंकी रक्षाके लिये निरंतर सात शीलोंको पालता है अथवा सम्पूर्ण स्वभावभावोंकी ओर लक्ष्य रखता है (विभावभावोंको छोड़ता है) [तं उत्सुका शिवपदश्रीः स्वयमेव पतिवरा इव वरयति] उस श्रावक (व्रती) को बड़ी उत्सुकताके साथ स्वयं मोक्षलक्ष्मी वरण कर लेती है अर्थात् अपना पति बना लेती है। जिसप्रकार स्वयंवरमंडपमें कन्या स्वयं अपना पति चुन लेती है या पसंद कर उसके गलेमें माला डाल देती है यह लाभ होता है ॥ १८० ॥

भावार्थ—व्रतोंकी रक्षा करनेवाला श्रावक, अर्थात् जो श्रावक अतिचार रहित व्रत पालता है वह अथवा मुनि, अहिंसाव्रतको पालकर स्वर्ग और मोक्ष तककी प्राप्ति कर सकता है, व्रतका इतना बड़ा माहात्म्य है जो अनुपम है, इसीलिये मुमुक्षुजन व्रत अवश्य पालते हैं—अव्रतीपना छोड़ते हैं। इस ग्रंथमें श्रावकधर्मका व्याख्यान क्रमवार बहुत विचारके साथ किया गया है, जिससे अनादिसे भूले-भटके जीवोंको अकथनीय लाभ होगा। फलतः मारणान्तिक सल्लेखना विधिपूर्वक यदि श्रावक धारण करता है तो उसे १६वाँ स्वर्ग तक प्राप्त होता है और यदि मुनि धारण करता है तो उसको मोक्ष तक प्राप्त होता है। इस भेदका कारण अणुव्रत और महाव्रत है अर्थात् एकदेश अहिंसा और सर्वदेश अहिंसाका पालना है। यदि दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो अपूर्ण वीतरागता और पूर्ण वीतरागता है अस्तु। यह बुद्धिपूर्वक समाधि क्षायोपशमिक अवस्था तक अर्थात् जबतक ज्ञान क्षायोपशमिक रहता है तथा चरित्र भी क्षायोपशमिक रहता है तभी तक होती है आगे नहीं यह निष्कर्ष है किम्बहुना। आगे कोई विकल्प हो नहीं होता इत्यादि समझना ॥ १८० ॥

आठवाँ अध्याय

अतिचारप्रकरण

आचार्य सम्यग्दर्शन सहित १२ व्रतोंके अतिचार (दोष) वतलाते हैं।

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पंच पंचेति ।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धि-प्रतिबंधिनो हेयाः ॥१८१॥

पद्य

अतीचार सम्यग्दर्शनके और साथ बारह व्रतके ।
सल्लेखनको साथ मिलाकर सगरे चौदह भेदोंके ॥
पाँच पाँचके क्रमसे सबके सत्तर पूरे होते हैं ।
शुद्धि विनाशक होनेसे ये हेय पूज्यवर कहते हैं ॥१८१॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पंच पंचेति] सम्यक्-दर्शनमें, पाँच अणुव्रतोंमें, सात शीलोंमें और सल्लेखनामें पाँच-पाँच अतिचार होते हैं। [अमी सप्ततिः यथोदितशुद्धिप्रतिबंधिनः हेयाः] कुल मिलाकर १४ चौदहके ७० सत्तर अतिचार होते हैं, वे शुद्धि (निर्मलता) के घातक होनेसे हेय हैं त्यागने लायक हैं ॥१८१॥

भावार्थ—इस श्लोकमें खुलासा रूपसे 'सल्लेखना' के अतिचारोंका उल्लेख नहीं है तथापि व्रत वा शीलका उल्लेख होनेसे उसीके अन्तर्गत वह ग्रहण कर लिया जाता है, कारण कि सल्लेखना व्रतरूप या शीलरूप ही है—शीलका अर्थ स्वभाव होता है इत्यादि। इस तरह प्रत्येक भेदके पाँच-पाँच अतिचार होनेसे ७० सत्तर भेद हो जाते हैं (१४×५=७०) उनका त्यागना नितान्त आवश्यक है क्योंकि उनके रहते हुए व्रतादि शुद्ध अर्थात् निर्मल नहीं हो सकते यह तात्पर्य है। शास्त्रोंमें अतिचार अर्थात् दोष ४ चार प्रकारके वतलाये हैं सो समझ लेना[1]।

---

१. (१) क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम् ।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्त्तनं, वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तिताम् ॥९॥ सामा० पाठ, अमितगति ।

(२) अतिक्रमो मानसशुद्धिहानिर्व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाषा ।
तथातिचारं करणालसत्वं भंगो ह्यनाचारमिह व्रतानि (व्रतानाम्)॥ सागारधर्मामृत

(३) प्रायश्चित्तचूलिका नामक ग्रन्थमें पेज १५७ में खुलासा किया गया है। एक बूढ़े वैलका उदाहरण देकर समझाया है उसको देखना चाहिए।

नोट—अतिचार आदि दोष अज्ञान व प्रमादसे होते हैं अतएव दोनोंको दूर करना चाहिये, अस्तु। व्रतोंका फल निर्दोष या निरतिचार होनेपर ही पूर्ण प्राप्त होता है, व्रतोंमें जितना दोष लगता रहेगा उतना ही फल भी कम प्राप्त होगा यह नियम है। यहाँ पर स्थूल दोषोंका नाम व कथन किया जा रहा है, सूक्ष्म दोषोंका अस्तित्व तो बहुत दूर तक रहता है, उनका छूटना बुद्धिपूर्वक नहीं होता किन्तु स्वतः ही वैसा परिणमन होनेपर होता है अर्थात् वह यत्नसाध्य नहीं है। आत्माके सभी गुण निश्चयसे यत्न या पुरुषार्थ साध्य नहीं होते यह दृढ़ विश्वास रखना वह वस्तुका परिणमन है। यदि कोई ऐसा कहे कि 'यत्न साध्य' हैं तो वह व्यवहारी है क्योंकि पराश्रितता मानना सब व्यवहार कहलाता है, तथापि पुरुषार्थ करनेकी मनाही नहीं है, पुरुषार्थ उपयोग या मनको बदलनेका करना चाहिये, क्योंकि उपयोग निश्चयसे स्थिर नहीं रहता वह चंचल हो जाता है अतः वह परका (निमित्तका) आश्रय लेने लगता है। लेकिन श्रद्धान सही रहता है वह नहीं बदलता अतः सम्यग्दर्शन नष्ट नहीं होता यह तात्पर्य है अस्तु। अतिचार अन्तरंग और बहिरंग दो तरहके भी होते हैं। अन्तरंग अतिचारसे परिणाम मलीन (अशुद्ध) होते हैं, जिससे कर्मबन्ध होता है और बहिरंग अतिचारसे लोकापवाद होता है—सदाचार बिगड़ता है, उससे प्रतिष्ठा हानि होती है व संक्लेशता होती है उससे पापका बन्ध होता है। अतः अतिचार हेय ही हैं ॥१८१॥

आचार्य पहिले सम्यग्दर्शनके पाँच अतिचार बतलाते हैं।

शंका तथैव कांक्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम्।
मनसा[1] च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२॥

पद्य

रुचिसे शंका अरु आकांक्षा विचिकित्सा जो करते हैं।
संस्तव और अन्य मतियोंकी मन प्रशंस उच्चरते हैं॥
नाम उसीका अतीचार है, जो रुचिसे यह करते हैं।
विना रुचिके होनेपर भी, अतीचार नहिं लगते हैं॥१८२॥

भावार्थ—विषय सेवनकी अभिलाषा (इच्छा) करना (१) अतिक्रम कहलाता है। शील या मर्यादाका तोड़ना (२) व्यतिक्रम कहलाता है। भयके साथ (विना मनके) विषयसेवनमें प्रवृत्ति होना (३) अतिचार कहलाता है। निर्भय होकर (मन लगाकर) व बार-बार विषय सेवनमें प्रवृत्ति करना (४) अनाचार कहलाता है।

१. रुचि या राग या सरागावस्थाका होना ही अतिचार है क्योंकि सम्यग्दर्शन तो निर्विकल्प वीतराग है। रागसे अकेला-राग नहीं लेना—द्वेष भी लेना—रागद्वेषका होना ही अतिचार है (दोष है) क्योंकि सम्यग्दर्शनके साथ रागद्वेषादि मलके रहते हुए मोक्ष नहीं होता, वीतरागताके साथ रहनेपर ही मोक्ष होता है तथा श्लोकमें 'मनसा' यह पद लिखा है। उसका सम्बन्ध शंका, कांक्षादि सबके साथ लगाना है क्योंकि वह श्रद्धासे सम्बन्ध रखता है मंजूरी बताता है।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [शंका कांक्षा तथा विचिकित्सा] यदि सम्यग्दृष्टि होकर जिज्ञासुभावसे—वस्तुस्वरूपको समझनेके इरादेसे कोई शंका अर्थात् प्रश्न करता है, किसी धर्मात्मा आदिसे मिलनेकी आकांक्षा (अभिलाषा) रखता है अथवा घृणा या अरुचि (ग्लानि) रखता है (जो द्वेष है) [च मनसा अन्यदृष्टीनां संस्तवः तत्प्रशंसा] और मनसे अर्थात् भीतरसे रुचिपूर्वक (जो राग है) श्रद्धा भक्तिसे अन्य मतियों या मिथ्यादृष्टियोंकी स्तुति (वचनों द्वारा तारीफ़) करता है—सराहना करता है एवं प्रशंसा करता है (गुणगान करता है) तो [सम्यग्दृष्टेरतीचाराः भवन्ति] सम्यग्दृष्टिके सम्यग्दर्शनमें पाँच अतिचार (दोष) लगते हैं ॥१८२॥

भावार्थ—मोक्षमार्ग अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, ये तीनों जब शुद्ध-निरतिचार (रागद्वेषादि विकारोंसे रहित व निर्विकल्प) होते हैं तभी वे मोक्षका मार्ग बनते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त करानेमें समर्थ होते हैं, किन्तु रागादिकके साथ रहते हुए वे मोक्षको प्राप्त नहीं करा सकते, यह नियम है। ऐसी स्थितिमें, यदि प्रश्नोत्तरके रूपमें अर्थात् प्रश्नके या विकल्पके द्वारा वस्तु स्वरूपको समझनेके लिये (श्रद्धालु होते हुए भी) जिज्ञासारूप राग प्रश्न किया जाय तो भी अतिचार है उससे बन्ध अवश्य होगा। कारण कि राग व द्वेष चाहे शुभ हो या अशुभ हो वह बन्धका कारण होता ही है, मोक्षका कारण नहीं होता—मोक्षका कारण एक निर्विकल्प वीतरागता ही है। तदनुसार आकांक्षा या चाह करना या अनाकांक्षा या अरुचि (ग्लानि-द्वेष) करना ये सभी विकल्परूप तीनों जातिके कार्य अतिचारमें शामिल हैं। तथा अन्यमतावलंबियोंकी भी प्रशंसा व स्तुति करना लोकाचारमें अनुचित न होने पर भी मोक्षमार्गी (सम्यग्दृष्टि) के लिए मोक्षमार्गमें अनुचित (खतरनाक—बन्धकका कारण) है क्योंकि लोकमें रहते हुए लोकाचारका पालना अनिवार्य होनेसे वह सब ऊपरी रुचि (राग) से या चलन व्यवहारसे करना ही पड़ता है। इसीलिये जैन शास्त्रोंमें दुर्लभताएँ बतलाते हुए सबसे पहिले दुर्लभता (कठिनाई) भेदज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानकी है—वह बहुत भाग्यसे मिलता है। दूसरी दुर्लभता, तद्रूप या तन्मय उपयोग रहनेकी है—उपयोग बहुत जल्दी बदल जाता है—स्थिर नहीं रहता। तीसरी दुर्लभता—वाह्य संयोगको अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंको त्यागनेकी है, उनका त्याग जल्दी व आसानीसे नहीं होता, पर्याप्त पुरुषार्थ करना पड़ता है, साधन मिलाना पड़ते हैं इत्यादि। कहनेसे करना कठिन है, किम्वहुना। जैन वीतराग धर्मका पाना भी बड़े सौभाग्यका फल है इत्यादि ॥१८२॥

नोट—शंकाका अर्थ यहाँ पर संशय या सन्देह नहीं हैं किन्तु जिज्ञासारूप प्रश्न है; कारण कि संशय या सन्देह मिथ्याज्ञानका भेद है जो सम्यग्दृष्टिके पहिले ही (प्रारंभमें ही) नष्ट हो जाता है—वह जिनवाणीका परम श्रद्धालु होता है, उसको कोई संशय नहीं रहता—पूज्य समन्त—भद्राचार्यने रत्नकरंडश्रावकाचारमें खड्गके अटल पानीकी तरह श्रद्धा उसके बतलाई[1] है। तब श्लोकगत शंका शब्दका अर्थ संशय या सन्देह कतई नहीं हो सकता। इसी तरह निश्चयसे शंकाका अर्थ, भय भी नहीं हो सकता। क्योंकि सम्यग्दष्टिको निमित्तोंका भय नहीं होता कि निमित्त

---

१. इदमेवेदृशमेव इत्यादि श्लोक नं० ११ देखो।

उपादानका कुछ कर सकते हैं, वे अकिंचित्कर होते हैं वस्तुस्वभाव सब स्वतंत्र है इत्यादि। यहाँ पर रागद्वेषसे ही उसकी ठीक संगति बैठती है विचार किया जाय। संशय या सन्देह करना सम्यग्दर्शनका अतिचार नहीं है, वह तो अनाचार है जो सम्यग्दर्शनको ही नष्ट कर देवे। हाँ, लौकिक तत्त्वोंमें संशय व सन्देह सम्यग्दृष्टिको ज्ञानादिककी कमीसे हो सकता है किन्तु उससे मोक्षमार्ग नहीं विगड़ता। परन्तु यहाँ इस प्रकरणमें मोक्षमार्गमें दोष न लगने या लगनेकी वात है, उसको ध्यानमें रखना जरूरी है, किम्बहुना।

अतिचारका अर्थ दोष, कलंक या बट्टाका लगना होता है। विरागरूप निर्विकल्प सम्यग्दर्शनमें रागादिरूप विकारों (विकल्पों) का होना ही बट्टाका लगना है, उससे मोक्षमार्गता विगड़ती है—वह शुद्ध या निश्चय मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु अशुद्ध या व्यवहार मोक्षमार्ग है, अस्तु[1]। सम्यग्दृष्टिके शंकादि कार्योंमें भी उपादेयता नहीं रहती, वह उन्हें हेय ही समझता है, उनसे अरुचि करता है—विगारीकी तरह उनमें वह विरक्त रहता है, दत्तचित्त नहीं रहता, अगत्या उसे वह बलात्कार करना पड़ता है, संयोगी पर्यायका वह तकाजा या थाती है, उसको चुकाना उसका कर्त्तव्य है। और मिथ्यादृष्टि उसको थाती या कर्जा नहीं समझता किन्तु उसका स्वामी वह अपनेको समझता है उसे वह अपनी विभूति समझता है अतएव उसको कभी स्वप्नमें भी नहीं त्यागना चाहता अर्थात् परसंयोगको वह कभी हेय नहीं समझता, उपादेय ही मानता है, ऐसी विपरीतवुद्धि (वस्तुस्वभावकी अनभिज्ञता) उसके रहती है यह मूल भेद है। सम्यग्दृष्टिके भीतर सम्यक् श्रद्धारूप या भेदज्ञान वैराग्य रूप अविच्छिन्नधारा सदैव बहती रहती है, जिससे वह हमेशा सम्हला रहता है च्युत या पतित नहीं होता अर्थात् बाह्य आचरण कदाचित् बिगड़ भी जाता है तो भी वह मिथ्यादृष्टि नहीं हो जाता—भीतरसे सम्यग्दृष्टि ही बना रहता है किन्तु मिथ्यादृष्टिके भीतर वह भेदज्ञान वैराग्यरूप अविच्छिन्नधारा नहीं बहती, अतएव बाहिर वह कर्म धारा (रागादिकृत बाह्य प्रवृत्ति) में वह जाता है पथभ्रष्ट या मार्गभ्रष्ट हो जाता है, उसको ही वह सर्वस्व समझता है, उसीमें दत्तचित्त रहता है, अन्य सब असली कर्त्तव्य भूल जाता है, नकली आडम्बरमें फस जाता है इत्यादि।

नोट—उक्त पाँच अतिचारोंमें ही शंकादिक आठ दोषोंका अन्तर्भाव हो जाता है अतएव पाँच ही संग्रहनयसे कहे हैं। मल-दोष-अतिचार ये सब एकार्थवाची हैं ऐसा समझना चाहिये॥१८२॥

आचार्य—अहिंसाणुव्रतके ५ अतिचार बतलाते हैं।

छेदनताड़नबन्धाः भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोधः पंचाहिंसाव्रतस्येति॥ १८३॥

---

१. शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः॥२३॥
—तत्त्वा० सूत्र अध्याय ७।

पद्य

जीवघातका जो [1]त्यागी है उसको यह सब वर्जित है।
कर संकल्प छेदना परको, मार लगाना-बांधन है॥
भूख प्यासकी बाधा [2]देना, बोझ अधिकका धरना है।
ये सब अतिचार हैं तजना, व्रती पुरुषका करतव है॥ १८३॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [छेदनताडनबंधाः] दुष्ट इरादा या संकल्पसे (कषाय-वश) किसी जीवको छेदना अर्थात् उसके नाककान आदिको गोदना-काटना, सख्त मारना-पीटना, कसकर बाँधना, जिससे वह ठीक उठबैठ भी न सके तथा [समाधिकस्य भारस्यारोपणं] प्रमाणसे अधिक बोझ (भार) लादना, [च अन्नपानयो रोधः] और खाना-पीना बन्द कर देना (खाने-पीने को नहीं देना) [इति पंचाहिंसाव्रतस्य अतिचाराः] ये सभी (पाँच) अहिंसाणुव्रतके अतिचार हैं, इनका त्याग अहिंसाणुव्रतीको अवश्य करना चाहिये॥ १८३॥[3]

भावार्थ—जैन मतमें भावोंकी प्रधानता रहती है अतएव जो भी लोकका या परलोकका (इस भवका या परभवका) कार्य किया जाय उसमें फल भावोंका ही मिलेगा। ऐसी स्थितिमें जबतक कषायका सम्बन्ध जीवके साथ है तबतक उसको इच्छानुसार कार्य तो करना ही पड़ते हैं, परन्तु उस समय यदि खोटा इरादा न हो अर्थात् त्रास देने या बदला लेनेकी भावना न हो तो उसका फल उसको, स्वार्थ होने पर भी बुरा प्राप्त न होगा अर्थात् वह नैमित्तिक अपराधसे बच जायगा यह तात्पर्य है। तभी तो सावधानी रखनेका उपदेश दिया गया है कारण कि प्रमाद या तीव्रकषायमें असावधानी हो जाया करती है। यद्यपि निश्चयसे पराश्रित अपराध नहीं होता तथापि व्यवहारसे अपराध होना माना जाता है, अतः विवेकी पुरुषोंको वह भी बचाना चाहिये जिससे लोकापवाद न हो, संक्लेशता न बढ़े, पापबंध न हो इत्यादि॥ १८३॥

नोट—यदि इरादा (संकल्प) खराब न हो और किसी बीमारी आदिके समय संक्लेशता या बाधा मिटानेको आपरेशन आदि कराना पड़े तो वह पद व योग्यताके अनुसार दोषावायक (अनुचित) नहीं है। कभी-कभी लोकनीतिके अनुसार ताड़ना भी सुधार होनेकी या भलाईकी दृष्टिसे वर्जनीय नहीं है, सिर्फ असह्यपना या अत्यधिक कठोरपना नहीं होना चाहिये। क्रूरता सर्वत्र वर्जनीय है किम्बहुना। भावप्राणोंका घात होना ही हिंसा है वह भी व्रतीको बचाना चाहिये यह उसका कर्त्तव्य है। व्रती यथासंभव द्रव्य और भाव दोनों हिंसाओंको बचाता है, कारण कि व्रत या चारित्र तो शुद्ध वीतरागतारूप होता है—अशुद्ध रागद्वेषरूप नहीं होता। व्रत, गुण या स्वभावरूप है—दोष या विकार (विभाव) रूप नहीं है, यह हमेशा याद रखना चाहिये।

---

१. अहिंसाणुव्रती है।
२. रोक लगाना।
३. वधबंधछेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः॥ २५॥ त० सू० अध्याय ७।

द्रव्यप्राणोंका घात न होने पर भी भावप्राणों (ज्ञानादि) का घात होना अतिचार[1] माना जाता है—वही एकदेश व्रतका भंग होना रूप है यह खुलासा है अस्तु। देखो! चौथे गुणस्थानमें, अप्रत्याख्यानकषायकृत [2]असंयमभाव रहता है, और पंचम गुणस्थानमें, (अणुव्रतीके) प्रत्याख्यान कषायकृत असंयमभाव (सकलसंयमका अभावरूप) रहता है किन्तु देशसंयमके सद्भावरूप होने पर सर्वथा संयमका अभाव नहीं पाया जाता। छठवें गुणस्थानमें प्रत्याख्यान कषायका अभाव हो जानेसे सकलसंयम हो जाता है। फलतः संयमकी घातक तीन कषाएँ हैं। यथा अनंतानुबंधी-कषाय—जिसके उदयमें संयम रंचमात्र नहीं होता, २ अप्रत्यख्यानकषाय—जिसके उदयमें एकदेश (अणुव्रतरूप) संयम नहीं होता, ३ प्रत्याख्यानकषाय—जिसके उदयमें सकलदेश संयम नहीं होता ऐसा समझना चाहिये।

नोट—'असंयम' शब्दमें मौजूद 'अकार' का अर्थ—अभाव, होता है जो तीसरे गुणस्थान तक अनंतानुबंधी कषायके होनेसे कतई नहीं होता (न द्रव्यरूप होता है न भावरूप होता है)। चौथे गुणस्थानमें अनंतानुबंधी कषायका उदय न होने पर भी चरणानुयोगका द्रव्यसंयम नहीं होता, कारण कि वहाँ अप्रत्याख्यानकषायका उदय होनेसे नहीं होता तथा पाँचवें गुणस्थानमें प्रत्याख्यानका उदय होनेसे पूर्ण संयम नहीं होता है यह खुलासा है ॥ १८३ ॥

मिथ्योपदेश[3]दानं रहसोऽभ्याख्यानकूट[4]लेखकृती ।
न्यासापहार[5]वचनं साकारामंत्रभेदश्च ॥ १८४ ॥

पद्य

कर संकल्प कुमार्ग देशना, गुप्त रहस्य प्रकट करना।
झूठलेख अरु वचन कपटके समझ इशारा कह देना॥
ये हैं अतिचार सतव्रतके इनका त्याग उसे करना।
प्रयोजनरहित कार्यमें देखो, सदा सावधानी रखना॥ १८४॥

---

१. सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभंजसम् ।
मन्त्रतन्त्रप्रयोगाद्याः परेऽप्यूह्यास्तथात्ययाः ॥ १८ ॥ सागार ध० ४ अध्याय

द्रव्यहिंसाके त्यागी व्रती (अखंड व्रती) के एकदेश अर्थात् द्रव्यसे या भावसे हिंसाका हो जाना अथवा अहिंसाव्रतका एकदेश खंडित हो जाना, अतिचार कहलाता है, यह लक्षण अतिचारका है। रागादिकका होना भावहिंसा है और व्यापारादि (क्रिया) का होना द्रव्यहिंसा है यह भेद है।

२. असंयमके 'अकार'के ३ तीन अर्थ—१. पूर्ण अभाव अर्थात् द्रव्य व भाव कोई संयम नहीं, २. द्रव्यसंयम का अभाव, ३. एकदेश संयमका अभाव इति। ऊपर खुलासा है अस्तु।
उक्तं च—नो इंदियेसु विरदो नो जीवे यावरे तसे वापि इत्यादि गाथा २९ जीवकाण्ड।

३. मोक्षमार्गके प्रतिकूल उपदेश देना।

४. झूठा लेख लिखना या व्यंगरूप या अन्योक्तिरूप लेख लिखना।
मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासपहारसाकारमंत्रभेदाः ॥ २५ ॥ त० सू० अ० ७

५. दो अर्थ वाले वचन बोलना या मुहमिल वचन कहना (अस्पष्ट कहना)।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [मिथ्योपदेशदानं] सत्यरूप मोक्षमार्गके प्रतिकूल असत्यरूप सांसारिक कार्योंका संकलपपूर्वक (स्वार्थवश) उपदेश देना (मिथ्या उपदेश है) तथा [रहसोऽभ्या-ख्यानकूटलेखकृती] एकान्तकी गुप्त बातको एवं झूठ बातको स्वार्थवश लिखना या कहना [च न्यासा-पहारवचनं साकारमंत्रभेदः] और धरोहर (अमानत) के सम्बन्धमें अस्पष्ट या मुहमिल जवाब देना (जितना धरा हो सो ले जावे इत्यादि) तथा इशारा या संकेत समझकर दूसरोंसे कह देना ये पाँच सत्याणुव्रतीके अतिचार हैं जो वर्जनीय हैं। इनसे भावहिंसा होती है ॥ १८४ ॥

भावार्थ—प्रयोजनभूत कार्योंको छोड़कर अन्यत्र सभी जगह सत्याणुव्रती सत्य वचन बोले (असत्य न बोले) यह उसका मुख्य कर्त्तव्य है। इसीके सिलसिलेमें यह स्पष्ट किया जाता है कि वह किसीके दवाउरेमें आकर या लोभ लालचवश कभी भी राजा वसुकी तरह असत्य न बोले और खासकर मोक्षमार्ग (सर्वथा सत्यरूप) के प्रतिकूल (विरुद्ध) कभी उपदेशादि न देवे अन्यथा वह सरासर मिथ्यादृष्टि और असंयमी है (अजका वकरा अर्थ करनेवाला जैसा हिंसाको धर्म बतानेवाला महापापी है) दीर्घ संसारी है। सच्चे धर्मात्माव्रतीको कोई चाह या स्वार्थपूर्तिका लक्ष्य नहीं रहता वह अधर्मसे बहुत डरता है तब क्यों झूठा बोलने चला ? नहीं बोलेगा। एकान्त-की या गुप्तकी बातको दूसरोंसे क्यों कहेगा ? उसको कोई स्वार्थ नहीं रहता—दूसरेकी निन्दा या बदनामी को करना या चाहना विकारी भाव है उन्हें वह त्यागता है। झूठा या व्यंगरूप या उत्प्रेक्षारूप (अन्योक्तिरूप) कथन करना भी कपट या मायाचार है—व्रतधारण करनेमें पाखण्ड है, अतः वह उसको भी बुरा समझता है, उसे नहीं करता। इसी तरह धरोहर आदिके विषयमें भी वह स्पष्ट जानकारी देकर सत्य व्यवहार करता है—मुहमिल या दो अर्थवाले वचन नहीं कहता जिनसे यथार्थ निर्णय न हो सके, क्योंकि वह अपराध है (गुप्तकषाय है—विकार परिणाम है) इसी तरह इशारा या संकेत समझकर प्रकट या जाहिर कर देना अन्याय है वह नहीं करता क्योंकि व्रतीको उससे क्या प्रयोजन है ? उसका फल (लाभ या हानि) लोकमें उसे कुछ नहीं मिलेगा सिवाय बदनामीके इत्यादि। अतएव उक्त सभी अतिचारोंको अप्रयोजनभूत समझ करके सत्यव्रती विवेकी छोड़ देते हैं नहीं करते।

श्लोकमें 'मिथ्योपदेशपद' बड़ा महत्त्वका है। उसका अभिप्राय ऐसा है कि 'स्वयं अपराध करनेवालेसे' बड़ा पापी वह है जो अपराध करके उसका प्रचार करता है—वह संसारको गुमराह करता है। इस न्यायसे स्वयं अज्ञानतावश यदि कोई मिथ्या (मोक्षमार्गके विरुद्ध) आचरण करने लगे तो वह अपराधी जरूर है किन्तु यदि वह उसका उपदेश देकर संसारमें मिथ्यात्वका प्रचार करे, पुष्टि करे तो वह घोर अपराधी व अक्षम्य पापी है। लौकिक कार्योंमें भूल होना संभव है कषायवश हो जाती है, किन्तु पारलौकिक कार्योंमें भूल होना मिथ्यात्वकी निशानी है। इसीलिये व्रतियोंको बन्दिशें लगाई गई हैं, उनको स्वच्छन्दता पर रोक लगाई गई है। व्रतीको मन, वचन, काय तीनों पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य है। कभी गलतीका प्रचार नहीं करना चाहिये यह सारांश है, अस्तु।

नोट—यहाँ प्रश्न होता है कि 'न्यासापहारवचन' नामके अतिचारसे चोरीका दूषण क्यों

नहीं बतलाया गया, असत्यका दूषण क्यों बतलाया गया ? इसका समाधान यह है कि खाली बचन या कथनका प्रयोग किया गया है—चीज (धरोहर) नहीं चुराई गई है अतः वचनमात्र असत्य है—वचनकृत अपराध वह है कायकृत नहीं है, किम्बहुना। ऐसा ही सर्वत्र समझना चाहिये

विशेषार्थ—अन्य मतवालोंने इस तत्त्वको न समझकर स्वार्थवश संसारमें अन्याय व अधर्म-का भारी (अजहद) प्रचार किया है। वे स्वयं स्वेच्छाचारी असंयमी व्यसनी थे। अतएव मनमाने पाप किये—हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, मद्य, मांस, मधु आदिका सेवन किया, जिससे बदनामी वेइज्जती होना संभव है—प्रतिष्ठा घट सकती है ? इस भयसे या तीव्र कषायसे उन्होंने कलमके जोरपर उक्त पाप पोषक (पापोंको उचित वतानेवाले) अनेक मनगढ़न्त शास्त्र (स्मृतियाँ वगैरह) वना डाले, जिनमें उक्त पाप कार्य करनेकी विधि (आज्ञा) है। इस तरह मिथ्यात्वका प्रचार व प्रसार उन्होंने किया है अर्थात् अपने पापोंको छिपानेके लिए संसारको पापी बना दिया है यह दुःखकी वात है। फलतः भूल व प्रमादवश यदि कोई अपराध हो जाय तो उसकी पुष्टि कभी नहीं करना चाहिये न अन्य लोगोंको संघ बनाकर उत्साहित करना चाहिये, यह बड़ी समझदारी व विवेकशीलता है, अधर्मसे हमेशा बचना चाहिये। मिथ्योपदेशका यही मतलब है—असत्यका प्रचार करना, वह वर्जनीय है, किम्वहुना।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि कोई व्रती सम्यग्दृष्टि होकर भी मिथ्या उपदेश देता है तो उसको मिथ्यादृष्टि कहना चाहिये अतिचार नहीं कहना चाहिये क्योंकि सम्यग्दृष्टि मिथ्या उपदेश नहीं दे सकता इत्यादि। इसका उत्तर ऐसा है कि सम्यग्दृष्टिकी सम्यक् श्रद्धामें परिवर्तन नहीं होता वह अटल ही रहती है किन्तु शक्तिहीनतासे या कषायवश आचरण अन्यथा हो जाता है, जिसका उसको दुःख रहता है, पश्चात्ताप करता है, उसे हेय ही समझता है, उपादेय नहीं समझता इत्यादि विशेषता पाई जाती है। कषायके वेगमें योगों (वचन व काय) की प्रवृत्ति अन्यथा हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है—वह शक्य व संभव है किन्तु मनोयोगकी प्रवृत्ति (श्रद्धा-रूप) कभी अन्यथा नहीं होती जबतक सम्यग्दर्शन मौजूद रहता है इत्यादि। यह सत्य समाधान समझना चाहिये। इसी तरह रहस्यकी बातको प्रकट कर देना आदि आचरण विरुद्धता अतिचारमें ही शामिल समझना—सम्यग्दर्शनकी घातक नहीं समझना यह निर्धार है, अस्तु। सम्यग्दर्शनके साथ कषायोंका अस्तित्व बहुत दूर तक रहता है फिर भी सर्वघाती स्पर्धकोंका उदय न होनेसे व सिर्फ देशघाती स्पर्धकोंका उदय होनेमें 'सम्यग्दर्शन व व्रत संयम' से वह भ्रष्ट नहीं होता—वे सब सदोष बने रहते हैं, उनमें चलमलपना रहता है इत्यादि। क्षायोपशमिकचारित्र या संयममें ऐसी ही अवस्था होती है, किम्वहुना। वह उन सबका वेदक या ज्ञाता ही रहता है, श्रद्धालु नहीं रहता या उसकी श्रद्धामें परिवर्त्तन नहीं होता यह सारांश है ॥१८४॥

अचौर्याणुव्रतके पाँच अतिचार बतलाते हैं।

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥

पद्य

चीजों में मिश्रण का करना, चोर उपाय बताना है।
चोरी की वस्तु खरीदना, राज्य विरुद्ध जु करना है॥
कमवढ़ मापों को भी रखना, अतिचार कहलाता है।
चोरी के त्यागी पुरुषों को, ये सब कभी न करना है॥१८५॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [प्रतिरूपव्यवहारः] अधिक मूल्यकी वस्तुमें कम मूल्यकी वस्तुको मिला देना [स्तेननियोगः तदाहृतादानम्] चोरी करनेका उपाय (तरकीब) बताना तथा चोराका द्रव्य खरीदना (कम मूल्यमें) और [राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणं च] राज्यके कानून (नियम) के विरुद्ध कार्य करना (चलना या वर्ताव करना) एवं नापने-तौलनेके मापों (बाँटों) को कम-बढ़ रखना, ये पाँच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं। इनका त्याग अचौर्याणुव्रतीको अवश्य करना चाहिये ॥१८५॥

भावार्थ—अचौर्यव्रतका पालनेवालेके लोभकषायका अभाव या मन्दता होना अनिवार्य है विना उसके वह व्रत निरतिचार पल नहीं सकता अथवा धारण ही नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थितिमें मनुष्य श्रद्धा और रुचिपूर्वक पूर्ण या अप्रयोजनभूत चोरीका त्याग करते हैं। (विना दिये किसी वस्तुका ग्रहण नहीं करते) वे उक्त पाँच प्रकारके अतिचार (धब्बा या टाँका) अचौर्याणुव्रतमें नहीं लगाते अर्थात् उसको अतिचार रहित निर्दोष पालते हैं। कारण कि पाँचवें गुणस्थानमें प्रत्याख्यान कषायका उदय होनेसे सकलसंयम तो होता नहीं है किन्तु अप्रत्याख्यान कषायका उदय न होनेसे देश संयम हो जाता है, फिर भी सर्वथा (पूर्ण) लोभकषायका अभाव नहीं हो जाता प्रत्याख्यान व संज्वलनका लोभ शेष रहता ही है तथा नोकषायोंमेंसे पाँच राग रहते ही हैं—तब अबुद्धिपूर्वक चौर्यकर्मका त्याग न हो सकनेके कारण तज्जन्य दोष लगता है, लेकिन बुद्धिपूर्वक उसको उक्त अतिचार नहीं लगाना चाहिये ऐसा उपदेश है। यदि कहीं इसके विरुद्ध कोई व्रती गुप्तरूपसे या दूसरी तरहसे (मार्फत–द्वारा–परम्परया) अतिचार लगाता है तो वह भी वर्जनीय है क्योंकि उसका फल स्वयं करानेवालेको ही मिलता है। जैसेकि स्वयं चोरी नहीं करनेवाला यदि चोरीका उपाय किन्हीं दूसरोंको बतलाता है तो उसका उसमें कुछ स्वार्थ या हिस्सा समझना चाहिये। अन्यथा उससे उसका क्या मतलब ? कुछ भी नहीं। निःस्वार्थी कभी नहीं बतलायगा। अतः वह कारित दोषका भागी होता है—लोभका अस्तित्व उसके समझना चाहिये। इसी तरह लोभवश असली चीजमें नकली मिलाकर चलाना. तथा चोरीका द्रव्य लोभवश कम कीमतमें लेना, चुंगी या टैक्स विना चुकाये माल लाना बेंचना (यह राज्यका कानून तोड़ना है) लेने व देनेके नाप-तौलको कम-बढ़ रखना अर्थात् लेनेके लिए बड़ा नाप-तौल रखना और देनेके लिए कमती नाप-तौल रखना इत्यादि, यह सब मूल (प्रत्यक्ष) चोरी नहीं है तो परोक्ष अवश्य है अतः उसका भी त्याग कराया जाता है, किम्बहुना। व्रत-संयम या चारित्रको निरतिचार होना चाहिये तभी निर्जरा होती है अर्थात् लक्ष्य पूरा होता है यह[1] सारांश है। उक्त कार्य लोभ मायाचार आदिके

१. उक्तं च—स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराजातिक्रम हीनाधिकमानोपमानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥
—त० सू० अध्याय ७।

रहते हुए होते हैं अतएव वे महापापके घर हैं ऐसा समझना चाहिये। प्रयोजनभूत कार्योंमें अतिचार का लगना संभव है किन्तु अप्रयोजनभूत कार्योंमें प्रमाद या अज्ञानवश दोष लगाना उचित व क्षम्य नहीं है, अतएव उसका त्याग कर देनेसे ही एकदेश निरतिचारता सिद्ध होती है, क्योंकि प्रयोजनभूत कार्योंमें तो अतिचार लगता ही रहता है अतः उसमें सर्वथा निरतिचारता नहीं बनती किम्बहुना। यहाँपर क्रियारूप कार्योंकी अपेक्षासे (चरणानुयोगसे) अतिचारोंका विचार मुख्यतासे है। क्योंकि भावोंकी अपेक्षा मुख्यता चरणानुयोगमें (लोकाचारमें) नहीं रहती। वह करणानुयोगमें रहती है ॥१८५॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतके (कुशील त्यागके) पाँच अतिचार बतलाते हैं।

स्मर[1]तीव्राभिनिवेशाऽनङ्ग[2]क्रीडान्यपरिणय[3]नकरणम् ।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिक[4]योः पंच ॥१८६॥

पद्य

तीव्र विषयकी इच्छा रखना, क्रीड़ा करन अनंगों से।
पर विवाहके करनेसे अरु इत्वरिका घर जाने से॥
दोष होत ब्रह्मचर्यव्रतीके, उनको दूर करें व्रतधीः[5]।
आत्मशुद्धिके होने पर ही पार होत संसाराब्धीः[6] ॥१८६॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [स्मरतीव्राभिनिवेशाऽनंगक्रीड़ान्यपरिणयनकरणम्] काम सेवन या मैथुन सेवनकी तीव्र अभिलाषा (वांछा) रखना, काम सेवनके अंगों (योनि आदि) से भिन्न अंगों (हस्त मैथुन आदि) के द्वारा इच्छा पूर्ण करना (गुदा मैथुन भी इसीमें शामिल है) अन्य मनुष्योंका विवाह करना (विषय सेवन कराना) तथा [अपरिगृहीतेतरयोः इत्वरिकयोः गमने पंच] व्यभिचारिणी या पेशाकार भ्रष्ट स्त्रियों (वेश्या आदि स्वतन्त्र या परतन्त्र) के यहाँ जाना बुलाना—उनसे सम्बन्ध स्थापित करना (ये दो अतिचार हैं) कुल पाँच अतिचार ब्रह्मचर्याणुव्रतीको नहीं लगाना चाहिये—त्याग देना चाहिए ॥१८६॥

भावार्थ—सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचर्याणुव्रतीको स्त्रीमात्रसे संबंध विच्छेद कर देना चाहिये, चाहे वह चेतन हो या जड़ हो या मनुष्यणी हो या तिरश्ची हो या देवी हो या चित्रामकी

---

१. कामसेवन या विषयसेवन।
२. कामसेवनके अंगों (योनि आदि) से भिन्न अंग हस्तादि।
३. विवाह।
४. व्यभिचारिणी स्त्रियाँ—बजारू या वेश्याएँ।
५. व्रताभिलाषी।
६. संसार समुद्र।

हो या मूर्तिरूप हो—सभीका त्याग कर देना उसका कर्त्तव्य है। उनके साथ शारीरिक (कायिक) मैथुन क्रिया करनेका तो मुख्यतया त्याग होता ही है किन्तु मनमें उनकी ओर रागका होना भी वर्जनीय है। जब इतना दृढ़ अटल प्रतिज्ञाधारी कोई जीव होता है तभी वह सच्चा ब्रह्मचारी बन सकता है, यह व्रत बड़ा कठिन व दुर्द्धर है। इसको पालनेके लिए कठिन आचरण (साधना) की आवश्यकता रहती है। नौ प्रकारकी बाड़ें लगाना पड़ती हैं, इन्द्रिय संयम करना पड़ता है सम्पर्क तोड़ना पड़ता है इत्यादि यह पूर्ण ब्रह्मचर्यका स्वरूप है। द्वितीयादि प्रतिमाका ब्रह्मचर्य, स्वदार-सन्तोष तक सीमित है, अतः वह अभ्यासमात्र, विद्यार्थीकी दशा है—उसको ब्रह्मचारी कहना उपचार है। कृत कारित अनुमोदित तीनों भंगोंसे त्याग करना निरतिचार पालना है। जो जीव पंचम गुणस्थानमें रहते हुए ब्रह्मचर्यको अखंडित पालता है वही छठवें गुणस्थानमें पहुँचने पर (मुनिलिंग धारण करनेपर) आसानीसे ब्रह्मचर्य महाव्रत पालनेमें समर्थ हो सकता है। पाँचवें गुणस्थानमें लज्जा व भय रहता है ६वें में कुछ नहीं रहता, जाता रहता है।

विशेषार्थ—जिन भगवान्‌की आज्ञाका जो उल्लंघन करता है अर्थात् उसका आदर नहीं करता या उसकी परवाह नहीं करता—विरुद्ध चलता है वह निर्लज्ज या निर्भय कहा जाता है। और जो जिनाज्ञाका पूरा पालन करता है वह निर्लज्ज नहीं है—धीठ नहीं है भक्त है। तदनुसार भगवान्‌की आज्ञानुसार जो परद्रव्यसे या रागादिसे सम्बन्ध छोड़ देते हैं एवं एकत्वविभक्त स्वरूपसे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं वे ही सच्चे लज्जालु हैं (लज्जावन्त है) और जो परसे सम्बन्ध नहीं तोड़ते जोड़े रहते हैं वे निर्लज्ज है ऐसा समझना चाहिये। लज्जाका अर्थ यहाँ पर आदर व श्रद्धा करना है, किम्बहुना। ऐसी स्थितिमें वेश्या आदिसे सम्बन्ध जोड़ना महानिर्लज्जता है जो सर्वथा अनुचित है। अन्यत्र सागारधर्मामृत आदिमें इस सम्बन्धका विवेचन अग्राह्य है वह जचता नहीं है लोक-विरुद्ध प्रतीत होता हैं विचार किया जाय—संगति नहीं बैठती इति।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षामें टीका इस प्रकार है—गा० ३३७-३३८

'गमनं' जघनस्तनवदनादिनिरीक्षणसंभाषणहस्तभ्रूकटाक्षादि संज्ञाविधानं इत्येवमादिकं अखिलं रागित्वेन दुश्चेष्टितं गमनमित्युच्यते। अर्थात् गमनका अर्थ रमण नहीं होता रागदृष्टिसे देखना आदि होता है। अतः वह भी ब्रह्मचारीके लिये वर्जनीय है, अस्तु। ब्रह्मचारीको स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियोंको वशमें रखना—उनपर विजय पाना नितान्त आवश्यक है, ये दोनों सबमें प्रधान हैं, बड़े-बड़े अनर्थ इन्हींके द्वारा होते हैं शास्त्रोंमें अनेक उदाहरण हैं॥१८६॥

आगे परिग्रह त्याग (परिमाण) अणुव्रतके पाँच अतिचार बतलाते हैं।

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रमाः पंच ॥१८७॥

---

१. परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥

तत्त्वा० सू० अ० ७

पद्य

खेत मकान स्वर्ण अरु चाँदी पशू और अन्नादिक सब।
दासीदास वस्त्र अरु वर्त्तन दशविध परिग्रह सीमित जब ॥
अत: उन्हींका लंघन करना अतीचार कहलाता है।
व्रतको निरतिचार पालन हित उल्लंघन नहिं करता है ॥१८७॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [वास्तु-क्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्] खेत मकान, सोना, चाँदी, गाय, भैंस, (पशु) गेहूँ, ज्वार, (अन्न) नौकर, नौकरानीके तथा [कुप्यस्य भेदयोरपि वस्त्र-वर्त्तन आदिके दशभेदोंकी [परिमाणातिक्रमा: पंच] सीमा (अवधि-मर्यादा) का उल्लंघन करना, परिग्रहपरिमाणव्रत या परिग्रह त्याग अणुव्रतके पांच अतिचार होते हैं। व्रती उनको दूर करता है नहीं लगने देता ॥१८७॥

भावार्थ—ये उपर्युक्त १० दश बाह्यपरिग्रह कहलाते हैं, इन्हींमें सवारी भी शामिल है। श्रावक अणुव्रती इनका पूर्ण त्यागी नहीं हो सकता, कारण कि उसके गृहस्थाश्रम रहता है, उसको प्रतिदिन आजीविकाके अर्थ व्यापारादि छह कार्य और धर्मके अर्थ देवपूजा आदि छह कार्य अवश्य करना पड़ते हैं, परन्तु उसके विवेक बुद्धि होनेसे वह पराश्रित व्यवहार कार्योंकी सीमा या परिमाण कर लेता है, जिससे उसका कार्य कोई बन्द भी नहीं होता और व्यर्थ पाप भी नहीं लगता अर्थात् अनावश्यक चीजोंका संग्रह करना वह छोड़ देता है तब उनमें उसका राग (मूर्च्छा या ममत्व) छूट जानेसे कर्मोंका बंध कमती होने लगता है। कायदा यह है कि जिसके जितना अधिक बाह्य परिग्रह होगा उतना ही उसके अधिक राग या ममत्व होगा तथा उतना ही अधिक कर्मबंध होगा व संसार बढ़ेगा इत्यादि। अतएव विवेकीजन वहिरंग और अंतरंग दोनों प्रकारके परिग्रहोंका पेश्तर परिमाण (सीमा) और पश्चात् सम्पूर्ण त्याग कर देते हैं। बाह्यपरिग्रह अन्तरंगपरिग्रहका निमित्तकारण होनेसे उसका भी त्याग करना लाजमो[1] कहा गया है। क्षायोपशमिक ज्ञान व चारित्रके रहते समय सर्वघाती स्पर्धकों (कषायों) का उदय न होनेसे (उदयाभावी क्षय व सद-वस्थारूप उपशम होनेसे) सिर्फ देशघाती स्पर्धकोंका उदय होनेसे मन्दकषाय रहती है—तीव्र-कषाय नहीं रहती। फलस्वरूप सबका त्याग तो वह कर नहीं सकता किन्तु परिमाण करके थोड़ेमें गुजारा करने लगता है, फिर भी उससे विरक्त या उदासीन रहता है जो उसके हितमें है। परन्तु उसका श्रद्धान या सम्यग्दर्शन अटल रहता है यह तात्पर्य है अस्तु।

अहिंसाव्रतको प्रधानतासे पालनेवाला श्रावक या मुनि हिंसाके साधनोंका उपयोग (स्तेमाल) कभी नहीं करेगा, जबतक शक्ति रहेगी। वस्त्र वर्त्तन आदि भी ऐसे होते हैं जिनमें अधिक हिंसा होती है। जैसे ऊनी, रेशमीवस्त्र, चमड़ाके सन्दूक, चल्ली, कुप्पी आदि। उनका उपयोग

---

१. उक्तं च— भावविसुद्धिनिमित्तं, वाहिर संगस्स चागओ भणिदो।
बाहिर चाओ विहलो, अब्भंतरसंगजुत्तस्स ॥ ३ ॥ भावपाहुड़-कुंदकुन्दाचार्य

क्षेत्रवस्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमा: ॥ २१ ॥ त० सू० अ० ७

करना व्रती छोड़ देता है इत्यादि सब विवेकशीलता है अर्थात् व्रतमें यथाशक्ति दोष (अतिचार-टाँका-वट्टा) न लगने पावे ऐसी चेष्टा वह करता है। व करना चाहिये तभी वुद्धिमानी है—विवेकशीलता है ॥ १८७ ॥

आगे—दिग्व्रत (गुणव्रतके भेद) के ५ पाँच अतिचार वतलाते हैं।

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः[1] क्षेत्रवृद्धिराधानम्[2][3]।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पंचेति प्रथमशीलस्य ॥ १८८ ॥

पद्य

नीचे ऊँचे और वगलमें, सीमा घटा वढ़ा लेना।
मर्यादाको भूल रागसे वाहिर भी जाना आना॥
नई स्मृतिके कारण पुनः—सीम मुकर्रर भी करना।
इस विध अतिचार हैं पाँचों, दिग्व्रतमें इनको तजना ॥ १८८ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः] ऊपर (ऊर्ध्व-दिशामें) अधः (पाताल लोकमें) तिर्यक्—मध्य लोकमें सीमाका उल्लंघन करना अर्थात् इच्छानुसार प्रयोजनवश सीमा घटा बढ़ा लेना (ये तीन अतिचार हैं) तथा [क्षेत्रवृद्धिः] प्रयोजनश सीमा को और लम्बा कर लेना एवं [स्मृत्यन्तरस्याधानम्] पहिलेकी याददाश्त (खबर) भूलकर नवीन याददाश्तसे पुनः सीमा मुकर्रर करना [इति प्रथमशीलस्य पंच गदिताः] इस प्रकार पहिले शीलके अर्थात् दिग्व्रतके पाँच अतिचार वतलाए गये हैं ॥ १८८ ॥

भावार्थ—दिग्व्रतनामक शीलव्रतमें दशों दिशाओंकी सीमा जीवन पर्यन्तके लिये नियत (मुकर्रर) की जाती है—फिर उससे बाहिर कोई व्यवहार (जाने-आने वुलाने भेजने आदिका) नहीं किया जा सकता ऐसा नियम है। अतएव जो दिग्व्रती भूलसे (अज्ञानसे) या प्रमाद (तीव्र-राग या कषाय) से पेश्तर की हुई प्रतिज्ञा (मर्यादा) को भंग कर देता है वह अपने व्रतमें कलंक या धब्बा लगाता है, जिससे उसको अपने व्रतका पूरा फल नहीं मिलता। त्रुटि हो जाती है। इसका कारण सिर्फ चारित्रमोहका तीव्र उदय है, सम्यग्दर्शनका दोष नहीं है, वह तो वरावर उसको सावधान करता रहता है—हिदायत देता रहता है कि ऐसा कार्य मत करो यह तुम्हारे रूपके विरुद्ध है, यह सब हेय है इत्यादि। परन्तु शक्तिहीनताके कारण या असह्य पीड़ा या वेगके कारण वह च्युत हो जाता है अर्थात् व्रतमें छेद कर देता है, परन्तु पश्चात्ताप (विरक्ति) अवश्य करता है और आगे यथासंभव उसका त्याग भी कर देता है। ऐसा करते-करते वह साध्यकी सिद्धि

---

१. उल्लंघन करना अर्थात् घटावढ़ा लेना।

२. पहिलेसे अधिक क्षेत्र वढ़ा लेना।

३. उक्तं च—ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥ त० सू० अ० ७

कर लेता है व कृतकृत्य हो जाता है यही पूर्वक्रम है, इसको अपनाना प्रत्येक मुमुक्षुका कर्त्तव्य है। प्रतिज्ञा भंग करना महान् अपराध माना गया है यह सदैव ध्यान रखा जावे। ये सब उपाय परसे सम्बन्ध छोड़कर एकाकी शुद्ध स्वरूप बननेके हैं किम्बहुना। मर्यादासे वाहिर रागादिक विकारी भावोंको छोड़कर स्वभावभावमें स्थिर होनेका लक्ष्य रहता है ॥ १८८ ॥

आगे देशव्रतनामक गुणव्रतका स्वरूप बतलाते हैं।

प्रेष्यस्य[1] संप्रयोजनमानयनं[2] शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पंचेति ॥१८९॥

पद्य

देशविरत की सीमा वाहिर वस्तु भेजना मगवाना।
शब्द बोलकर रूप दिखाकर, निज मनरथ पूरा करना ॥
कंकर पत्थर फेंक इशारा भीतर से वाहिर करना।
अतीचार ये पाँचों भाई, द्वितीयशील व्रत के तजना ॥१८९॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [प्रेष्यस्य संप्रयोजनं आनयनं] देवव्रतकी सीमाके बाहर किसी दूसरे साधन द्वारा भेजने योग्य वस्तुको भेज देना व मँगा लेना तथा [शब्दरूपविनिपातौ] शब्द बोलकर या रूप दिखाकर अपना प्रयोजन सिद्ध करना एवं [अपि पुद्गलानां क्षेपः] कंकर, पत्थर फेंककर वाहिर इशारा करना [इति द्वितीयशीलस्य पञ्च अतिचाराः] इस तरह दूसरे शीलव्रत (देशव्रत) के पाँच अतिचार वतलाये गये हैं अर्थात् ये पाँच अतिचार हैं। ऐसा समझकर देशव्रतीको इनका त्याग करना अनिवार्य है ॥१८९॥[3]

भावार्थ—संसारी जीव कषायवश अपना प्रयोजन हर तरहसे सिद्ध करते हैं। व्रती हो जानेपर भी जवतक कषायोंका संयोग सम्बन्ध रहता है या संस्कार रहता है तबतक गुप्तरूप (मायाचारी) से या प्रकटरूपसे अपनी मंशा पूर्ण करनेमें संलग्न रहा करते हैं। इन्हीं सब खोटी (हेय) आदतों या विकारोंको हटानेके लिए व्रतादिक धारण किये जाते हैं, परन्तु उनमें जब कोई त्रुटि न रहे—तमाम अतिचार छूट जायँ, तभी उनसे लक्ष्य पूरा होता है अन्यथा नहीं। इस व्रतमें मर्यादा के भीतर मर्यादा, नियमित कालको की जाती है अर्थात् दिग्व्रत (जीवन पर्यन्त) की लम्बी मर्यादाके अवान्तर ही संक्षेपरूपमें दिनरात्रि आदिके परिमाणसे त्याग किया जाता है अर्थात् इन्द्रियों और कषायोंपर नियन्त्रण (कन्ट्रोल) किया जाता है, जिससे उनके द्वारा होनेवाला अपराध छूट जाय (वन्द हो जाय) इत्यादि। इस तरह मूल देशव्रत धारण करनेवालेको अतिचार भी (उप-

१. भेजने योग्य वस्तु।
२. भेजना। तार चिट्ठी आदि भेजना भी वर्जनीय है इत्यादि।
३. उक्तं च—आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥३१॥ त० सू० अ० ७।

युंक्त) नहीं लगाना चाहिये। व्रत किसीके दवाउरेसे या छलकपट (मायाचार) से नहीं धारण किया जाता—वह तो स्वेच्छासे अपनी रुचिके अनुसार ही धारण किया जाता है, तभी वह वास्तविक पलता है अन्यथा वह भ्रष्ट हो जाता है। फलतः जवतक स्वयं योग्यता न हो तवतक कभी व्रत धारण करनेका स्वांग नहीं करना चाहिये, पराये बल व आश्वासनपर व्रत नहीं पलता यह पक्का है। विगड़ेका सुधार होना उसीके हृदयपरिवर्तनपर निर्भर है—दूसरा कोई क्या करेगा ? निमित्त या सहायक दूसरेका कार्य नहीं करते न कर सकते हैं, वे भी अपना ही कार्य अपनेमें करते रहते हैं। अतएव भ्रममें पड़ना लाभदायक नहीं होता ऐसा समझकर सही मार्ग अपनाना चाहिये। व्रत परस्पर सापेक्ष होते हैं अर्थात् अपने विपक्षी अव्रत सहित होते हैं। परिणामस्वरूप पहिले जब अव्रत होता है तभी उसके वाद (अव्रत छूटनेपर) व्रती वनता है। इस तरह व्रत व अव्रतकी सापेक्षता समझना चाहिये। जैसेकि द्रव्य भावकी अपेक्षा रखता है या भाव, द्रव्यकी अपेक्षा रखता है। विना सापेक्षताके एक अकेलेका कथन या व्यवहार हो ही नहीं सकता इत्यादि परस्पर संधि या सापेक्षता है। सर्वत्र सापेक्षता इसी तरह मानी जाती है व मानना चाहिये ॥१८९॥

आगे अनर्थदण्डत्याग गुणव्रतके पाँच अतिचार बतलाते हैं।

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पंचेति ॥१९०॥

पद्य

कामोद्दीपक वचन बोलना, काय कुचेष्टा भी करना।
भोगों का अतिसंग्रह करना, अधिक वार्ता भी करना।
विना विचारे कार्य जु करना, अतिचार ये कहलाते।
नहीं प्रयोजन इनसे सधता, व्यर्थ समझकर छुड़वाते ॥१९०॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [कन्दर्प्पः कौत्कुच्यं अपि भोगानर्थक्यम्] हँसी दिल्लगीके भंड वचन अर्थात् अश्लील वचन बोलना जिनसे कामोद्दीपन हो—विषयाकांक्षा बढ़े, तथा शरीरके अंगोपांगोंको विकाररूप बनाकर कुचेष्टा करना (इशारा करना) एवं निरर्थक-अप्रयोजनभूत भोगोंका (पंचेन्द्रियोंके विषयोंका) बहुत संग्रह करना (व्यर्थ रागादिक बढ़ाना) [च मौखर्य्यं असमीक्षिताधिकरणं] और अधिक वार्तालाप करना (वाचालता करना) तथा विना सोचे-विचारे मनचाहा कर्य करना [इति पञ्च तृतीयशीलस्य अतिचाराः] उक्त पाँच, तीसरे शीलव्रत (अनर्थदण्डत्यागव्रत) के अतिचार हैं, उन्हें त्याग देना चाहिये, क्योंकि उनसे कोई लाभ नहीं होता, उल्टा अपराध व वंध होता है, रागादिक बढ़ाना महान् अपराध है ॥१९०॥

भावार्थ—विना प्रयोजन व रागादिकषायवर्धक कामोंका करना अनर्थ कहलाता है। उससे

१. उक्तं च—कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्य्यासमीक्षाधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥ त० सू० अ० ७।

लाभ कुछ नहीं होता, हानि ही होती है। तब व्रती विवेकी ऐसे काम छोड़ देते हैं—(नहीं करते, न उन्हें करना चाहिये। चतुर वुद्धिमानोंके कार्य हमेशा वुद्धिमत्तापूर्ण रहते हैं। जिनको संसार वढ़ानेका भय नहीं हो स्वच्छन्द आहार-विहार करनेमें मस्त रहें, जिनको अनर्थसेवक कहना चाहिये। किन्तु जो कदाचित् कषायके वेगवश अनर्थका कार्य कर वैठें परन्तु उसको वुरा समझें व खेद-खिन्न हों और छोड़नेका प्रयत्न (पुरुषार्थ) करें वे अनर्थसेवक नहीं है। ऐसी स्थितिमें सम्यग्दृष्टि व्रती, लोकव्यवहारमें चरणानुयोगके अनुसार अनर्थदण्डके कर्त्ता भले ही माने जायें किन्तु करणानुयोगके अनुसार वे मोक्षमार्गी ही हैं—संसारमार्गी नहीं हैं, उनके प्रति समय असंख्यातगुणित निर्जरा होती है। जैनधर्ममें भावोंसे ही संसार व मोक्ष होता है किम्वहुना। जितना त्याग व ग्रहण (संसारका त्याग व मोक्षमार्गका ग्रहण) शक्तिके अनुसार किया जा सके उतना ही शक्तिको न छुपाकर करना चाहिये और जो शक्ति हीनतासे न किया जा सके उसके करनेकी सिर्फ वांछा व श्रद्धा रखना चाहिये, जिससे वह सम्यग्दृष्टि वना रहेगा, अन्यथा मिथ्यादृष्टि हो जायगा। तव भाव सदैव ऊँचे रखना चाहिये कायरता वड़ा पाप है। संसार सागरसे पार करनेवाला सम्यग्दर्शनरूप भाव ही है, दूसरा कुछ नहीं।[1]

विशेषार्थ (अतिचार निर्णय)

संयोगी पर्यायमें अनेक विकल्प उठते हैं और उनकी पूर्तिके लिये जीव अनेक तरहके प्रयत्न करते हैं अर्थात् वाह्य निमित्तोंको मिलाते हैं (जो अनुकूल होते हैं) और पृथक् करते हैं (जो प्रतिकूल होते हैं) तथा यह कार्य सम्यग्दृष्टि जीव भी करते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव भी करते हैं, क्रियामें फरक नहीं होता, फरक अभिप्राय (भाव) में होता है, उसीका फल मिलता है। सम्यग्दृष्टिके उपर्युक्त कार्यका मूल कारण रागद्वेषकी तीव्र परिणति है, उसीसे वैसी प्रतिक्रिया होती है, किन्तु अज्ञान परिणति कारण नहीं है अतः उसके अज्ञान (मिथ्यात्व) रहता ही नहीं है। अतः उसको द्रव्य गुणपर्यायका सही ज्ञान रहता है। वह भूलता नहीं है। इसीलिये वराजोरीसे बलात्कार से व्रतादिकमें रागद्वेषजन्य दोष उसको लगते हैं जो संयोगी पर्यायमें रागद्वेषादिके अस्तित्वका प्रभाव है जिसे वह हेय या वुरा समझता है फिर भी वीतरागतामें (व्रत या चारित्रमें) रागादिका होना दोष है अस्तु। असलमें मोक्षका मार्ग शुद्ध, (वीतराग) ही एक होता है, अतएव उसमें कलंक नहीं लगाना चाहिये, तभी उससे साध्य (मोक्ष) को सिद्धि होगी। साध्यसाधकभावमें भी दोनों कारण कार्य एकसे होना चाहिये जैसे कि साध्य अर्थात् मोक्ष, यदि शुद्ध है (सर्वकर्मरहित है) तो उसका कारण उपयोग भी शुद्ध (रागादि रहित) होना चाहिये अर्थात् शुद्धोपयोगरूप कारणसे ही शुद्धतारूप मोक्ष कार्य होता है इत्यादि। इसमें सम्यग्दृष्टि नहीं भूलता, उसको द्रव्य गुणपर्यायका यथार्थ ज्ञान श्रद्धान रहता है (स्वपरका सम्यक्वोध रहता है) । इसके विपरीत—

मिथ्यादृष्टिको जो विकल्प उठते हैं और उनकी पूर्तिके लिये जो वह निमित्त मिलाता व

---

१. उक्तं च—जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं—सद्दहमाणस्स समत्तं ॥२२॥ भावपाहुड़, कुन्दकुन्दाचार्य

हटाता है, उसका मूलकारण अज्ञान—स्वभावका ज्ञान न होना, और रागद्वेषकी सम्मिलित परिणति है अर्थात् उसको उनमें भेद ज्ञान नहीं रहता वह सबको एक एवं अपने ही मानता व जानता है, यह महान् भूल उसके पाई जाती है। फलस्वरूप उनको वह हेय नहीं समझता न उनको छोड़ता है इत्यादि। अभिप्रायमें फरक दोनोंका रहता है अतएव एक मोक्षमार्गी है (सम्यग्दृष्टि) और एक संसारमार्गी (मिथ्यादृष्टि) है ऐसा निर्णय समझना चाहिये ॥१९०॥

आगे—सामायिक नामक दूसरे शिक्षाव्रतके ५ पाँच अतिचार बतलाते हैं।

(सातशीलोंमेंसे चौथा शील)

वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानमनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थापनयुताः पंचेति चतुर्थशीलस्य ॥ १९१ ॥

पद्य

मनवचतनकृत योगोंका जो दुरुपयोग नित करना है।
और अनादरभाव उसीमें भूल भूल हो जाना है॥
ये पाँचों अतिचार कहे हैं—सामायिक शिक्षाव्रतके।
इन्हें छोड़ना उन पुरुषोंको, जो उत्सुक हैं निज हितके ॥ १९१ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानमनादरः] मनवचनकायकृत तीन योगोंका दुरुपयोग करना अर्थात् मनमें अन्यथा विचार करना या मनको स्थिर न रखना तथा वचन अन्यथा बोलना अर्थात् अशुद्ध मंत्र या पाठ बोलना एवं शरीरकी प्रवृत्ति अन्यथा करना काययोगको बार-बार चलाना तथा सामायिक करनेमें उत्साह या विनय नहीं करना [स्मृत्यनुपस्थानयुताः [सामायिकका काल पाठ भूल जाना [इति पंच चतुर्थशीलस्य अतिचाराः] ये पाँच चौथे शीलव्रतके अर्थात् 'सामायिक शिक्षाव्रत' के अतिचार हैं, इनका त्याग करना चाहिये ॥ १९१ ॥

भावार्थ—सामायिक शब्दका अर्थ—आत्मस्वरूपमें एक या स्थिर हो जाना है शुद्ध स्वरूपका अनुभव करना है। जिसका खुलासा 'मनवचनकाय' इन तीनोंकी क्रियायों (प्रवृत्तियों) का अवरोध कर (बन्द करके) सिर्फ अपना उपयोग आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लगाना है स्थिर करना है। जबतक ऐसा प्रयोग नहीं किया जाता तबतक सामायिक' सिद्ध नहीं होती अर्थात् उसको सामायिक नहीं कहा जा सकता। यद्यपि आसनका मांडना (मुद्रा धारण करना), पाठका पढ़ना, शिरोनति आदिका करना आदि सब 'सामायिक' नहीं है—उसकी तयारी करना है, निमित्तिकोंका मिलाना है, तथापि उपचारसे उसको भी सामायिकमें शामिल किया गया है। तब प्रारम्भकी व अन्तकी सभी क्रियायें सामायिक नामसे कही जाती हैं। शिक्षाव्रतमें यह कार्य अभ्यासरूपसे रहता

१. उक्तं च—योगःदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥ त० सू० अ० ७

हैं, अतएव अतिचार भी लग जाता है, परन्तु प्रतिमारूपमें अतिचार नहीं लग सकता। प्रतिमारूपमें बराबर तीन काल निरतिचार सामायिक करना पड़ती है और शिक्षाव्रतमें दो काल (सुबह व शाम) सामायिक करनेका नियम है यह मोटा भेद है। लेकिन पाठ मंत्र आदि शुद्ध पढ़ना चाहिये अन्यथा अतिचार लग जायगा तथा योगक्रिया भी योग्य होना चानिये। अर्थात् मनः-शुद्धि-मुखशुद्धि (जूठे मुँह नहीं) कायशुद्धिः (हाथपाँव प्रक्षालन करना या धोना) आदि सब विधिपूर्वक होना चाहिये, स्थान, काल आदि भी अनुकूल होना चाहिये तभी सामायिकमें उपयोग लग सकता है किम्बहुना। योगोंकी प्रवृत्ति कषायके अनुसार होती है। अतएव पेश्तर कषाय बन्द होना चाहिये एवं विकल्प कम होना चाहिये तथा विकल्प या इच्छा पूर्तिके लिये योगोंकी प्रवृत्ति भी कम होना चाहिये। ऐसी स्थितिमें उपयोग स्थिर हो सकता है और सामायिक बन सकती है, कर्मोंकी निर्जराका यही एक अद्वितोय उपाय (साधन) है। चित्त या उपयोगको स्थिर किये बिना सामायिक नहीं हो सकती। फलतः उस समय आरंभ परिग्रहादिका कम करना अविवार्य है यह निष्कर्ष है अस्तु। सामायिकमें शिथिलाचार नहीं होना चाहिये, सावधानी रहनी चाहिये ॥ १९१ ॥

आगे—प्रोषधोपवास नामक दूसरे शिक्षाव्रतके ५ पाँच अतिचार बतलाते हैं।

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः ।
स्मृत्यनुपस्थापनमनादरश्च पंचोपवासस्य ॥ १९२ ॥[1]

पद्य

बिन देखे, बिन शोधे यस्तु—ग्रहणकरन पहिला जानो।
इसी तरह संतस्तरका करना, मल उत्सर्ग साथ मानो ॥
विधी भूलना अनादर करना, अतीचार पाँचों होते।
इनके त्यागे प्रोषधव्रतमें, दोष नहीं कोई लगते ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं] विना देखी विना शोधी (मुलायम चीजसे झारना फटकारना—निगाहसे देखना जरूरी है परन्तु प्रमादसे वह नहीं करना) वस्तु (पुस्तक-पूजनादिके वर्त्तन-उपकरण आदि] को ग्रहण करना [तथा संस्तरः उत्सर्गः] बिना देखे शोधे जमोन पर जहाँ-तहाँ विस्तार करना (चटाई वगैरह विछा देना) [च स्मृत्यनुपस्थापन-मनादरः] और स्मरण न रखना अथात् भूल जाना व आदरभाव (विनय उत्साह) नहीं रखना [उपवासस्य पंच] ये पाँच अतीचार उपवास अर्थात् प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके हैं, इनको त्यागना चाहिये ॥ १९२ ॥

भावार्थ—प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके ५ पाँच अतिचारोंमें भी 'स्मृतिअनुपस्थान तथा अनादर' ये दो अतिचार बतलाये गये हैं जो पहिले सामायिक शिक्षाव्रतमें भी बतलाये गये हैं। इससे

---

१. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥ त० सू० अ० ७

पुनरुक्ति दोष नहीं आता, कारण कि कई क्रियाओंमें समानता रहती है, जिससे बाधा नहीं आती प्रत्युत लाभ होता है अस्तु। शेष देखभाल कर चीजोंका उठाना, धरना तथा विस्तर आदि करना (टट्टी पेशाव आदि करना) यह भी देखभाल कर प्रासुक जगहमें करनेसे हिंसा बचती है, अहिंसा पलती है। स्मृति रखना, आदर करना, इससे गलती मिटती है—प्रमाद नष्ट होता है। पूजनकी सामग्री आदि भी अच्छी तरह शोध बीनकर (प्रासुक) काममें लाना चाहिये। उत्साह हीनता किसी कषायके तीव्र बेगमें होती है। जैसे कि भूखप्यासकी तीव्र बाधा होने पर जल्दी-जल्दी या भूलकर विगार जैसी टाली जाती है जो बड़ा अपराध है। अतएव सहनशीलता व शक्तिका होना भी व्रतीके लिये अत्यावश्यक है अन्यथा परिणाम बिगड़ जाने पर लाभ नहीं होता—परिणामोंको निर्मल रखना पहिला कार्य है अस्तु।

नोट—व्रतीको सावधानी हमेशा रखना चाहिये परन्तु पर्व आदिके दिनोंमें तो खासकर विशेष ध्यान रखनेकी जरूरत है। व्रत धारण करनेका एकमात्र लक्ष्य अहिंसाधर्मको पालना है किम्बहुना। चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमामें पूर्वोक्त अतिचार नहीं लगाये जाते—उसको निरतिचार पाला जाता है। यहाँ कभी अतिचार लग सकते हैं ऐसा समझना चाहिये॥ १९२॥

आगे भोगोपभोगपरिमाण नामक तीसरे शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार बतलाते हैं।

[1]आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रस्सचित्तसम्बन्धः।
दुष्पक्वोऽभिषवोऽपि च पंचामी षष्टशीलस्य ॥१९३॥

पद्य

जो सचित्त अरु सचित्तमिश्रित, अरु सचित्त सम्बन्धित हो।
देर हजम अरु गरिष्ठ वस्तु, जो व्रत में प्रतिबन्धक हो॥
ये पाँचों अतिचार व्रती के, वैसा भोजन नहिं करते।
इन्द्रिय संयम जीव दया ये, लक्ष्य सदा हाँ वे रखते ॥१९३॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हि सचित्तः आहारः सचित्तमिश्रः सचित्तसम्बन्धः] यथार्थतः जो आहार (भोजन) स्वयं सचित्त हो अर्थात् जिसमें एकेन्द्रियादि जीव पाये जाते हैं (पाँच स्थावर कायवाला आहार) तथा जिसमें कुछ अंश सचित्तका मिला हो (कुछ सचित्त व कुछ अचित्त मिला हुआ) एवं जिसका स्पर्श सचित्तसे हो गया हो (सचित्तपत्तल आदिसे अचित्तको ढक देना अथवा उसपर परोस देना) [च दुष्पक्वः अभिषवोऽपि] और जो कठोर या देर हजम हो (अधचुरा हो) तथा गरिष्ठ हो (इन्द्रियविकार कारक हो) या अधिक स्वादिष्ट हो [अमी षष्ठव्रतस्य पंच अतिचाराः] ये पाँच अतिचार भोगोपभोगपरिमाण नामक छठवें शीलव्रतके हैं, इनका त्याग करना चाहिये ॥१९३

---

१. उक्तं च—सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥३५॥ त० सू० अ० ७।

भावार्थ—भोगोपभोग (खानापीना आदि) का परिमाण (सीमा) करना शीलव्रतीका कर्त्तव्य है, वह स्वेच्छाचारी नहीं रह सकता, उसके प्रायः सभी कार्य मर्यादित हो जाते हैं। तब वह अपना भोजन पान भी यद्वातद्वा नहीं करता। सबसे पहिले वह सचित्तका और उसमें भी एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाका त्यागी होता है। यों तो अप्रयोजनभूत त्रसहिंसाका त्याग उसके पहिले ही हो जाता है, परन्तु अप्रयोजनभूत स्थावर हिंसाका भी त्याग वह करने लगता है यह विशेषता हो जाती है फिर भी मुख्यतया वह पेश्तर अपने खानेपीनेकी चीजोंसे एवं स्वयं न खानेसे परहेज रखता है किन्तु अधिक क्षेत्र नहीं बढ़ाता अर्थात् दूसरोंको न खिलानेका उसके नियम नहीं रहता। वह स्वयंका अर्थात् कृतका त्यागी होता है) वह अभी सचित्तत्याग प्रतिमा (पाँचवी) का धारी नहीं है, अतएव उसको सचित्त सम्बन्ध आदि होनेपर अतिचार ही लगता है—अनाचार नहीं होता। ऐसी स्थितिमें यदि सचित्त त्यागी पाँचवी प्रातिमाधारी पूर्वोक्त कार्य करे तो वह अनाचारी समझा जायगा, अतिचारी नहीं कहलायगा ऐसा समझना चाहिये यह सारांश है अस्तु।

यहाँ प्रश्न

'सचित्ताहार'को अतिचारमें शामिल क्यों किया, वह तो अनाचार है, कारण कि उसमें जीवोंका साक्षात् विघात (हिंसा) होता है? इसका समाधान इस प्रकार है कि वह एकदेश अहिंसक है सर्वदेश अहिंसक नहीं है अतएव एकदेश भंग होना अतिचार कहलाता है यह लक्षण घटित होता है। अर्थात् जिन चीजोंका त्याग नहीं करता, उनको ही सचित्तरूपमें वह स्तैमाल करता है अतएव एकदेश अहिंसाव्रत भंग होता है और जिनका त्याग कर देता है, उनको ग्रहण नहीं करता अतएव एकदेश अहिंसाव्रत पलता है इत्यादि सचित्ताहारको अतिचारमें शामिल किया गया है। यहाँपर अधिक विस्तार नहीं करना चाहिये अन्यथा निर्वाह होना कठिन व असाध्य हो जायगा इत्यादि। विचार किया जाय। सचित्तत्याग प्रतिमाधारी, सम्पूर्ण सचित्तका त्यागी होता है, परिमाण (सीमा) नहीं करता, अतएव सचित्त चीज एक भी नहीं खाता पीता, हाँ अचित्त कर ग्रहण कर सकता है इति।

नोट—भोगोपभोगका परिमाण या त्याग करनेवाले जीव यह हमेशा ख्याल रखते हैं कि जिनमें हिंसा अधिक हो व लाभ कम हो—जैसे हरी (गीली) शाक वगैरह (फूलवाली शाक गढ़न्त बीजवाली शाक इत्यादि) नहीं खाते परन्तु जिनका त्याग न किया हो, उनका स्तैमाल वे बराबर करते हैं अस्तु। वैसे तो व्रत, द्रव्य और भाव दो सापेक्ष होता है अर्थात् वही पूर्णव्रत कहलाता है जिसमें द्रव्य त्याग व भावत्याग दोनों हों, परन्तु उसके अभावमें द्रव्य या भाव कोई एक खंडित हो तो वह अतिचार सहित व्रत कहलाता है यह तात्पर्य है ॥१९३॥

आगे अतिथिसंविभाग या वैयावृत्य नामक चौथे शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार बताते हैं।

परदातृव्यपदेशः[1] सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

१. उक्तं च—सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥ त० सू० अ० ७।

पद्य

अन्य किसीको प्रेरित करना—हरित पत्रपर अरु रखना।
हरितपत्रसे ढाँक भोज्यको, काल उल्लंघन भी करना॥
अरु मनमें ईर्षाका रखना, अतिचार पन होते हैं।
इनसे दोष अवश्य होत है अतः व्रतीजन तजते हैं॥ १९४॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च] दूसरे दाताको भोजन देनेकी प्रेरणा करना कि आप दे देना हमको अड़चन है इत्यादि बहाना बनाना, सचित्त पत्ता था पत्तल पर अचित्त (प्रासुक) भोजन रख देना या उससे ढाँक देना [च कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं] और भोजन (आहार) के कालको चुका देना अर्थात् देर कर देना तथा दूसरे दातारोंसे द्वेषवृद्धि रखना (अदेखसका भाव रखना) [इति अतिथिदाने पंच अतिचाराः] इस प्रकार अतिथि संविभाग या अतिथिदान नामक शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार होते हैं। इनको नहीं लगाना चाहिये॥ १९४॥

भावार्थ—आहारदानका बड़ा महत्त्व होता है व माना गया है परन्तु जब वह भक्तिभाव—विनय उत्साहके साथ हो, बरायनाम बलाय टालना जैसा न हो इत्यादि। मनमें विकारभाव या शिथिलाचार होनेसे फल नहीं लगता (पुण्यबंध नहीं होता)। अतएव श्रावकका कर्त्तव्य समझकर विधिपूर्वक अतिचार बचाते हुए आहारदान पात्रोंको अवश्य देना चाहिये। किम्बहुना। श्रावक (गृहस्थ) धर्मकी शोभा प्रतिष्ठा इसीमें है। यद्यपि पात्रदानमें पात्र-अपात्रकी परीक्षा करना अनिवार्य है—विना परीक्षा किये आहार देना वर्जनीय है परन्तु दयादान में पात्र-अपात्रका विचार नहीं किया जाता। ऐसी स्थितिमें जैसा पात्र हो वैसा भाव व वैसी विधिसे भोजन देना चाहिये इत्यादि। निर्दोष आहार देनेमें कषायकी मन्दता रहती है, जिससे पात्रको लाभ होता है और दाताको भी पुण्यका बंध होता है स्वयं इस लोक और परलोकमें साता सामग्रीका संयोग, उसका उपभोग करनेका अवसर मिलता है—सुखसाताका अनुभव होता है, संसारी जीवन सुख शान्तिमय बीतता है इत्यादि 'धर्म करत संसार सुख' यह चरितार्थ होता है अस्तु। स्वहस्त क्रियाका अर्थात् अपने हाथसे काम करनेका फल—(कृतका फल) विशेष होता है और दूसरेसे करवानेका फल (कारितका फल) सामान्य होता है अतएव यथासंभव पात्रदान वगैरह स्वयं ही करना चाहिये किम्बहुना॥ १९४॥

आगे सल्लेखना व्रतके पाँच अतिचार बतलाते हैं।

जीवितमरणाशंसे[1] सुहृदनुरागः सुखानुबंधश्च।
सनिदानः पंचैते भवन्ति सल्लेखनाकाले॥ १९५॥

---

१. उक्तं च—जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि॥ ३७॥ त० सू० अ० ७।

पद्य

जीवन और मरणकी वाँछा मित्रराग सुखयाद करन।
परभवका निदान करना ये अतीचार सन्यासमरण ॥
इनका त्याग करन, सल्लेखन-समय-प्रभु बतलाया है।
अहो भव्यजन करो सफल तुम उत्तम नरभव पाया है ॥ १९५ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [सल्लेखनाकाले] सल्लेखनाके समय [जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः] अधिक जीनेकी या जल्दी मरनेकी आकांक्षा करना, इष्ट मित्रोंसे अनुराग करना अर्थात् उनसे अधिक स्नेह करना (ममत्व करना) [च सुखानुबंधः सनिदानः] और पूर्वमें भोगे हुए सुखोंका स्मरण करना तथा आगेका निदानबंध करना अर्थात् आगेकी अभिलाषा (चाह) मनमें करना [एते पंच अतिचाराः भवन्ति] ये पाँच सल्लेखनाव्रतके अतीचार हैं, उन्हें त्यागना चाहिये क्योंकि चाहनेसे वस्तुका परिणमन नहीं बदलता इत्यादि ॥ १९५ ॥

भावार्थ—सल्लेखनाव्रत धारण करना जीवनका अन्तिम व मुख्य लक्ष्य है जो प्रत्येक सम्यग्दृष्टि व्रतीका होना चाहिये। सल्लेखनामें कायसे ममत्व हटाया जाता है, कषाएँ कम की जाती हैं भोजन पान बन्द किया जाता है और यह कार्य वैराग्य परिणामोंसे किया जाता है—कषाय पोषणके लिए नहीं किया जाता तथा धर्मकी वृद्धिके लिए वह किया जाता है क्योंकि रागादि कषाएं अधर्म हैं, उनके छूटनेसे वीतरागतारूप धर्म बढ़ता है। ऐसी स्थितिमें उसको आत्मघातका दोष (लांच्छन) नहीं लगता। संसार शरीर भोगोंसे विरक्ति (अरुचि) होना जीवका स्वभाव है, परन्तु अज्ञानतासे उसका विपरीत परिणमन हो जाता है (विभावरूप) पुनः जब भेदज्ञान या सम्यग्दर्शन होता है तब उसको अपने स्वभावका ज्ञान व अनुभव होता है भूल मिटती है—प्रवुद्ध होता है तथा उस समय अपनेको 'एकत्व विभक्तरूप, जानकर परसे विरक्त और यथाशक्ति त्यक्त (पृथक्) होता है इत्यादि जो उसके हितमें है। संयोगीपर्यायमें परद्रव्यका (परिग्रहादिविषयोंका) और रागादि विकारी भावोंका परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहता है, जिससे संसारका तांता (लगाव) नहीं टूटता वह बढ़ता ही जाता है। अतएव उस परद्रव्यका अथवा निमित्त कारणका सम्बन्ध विच्छेद करना अनिवार्य है, उसीके संसारकी बेल कट सकती है, तभी तो महान् पुरुषोंने वैसा किया है। परिणामोंमें निर्मलता परका संयोग छोड़नेपर ही हो सकती है। ऐसा व्यवहारमें माना जाता है। तब व्यवहार दशामें रहते हुए उसका पालन करना अनुचित नहीं कहा जा सकता—परम्परयाका यही अर्थ है कि व्यवहारनयसे वैसा है, निश्चयसे नहीं है, अस्तु। जीवको सुधारनेका आखिरी अवसर सल्लेखना है सो अवश्य करना चाहिये, किम्बहुना। वह उचित अवसरपर ही होना चाहिये जबकि मरण निश्चित हो जावे (उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे, इत्यादि)। आत्मघातकी शंकाका खण्डन पहिले अच्छी तरह किया ही जा चुका है श्लोक नं० १७७ में देख लेना ॥१९५॥

आगे संक्षेप (उपसंहार) में अतिचार रहित निर्मल सम्यग्दर्शन व्रतशील आदिका माहात्म्य (फल) दिखाते हैं।

इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य ।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥१९६॥

पद्य

पूर्व कहे अतिचारों को अरु और बुद्धि में जो आवें ।
उन सबको परिवर्जन करके, निर्मलताको अपनावें ॥
सम्यग्दर्शन-व्रत अरु शील हि, जब निर्मल हो जाते हैं ।
तब ही अल्पकालमें साधक, इष्टसिद्धिको पाते हैं ॥१५६॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जो व्रती (साधक) [इत्येतानपरानपि अतिचारान्] पूर्वमें कहे हुए सम्यग्दर्शनादिके ७० सत्तर अतिचारोंको तथा और भी [सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य] जो बुद्धि या तर्कमें संगतरूपसे आवें, उनको त्यागकर [अमलैः सम्यक्त्वव्रतशीलैः] निर्मल (निरतिचार) सम्यग्दर्शन-व्रत-शीलको प्राप्त करते है (उनके द्वारा) वे पुरुष (सन्त महात्मा) [अचिरात् पुरुषार्थसिद्धिमेति] बहुत जल्दी (शीघ्र) पुरुषार्थकी सिद्धिको अर्थात् इष्ट सिद्धिको (मोक्षको) प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् संसारसे पार हो जाते हैं या मोक्षमार्गकी साधनाका फल उन्हें मिल जाता है ॥१९६॥

भावार्थ--इस श्लोक द्वारा संक्षेपमें सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रकी साधनाका माहात्म्य या फल बतलाया है जिससे मुमुक्षु प्राणी उस ओर उन्मुख होवें (मुखातिब होवें) अर्थात् आकर्षित होवें । पूज्य अमृतचन्द्राचार्यने जिस क्रमसे रत्नत्रयकी उपासना करना बतलाया है उसी क्रमके अनुसार अपनानेसे निःसन्देह साध्य (मोक्ष) की सिद्धि हो सकती है रंचमात्र अन्तर नहीं आता। पद व योग्यताके अनुसार कार्य करनेसे सदैव लाभ होता है यह नियम है । साधारण न्यायसे सम्यग्दृष्टिव्रती अर्धपुद्गलपरावर्त्तनकालतक संसारमें रह सकता है किन्तु यह अन्तिम अवधि है किन्तु योग्यतानुसार पुरुषार्थ द्वारा जल्दी ही मोक्ष जा सकता है । अतएव एकान्त धारणा न करके भवितव्यपर विश्वास रखते हुए पुरुषार्थ हमेशा करना चाहिये, क्योंकि उस भूमिकामें कषायोंका सद्भाव होनेसे उनके उदयकालमें तरह-तरहके विकल्प उठते हैं—इच्छाएँ होती हैं तथा उनकी पूर्तिके लिए उपाय किये जाते हैं—निमित्तोंका सहारा लिया जाता है उनका संग्रह व पृथक्करण किया जाता है इत्यादि, परन्तु श्रद्धा अटल रहती है—वह नहीं बदलती। उपयोग (ज्ञान) बदलता रहता है, एकत्र स्थिर नहीं रहता इत्यादि । सबका सारांश समझकर कार्य करना ही बुद्धिमानी है, किम्बहुना ।

इति देशचारित्र (अणुव्रत) कथन समाप्तम्

●

नौवाँ अध्याय

सकलचारित्र प्रकरण (यत्याचार)

चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षांगमागमे गदितम् ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ॥ १९७ ॥

पद्य

मोक्षमार्गमें चारित भीतर—तपको शामिल किया गया ।
अतः उसे कर्त्तव्य बताकर मोक्षमार्गको सधवाया ॥
जो कर्त्तव्यशूर अरु मनको—एकाग्रित करने वाले ।
उन्हें निरंतर उद्यम करना, तप निर्वांछ होय पाले ॥ १२७ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [आगमे चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षांगं गदितम्] शास्त्र या जिनशासनमें—चारित्रका ही भेद (अंग) होनेसे तपको भी मोक्षका कारण माना गया है (वह मोक्षमार्गसे पृथक् नहीं है) अतएव [अनिगूहितनिजवीर्यैः समाहितस्वान्तैः तदपि निषेव्यम्] अपनी शक्ति या योग्यताको नहीं छुपानेवाले एवं स्थिर चित्तवाले ऐसे पुरुषोंको चाहिये कि वे, तपको धारण अवश्य करें, यह उनका कर्त्तव्य है ॥ १९७ ॥

भावार्थ—चारित्रको मोक्षका मार्ग पूज्य आचार्योंने सर्वसम्मत माना है, उसमें कोई मतभेद या विवाद नहीं है लेकिन तपका स्पष्ट उल्लेख मोक्षमार्गमें नहीं किया गया है तथापि उसका अन्तर्भाव (शामिल होना) चारित्रमें किया गया है या हो जाता है, वह मोक्षमार्गसे भिन्न नहीं है। ऐसी स्थितिमें तपको तपना या धारण करना अनिवार्य है क्योंकि बिना उसके कार्य सिद्ध नहीं होता । फलतः मुमुक्षु जीवोंका वह नित्य कर्त्तव्य है (छह[1] नित्य कर्मोंमें पाँचवें नम्बरमें कहा गया है) तपका साधारण अर्थ इच्छाओं अर्थात् रागादिकोंका रोकना होता[2] है, उससे ही अथवा वीतरागपरिणतिसे ही जीवका कल्याण हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता । जो जीव तपसे डरता है या तपमें श्रद्धा नहीं रखता वह कायर व मिथ्यादृष्टि है अतः यथाशक्ति इच्छाओंको कम करना जरूरी है, जिससे सम्यग्दृष्टिपना नष्ट न हो किम्बहुना । मोक्षमार्ग या तपकी साधना सब कोई नहीं कर सकता—किन्तु जो आत्माकी अनन्त शक्तिको जानकर (सम्यग्दर्शन प्राप्त कर)

---

१. उक्तं च— देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥

२. 'इच्छानिरोधस्तपः ॥ ३ ॥ त० सू० अ० अध्याय ९ ।

संसार शरीर भोगोंसे विरक्त होता है, अपने उपयोगको आत्माके शुद्ध स्वरूपमें स्थिर करता है एवं उसका स्वाद लेता है (अनुभव करता है) वही तप या मोक्षमार्गकी साधना कर सकता है शेष वातूनी जमा खर्च करनेवाले कुछ नहीं कर सकते यह नियम है। इस मूल मंत्रको कभी नहीं भूलना चाहिये अस्तु। तपके २ भेद माने गये हैं, उनमेंसे ६ भेद वहिरंग तपके हैं और ६ भेद अन्तरंग तपके हैं जिनका प्रदर्शन आगेके श्लोकमें किया जायगा यहाँ पर कुछ विशेषता वतलाई जा रही है, उसको ध्यानमें रखना है।

तपोंमें वहिरंग और अन्तरंग यह नामभेद क्यों किया गया ? इसका मूल कारण क्या है ?

उक्त प्रश्नका उत्तर अनेक प्रकारसे दिया जाता है परन्तु पूज्य श्री कार्तिकेय मुनिने अपने अनुपम ग्रन्थ 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा'[1] में जो दिया है वह अत्युत्तम व संतोषजनक है, उससे सव सन्देह दूर हो जाते हैं। (१) जिस तपको मिथ्यादृष्टि—वहिरात्मा भी धारण कर लेते हैं (अनशनादि ६) उस तपको बहिरंग तप कहते हैं। (२) जिस तपको सम्यग्दृष्टि—अन्तरात्मा ही धारण कर सकते हैं उसको अन्तरंग तप कहते हैं (प्रायश्चित ६ तप)। इसका रहस्य यह है कि वहिरात्मा केवल वाह्य क्रिया (द्रव्यकी परिणति) को ही तप समझता है अर्थात् शारीरिक क्रियाका करना ही तप है ऐसा मानता है। जैसा कि कोई वाह्यद्रव्य (जल चन्दनादि) को चढ़ाना ही पूजा करना मानता है व उसका ही फल प्राप्त होता है ऐसा कहता है, जो आगम या व्यवहारको भाषा (कथनी है)—निश्चय या अध्यात्मकी भाषा (कथनी) नहीं है। अध्यात्मकी भाषामें भावोंकी मुख्यता रहती है क्रिया या निमित्तकी मुख्यता नहीं रहती है कारण कि फलकी प्राप्ति भावोंसे ही होती है। फलतः पूजा या पूजाका फल आत्माके भावोंको सुधारनेसे ही मिलता है अर्थात् लोभादि कषायोंके छोड़ने या नष्ट करने और उपयोगको स्थिर करके निर्मोह-निर्ममत्व, होनेसे ही मिलता है अर्थात् त्यक्त (अर्पित या चढ़ी हुई) द्रव्यके प्रति पुनः न कोई राग करना न उसे ग्रहण करना ही लोभका छोड़ना है, उसीका फल मिलता है अस्तु। जो जीव तपके स्वरूपको भी न समझ सके न वह कैसे प्राप्त होता है यह (उपाय) जान सके वह क्या त्यागेगा! व क्या ग्रहण करेगा ? यह विचारणीय है।

प्रसंगवश

तपस्वियों या चारित्रधारियोंके सम्वन्धमें वर्त्तमान विवाद व निर्णय।

यह तो निश्चित है कि जैनधर्म या जैनी श्रमणसंस्कृति (वीतरागता या दिगम्बरत्व) के उपासक हैं अन्य किसी संस्कृतिके उपासक नहीं हैं। उससंस्कृतिका मुख्य वेष (चिह्न) वाहिर में दिगम्वरपना (नग्नता) है या उसका अनुकरण करना अर्थात् वाह्यपरिग्रह या भोगोपभोगके

---

१. उक्तं च—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा नं० ४५० की टीकामें लिखा है। वाह्यका (वहिरंगका) अर्थ—जो वाहिर देखनेमें आवे या वाह्य द्रव्यका आलम्वन लेवे, नहीं है—किन्तु वहिरात्मा है। अन्तरंगका अर्थ—अन्तरात्मा है—भीतर या अदृश्य नहीं है अस्तु। मूलाचार गाथा १६२। पञ्चाचार अधिकारमें भी ऐसा ही लिखा है। अन्तरंग—जो अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि धारण करते हैं। वहिरंग—जिसे वहिरात्मा मिथ्यादृष्टि भी धारण कर लेते हैं, यह भेद है।

साधनोंको कम करना (घटाना) भी है। दूसरे शब्दोंमें (मुनिलिंग व श्रावकलिंग) श्रमण संस्कृतिके सूचक हैं। परन्तु लिंग दो तरहके होते हैं—(१) द्रव्यलिंग (बाह्य त्याग तपस्या) (२) भावलिंग (अन्तरंग परिग्रहत्याग) सो जो महात्मा दोनों लिंगोंसे परिपूर्ण हो जाते हैं वे असली श्रमण संस्कृतिके उपासक या अनुयायी हैं तथा वे ही मोक्षगामी व मोक्षमार्गके उपासक हैं। शेष जो पुरुष त्रुटि सहित हैं अर्थात् अन्तरंग लिंग व बहिरंग लिंग जिनके पूरा नहीं हो पाता वे यथार्थमें श्रमण संस्कृतिके उपासक नहीं हैं—बहिर्भूत हैं यह निर्धार है। इसमें शिथिलाचारको स्थान नहीं है—शुद्धताका आलम्बन है।

इसीलिये बाह्यलिंग होनेपर भी जिनके भावलिंग (सम्यग्दर्शनादित्रय) न हो, उसको द्रव्यलिंगी (मुनि) कहा जाता है जो मोक्षमार्गी व मोक्षगामी नहीं है। प्रत्युत संसारमार्गी है—खोटा रुपया जैसा है। कारण यह है कि मोक्ष व मोक्षमार्गमें भावलिंगकी ही प्रधानता है।[1] द्रव्यलिंगकी प्रधानता नहीं है, वह तो आनुषांगिक है। उससे मुक्ति कदापि नहीं होती। हाँ, लोक व्यवहारमें द्रव्यलिंगको महत्ता दी जाती है, परन्तु वह महत्ता पराश्रित होनेसे साध्यसाधक नहीं होती, उसको प्राप्त करनेवाले हीन दशावाले कहलाते हैं क्योंकि वह द्रव्यलिंग शुभ राग (कषायकी मन्दता) से भी होता है और अशुभराग (कषायकी तीव्रता भय लोभ आदि) से भी होता है, जो कार्यकारी नहीं है—कार्यकारी वह है जो वीतरागतापूर्वक हो। लोकव्यवहारकी मान्यता अशुद्ध मान्यता है—शुद्ध मान्यता नहीं है।

ऐसी स्थितिमें संयोगी पर्यायमें रहते हुए यदि कषायके वेगमें या उपशमादिके समय प्रशस्तराग या भक्तिभाव हो तो पात्रदानादि शुभ कार्य करना चाहिये अथवा करना पड़ते हैं क्योंकि भूमिकाके अनुसार सभी कार्य होते हैं यह नियम है तथा जबतक इच्छानुसार कार्य न कर ले तबतक उसे चैन नहीं पड़ती सुख नहीं होता—शान्ति नहीं मिलती, अतः अगत्या (विना रुचिके) वह कार्य उस सरागी मुमुक्षुको करना ही पड़ता है, परन्तु भीतरसे अरुचि या उपेक्षा

---

१. उक्तं च—भावेण होइ लिंगी, ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं, किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥४८॥ भावपाहुड़ कुंदकुंदाचार्य
भावेण होइ णग्गो वाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडी ण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥५४॥
णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।
इय णाणूणय णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥५५॥

सारांश—भावलिंग (सम्यग्दर्शनादिस्वभाव) का होना साध्य (मोक्ष) का साधक है। इसीलिये प्रथम उसको ही प्राप्त करना चाहिये। भावसे जो नग्न है अर्थात् मिथ्यात्वको जिसने पृथक् कर दिया है वही असलमें नग्न है। वाहिरकी नग्नता (वस्त्रादिका त्याग) नग्नता नहीं है। कर्मोंका क्षय भाव-नग्नता ही करती है—द्रव्यनग्नता नहीं करती। अतः भावनग्नताके विना द्रव्यनग्नता मात्र नहीं करना चाहिये ऐसा जानकर हमेशा भावलिंग धारण करे।

ही वेगारीकी तरह वह रखता है। जिसका नतीजा (फल) उसके असंख्यात गुणित निर्जरा प्रति समय होती है।

नोट—वाह्य द्रव्यलिंगके द्वारा यदि भावलिंगीकी परीक्षा न हो सके तो उस हालतमें उसको आहारदान आदि विधिपूर्वक देना चाहिये, उसकी मनाही नहीं है तथा वह दाता मिथ्यादृष्टि नहीं हो जाता किन्तु परीक्षा होनेके पश्चात् यदि वह द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि सिद्ध हो जाय तो वह पात्रदानकी श्रेणीमें शामिल नहीं हो सकता। करुणादानकी दृष्टिसे उसको साधारण विधिसे (नवधा भक्तिसे नहीं) आहार दिया जा सकता है व देनेसे दाता मिथ्यादृष्टि नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन ये दोनों श्रद्धापर अवलम्बित हैं, बाह्य क्रियापर अवलम्बित नहीं हैं ऐसा समझना चाहिये। करुणाभावसे हर किसीको दान दिया जा सकता है। परन्तु स्थापना निक्षेपसे सभी आदरणीय हैं, पात्रोंकी श्रेणीमें शामिल हैं, यह, सागारधर्मामृतका 'भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत्' वाक्य श्लोक नं० ६४ अध्याय २ माननीय नहीं हो सकता—यतः वह शिथिलाचार पोषक है, भावोंकी प्रधानतापर आघात करता है। इसी तरह द्रव्यचारित्र व भावचारित्रमें भी भेद है लेकिन दोनों भेद सम्यग्दर्शनधारीमें ही बन सकते हैं। खुलासा इस प्रकार है—(१) सम्यग्दर्शन साथमें रहते हुए जो व्रतादिकरूप आचरण उस पदसे अधिककषायकी मन्दताके कारण करता है परन्तु कषायका अभाव नहीं हुआ है उसका वह चारित्र, द्रव्यचारित्र कहलाता है और (२) जो चरित्र कषायके नष्ट हो जानेपर वैसा होता है वह भावचारित्र कहलाता है। इसीका नाम (१) द्रव्य संयम व (२) भाव संयम है इत्यादि। इसके विपरीत जो चारित्र या संयम मिथ्यादर्शन सहित होता है वह मोक्षमार्गकी गिनतीमें नहीं आता। उसके बावत लिखा है कि—

असंजदं ण वंदे वत्थविहीणं च तो ण वंदिज्जे।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥२६॥ दर्शनपाहुड़

अर्थ—भावलिंग (सम्यग्दर्शन) के बिना असंयमी (स्वेच्छाचारी) और अवस्त्रधारी अर्थात् नग्नवेषी, दोनों ही समान हैं—संयमी नहीं, सवस्त्र हैं अतएव वन्दनीय भी नहीं हैं। वन्दनीय संयमी ही होते हैं अर्थात् जबतक सम्यग्दर्शनरूप भावलिंग न हो तबतक नग्नपनामात्रको अर्थात् द्रव्यलिंगको संयमपना प्राप्त नहीं हो सकता वह असंयमी ही कहलाता है। फलतः भावलिंग रहित द्रव्यलिंगधारीको संयमी कहना अनुचित है भूल है। इसी तरह अकेला द्रव्यसंयम (सम्यग्दर्शन विना) भी वन्दनीय या आदरणीय नहीं होता, वास्तविक निर्णय तो यही है। किन्तु उपचारसे अथवा द्रव्यनिक्षेपसे जो सम्यग्दृष्टि होकर आगे-आगेके गुणस्थानोंका संयम पहिले अभ्यासरूपसे पालता है, वह भी द्रव्यसंयमी कहलाता है लेकिन वह द्रव्यसंयमी सम्यग्दर्शन सहित होनेसे कथंचित् वन्दनीय है परन्तु मिथ्यादर्शन सहित संयमी कदापि वन्दनीय नहीं हैं क्योंकि वह मोक्षमार्गी नहीं है यह सारांश है। श्री कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्योंके निर्णयको न मानकर मनचाहा निर्णय करना, भावुकतामें आकर यद्वातद्वा कहना करना और उसको ठीक मानना मिथ्यात्व है, जिज्ञासाके विरुद्ध है उससे बाज आना चाहिये, सम्यग्दृष्टिको वैसा कदापि नहीं करना चाहिये, अन्यथा वह स्वेच्छाचारी महापातकी समझा जावेगा इसका ध्यान रहे—उत्सूत्री मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं, देवगुरु

शास्त्रके श्रद्धानी ही सम्यग्दृष्टि होते हैं यह नियम है। हाँ, बिना जाने समझे यदि ऊपरी चरणानुयोगके अनुसार लिंग (द्रव्यलिंग) वाजवी हो तो उसके प्रति उदारता भक्ति दिखलाई जा सकती है, क्योंकि मन्द कषायके समय स्वभावतः वैसा होना संभव है किन्तु परीक्षा होनेके बाद जैसी पात्रता हो वैसा ही वर्ताव करना उचित है—बुद्धिमत्ता है, किम्बहुना। परीक्षाप्रधानता सम्यग्दृष्टिका पहिला गुण है, जो होना ही चाहिये। इस विषयमें विवाद करना निरर्थक है, कषायको पुष्ट करना है या अज्ञानता है। केवल शास्त्रोंको पढ़ लेना मात्र विद्वत्ता या ज्ञानता नहीं है अपितु रहस्यको समझना या भावभासना होना ही ज्ञानता व विद्वत्ता है।

नोट—आगम या शास्त्रका सही अर्थ तभी लगाया जा सकता है जबकि शब्दार्थ, वाच्यार्थ, नयार्थ, मतार्थ आदि ५ पाँच वातोंका वोध हो, अतएव जिज्ञासुको उसका पुरुषार्थ सदैव करना चाहिये।

तपके भेद प्रभेद

मूलमें तपके २ दो भेद हैं (१) वहिरंगतप और उसके अनशनादि छह भेद। (२) अन्तरंगतप और उसके प्रायश्चित्तादि ६ छह भेद।

तपका निरुक्ति अर्थ

'तप्यते मुमुक्षुभिरिति तपः' अर्थात् मोक्षार्थी भव्य प्राणी जो तपते हैं—कर्मोंकी निर्जरा करते हैं—शुद्धात्मस्वरूपका आलम्बन करते हैं या उसका स्वाद लेते हैं, उसको तप कहा जाता है। इसका उद्देश्य—पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे संयोगीपर्यायमें मौजूद अशुद्ध-आत्माको ध्यानाग्निके द्वारा (उपयोगकी स्थिरता या निर्विकल्पताके द्वारा) जैसे सुवर्णगत अशुद्धताको अग्निक्रिया द्वारा निकाला जाता है वैसा निकालना या दूर करना है। जबतक संयोगीपर्याय रहती है, तबतक परद्रव्यका संयोग पूर्णरूपसे नहीं छूटता क्रम-क्रमसे छूटता है। और बिना सम्पूर्ण संयोग छूटे मुक्ति नहीं होती यह नियम है। यद्यपि भेदज्ञानके साथ-साथ होनेवाले वैराग्यसे अरुचिरूप (विचारसे) परद्रव्यका संयोग संवंध छूट जाता है (स्वामित्व छूटता है) परन्तु उसका संयोगसम्बन्ध (सत्तारूपस्थिति) नहीं छूटता वह साथ-साथ बना रहता है, अतएव मुक्ति नहीं होती। ऐसी स्थितिमें वह चरणानुयोगके अनुसार त्यागी नहीं माना जा सकता, वह सरासर अत्यागी, अव्रती, असंयमी है। तथा निमित्तकारणताकी दृष्टिसे उन निमित्तोंका त्याग करना भी जरूरी है अनिवार्य है—जिनसे कषायोंकी उदीरणा होती है और एकत्व विभक्तरूप नहीं बनता, किम्बहुना। उभयशुद्धि—अन्तरंग बहिरंग दोनों परसंयोगोंका अभाव होना अनिवार्य है। उसका एक साधन तप वतलाया गया है।

आचार्य बहिरंग तपके भेद वतलाते हैं।

अनशनमवमोदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्यम् ॥१९८॥

पद्य

भोजनत्याग और कम खाना एकान्ते सोना रहना ।
रसका त्याग देहका ताड़न संख्या व्रतकी तय करना ॥
ये हैं छह तप बाहिर दिखते, इनको करना पहिले है ।
आत्महितैषी कर सकता है, क्रम-क्रमसे पग धरता है ॥१९८॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अनशनमवमोदर्यं] अनशन (उपवास) व ऊनोदर (थोड़ा आहार करना) [विविक्तशय्यासनं रसत्यागः] एकान्तवास (रहना) और एकान्तमें सोना, ध्यान लगाना एवं रसोंका त्याग करना [च कायक्लेशः वृत्तेः संख्या] शारीरिक परीषह सहन करना (शरीरको आराम नहीं देना) नियमोंका लेना—घर आदिकी अटपटी प्रतिज्ञा लेना (जब ऐसा मिलेगा तभी आहार लेंगे अन्यथा नहीं इत्यादि) [इति बाह्यं तपः निषेव्यम्] इन उपर्युक्त ६ छह बहिरंग तपोंको धारण करना चाहिये क्योंकि वे मोक्षके अंग (साधन) हैं ॥१९८॥

भावार्थ—तप आत्मशुद्धिका निमित्त कारण है, क्योंकि इच्छाओं या राग आदि विकारोंके न होनेसे ही (वीतरागता आने पर ही) आत्मा शुद्ध होतो है अर्थात् उसका परद्रव्य (कर्म नोकर्म रागादि व धनादि) से सम्बन्ध छूटता है। बस वही 'परद्रव्यसे भिन्नताका नाम' आत्मशुद्धि है। फलतः परद्रव्यसे अरुचिका होना (स्वामित्व छूटना) व उसका त्याग करना तप कहलाता है ॥१९८॥

इन सबका स्वरूप बतलाया जाता है।

(१) अनशन अर्थात् उपवास[1]—जिसमें कषाय (रागादि), विषय—पंचेन्द्रियोंके भोग और अशन-खाद्य-स्वाद्य-पेय, इन चार प्रकारके आहारोंका त्याग हो उसको उपवास कहते हैं। यह चतुर्थ भक्त (१ उपवास), षष्टभक्त (२ उपवास) आदि अनेक रूप होता है।

(२) ऊनोदर (अवमौदर्य)—खुराकसे कमती खाना-पीना, ऊनोदर कहलाता है इसमें आकुलता या संक्लेशता कम करनेका लक्ष्य रहता है।

(३) विविक्तशय्यासन—एकान्त व निरुपद्रव स्थानमें रहना, सोना, ध्यान धरना विविक्त-शय्यासन तप कहलाता है। इसमें भी निराकुलता प्राप्त करनेका लक्ष्य रहता है—रागादिक कम करनेका प्रयोजन रहता है।

(४) रसत्याग—नीरस भोजन करनेको, अर्थात् मनचाहा रसका त्याग करके उस बिना भोजन करनेको रसत्याग तप कहते हैं। इसमें रसनेन्द्रियको वशमें रखना मुख्य प्रयोजन रहता है तथा गर्त्तपूरण वृत्ति या चर्याका प्रदर्शन-परिचय मिलता है, यह कठिन तप है। बिना कषाय कम हुए यह नहीं हो सकता।

---

१. उक्तं च—कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ॥ —उपासकाध्ययन।

(५) कायक्लेशतप—इसमें परीषह सहन करना मुख्य रहता है। शरीरका संस्कार करना, उसे आराम देना बन्द रहता है। यह निर्ममत्वकी निशानी है। जबतक वह सहायता करता है तबतक उसको खुराक दी जाती है पश्चात् बन्द कर दी जाती है।

(६) व्रत्तिपरिसंख्यानतप—इसमें भवितव्य पर निर्भर रहा जाता है, रागादिक छोड़ दिये जाते हैं। अटपटी प्रतिज्ञा पूरी होनेपर आहार लेना, अन्यथा नहीं लेना, यह कितना कठिन कार्य है। परन्तु वह भी परिणमनके अनुसार पूर्ण होता है। और पूर्ण न होनेपर हर्ष-विषाद नहीं करता, सन्तुष्ट रहता है यह बड़ी विचित्र बात है।

इन छह बहिरंग तपोंको बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि भी कर सकता है व कर लेता है अतएव इनको बहिरंग तप कहते हैं। इनका सम्बन्ध कषायोंकी मन्दतासे या तीव्रतासे रहता है किन्तु विरागतासे या अरुचिसे सम्बन्ध नहीं रहता क्योंकि मिथ्यादृष्टिके भी कषायोंकी दोनों (तीव्र व मन्द) दशायें हुआ करती हैं। परन्तु अन्तरंग तप, सिर्फ सम्यग्दृष्टि विवेकी विरागीके ही होता है, जो वस्तुके यथार्थ स्वरूपको समझता है कि क्या हेय है, क्या उपादेय है व क्यों है इत्यादि सभी बातोंको जानता है। ज्ञान व वैराग्य ये दोनों आत्माके गुण व स्वभाव हैं। अतः उनपर लक्ष्यका जाना आत्महितके लिए है। परसे उन्मुखता हटना (उपयोग हटना) और स्वोन्मुखताका होना (अपनी ओर आना) यह महान् कार्य है।

नोट—रागादि अन्तरंग परिग्रहके हटनेसे बाह्यपरिग्रह अपने आप हट जाता है अर्थात् उसका अरुचि होनेसे ग्रहण ही नहीं किया जाता और पुराना भी विना चाहके चला जाता है (त्याग देता है) यह नियम है ऐसा समझकर अन्तरंग परिग्रह (रागादि) का त्याग करना ही चाहिए, उसमें आगा-पीछा सोचनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह अपनी चीज है (स्वाश्रित है) उसका उपयोग कभी भी किया जा सकता है—वह अपराध नहीं है न अन्याय है, किम्बहुना। विवेकसे कार्य करना चाहिये, जिससे लाभ हो, हानि न हो इत्यादि।

आगे आचार्य अन्तरंग तपोंका वर्णन करते हैं।

विनयो वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरंगमिति ॥१९९॥[1]

पद्य

विनय और वैयावृत दोनों प्रायश्चित और उत्सर्ग।
स्वाध्याय अरु ध्यान छहों ये अन्तरंग तप जानो दुर्ग[2] ॥
इनके होते कर्मशत्रु नहिं आपाते आतम [3]निःसर्ग।
जो कुछ पहिले घुसे हुए थे—उन्हें हटा देता अपवर्ग[4] ॥ १९९ ॥

---

१. प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥ त० अ० ९.।
२. किला या कोट रक्षक।
३. स्वयं स्वभावतः।
४. मोक्ष-निर्वाण।

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [विनयो वैय्यावृत्यं] विनय और वैयावृत्य [तथा प्रायश्चित्तं उत्सर्गः] प्रायश्चित्त और उत्सर्ग (त्याग) [अथ स्वाध्यायः ध्यानं] और स्वाध्याय एवं ध्यान [इति अन्तरंगं तपः निषेव्यं भवति] ये छह अन्तरंग तप हमेशा धारण करने योग्य हैं—यथा-शक्ति धारण करना चाहिये ॥ १९९ ॥

भावार्थ—तप क्या है ? आत्माकी रक्षा करनेके लिये कोट व किलेके समान है अर्थात् जिस प्रकार कोट व किलेके मौजूद रहते शत्रु या चोर डाकू भीतर प्रवेश नहीं कर पाते और सुरक्षित जानमाल रहता है। ठीक उसी तरह तपोंके रहते समय, कर्मशत्रु आत्माके पास नहीं आ पाते, न हानि पहुँचा सकते हैं (संवर रहता है) यह आश्चर्यकारी घटना है, आत्मरक्षाका अपूर्व उपाय है। तप क्या है ? वैराग्यभाव है, इच्छाओंका निरोध है जो संवररूप है।

प्रत्येकका स्वरूप बताया जाता है।

(१) विनय नामक अन्तरंग तप—सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होने पर ही यह हो सकता है। कारण कि जिसको पूज्य-पूजक या उपास्य-उपासक अथवा हेय-उपादेयका ज्ञान न हो वह क्या विनय कर सकता है एवं किसकी विनय कर सकता है ? यह विचारणीय है। सम्यग्दृष्टि जीव ही निश्चयरूपसे—दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-उपचार ये पाँच विनय करता है तथा वह धर्मानुरागसे (धर्मात्माओंकी) निःस्वार्थ विनय करता है—स्वार्थवश नहीं। मिथ्यादृष्टि स्वार्थवश विनय करता है और वह महा अहंकारी (मानी) होता है—वह जातिपाँति और विद्याका महान् घमंड रखता है किन्तु स्वार्थवश विना श्रद्धाके कभी-कभी झुकता है, हृदयसे नहीं कहा जा सकता। गुणाधिकों एवं संयमीजनोंकी आवभगत करना चित्तमें प्रसन्नताका होना मानकषायका अभाव होना, विनयतप कहलाता है। विनययोग्य उपर्युक्त पाँच प्रकार हैं, विनय कषायकी मन्दतासे होती है—गुणग्राहकतासे भी होती है, अस्तु। विनयके दो भेद होते हैं (१) निश्चयविनय (आत्माका विनय), (२) व्यवहार विनय (शरीरका विनय), तीर्थवन्दना आदि सब उपचार विनय है।

(२) वैय्यावृत्यतप—यह भी सम्यग्दृष्टिके ही होना संभव है जो विवेकी और गुणग्राहक होता है। सेवासुश्रूषा आदि करना वैयावृत्य कहलाता है। उसमें अनेक कार्य शामिल हैं। धर्मानुरागसे वह भक्तिवश वैसा कार्य करता है किन्तु उसको वह हेय ही समझता है, बन्धका कारण मानता है, अतः भीतरसे अरुचि रखता है क्योंकि वह सम्यग्दर्शनमें दोष या अतिचार है। फलतः निश्चयनयसे, मोक्षमार्ग या मोक्षमार्गीकी वैयावृत्ति करना उचित है और व्यवहारनयसे उनके शरीरादिकी भी सेवावृत्ति करना कथंचित् उचित है, संयोग सम्बन्धके नाते वैसा करना चाहिये। उससे पुण्यबंध होता है, पापबंध नहीं होता, जो गृहस्थके लिये प्रायः हितकर है। शुद्ध आहारका देना—औषधि देना आदि सब इसीमें शामिल है।

(३) प्रायश्चित्ततप—सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है क्योंकि उसीको यह ज्ञान होता है कि 'यह अपराध है' और इसकी शुद्धिका यह उपाय है, इत्यादि—प्रायश्चितके १० भेद माने गये हैं। सम्यग्दृष्टि हमेशा अपराध छुड़ानेका प्रयत्न करता है—निरपराध रहना चाहता है, वही सबसे

बड़ा अपराध (मिथ्यात्व) पहिले छुड़ाता है। बिना ज्ञानके अपराध छूटता ही नहीं है। अपराध छूटनेका उपाय—वीतरागविज्ञानता है दूसरा नहीं, ऐसा समझना चाहिए।

(४) उत्सर्गतप—शरीरादिसे ममत्व छोड़ना उत्सर्गतप कहलाता है। अथवा प्रासुक भूमि आदिमें मलमूत्रादिका त्याग करना, जिससे जीवघात न हो, जीवोंकी रक्षा हो इत्यादि यह भी प्राण व इन्द्रियसंयम है। अथवा—परिग्रहादिका त्यागना उत्सर्गतप है (अन्तरंग बहिरंग दोनों परिग्रहका त्याग करना)।

(५) स्वाध्यायतप—आत्मस्वरूपका चिन्त्वन करना—स्व और पर (आत्मा व शरीर) का भेद जानना तथा परसे रागादि छोड़ना इत्यादि। यह वाचना-पृच्छना-अनुप्रेक्षा-आम्नाय-धर्मोपदेशके भेदसे पाँच प्रकारका होता है।

(६) ध्यानतप—यह चित्त या मनको एकाग्र या स्थिर करनेसे होता है। उसके आर्त्त-रौद्रधर्मशुक्ल चार भेद कहे गये हैं। परन्तु यहाँ सम्यग्दृष्टिका सम्बन्ध होनेसे धर्मध्यान व शुक्ल-ध्यानका ही सम्बन्ध समझना चाहिए। असली तप वही है, जिससे कर्मोंका संवर व निर्जरा हो।

आगे उपसंहाररूपसे अणुव्रती श्रावकका कर्त्तव्य यथाशक्ति (योग्यतानुसार) सकल चारित्र (मुनिव्रत) पालनेका भी है, यह बताते हैं।

जिनपुंगवप्रवचने[1] मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य[2] निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

पद्य

मुनियोंका आचरण कहा है जैसा श्री जिनवाणीमें।
शक्ति और निजपदको लखकर वह भी करना मनुभवमें[3] ॥
विन संयमके जीवन खोना, नहीं सनातन रीति है।
सम्यग्दृष्टि वह कैसा है जिसे न संयम प्रीति है ॥२००॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [जिनपुंगवप्रवचने] सर्वज्ञदेवद्वारा कथित जिनागम (जिन वाणी) में [मुनीश्वराणां यदाचरणमुक्तम्] जो मुनियोंका आचरण (कर्त्तव्य) कहा गया है [एतदपि निजां पदवीं शक्तिं च सुनिरूप्य निषेव्यम्] वह भी अपना पद व योग्यता (सामर्थ्य) को देखभालकर क्रमशः पालन करना चाहिये, क्योंकि श्रावक (अणुव्रती) ही उसको पालता है या पालनेका अधिकारी है ॥ २०० ॥

भावार्थ—अणुव्रत धारण करनेके पश्चात् ही महाव्रत धारण किया जाता है ऐसा नियम

१. जिनवाणी।
२. विचारकर या देखकर।
३. मनुष्यपर्याय।

है। तव जो श्रावक (अणुव्रती) अणुव्रत या देशचारित्र पालनेमें परिपक्व हो गया हो, उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने पद (कक्षा या दर्जा) तथा शक्ति (योग्यता) के अनुसार महाव्रत (मुनिव्रत)को भी क्रमशः धारण करे क्योंकि विना उसके मोक्ष नहीं होता। निश्चयसे मुनिव्रत (पूर्णवीतरागता) ही मोक्षका मार्ग है, दूसरा नहीं है। व्यवहारसे वाह्यव्रताचरणरूप शुभरागको भी मोक्षका मार्ग माना जाता है परन्तु वह सत्य नहीं है। मनुष्यजन्म (पर्याय) की सफलता मुनिव्रत धारण करनेपर ही होती है। अतएव उसका अभ्यास व पालन करना अनिवार्य है, परन्तु पद और योग्यताको देखकर ही कदम उठाना हितकर हो सकता है अन्यथा नहीं। कोरी भावुकता या देखादेखीमें आकर ऊँचा कार्य कर वैठना और पीछे भ्रष्ट हो जाना वुद्धिमानी नहीं है—अज्ञानता है। संयम व चारित्रका धारण करना मंदिरपर सोनेका कलशा चढ़ाना है, संयम वड़े महत्त्वकी चीज है परन्तु वह संयम सम्यग्दृष्टि ही पालन कर सकता है मिथ्यादृष्टि तो उसके स्वरूपको भी नहीं जानता तव पालेगा क्या? सम्यग्दृष्टिके ६३ गुण होते हैं। उनका कथन स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२६ में किया है जिनका उल्लेख पहिले किया गया है।

इस विषयमें उपयोगी गाथा

गिण्हदि मुंचदि जीवो वे सम्मत्ते असंखवाराओ।
पढमकषायविणासं देशवयं कुणदि उक्कस्सं ॥३१०॥ स्वा० का०

अर्थ—जीव दो सम्यक्त्वको अर्थात् उपशम व क्षयोपशम सम्यक्त्वको तथा अनंतानुवंधी कषाय और देशव्रत (अणुव्रत) को असंख्यातवार ग्रहण करता व छोड़ता है (मुक्त नहीं होता संसारमें घूमता रहता है)। अतएव ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे संसारका घूमना छूट जाय (वंद हो जाय) और वह उपाय एकमात्र क्षायिकसम्यग्दर्शनके साथ महाव्रतको (मुनिव्रतको) धारण पालन करना है। फलतः क्षायिकमहाव्रत अवश्य धारण करना चाहिये अर्थात् मुनिदीक्षा अवश्य लेना चाहिये तभी मनुष्य जीवनकी सफलता हो सकती है लेकिन वरायनाम नहीं किन्तु यथार्थरूप, शक्तिको देखकर मुनिदीक्षा लेना चाहिये यह निष्कर्ष है। यह रूप नकली नहीं होना चाहिये, क्योंकि नकल असलका मुकावला नहीं कर सकता यह नियम है। यदि शक्ति व योग्यता न हो तो कभी धारण न करे, उसकी श्रद्धा या रुचि ही हमेशा रखे, जिससे कमसे कम सम्यग्दृष्टि तो वना रहे, भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि न हो जाय किम्वहुना विचार किया जाय, ढोंग या पाखंड वुरा होता है। उच्चता प्राप्त करनेको लालायित तो रहे परन्तु योग्यताको पहिले देख लेवे तभी कार्यकारी है। चरणानुयोगकी पद्धतिसे वाह्य आचरण ऊँचा रखना कर्तव्य है जो प्रत्याख्यानावरण कषायके अभावमें हो सकता है क्योंकि सकलसंयम या महाव्रतकी घातक वही है।

नोट—क्षायिकसम्यग्दर्शन और क्षपकश्रेणीके साथ मुनिपद ही संसारसे छूटनेका एकमात्र उपाय है—उससे ही अनंतानुवंधी कषाय एवं उपर्युक्त दोनों सम्यग्दर्शन (उपशम व क्षयोपशम) छूट जाते या समाप्त हो जाते हैं तभी मुक्ति होती है अर्थात् अणुव्रत, उपशमक्षयोपशम सम्यग्दर्शन, अनंतानुवंधी कषायका सद्भाव, (उपशमादिरूप या उदयरूप अस्तित्व) मोक्षका

साक्षात् कारण (उपाय) नहीं है। अतएव उतने मात्रमें सन्तुष्ट या कृतकृत्य नहीं हो जाना चाहिये आगेका (क्षायिक सम्यक्त्व व महाव्रतादि प्राप्त करनेका) पुरुषार्थ बन्द नहीं कर देना चाहिये यह तात्पर्य है।

संक्षेपमें क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान) क्षायिकचारित्र (परमयथाख्यात) के हुए विना मोक्ष नहीं होता व संसार नहीं छूटता ॥ २०० ॥

आगे—उत्कृष्टश्रावक (मुनिव्रतका उम्मीदवार) का और क्या-क्या कर्त्तव्य है यह बताया जाता है।

(षडावश्यक पालना)

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम् ॥ २०१ ॥

पद्य

समता स्तुति वन्दन तीनों, और प्रतिक्रमण भी करना।
प्रत्याख्यान क्रियाका करना तनुममत्वका भी तजना॥
ये छह आवश्यक कर्म कहे हैं इनका करना नितप्रति है।
श्रावक अरु मुनि दोनों करते अवशकार्य[1] यह निश्चित है॥ २०१ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [समता-स्तव-वन्दनाप्रतिक्रमणम्] समता, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, [च प्रत्याख्यानं, वपुषो व्युत्सर्गः] और प्रत्याख्यान व शरीरसे ममत्व छोड़ना [इति इदमावश्यकषट्कं कर्त्तव्यम्] इस प्रकार ये छह आवश्यक (नियमित कार्य) अवश्य-अवश्य श्रावकको करना चाहिये—अन्तर नहीं देना चाहिये ॥ २०१ ॥

भावार्थ—मोक्षरूपी फलकी प्राप्तिके लिये पेश्तर भूमिका तैयार करना अनिवार्य है। जब तक भूमिकाशुद्धि नहीं होती तबतक कोई भी बीज फल नहीं देता। तदनुसार उक्त छह आवश्यक नित्य कर्त्तव्यके रूपमें निरन्तर करनेसे आत्मशुद्धि होती है अर्थात् आत्मामें से विकारी या अशुद्धभाव निकलते हैं और शुद्ध (वीतराग) भाव या विशुद्धभाव (शुभरागरूप) प्रकट होते हैं, जिनसे जीवका कुछ भला (हित) होता है या उसकी योग्यता वढ़ती है—वह मोक्षको प्राप्त करनेके लिये समर्थ होता है। उनका स्वरूप निम्न प्रकार है।

(१) समताभाव—सब जीवोंके प्रति राग और द्वेषका त्याग करना अथवा मैत्री धारण करना, यह मन्दकषाय या वैराग्यका फल है उससे संवर और निर्जरा होती है। अतः अभ्यासरूप से वह करना ही चाहिये श्रावक व मुनिका वह नित्य कर्त्तव्य है, अनिवार्य ड्यूटी है। मानसिक क्रिया है।

---

१. अनिवार्य—अवश्य ही करनेयोग्य कार्य—अन्तराय विना करना चाहिये।

(२) स्तवभाव--धर्मानुरागसे पूज्य या महान् आत्माओंकी स्तुति करना--गुणानुवाद करना स्तव कहलाता है, इससे आदत सुधरती है भक्ति प्रकट होती है। कषायकी मन्दता होती है। इत्यादि वाचनिक क्रिया है।

(३) वन्दनाकर्म--पूज्य पुरुषोंको नमस्कार करना, पाँव पड़ना यह विनय है तथा कायिक क्रिया है। इससे पुण्यवंध होता है, आस्तिकता जाहिर होती है।

(४) प्रतिक्रमण—किये हुए दोषों—अपराधोंका पश्चात्ताप करना अर्थात् उनसे अरुचि या ग्लानि करना, अपनी भूल मनाना इत्यादि। यह शुभ लक्षण है, उदासीनताकी निशानी है। संवर होता है। सारांश यह कि कृतपापों या अपराधोंका स्वामित्व छोड़नेसे भेदज्ञान होनेसे ही वह सव होता है।

(५) प्रत्याख्यान—जिन दोषों या अपराधोंसे घृणा या अरुचि हुई हो—उनका आगेको त्याग कर देना, प्रत्याख्यान कहलाता है। इससे संवर व निर्जरा होती है। यह कर्त्तव्यशूरता है, करके दिखाना है। आत्मबलकी स्फूर्ति है, जो परका स्वामित्व छोड़नेसे होती है।

(६) वपुषो व्युत्सर्ग—शरीरसे भी ममत्व त्यागना--निर्मोह होता है। क्योंकि बाह्य परिग्रहोंमें सवसे बड़ा परिग्रह अपना शरीर है, जो पुराने साथी-दासके समान है। जीवका उसीसे सारा काम लिया जाता है—उसके बिना कुछ होता नहीं है; अतः उससे बड़ा ममत्व या राग रहता है। तव उससे ममत्व छोड़ना वड़ा कठिन है। लेकिन त्यागी वैरागी पर जानकर उससे भी ममत्व छोड़ देते हैं और घोर परीषह सहन करते हैं, आहार पानी आदि कुछ नहीं देते इत्यादि यह कठोर तपस्या है, संवर-निर्जराकी भूमिका है, अतः उत्कृष्ट श्रावकका यह क्रमशः अवश्य ही दैनिक कर्त्तव्य है—आवश्यक है ॥ २०१ ॥

आगे उत्कृष्ट श्रावकका और क्या कर्त्तव्य है, यह वताया जाता है।

तीन गुप्तियोंका पालन करना

सम्यग्दंडो वपुषः सम्यग्दंडस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दंडो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम् ॥२०२॥

पद्य

मन वच तनको वशमें करना, गुप्तित्रय कहलाता है।
गुप्तिकरनसे योगत्रयका अवरोधन हो जाता है॥
आस्रव और वध रुकता है, योगत्रयके रोधनसे।
उससे लक्ष्य होत है पूरा, व्रतियोंका त्रय सेवनसे ॥२०२॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [वपुषः सम्यग्दंडः तथा वचनस्य सम्यग्दंडः च मनसः सम्यग्दंडः] शरीरका नियन्त्रण करना (गति अवरोध होना) वचनका नियन्त्रण करना (वोलना वन्द करना) और मनको स्थिर करना (नियन्त्रण करना चंचलता रोकना) [गुप्तीनां त्रितयमव-

गम्यम्] ये तीन गुप्तियाँ कहलाती हैं, इनसे आत्माकी रक्षा होती है अर्थात् कर्मोंका नवीन आस्रव (आना) नहीं होता अथवा संवर होता है ॥२०१॥

भावार्थ—गुप्तिका अर्थ रक्षा होता है। सो वह रक्षा तीन तरहसे होती है अर्थात् (१) मनकी चंचलताको रोकनेसे अर्थात् मनको स्थिर करनेसे आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन नहीं होता जो योग कहलाता है, तब प्रकृति व प्रदेश नामक कर्मका आना-बँधना नहीं होता (संवर होता है)। इस तरह मनोगुप्तिसे आत्माकी रक्षा (बचाव) होती है। (२) वचनगुप्ति—शब्दोंका प्रयोग अर्थात् उच्चारण न करनेसे (मौनालम्बनसे) आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन नहीं होता—तब कर्मोंका आना बन्द हो जाता है। इस तरह आत्माकी रक्षा होती है। (३) कायगुप्ति—आवागमन या आकुंचन प्रसारण आदि कायकी क्रिया बन्द हो जानेसे आत्माके प्रदेशोंमें कम्प नहीं होता, जिसके फलस्वरूप, कर्मोंका आना बन्द हो जाता है, बस यही आत्मरक्षा है। ऐसी स्थितिमें, भविष्यमें (आगे) व वर्त्तमानमें लाभ होनेके नाते तीनों गुप्तियोंका पालना अत्यावश्यक है, संवर-निर्जराका कारण है।

प्रश्नोत्तरके रूपमें आस्रव और बन्धका भेद

आस्रव और बन्ध युगपत् होता है तथापि भेद है अर्थात् लक्षण जुदे-जुदे हैं। कार्माण द्रव्यका आना आस्रव कहलाता है। और कार्माण द्रव्यका द्वितीयादि समय तक ठहरना बन्ध कहलाता है, यह भेद है।

निष्कर्ष—जो द्रव्य आकर तुरन्त चली जाय, द्वितीयादि समयों तक न ठहरे, वह ईर्यापथ आस्रव रूप हैं बन्ध रूप नहीं है उसको बन्ध ही नहीं कहा जा सकता। वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३३ की टीकामें देख लेना ॥२०२॥

आगे—पाँच समितियोंका पालना भी श्रावकका कर्त्तव्य है यह बताया जाता है।

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपो व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ॥२०३॥

पद्य

भलेप्रकार देखशोधनकर, प्रवृत्ति समिति कहलाती है।
पाँचभेद उसके होते हैं—मुनिजनके मन भाती है॥
ईर्या भाषा भोजन सम्यक् ग्रहण त्याग ये पाँचों नाम।
इनका पालन है आवश्यक—पुण्यबंध होता है आम[1]॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा] सावधानीपूर्वक अच्छी तरह देखभालकर जाना आना, जिसमें जीव न मरें, अच्छे हितकारक वचन बोलना [तथा सम्यक्

१. साधारण सबको होता है।

एषणा, सम्यक् ग्रहनिक्षेपः सम्यक् व्युत्सर्गः] और अच्छी तरह शुद्ध भोजन करना, अच्छी तरह देख शोधकर उपकरण आदिको उठाना धरना, निर्जन्तु स्थानमें मलक्षेपण करना (टट्टी पेशाब आदि करना) [इति समितिः पंच] ये पाँच समितियां होती हैं। व्रतीको इनका पालना अनिवार्य है ॥ २०३ ॥

भावार्थ—इन पाँच समितियोंके पालनेका उद्देश्य एकमात्र जीवरक्षा करनेका है। अच्छी तरह सावधानीपूर्वक अर्थात् प्रमाद छोड़कर कार्य या प्रवृत्ति करनेसे जीवोंका घात (हिंसा) नहीं होता, उससे पुण्यका बंध होता है—सदाचार बढ़ता है, लोक प्रतिष्ठा होती है। हिंसाका न होना अहिंसाव्रत पालना है, जो परमधर्म रूप है। यहाँपर दयापरिणाम या करुणाभावको 'धर्म'में शामिल किया गया है जो व्यवहारनयका कथन है। निश्चयनयसे शुभरागका होना भी अहिंसा नहीं है कारण कि उससे स्वयं जीवके स्वभावभावका घात होता है। निश्चयनयसे रागद्वेषका पूर्ण अभाव होना (वीतरागता आना) ही 'परम अहिंसा' धर्म है। परन्तु व्यवहारनयसे समितियों का पालना भी धर्मायतन है (प्रशस्त रागरूप है) ऐसा समझना चाहिये। कहीं-कहीं व्युत्सर्गके स्थानमें 'प्रतिष्ठापना' समिति लिखा है, खाली नामभेद है, अर्थभेद नहीं है किम्बहुना। शुभकार्यमें प्रवृत्ति होना भी व्रत या धर्म कहलाता है और अशुभसे निवृत्ति होना भी व्रत या धर्म कहलाता है ऐसा समझना चाहिये यह लोकाचारकी बात है, अस्तु, सागारधर्मामृत अध्याय २ में देखो ॥२०३॥

आगे श्रावकको दश धर्मोंका पालना अनिवार्य बताते हैं।

प्रत्येकका लक्षण

धर्मः[1] सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिञ्चन्यं[2] ब्रह्म त्यागश्च[3] तपश्च संयमश्चेति ॥२०४॥

पद्य

क्षमा मार्दव आर्जव तीनों, सत्य शौच दोनों पहिचान।
आकिञ्चन्य ब्रह्म अरु त्यागः तप संयम ये दश परिमान॥
धर्म नाम है इनका भाई इनसे होत आत्मकल्यान।
अतः इन्हींका पालन करना व्रतियोंका कर्त्तव्य प्रधान॥ २०४॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [क्षान्तिःमृदुत्वं ऋजुता शौचं अथ सत्यम्] क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य ये पाँच [च आकिंञ्चन्यं ब्रह्म त्यागः तपः संयमश्चेति] आकिञ्चन्य,

---

१. उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपत्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥ अ० ९ त० सू०।
२. परिग्रहका बिलकुल (पूर्ण) त्याग हो जाना अर्थात् किंचित् (रंचमात्र) भी परिग्रहका न रहना।
३. दान देना।

ब्रह्मचर्य, त्याग, तप, संयम ये पाँच कुल दश [धर्मः सेव्य] धर्म सेवन करने अर्थात् पालनेके योग्य हैं, व्रतियोंको अवश्य पालना चाहिये ॥ २०४ ॥

भावार्थ—उपर्युक्त दश धर्म, जो बाह्य आलम्बन रूप हैं अर्थात् बाह्य निन्द्य क्रियाओं (असत्प्रवृत्तियों) को त्यागकर प्रशस्त क्रियाओंके करने रूप हैं (सदाचार रूप हैं शुभ प्रवृत्ति रूप हैं) उसको व्यवहार धर्म कहा गया है जो पुण्यबंधका कारण है। अतएव हीनावस्थामें अथवा सराग या संयोगीपर्यायमें, चरणानुयोगकी पद्धतिके अनुसार उनका पालना श्रावकका मुख्य कर्त्तव्य है क्योंकि उससे अधिक (वीतरागतारूप शुद्ध) धर्म, वह उस अवस्थामें धारण ही नहीं कर सकता, यह नियम है। फलतः पापबंधका न होना और पुण्यबंधका होना यह क्या कम है? नहीं है—विशेष है।

प्रत्येक धर्मका लक्षण निम्न प्रकार है।

(१) क्षमा (क्षान्ति) धर्म—सहनशीलताका नाम या क्रोधका न होना ही क्षमाधर्म कहलाता है। परन्तु उसकी पहिचान या सच्चा परिचय (परीक्षा) तब होता जब कि क्रोध (विकार) उत्पन्न होनेके कारण उपस्थित हों परन्तु सामर्थ्य रहते हुए भी (प्रतीकार करनेकी शक्ति रहते हुए भी) क्रोध न किया जाय और न उसका बदला दिया जाय। अर्थात् असमर्थ या तुच्छ जीवों (प्राणियों) के द्वारा शक्तिशाली जीवोंको व्यर्थ सताये जानेपर भी (मारना बांधना गाली देना, कंकर पत्थर मारना रूप बाधा देनेपर भी) क्रोध कषायको जीतनेके कारण जरा भी उन शक्तिहीन या क्षुद्र प्राणियोंके प्रति न क्रोध उत्पन्ना न उनको दंड देना, यह क्षमाका सही परिचय है। इसके विपरीत शक्तिशाली जीवोंके द्वारा उपद्रव या बाधा देनेपर यदि कोई शक्तिहीन जीव बाहिर कुछ भी नहीं करता न कहता है, परन्तु भीतर उसका परिणाम बिगड़ रहा है—बदला लेनेकी भावना हो रही है तो वह उत्तमक्षमा गुणका धारी नहीं है न उसको क्षमावाला कहना चाहिये। इसीलिये 'जँह असमत्थय दोष खमिज्जइ' इत्यादि क्षमाका लक्षण लिखा गया है। क्षमा धर्मको, पृथ्वीकी उपमा दी गई है। जैसे पृथ्वीपर कुछ भी डालते रहो या उपद्रव करते रहो परन्तु वह चुप (शांत) रहती है बदला नहीं लेती इत्यादि समझना। क्षमा धर्मकी घातक क्रोधकषाय होती है, उसके अभावमें क्षमा होती है, यह क्षमा आत्माका बड़ा गुण और भूषण है, अस्तु। निश्चयसे जबतक जीवको स्वोन्मुखता नहीं होती, परोन्मुखता ही रहती है तबतक उत्तम क्षमा (अपूर्वक्षमा) हो ही नहीं सकती वह सम्यग्दृष्टिके ही होती है।

(२) मार्दवधर्म—मान कषायके अभावमें होता है। मार्दवका अर्थ विनयका होना है—कठोरता या अहंकारताका छूटना है। जबतक आत्मामें पृथ्वीकी तरह कठोरता रहती है, तबतक उसमें बीज डालनेसे नहीं ऊगता न फल देता है। मानी आदमी किसीको कुछ नहीं समझता, उसको किसीकी शिक्षा नहीं लगती यहाँ तक कि उसको अपनी आत्माका भी आदर (गौरव) नहीं होता हमेशा निरादर करता रहता है, उसका कल्याण नहीं होता। अतएव मानकषायको त्यागकर मार्दव गुणका धारण करना अनिवार्य है। निश्चयसे मार्दवधर्म (आत्माका आदर व विनय करना) सम्यग्दृष्टिके ही हो सकता है, मिथ्यादृष्टिके नहीं।

(३) आर्जवधर्म—सरलताका होना, कुटिलता या मायाचारका छूटना आर्जव कहलाता है। मायाकषायके अभावमें यह प्रकट् होता है। यह गुण बड़ा उपकारी है। इसके हुए विना ऋजुगति (सीधापन) नहीं होती, हमेशा टेड़ी-मेड़ी तिर्यंचगति होती रहती है, अस्तु। सरलता प्राप्त अवश्य करना चाहिये। निश्चयसे आत्मस्वरूपके प्रति सरलता (सीधा उपयोगका जाना) सम्यग्दृष्टिके ही होती है।

(४) शौच धर्म—पवित्रता या निर्लोभताका होना कहलाता है अथवा पवित्रता या वीतरागता प्राप्त होना शौच धर्म है। यह लोभ कषायके अभावमें होता है। यह अन्तरंग और बहिरंग दो तरहका होता है। (१) अन्तरंगशौच, लोभ कषायका छूटना है और (२) बहिरंग-शौच, शरीर, वस्त्र, वर्तन, खानपान आदिकी शुद्धता करना है। यथायोग्य दोनों प्रकारका शौच धर्म पालना कर्त्तव्य है, अस्तु। सम्यग्दर्शनके प्राप्त हुए विना पवित्रता नहीं आती यह निश्चय है या सत्य है।

(५) सत्यधर्म—महाझूठ-कठोर-अरुचिकर-दुःखकर, निंदनीय, पाप उत्पादक वचनोंका त्याग करनेसे पलता है। यह सामान्यतः कषायों व नोकषायोके अभावमें या मन्दोदयमें होता व पलता है। असत्य बोलना महान् अपराध है, तीव्र पापबंधका कारण है, अस्तु। चार तरहका असत्य होता है वह वर्जनीय है। लक्षण पहिले पाँच पापोंके प्रकरणमें बतलाया जा चुका है श्लोक नं० ९१-९२ आदिमें देखना चाहिए।

(६) आकिञ्चन्यधर्म—अन्तरंग बहिरंग परिग्रहके छूट जाने पर होता है अर्थात् किंचित् भी परिग्रह इसके होने पर नहीं रहता—निष्परिग्रहता हो जाती है। इसके हुए बिना मुक्ति नहीं होती यह नियम है। अ + किंचन अर्थात् पासमें कुछ भी नहीं रखना या रहना, अकिंचनव्रत या धर्म कहलाता है।

(७) तपधर्म—इच्छाओंके रोकनेको तप कहते हैं। जबतक इच्छाएँ अर्थात् राग आदि दूर न हों तबतक तप नहीं होता। इसके १२ बारह भेद हैं जो पेश्तर श्लोक नं० १९८ व १९९ में वतला दिये गये हैं। उनसे संवर व निर्जरा होती है। इसका सम्बन्ध मुख्यतया मोहनीय-कर्मसे है।

(८) त्यागधर्म—करुणाभावसे पात्रादिकोंको (धर्मात्मा जीवोंको) दान देना (आहार-औषधि-शास्त्र-वसतिकाका उत्सर्ग करना, मेर मिला देना) त्यागधर्म कहलाता है। इसमें अन्तरंग-दान (त्याग) लोभका छूटना और वहिरंगदान, बाह्य चीजोंसे सम्बन्ध छोड़ना है यह भेद है, दोनों करना चाहिये। आत्माका स्वरूप 'एकत्वविभक्तरूप है' वैसा ही हो जाना त्यागधर्म है।

(९) संयमधर्म—इन्द्रिय व कषायोंका नियंत्रण करना (वशमें करना) असमर्थ या व्यर्थ के कार्योंका छोड़ना, व्रतादिका धारण करना, समितियोंका पालना यह संयम कहलाता है। यह गुण आत्माका है जो कर्त्तव्य है। संयमके इन्द्रियसंयम प्राणिसंयम, या उपेक्षासंयम, परिहृतसंयम आदि अनेक भेद होते है।

(१०) ब्रह्मचर्यधर्म—स्त्रीमात्रका व कषाय (वेद) मात्रका त्याग करनेसे यह धर्म पलता है, यह सर्वोत्कृष्ट धर्म है। इसके दो भेद होते हैं (१) अणुब्रह्मचर्य (अणुव्रतरूप अर्थात् देशचारित्र)। (२) महाब्रह्मचर्य (महाव्रतरूप पूर्णचारित्र)। अथवा अव्रती ब्रह्मचर्य और व्रती ब्रह्मचर्य। व्रतीब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी पाल सकता है और अव्रती ब्रह्मचर्य विद्यार्थी आदि पाल सकते हैं यह भेद है।

नोट—उक्त दश धर्मोंके क्रममें यद्यपि परिवर्तन अनेक जगह पाया जाता है परन्तु संख्या व अर्थमें कोई भेद नहीं है, उद्देश्य सबका एक है—विकारीभावोंको आत्मासे निकालना, अतएव कोई दोष नहीं आता ऐसा समझना चाहिये ॥ २०४ ॥

आगे—१२ बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का पालना भी श्रावकका मुख्य कर्त्तव्य बताया जाता है।

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यता[1]ऽशौचमास्रवो जन्म[2] ।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥ २०५ ॥

पद्य

अध्रुव अशरण एक अन्यता अशुचि आस्रव संसर जान।
लोक धर्म बोधि अरु संवर निर्जर भावन बारह मान॥
ये उपाय उपजावन हारे—रसवैराग्य कहे भगवान्।
जिनका लक्ष्य मोक्ष जानेका इनका करें अवश आह्वान ॥ २०५ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रव जन्म] अध्रुव अर्थात् अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व (ता) अशौच, आस्रव, संसार (जन्म) ये सात तथा [लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः] लोक, धर्म, बोधि (रत्नत्रय) संवर, निर्जरा ये पाँच कुल १२ बारह चीजें [सततमनुप्रेक्ष्याः] हमेशा बारंबार चिन्तवन करने योग्य हैं। अतः इनको अनुप्रेक्षा या भावना कहते हैं ॥ २०५ ॥

भावार्थ—आत्मकल्याणके लिये या संसार शरीर भोगोंसे निवृत्त (पृथक्) होनेके लिये जबतक उक्त बारह प्रकारकी चीजोंका गुणदोष न विचारा जाय तबतक न उनसे अरुचि होती है न त्याग किया जा सकता है। अतएव नीचे उनका स्वरूप बताया जाता है। ये वैराग्यको उपजाती हैं तथा भावनाओंसे विचारों या भावोंमें ताजगी (नवीन स्मृति) रहती है यह लाभ होता है।

(१) अध्रुवानुप्रेक्षा—इसीका नाम अनित्यभावना है। इस संसारमें तन, मन, धन,

---

१. 'एकत्वविभक्त' का नाम ही 'एकत्व अन्यत्व' है —समयसार।
२. संसार॥

यौवन, मकान, दूकान, राज्यसम्पदा, इन्द्रियाँ, उनके विषय—भोगोपभोग आदि समस्त वस्तुयें अध्रुव हैं--विनश्वर हैं, स्थायी या नित्य कोई नहीं हैं अतः उनमें राग या एकत्व स्थापित करना भूल है उनमें अहंकार करना उनका विश्वास करना व्यर्थ है वे सब जलके बबूला या इन्द्रजाल (इन्द्र-धनुष) व विजली बादलोंकी तरह क्षणभरमें विलीन हो जाते हैं, किसी भी तरह वे स्थिर नहीं रह सकते, तब उनमें भूल जाना, आसक्त हो जाना महान् अज्ञानता है। ऐसा समझकर उन सबको छोड़कर एक अपने नित्य आत्माका सदैव चिन्तवन करना लीन होना ही हितकर है।

(२) अशरणभावना--संसारमें कोई किसीका शरण या रक्षक नहीं है, सब व्यर्थकी माया है कोरा भ्रम है। जब मरण या पतन होनेवाला होता है तब बड़े-बड़े कोट किला खाई अस्त्रशस्त्र सेना नौकर धन दौलत आदि नहीं बचा सकते, किसी भी पदार्थमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह किसी अन्यको मार या बचा सके। वस्तुस्थिति (स्वतंत्र स्वसहाय) निश्चयसे ऐसी ही है किन्तु व्यवहारसे इसके विपरीत माना जाता है, जो असत्य है। निमित्त हमेशा निमित्त (मित्र) की तरह ही ऊपरी हमदर्दी करता है, भीतर वह न प्रवेश कर पाता है न कार्य कर पाता है तब उनका बल भरोसा करना व्यर्थ है नहीं करना चाहिये। यह अशरण भावना है। सत्य चिन्तवन है।

(३) एकत्वभावना—हमारा आत्मा परसे भिन्न 'अकेला' है अर्थात् परपदार्थमें तादात्मरूपसे नहीं मिलता सदैव पृथक् रहता है और अपना कार्य स्वयं करता है जो कुछ स्वयं करता है, उसका फल स्वयं भोगता है अतएव परके पीछे भूलकर अपना अहित या अकल्याण करना मूर्खता है—विवेकहीनता है। आत्मा सदैव एकत्व विभक्तरूप है ऐसा चिन्तवन करना एकत्व भावना (अनुप्रेक्षा) है। अपने गुणोंके साथ ही एकता है—स्वचतुष्टयसे अभिन्नता है।

(४) अन्यत्वभावना—आत्मा और सभी द्रव्यें (पदार्थ) परस्पर पृथक्-पृथक् रहती हैं अर्थात् वे भिन्नतारूप शुद्धताको नहीं छोड़तीं, तब उनका कर्तृत्व एक दूसरेको मानना अज्ञानता है अर्थात् न हमारा आत्मा पर (किसी)का कर्त्ता है और न पर कोई हमारा कर्त्ता है खाली निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध परस्पर रहता है, परिणमन सबका स्वतंत्र अपने-अपनेमें है। ऐसा निश्चयसे समझकर कर्तृत्वका अहंकार छोड़ देना सो अन्यत्वानुप्रेक्षा (भावना) है। परचतुष्टयसे भिन्नता मानना बुद्धिमत्ता है।

नोट—एकत्व और अन्यत्वभावनामें विचारोंका भेद है। अर्थात् एकत्वभावनामें अपने गुणपर्यायोंके साथ ही एकता या त्रैकालिक (सदा) अभेद माना जाता है कि हम द्रव्यरूपसे एक स्वतन्त्र (आत्मा) द्रव्य हैं, दूसरी कोई द्रव्य हमारेमें तादातमरूपसे नहीं मिली है अतएव हम अकेले हैं सिर्फ हमारे गुणपर्याय ही हमारे सदा साथी हैं इत्यादि। और अन्यत्वभावनामें परसे भिन्नता या परके साथ अभेदका निषेध किया जाता है। अर्थात् स्वचतुष्टयके साथ एकत्व और परचतुष्टयके साथ भिन्नत्वका विचार किया जाता है ऐसा भेद दोनोंमें समझना चाहिये। 'एकत्व विभक्त' का ही दूसरा नाम 'एकत्व अन्यत्व' है—शब्द भिन्न-भिन्न हैं अर्थ दोनोंका एक है। वस्तुका अनादिनिधनस्वरूप ऐसा ही है।

(५) अशुचित्वभावना—शरीर स्वभावसे अशुचि है—मलमूत्रादिका पिंड है (कूड़ागृह जैसा है) उसमेंसे सदैव मल नवद्वारों द्वारा बहता रहता है और आत्मा शुचि या निर्मल है फिर दोनोंकी एकता हो नहीं सकती एवं शरीरके पीछे आत्माको अशुचि (अपवित्र) मानना मूलमें भूल है ऐसी स्थितिमें शरीरको मल-मलकर साफ करनेसे शरीरका ऊपरी मल छूट सकता है किन्तु भीतरी मल नहीं छूट सकता, न आत्माका मल (रागादिविकार) छूट सकता है। अतः आत्मशुद्धिके विना शरीरकी शुद्धिसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता ऐसा जानना। फलतः आत्मशुद्धिका उपाय सदैव करना चाहिये व आत्मामें ही आस्था (श्रद्धा) रखना चाहिये, शरीरमें नहीं, यह तात्पर्य है।

(६) आस्रव भावना—नवीन कर्मोंका आना 'आस्रव' कहलाता है जो हेय है। अतएव योग व कषायके दूर करनेका हमेशा प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि दोनोंके निमित्तसे कर्मास्रव होता है। आस्रवके मूलमें दो भेद होते हैं (१) द्रव्यास्रव। (२) भावास्रव। कार्माण द्रव्यका आना द्रव्यास्रव कहलाता है और रागादिविकारी भावोंका आना (प्रकट होना) भावास्रव कहलाता है जिसके ५७ भेद होते हैं। मिथ्यात्व ५, अविरत १२, कषाय २५, योग १५, कुल ५७ भेद समझना। प्रमादका अन्तर्भाव कषायमें होता है। निश्चयसे 'आत्माके प्रदेशोंका कंपन होना' आस्रव कहलाता है जो द्वाररूप है। वार-बार आस्रव न होनेका विचार करना व प्रयत्न करना अनुप्रेक्षा कहलाती है। आस्रव कारणरूप है और बंध कार्यरूप है ऐसा समझना। सूक्ष्मभेद श्लोक नं० २०२ में प्रश्नोत्तररूपसे बताया गया है।

(७) संसारानुप्रेक्षा[1]—संसारके स्वरूपका चिन्तवन करना, उसकी बुराइयोंकी ओर स्मरण करना, ध्यान रखना। ऐसा करनेसे संसारसे विरक्ति होती है और उसका उपाय विवेकीजन करने लगते हैं, जिससे हित होता है। मोक्ष प्राप्तिका यह एक साधन है।

(८) लोकानुप्रेक्षा—षट् द्रव्यात्मक लोकका स्वरूप व उसकी रचनाका विचार करना लोकानुप्रेक्षा (भावना) कहलाती है। यह लोक स्वयं ही बना है, किसीने इसे बनाया नहीं है, यह अनादिनिधन है, नित्य अकृत्रिम है तथा न इसकी रक्षा कोई करता है न इसका विनाश कोई करता है, इसके सभी कार्य (पर्यायें) स्वतः सिद्ध (सहज स्वभाव) होते हैं। अन्य मतावलंबियों जैसा इसका कर्त्ता-भर्त्ता-हर्त्ता कोई नहीं है (त्रिशक्तिवाला ईश्वर आदि)। फलतः वस्तुका स्वतंत्र परिणमन समझ किसीपर रागद्वेष नहीं होता—संतोष रहता है। व्यवहारसे नैमित्तिकता मानी जाती है। दृश्यमान लोक पुद्गल द्रव्यकी पर्यायें हैं।

(९) धर्मानुप्रेक्षा—धर्मका अर्थात् वस्तुके स्वभावका चिन्तवन करना धर्मानुप्रेक्षा कहलाती है। अथवा व्यवहारधर्म (उत्तमक्षमादि अनेकप्रकार)का चिन्तवन करना भी धर्मानुप्रेक्षा है। निश्चय व व्यवहारधर्मके चिन्तवनसे ग्रहण व त्याग करनेकी भावना होती है और वैसा करता भी है।

---

१. पंचपरावर्तनका स्वरूप आगे बतलाया जायेगा जो संसाररूप है।

(१०) बोधि अनुप्रेक्षा—रत्नत्रयधर्मका नाम 'बोधि' है अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रको 'बोधि' कहते हैं। उसके प्राप्त होनेका बारंबार चिन्तवन करना; क्योंकि वह दुर्लभ रत्न (वस्तु) है, वह अवश्य प्राप्त करना चाहिये। उसके विना मनुष्यजीवन निष्फल है ऐसा समझना चाहिये।

(११) संवरानुप्रेक्षा—कर्मास्रवको रोकना या रुकना संवर कहलाता है उससे संसारकी वृद्धि नहीं होती, कमी ही होती है। उसका बारंबार ध्यान व चिन्तवन करनेसे आत्महितकी ओर झुकाव होता है, आस्रवके कारणोंको छोड़ता है, अपना कर्त्तव्य पालन करता है।

(१२) निर्जरानुप्रेक्षा—कर्मोंकी निर्जराका विचार करना मुक्तिके लिये अनिवार्य है। अतएव निर्जराके उपायोंका बार-बार चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा कहलाती है। उससे निर्जराका स्वरूप और उसके भेदोंका परिज्ञान होता है जो आत्माके हितमें समझा जाता है।

नोट—उपर्युक्त सभी अनुप्रेक्षाओंका बार-बार चिन्तवन करना चारित्र प्राप्तिका साधन है। अतएव चारित्रके भीतर ही उनका अन्तर्भाव होता है। चारित्रके प्रकरणमें कहे गये सभी प्रकारों का उपयोग चारित्रमें ही किया जाता है ऐसा समझना चाहिये। भावनाका अर्थ या उद्देश्य सिर्फ विचार करनेका नहीं है किन्तु विचारोंको शिथिल या विस्तृत न होने देना है अर्थात् जगाते रहना है (मंत्रकी तरह)। उससे स्मृति ताजी रहकर आत्माको अपने कर्त्तव्य पालनकी ओर प्रेरित करती है तथा यथाशक्ति वैसा त्यागादि कराती भी है। अतएव भावनाका अर्थ कार्य करना (क्रिया) भी होता है ऐसा समझना चाहिये ॥ २०५ ॥

आगे—२२ बाईस परीषहोंका पालना श्रावकका कर्त्तव्य बतलाते हैं।

बाईस परीषहोंका स्वरूप

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशो मसकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमंगमलम् ॥ २०६ ॥
स्पर्शश्च तृष्णादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या बधो निषद्या स्त्री ॥ २०७ ॥
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥ २०८ ॥

पद्य

क्षुधा तृषा अरु जाड़ा गर्मी नग्न याचना रति [1]हानि।
बाधा मसकादिककी जानो निन्दा रोग दुःख [2]खानि ॥ २०६ ॥

---

१. अलाभ—लाभ नहीं होना।
२. स्थान या घर।

मलशरीर स्पर्श तृणादिक अज्ञ अदर्शन अरु प्रज्ञा।
आदरभेंट शयन अरु चर्या ताड़न सासन अरु भोग्या[1] ॥ २०७ ॥
ये हैं बाइस परीषह पूरे करतव इनको सहना है।
विना क्लेश हर्षसे सहना भय नहिं इनसे करना है ॥ २०८ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनाऽरतिरलाभः] भूख-प्यास, जाड़ागर्मी, नग्नपना (दिगम्बरवेष) याचना, (भिक्षा—विना बुलाए जाना), रतिः (अप्रीति होना), अलाभ (आहारादिका न मिलना) तथा [मसकादीनां दंशः आक्रोशः व्याधिदुःखमंगमलम्] डांसमच्छर आदिका काटना, निन्दाकारक या कटुवचन सुनना, रोग बीमारीका दुःख (पीड़ा) होना, शरीरमें मलका लग जाना, और [तृणादीनां स्पर्शः अज्ञानं अदर्शनं प्रज्ञा] काँटा व कड़ाघास कंकर पत्थर आदिका चुभना, कमती ज्ञानका होना, ऋद्धि आदिका उत्पन्न होना, क्षयोपशमिक इन्द्रियाधीन ज्ञानका होना, तथा [सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधः निषद्या स्त्री] आदर सत्कारका या भेंटका न मिलना विस्तरादि न मिलना, मार्गके चलनेमें थकावटका होना या चलनेकी शक्ति न होना, दुष्टजनों द्वारा मारा, पीटा जाना, बैठनेकी जगह ठीक न होना, ऊबड़खाबड़ कष्टप्रद रहना, स्त्री सम्बन्धी बाधाका होना [एते द्वाविंशतिः परीषहाः] ये सब बाईस परीषह (बाधायें) हैं सो [संक्लेशनिमित्तभीतेन संक्लेशमुक्तमनसा सततं परिषोढव्याः] जो श्रावक या मुनि संक्लेशता होनेके निमित्तोंसे दूर रहता है अर्थात् संक्लेशताके निमित्त नहीं मिलाता तथा स्वयं संक्लेशता रहित होता है, उसको उक्त बाईस परीषह सहन करना ही चाहिये उसका मुख्य कर्त्तव्य है कि इनको सहन करे ॥ २०६।२०७।२०८ ॥

भावार्थ—दुःखों, कष्टों, बाधाओंके उपस्थित होनेपर विना संक्लेशताके प्रसन्नताके साथ सहन करना परीषहजय कहलाता है। यह कार्य बड़ा कठिन है, सरल नहीं है, इसको वीतरागी या मन्दकषायीजीव (मुमुक्षु) ही कर सकते हैं—रागीद्वेषी आरामी जीव नहीं कर सकते यह नियम है। तभी तो एक वीतरागी मुनिके एक साथ १९ परीषह उपस्थित होनेपर भी सहन कर लेते है, यह बड़ा आश्चर्य है। उस समय विरोधी ३ तीन परीषह नहीं रहतीं, जैसे कि शीत व उष्ण इन दोमेंसे एक ही रहेगी, १ घट जायगी, तथा शय्या-चर्या-निषद्या इन तीनमेंसे एक समय १ ही रहेगी, २ दो घट जायेंगी, इस तरह २२मेंसे ३ तीन घट जानेपर १९ ही शेष रहती हैं ऐसा समझना चाहिये।

कुछ विशेषताएँ—नग्नपरीषह अर्थात् नग्न होनेपर दुःख व लज्जा व भयका होना स्वाभाविक है, परन्तु वीतरागीके सब विकारीभाव नष्ट हो जाते हैं अतएव कोई भय लज्जा आदि नहीं होते, वह निर्विकार बालककी तरह हो जाता है। उसके मनमें कोई विकल्प नहीं उठते, जिससे कोई आकुलता या दुःख नहीं होता यह विशेषता पाई जाती है। चारित्र मोहकर्मके उदयमें बाधा होती है।

---

१. स्त्री परीषह।

याचना परीषह अर्थात् विना निमंत्रण या विना बुलाए भोजनार्थ परघर जानेमें बड़ा संकोच व लज्जा होती है, यह स्वाभाविक कार्य है गृहस्थाश्रममें रहनेवालेको ऐसा करते समय महान् दुःख व संक्लेशता होती है, और भरसक वह वैसा नहीं करता—मर जाना पसंद करता है। परन्तु वीतरागी मुनि, अपमान, लज्जा, संकोच, मान आदिकी कोई परवाह न कर (मनमें विकार न लाकर) निर्विकल्प या निःशल्य होकर परघर भोजनार्थ जाता है, यह वड़ी विचित्रता है। उसको वैसा करनेमें दुःख (आकुलता चिन्ता) नहीं होता। गजवका त्याग है व वीतराग-भाव है।

प्रज्ञापरीषह—क्षायोपशमिकज्ञानका नाम प्रज्ञा है। यह क्षायोपशमिकज्ञान प्रायः सभी संसारी जीवोंके रहता है और उसके द्वारा पूर्ण ज्ञान नहीं होता, साथमें रागादिक मौजूद रहनेसे अल्पज्ञताका दुःख भी होता है कि 'हम कुछ नहीं जानते' हम बड़े मूर्ख हैं इत्यादि अथवा कुछ अतिशयरूप ज्ञान (अवधि आदि)के होनेपर अहंकारका होना संभव है। परन्तु उन सबसे वह पृथक् रहता है, कोई चिन्ता या विकल्प नहीं करता, समभाव धारण करता है वह बड़ा धीरवीर होता है ऐसा समझना चाहिये। वह वस्तुस्वभावका सच्चा ज्ञाता है। यही तो ज्ञानीके ज्ञानकी विशेषता है साथमें वैराग्य त्यागका होना इत्यादि।

२२ परिषहोंका संक्षेप स्वरूप

(१) क्षुधापरीषह—असाताकर्मके उदय या उदीरणाके समय संयोगीपर्यायमें भूख लगती है अर्थात् खानेकी इच्छा (कषाय) उत्पन्न होती है और जबतक पूर्ति न हो तबतक आकुलता (दुःख विकल्प) एवं बेचैनी बनी रहती है, बस यही क्षुधापरीषह (बाधा) है। उसको त्यागी वैरागी जीव जीतते हैं अर्थात् विना संक्लेशताके सहन करते हैं, जिसका फल नवीन कर्मबंधसे बचाना होता है, संवर-निर्जरा होती है। इसका जीतना सरल नहीं है, परन्तु साधुका यह कर्त्तव्य है सो वे करते हैं।

(२) तृषापरीषह—भूखकी तरह प्यासकी बाधा भी होती है। उस समय विना संक्लेशताके उसको सहन कर लेना, तृषापरीषहजय है। उस समय रागद्वेषादि विकारीभाव न होनेसे संवर-निर्जरा होती है। गर्मी आदिके दिनोंमें या प्रकृतिविरुद्ध भोजन मिलनेमें यह बाधा अवश्य होना संभव है, परन्तु कर्त्तव्यवस उसको सहन किया जाता है।

(३) शीतपरीषह—जाड़ा या शीत (ठंड)की बाधा उपस्थित होनेपर भी संक्लेशता या दुःखका अनुभव नहीं करना अथवा दुःखी नहीं होना, न उसका प्रतीकार करना और खुशी-खुशी विना रागद्वेष किये उसको सह लेना, शीतपरीषहजय कहलाता है यह व्रतियोंका कर्त्तव्य है।

(४) उष्णपरीषह—गर्मी पड़ने या लगनेके समय बाधा (पीड़ा)का होना स्वाभाविक है किन्तु त्यागीव्रती निर्मोहतासे उसको उपचार किये विना समताभावसे सह लेते हैं, संक्लेशता नहीं करते जो उनका कर्त्तव्य है।

(५) नग्नपरीषह—चारित्रमोहके तीव्र उदय रहते हुए एक उंगलीको भी उघड़ा रखना

असंभव या कठिन है, फिर इकदम पूर्ण शरीरपरसे सब वस्त्रोंको त्याग देना और लज्जा व संकोचका न होना बड़ी वीरता है—समदृष्टि है, वीतरागताकी निशानी है। इस महान् परीषहको सहन करना महात्माओंका ही काम है, उसका पालन करना उनका कर्त्तव्य है। वे निर्विकार बालककी तरह रहते व आचरण करते हैं।

(६) याचनापरीषह—दूसरेसे माँगना या विना वुलाए आहारार्थ दूसरेके घर जाना, याचना कहलाता है। ऐसा करनेमें जीव अपनी तौहीनी या मानहानि समझता है। यदि कदाचित् उसे वैसा करना ही पड़े तो उसको महान् दुःख होता है, कारणकि चारित्रमोहके उदयमें वह संभव नहीं है। परन्तु साधुव्रतीके मनमें वह मान इतना कमजोर (मन्द या क्षीण) हो जाता है कि परघर विना वुलाये जाते समय रंचमात्र भी अपमानका अनुभव नहीं होता—संक्लेशता या विकल्प नहीं होता, बिना रागद्वेष किये जाते हैं। रागीद्वेषी जीव वैसा नहीं कर सकते। माँगना बड़ी वुरी बला है। हाँ साधुव्रती भोजनके उद्देश्यसे ही चर्या करते हैं किन्तु दीनता नहीं दिखाते—न मुँहसे माँगते हैं (मौन रखते हैं), न इशारा करते हैं, न बिना आदर दिये (नवधा भक्ति विना) आहार लेते हैं यह बड़ी महानता है। इससे मालूम पड़ता है कि वे भाग्यकी परीक्षा करनेका मुख्य लक्ष्य रखते हैं और भोजनका लक्ष्य गौण रखते हैं, वह भी उपेक्षावृत्तिसे, गर्त्तपूरणन्यायसे, हर्ष-विषाद नहीं करते। बस यही परीषह (याचना) जय कहलाता है।

(७) अरतिपरीषह—पूर्वके भोगे हुए भोगों या क्रीड़ाओंका स्मरण होना, उनमें राग या प्रीति होना स्वाभाविक है किन्तु साधुमुनि इतने निर्मोह हो जाते हैं कि उस तरफ ख्याल ही नहीं करते, न प्रतीकार करते हैं इष्ट व अनिष्ट सब समताभावसे रागद्वेष किये बिना सह लेते हैं। यह परीषह चारित्रमोहके उदयसे ही होती है परन्तु वह मन्द या क्षीण हो जाता है। यही अरति परीषहका जय है कि अनिष्ट व इष्टमें दुःख नहीं मनाता।

(८) अलाभ परीषह—जब कोई चीज इच्छानुसार प्रयत्न करने पर भी रागीद्वेषीको नहीं मिलती है तब उसको महान् दुःख होता है, यह स्वाभाविक बात है। परन्तु साधुमुनिको इच्छा होने पर यदि कोई वस्तु (आहारादि) नहीं मिलती है तो वे दुःख नहीं मनाते, सहन कर लेते हैं। यही अलाभपरीषहजय है।

(९) दंशमशकपरीषह—मच्छरवगैरहके काटने पर स्वभावतः दुःख उत्पन्न होता है किन्तु शरीरादिसे निर्मोही त्यागियोंको डांसमच्छरखटमल आदि द्वारा काटे जाने पर भी वे दुःखका वेदन नहीं करते और समताभावसे वे पीड़ा सह लेते हैं। बस यही परीषहका जय है।

(१०) आक्रोशपरीषह—आक्रोशका अर्थ निन्दा है। जब कोई जीव रागद्वेषी (मोही) की निन्दा करता है तब उसको स्वभावतः दुःख होता है किन्तु वीतरागी विपरीत (विकारके) कारणोंके उपस्थित होने पर भी (दुष्टों द्वारा निन्दा मारन ताड़न किये जाने पर भी) मनमें संक्लेशता नहीं लाते—दुःख नहीं मनाते सब समताभावसे सह लेते हैं। यही परीषह जय है।

(११) रोगपरीषह—वीमारी आदिके होने पर मोही जीवोंको बड़ा दुःख व संक्लेशता होती है और उसके प्रतीकारके लिये औषधि आदि वे करते हैं परन्तु निर्मोही साधु कोई औषधि

नहीं करता, न रोग उपस्थित होने पर घबड़ाता है, न दुःखका अनुभव करता है—वह वस्तुका परिणमन समझ संतुष्ट रहता है। यही रोगपरीषहका जय है।

(१२) मलपरीषह—शरीरमें मैल आदि लग जाने पर मोही जीव कष्टका अनुभव करते हैं, दुःख मनाते हैं, उसको छुटाते या दूर करते हैं, हमेशा शरीरकी स्नानादि द्वारा सफाई करते हैं, किन्तु निर्मोही साधु त्यागी यह कुछ नहीं करते, मलकी बाधाको समताभावसे सह लेते हैं। यही मलपरीषहका जय है। वे शरीरका संस्कार कतई नहीं करते, उनका वह मूलगुण है।

(१३) तृणस्पर्शपरीषह—नग्नशरीर व नग्नपाँवोंके होने पर कड़ाघास या उसके डठुआ, काँटा, कंकर, पत्थर की बाधा स्वभावतः होती है किन्तु निर्मोही साधुव्रती उसकी परवाह न करके समताभावसे सह लेते हैं, अर्थात् दुःख नहीं मानते, परत्वकी भावना रखते हैं अतएव उससे राग नहीं करते। यह तृणस्पर्शपरीषह है।

(१४) अज्ञानपरीषह—ज्ञानावरणीकर्मके कमती क्षयोपशम होने पर, यदि चिरकाल तक, स्वाध्याय, तत्त्वोपदेश आदिका निमित्त मिले और विशेष ज्ञान न हो तो मोही जीवको स्वभावतः दुःख उत्पन्न होता है। लेकिन निर्मोही साधुके यदि विशेषज्ञान न हो तो वह दुःख नहीं मनाता कारण कि वह वस्तुके परिणमन पर विश्वास करता है, कि जब जैसा होना है वैसा ही होगा अन्यथा नहीं हो सकता। यह अज्ञानपरीषह जय है।

(१५) अदर्शनपरीषह—चिरकालतक कठिन तपस्याके करनेपर भी यदि कोई ऋद्धि आदिका अतिशय प्रकट न हो तो मोही जीवको दुःख उत्पन्न हो सकता है, किन्तु जो साधु निर्मोही रहते हैं, वे बिलकुल दुःख या खेद नहीं मनाते समभाव धारण करते हैं, वस्तुके परिणमनपर वे विश्वास करते हैं, सन्तुष्ट रहते हैं। यही अदर्शनपरीषह जय है।

(१६) प्रज्ञापरीषह—बुद्धिका पूर्ण विकाश होनेपर अर्थात् ज्ञानावरणकर्मके विशेषक्षयोपशम-से बुद्धिमें अतिशय प्रकट होजानेपर सूक्ष्मतत्त्वादिको समझनेकी योग्यता प्राप्त होजानेपर, किसी किस्मका अहंकार नहीं होना समताभाव रखना, प्रज्ञापरीषहजय कहलाता है। रागी द्वेषी जीव मोहबस थोड़े-थोड़े उत्कर्ष होनेपर मान अहंकार करने लगते हैं यह विशेषता रहती है।

(१७) आदरसत्कारपरीषह—यदि कोई किसीका आदरसत्कार (सन्मान) न करे तो रागीद्वेषी मोही जीवको स्वभावतः दुःख उत्पन्न हो जाता है। किन्तु वीतरागी साधु अपमान होने-पर या आदरसत्कार न होनेपर दुःख नहीं मनाते–समभावसे सहलेते हैं। भवितव्यपर निर्भर रहते हैं कि ऐसा ही होना था उसे कौन टाल सकता है ? सन्तुष्ट रहते हैं।

(१८) शय्यापरीषह—यदि सोनेमें बाधा आजाय, ठीक स्थान या विस्तर आदि न मिले तो आरामी परिग्रही जीवको दुःख उत्पन्न होजाता है किन्तु वीतरागी साधु कंकर पत्थरवाली जमीनपर भी थोड़ा सो जाते हैं और दुःखका वेदन नहीं करते–समताभावसे सहन कर लेते हैं। यह शय्यापरीषहजय है।

(१९) चर्यापरीषह—दूर-दूरसे आनेमें व थकावट होनेमें रागीद्वेषी जीवोंको स्वभावतः

दुःख होता है। परन्तु निर्मोही साधु वैसा होनेपर दुःख नहीं मानता अपना कर्त्तव्य समझकर समताभावसे सह लेता है, बस यही चर्यापरीषहजय है।

(२०) बध (ताड़न) परीषह—दुष्ट क्रूर अधर्मी मनुष्यों द्वारा सताये जानेपर या ताड़नादि किये जानेपर रागी द्वेषी जीवोंको स्वभावतः क्रोधादि उत्पन्न होता है परन्तु वीतरागी साधु उसे सह लेता है क्रोध आदि विकार नहीं करता न दुःख ही मानता है यह बड़ी विजय है, कषायोंपर काबू पाता है।

(२१) निषद्यापरीषह—एकान्त निर्जन स्थानोंमें जंगलोंमें अंधकार सहित कुन्द गुफाओंमें, हिंसक जीवोंके स्थानोंमें, व्यन्तरादिके निवास स्थानोंमें, श्मशान आदिमें रहकर या ध्यान लगाकर भी दुःख या भय न करना समताभावसे सह लेना, निषद्यापरीषह कहलाता है, धन्य है इतनी निर्मोहताको, तभी कर्मोंकी निर्जरा होती है। संसार-शरीरभोगोंसे विरक्तिकी यही निशानी है।

(२२) स्त्रीपरीषह—स्त्रियोंके हावभावभ्रूकटाक्षादि देखकर रागी द्वेषी जीव विकारमय हो जाते हैं। इस वेदकर्मका जीतना बड़ा कठिन है किन्तु वीतरागी महात्मा बिलकुल विचलित नहीं होते न दुःख या पीड़ाका अनुभव करते हैं, यह विशेषता है, यह बड़ी अग्निपरीक्षा है।

इस प्रकार श्लोक नं० १९८से लगाकर २०८तक सभी कर्त्तव्योंको निरतिचार (त्रुटिरहित) पालना व्यवहार चारित्र कहलाता है (६९भेद होते हैं) सो ऐसा निर्दोष व्रतधारी एकदेश मोक्षमार्गी माना जाता है, जिसका खुलासा आगेके श्लोक नं० २०९से लगाकर किया जारहा है (किया गया है) उसको बाजवी समझना चाहिये ॥ २०८ ॥

दसवाँ अध्याय

(अन्तिम निष्कर्ष)

आचार्य उपसंहाररूप कथन करते हुए मुमुक्षुको कर्त्तव्य पालन करनेका क्रम बतलाते हैं।

इति रत्नत्रयमेतत् प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन ।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता ॥ २०९ ॥

पद्य

जो श्रावक यह चाह करत है, मुक्ति मुझे प्रापत होवे ।
उसका यह कर्त्तव्य कहा है, रत्नत्रय को वह सेवे ॥
चाहे वह अपूर्ण ही होवे, तौ भी धारण है करना ।
क्रम-क्रमसे पूरण होता है, मुक्तिरमा अन्तिम वरना ॥ २०९ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [अनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषता गृहस्थेन] निरंतर निराबाध व नित्य मुक्ति (मोक्ष) को चाहने वाले श्रावकको चाहिये (उसका कर्त्तव्य है) कि [प्रतिसमयं विकलमपि एतत् रत्नत्रयं परिपालनीयम्] वह विकल अर्थात् अपूर्ण (रागादि विकार सहित) रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र) को भी धारण-पालन करे, जैसा कि पेश्तर बतलाया गया है, क्योंकि उसके बिना मुक्ति नहीं होती यह नियम है ॥ २०९ ॥

भावार्थ—मोक्षकी अभिलाषा करने वाले (मुमुक्षु) जीवोंका कर्त्तव्य है कि वे पेश्तर मोक्षके मार्ग (सम्यग्दर्शनादित्रय) को प्राप्त करें, अर्थात् मोक्षका उपाय अपनावें, तभी उसकी प्राप्ति हो सकती है, अकेले चाह करनेसे कुछ नहीं होता। ऐसी स्थितिमें चाहे वह रत्नत्रय पेश्तर अपूर्ण (विकल) ही क्यों न प्राप्त हो परन्तु उसको प्राप्त करना ही चाहिये (अनिवार्य है) बिना उसको प्राप्त किये कुछ नहीं होता—वह मूलधन है। यद्यपि निश्चयनयसे अविकल अर्थात् पूर्ण रत्नत्रय ही साक्षात् मोक्ष प्राप्तिका मार्ग या उपाय है तथापि प्रारम्भमें वह रत्नत्रय विकल (अपूर्ण) ही प्राप्त होता है, पश्चात् वह सकल अर्थात् संपूर्ण या समग्र होता है ऐसा नियम है।

प्रश्न—विकल और सकल (अविकल) का क्या अर्थ है ? इसका उत्तर इस प्रकार है कि 'विकल अर्थात् अपूर्ण, जो कि रागादिक विकारोंके साथ रहते हुए पूरा नहीं हो सकता है। तदनुसार विकलका अर्थ रागादि मल या विकार सहित, जो साक्षात् मोक्षका मार्ग नहीं होता किन्तु तवतक बंध होता रहता है। और 'अविकल' का अर्थ पूर्ण अर्थात् रागादिसे रहित, वीतराग,

---

१. अपूर्ण या असमग्र, न्यून—एकदेश, त्रुटि सहित, हीन इत्यादि।

क्योंकि वह साक्षात् मोक्षका मार्ग है ऐसा समझना चाहिये। यह कर्त्तव्य सरागी श्रावकका पहिला है, पश्चात् क्या करना चहिये, यह आगे बताया जायगा। विशेष खुलासा—विकलका दूसरा अर्थ—एकदेश भी होता है, वह दर्शन ज्ञान चारित्र सभीमें लगता है। जघन्य भी उसीका अर्थ होता है। फलतः विकल-अपूर्ण-असमग्र-एकदेश-जघन्य इत्यादि शब्द एकार्थबाचक हैं। अकेला-सकल-पूर्ण-सर्वदेश-उत्तम इत्यादि सब एकार्थवाचक हैं ध्यान रखा जावे।[1]

नोट—अन्य मतावलंबियोंने मोक्षके दो भेद माने हैं (१) सालोकमोक्ष (स्वर्गरूप), (२) निरालोकमोक्ष (आवागमनसे रहित निरत्ययरूप)। परन्तु जैनशासनमें सालोकमोक्ष (स्वर्ग) नहीं माना गया है क्योंकि वह तो संसारका ही एक भेद है, वह निराबाध (जन्म मरणादिसे रहित) नहीं है किन्तु बाधासहित और अनित्य है अतएव वह मोक्षरूप भी नहीं है। जैन लोगोंको यह भ्रम मिटा देना चाहिये। रत्नत्रयकी विकलता रहते हुए मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता, स्वर्ग प्राप्त हो सकता है। अतएव प्रश्न होता है कि रत्नत्रयकी पूर्णता कौन कर सकता है अर्थात् रत्नत्रयको पूर्ण करनेकी पात्रता (योग्यता) किसमें है यह बताया जावे ? उसका उत्तर आगेके श्लोकमें दिया जा रहा है। कि निश्चयसे रत्नत्रयकी पूर्णता या समग्रता, जबतक रागादिकका अर्थात् मोहनीकर्मका सद्भाव (अस्तित्व) रहता है या घातियाकर्मोंका बंध होता रहता है, तबतक नहीं होती चाहे वह मुनिपद धारी ही क्यों न हो जाय। असलमें जहाँ घातिया कर्मोंका आस्रव और स्थिति–अनुभाग बंधका होना बन्द हो जाता है वहीं, रत्नत्रय पूर्ण हो जाता है। विना स्थिति–अनुभागके अघातिया कर्मोंका बंध तो नाममात्रका बंध है (आस्रव रूप ही है) उससे हानि (स्वभावका घात) नहीं होती ऐसा समझना चाहिये॥ २०९॥

नोट—आस्रव और बंधका भेद पेश्तर बताया जा चुका है वैसा ही यहाँ भी समझना। जिसमें स्थिति अनुभाग न पड़े सिर्फ प्रकृति–प्रदेशरूप ही रह जाय उसको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं।

आचार्य रत्नत्रयको पूर्ण प्राप्त करनेकी पात्रता (योग्यता) जिसमें है वह बताते हैं (मुनि पदमें है)

बद्धोद्यमेन[2] नित्यं लब्ध्वा समयं[3] च बोधिलाभस्य।
पदमालम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥२१०॥

---

१. उक्तं च— दंसणणाण चरित्तं जं परिणमदि जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बंधदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥ १७२ ॥ समयसार

अर्थ—जबतक दर्शन-ज्ञान-चारित्र जघन्य दरजेके अर्थात् अपूर्ण या एकदेश रहते हैं (रागादिसहित होते हैं) तबतक ज्ञानी (भेदज्ञानी-सम्यग्दृष्टि) अनेक तरहके पुद्गल कर्मोंका बंध करता है मुक्त नहीं होता।

२. श्रावकोत्तम-मुमुक्षु साधक।

३. मौका अथवा आगमका ज्ञान प्राप्त करके।

पद्य

रत्नत्रय पूरण करनेको जो पुरुषारथ करता है।
वह श्रावक नित भाव और अवसरको देखत रहता है ॥
अवसर देख मुनी बनता है, परिग्रह सारा तजता है।
रत्नत्रयकी पूर्ति इसीसे होना निश्चित करता है ॥२१०॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [बद्धोद्यमेन] मोक्षमार्ग या रत्नत्रयकी पूर्णताका पुरुषार्थ करनेवाले श्रावकको चाहिये कि वह [बोधिलाभस्य समयं लब्ध्वा] रत्नत्रयकी पूर्णताका अवसर या आगमका ज्ञान प्राप्त करके (काल व ज्ञान देख करके) [च मुनीनां पदमवलम्ब्य] और मुनिपदको धारण करके (अनगार बनकर) [सपदि परिपूर्णं कर्त्तव्यम्] जल्दी ही अपूर्ण रत्नत्रयको पूर्ण करे, क्योंकि विना मुनिपद धारण किये रत्नत्रय पूर्ण नहीं हो सकता यह नियम है ॥ २१० ॥

भावार्थ—रत्नत्रयकी पूर्णता श्रावकपदमें नहीं हो सकती किन्तु मुनिपदमें ही हो सकती है यह नियम है। अतएव मुनिपदको धारण करना अनिवार्य है। फलतः मुमुक्षु जीव मुनिपदको अवश्य धारण करते हैं यह सामान्य नियम है किन्तु योग्यताके लिहाजसे इस हुंडावसर्पिणीके पंचम कालमें, सच्चा मुनिपद धारण करना व पालना दुर्धर है। जो रत्नत्रयकी पूर्णता कर सके वह असंभव है। आजकल कोई जीव ७ वें गुणस्थानसे आगे (अष्टमादि) गुणस्थान प्राप्त कर ही नहीं सकता है, न श्रेणी चढ़ सकता है, न शुक्ल ध्यान प्राप्त कर सकता है ऐसा आगमका निर्देश है।[1]

मुनिपद प्राप्त करनेकी योग्यता

(१) सबसे पहिले तत्त्वज्ञान व तत्त्वश्रद्धान (सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान) होना चाहिये, कारण कि विना यथार्थ जाने-माने किसका त्याग किसका ग्रहण किया जायगा ? अज्ञानीको कोई विवेक या पता नहीं रहता। (२) विषयकषायका त्याग होना चाहिये अर्थात् संसार-शरीर भोगोंसे अरुचि और यथाशक्ति उनका त्याग (संयम) होना चाहिये, रागी द्वेषी कषायी (असंयमी) मुनिपद धारण नहीं कर सकते, यदि धारण करें तो वह पाखंड है, गुरुपद नहीं है। (३) ज्ञान-ध्यान-तपमें हमेशा लीन रहना चाहिये—संसारी कामोंमें नहीं पड़ना चाहिये। (४) अट्ठाईस मूलगुण निरतिचार पालना चाहिये, उनमें त्रुटि नहीं होना चाहिये। (५) एकान्त निर्जन स्थानमें रहना ध्यानासन लगाना चाहिये इत्यादि खास बातोंका होना अनिवार्य है साथ ही सम-

---

१. अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग् विवर्त्तिनाम् ॥ ८३ ॥ तत्त्वानुशासन
अर्थ—इस पंचमकाल और भरतक्षेत्रमें शुक्लध्यान नहीं होता, न श्रेणी चढ़ी जाती है क्योंकि सप्तम गुणस्थान तक ही होता है, व धर्मध्यान होता है, श्रेणी व शुक्लध्यान आठवें गुणस्थानसे शुरू होता है ऐसा कहा है।

भावका होना मुख्य है, बाह्य आरंभपरिग्रहका छोड़ना यह मोटी बात है, इससे ही मुनिपद नहीं होता। मुनिपदमें पाँच बातें बाह्यमें होना अनिवार्य हैं (१) दिगम्बरवेष (नग्नपना)। (२) केशलुंचन। (३) जातिशुद्धि। (४) शरीर संस्कारका त्याग। (५) बाह्य आरंभपरिग्रहका सर्वथा त्याग। इसी तरह पाँच बातें अन्तरंगमें भी होना चाहिये (समताभाव आदि)। इस विषयमें प्रवचनसारकी गाथा नं० २३७ में कहा है कि—

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥२३७॥—प्रवचनसार कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ—अकेले आगमके ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती जवतक कि तत्त्वार्थका (पदार्थोंका) श्रद्धान न हो अर्थात् जान लेनेपर भी यदि श्रद्धान न हो तो मोक्ष नहीं होता तथा श्रद्धान हो जानेपर भी जवतक संयम (चारित्र) न हो तबतक मोक्ष नहीं होता। फलतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये तीन ही मोक्षके मार्ग हैं और तीनोंकी पूर्णता निश्चयसे होना अनिवार्य है। एक भी कम नहीं होना चाहिये। आगमका ज्ञान अर्थात् अध्यात्मका ज्ञान, जो आगमका सारभूत पद है। कहा भी है—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थि त्ति भणइ सुत्तं असंजदो भवदि किध समणो ॥२३६॥—प्रवचनसार

जिस मुनिके आगम (अध्यात्म) का ज्ञानपूर्वक श्रद्धान न हो, उसके संयम हो नहीं सकता, वह असंयमी होता है कारण कि विना भेदज्ञानके किसका त्याग व किसका ग्रहण किया जाय यह निर्धार हो नहीं सकता। अतएव जिसके आगमका ज्ञान और तत्पूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान एवं संयमभाव (चारित्र) ये तीनों एक साथ पाये जायें वही मोक्षमार्गी साधु है अन्य नहीं, यह सिद्धान्त है ॥२३६॥

आगे आचार्य इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि—विकल या असमग्र या अपूर्ण एकदेश, रत्नत्रयधारीके कर्मोंका बंध जो होता है, उसका क्या कारण है? अर्थात् वह वंध काहेसे होता है?

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मवंधो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं, मोक्षोपायो न वंधनोपायः ॥२११॥

पद्य

एकदेश रत्नत्रयधारी, के जो वंधन होता है।
वह विपक्षसे होत वरावर, ऐसा निश्चय कहता है॥
अतः वंधका कारण वे हैं, जो रागादिक साथ भरे।
नहीं मोक्षका कारण वे हैं, जवतक राग न दूर करे ॥२११॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [असमग्रं रत्नत्रयं भावयतः] अपूर्ण या एकदेश (विकल अल्प) रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्रको प्राप्त करनेवाले (मुनि या श्रावक)के

[यः कर्मबंधो अस्ति] जो कर्मों (ज्ञानावरणादि घातियामुख्य)का बंध (स्थिति-अनुभागरूप) होता है [स अवश्यं विपक्षकृतः] वह निश्चयसे (अवश्य ही) विपक्ष (संसारके कारण रागादि)के द्वारा होता है अर्थात् रत्नत्रयके द्वारा नहीं होता क्योंकि रत्नत्रय तो मोक्षका कारण है बंधका कारण नहीं है । फलतः वह कर्मबंध [बंधनोपायः न मोक्षोपायः] बंध (संसार)का ही कारण (उपाय या मार्ग) है–मोक्षका कारण नहीं है ऐसा जानना चाहिए। इस श्लोकके अर्थकी पुष्टि पंचास्तिकाय ग्रन्थकी गाथा नं० १५७की टीकामें स्वयं स्पष्टरूपसे पूज्य अमृताचार्यने की है अतएव भ्रम नहीं करना चाहिये। उल्टा अर्थ करनेसे जिनाज्ञाकी अवहेलना होती है यह ध्यान रखना चाहिये। टीकायामुल्लेखः—ततः परचरितप्रवृत्तिर्बन्धमार्ग एव, न मोक्षमार्ग इति ॥२१ ॥

भावार्थ—बंध और मोक्षके कारण पृथक्-पृथक् हैं, ऐसी स्थितिमें जो बंधके कारण हैं वे ही मोक्षके कारण हो जांय, यह न्यायके विरुद्ध है अर्थात् जैनशासनके प्रतिकूल है। फलतः बंध या संसारके कारण रागादि विकार (दोष) हैं जो अपूर्ण रत्नत्रयके साथ रहते हैं। संयोगीपर्यायमें साथ-साथ अनेक चीजें रहती हैं अतः रागादिक कषायभाव भी रहते हैं और विरागभाव भी रहते हैं। परन्तु दोनोंका भिन्न-भिन्न प्रकार होता है, एक प्रकार नहीं। इस न्यायसे विपक्ष (रागादिक)को मोक्षका कारण मानना या कहना सिद्धान्तके विपरीत है—अज्ञानता है। श्रद्धेय पं० टोड़रमलजी स्व० की टीकामें जो जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्तामें प्रकाशित हुई थी। ऐसा ही अर्थ है देख लेना। इसके विरुद्ध अर्थ करना न्यायसंगत नहीं है। पक्षपात मात्र है। आगे इसीके सिलसिलेमें खुलासा किया जाने वाला है। इस श्लोकका अन्वय लगानेमें गलती नही करना चाहिये। 'न' नकारका सम्बन्ध, मोक्षोपायके साथ जोड़ना चाहिये, बन्धनोपायके साथ नहीं जोड़ना चाहिये तब ठीक संगति बैठती है श्लोकका दूसरा पद्यानुवाद पीछे है उसे देखो—

एकदेश रत्नत्रयधारी, कर्मबंध जो करते हैं।
उसका कारण क्या है भाई, उसे खुलासा करते हैं॥
कारण इसका कषाय साथी, वह ही बंध कराता है।
रत्नत्र नहिं बंधका कारण, वह तो मोक्ष धराता है॥ २११ ॥

विशेषार्थ—रत्नत्रय आत्माका स्वभाव है और कषाय आत्माका विभाव है। अतएव स्वभाव कभी हानि नहीं पहुँचाता। हानि पहुँचाने वाला विभाव ही होता है इसीसे विभावको हटाने का प्रयत्न किया जाता है क्योंकि खतरेको कोई अपने पास नहीं रखना चाहता यह निर्धार है। ऐसा भेदज्ञान, जो स्वभाव और विभावकी पहिचान करावे—गुण दोषको एवं उसके ग्रहणत्यागको बतावे, वही आत्माका हितकारी है। उस भेदज्ञानका दूसरा नाम 'प्रज्ञा' है और प्रज्ञाका अर्थ सत् व असत् या उपादेय व हेयको बताना है। तब ज्ञानी उस प्रज्ञारूपी छेनीके द्वारा आत्मस्थ स्वभाव व विभावको पृथक् पृथक् करता है। अर्थात् बताता है कि ये दोनों जुदे-जुदे हैं, एकरूप नहीं हैं। फलतः त्रिकालमें विभाव या रागादि व कर्मादि व नोकर्मादि (शरीरादि) को आत्मीय नहीं मानता, परकीय मानकर उन्हें छोड़ता है। इस तरह संयोगीपर्यायमें रहता हुआ सरागसम्यग्दृष्टि-

प्रज्ञावान् अन्य सब परसे अरुचि ही करता है, हेय समझता है, तथापि विवशतामें परका उपभोग करता है। उससे राग होता है, बन्ध व सजा प्राप्त करता है। सिर्फ विशेषता यह है कि वह बंध अन्तः कोड़ा कोड़ी सागरसे अधिकका नहीं होता, प्रतिसमय कमती-कमती ही होता जाता है और अन्तमें अर्धपुद्गल परावर्त्तनकाल पूराकर मोक्षको चला जाता है। श्रद्धा उसकी सदैव एक जातिको हेय हो रहती है वह कभी नहीं बदलती जबतक सम्यग्दर्शन रहता है, हाँ वह कभी मन्द स्मृतिरूप और कभी तीव्र स्मृतिरूप अवश्य रहती है, जिससे मूलमें भूल नहीं होती।

साधकदशामें ऐसा हुआ ही करता है जबतक कि रत्नत्रयकी पूर्णता नहीं होती, वहाँतक औपाधिकभाव (रागादि) हुआ ही करते हैं। सम्यग्दृष्टिज्ञानीके जब ज्ञानचेतना अर्थात् शुद्ध स्वरूपकी अनुभूति (शुद्धोपयोग) होती है तब बंध नहीं होता (यही ज्ञानधाराका बहना कहलाता है) तथा जब उपयोग हटकर अज्ञानचेतनारूप होता है अर्थात् रागादिरूप अशुद्ध परिणतिका अनुभव करता है (कर्मधारा बहती है) तब कर्मचेतना (चिन्त्वन या अनुभव) या कर्मफल-चेतना होनेसे कर्मोंका बंध होता है। इस प्रकार निर्धार समझना चाहिये। यही कलशमें कहा गया[1] है ॥२११॥

विशेषार्थ—शास्त्रोंमें जहाँ-तहाँ यह लिखा है कि सम्यग्दृष्टिके बंध नहीं होता है तथा उसका बंध मोक्षका कारण है, इत्यादि उस एकान्तका खण्डन इस श्लोकमें किया गया है कि सम्यग्दृष्टिके सम्यग्दर्शनादि तीनोंकी अपूर्णता रहनेतक अर्थात् पूर्णता होनेके पहिलेतक बराबर रागादि कषायोंके रहते हुए उनसे बंध होता है और वह बंध मोक्षका कारण (उपाय) नहीं है किन्तु बंधन या संसारका कारण (उपाय) है। इस प्रकार खुलासा श्री अमृचन्द्राचार्यने किया है, उसको सीधा समझना चाहिए। उल्टा नहीं समझना चाहिए। इसीकी पुष्टिमें आगेके श्लोक भी लिखे हैं। भव्य-जीव (मुमुक्षु) संगति बिठालकर श्लोकका अर्थ करें और समझें तभी कल्याण होगा। विवक्षा समझना अनिवार्य है।

आचार्य—आगे बन्ध व मोक्षके कारणोंका और भी खुलासा करते हैं। जिससे कोई भ्रम न रहे।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं चास्ति ॥ २१२ ॥

---

१. ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं, प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन्, बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः ॥२२४॥—कलश समयसार

अर्थ—जब ज्ञान अपने शुद्धस्वरूपमें अर्थात् सिर्फ ज्ञप्तिक्रियामें स्थिर या लीन होता है (रागादिरूप अशुद्धता नहीं रखता) तब कोई बन्ध नहीं होता—ज्ञानका ही प्रकाश रहता है। लेकिन जब वही ज्ञान अपने शुद्धस्वरूप (ज्ञप्तिमात्र) को छोड़कर अज्ञान या रागादिरूप अशुद्धताको धारण करता है तब बन्धादि अवश्य होता है। इस प्रकार बन्धका कारण अशुद्धता है और मोक्षका कारण शुद्धता है यह तात्पर्य है ॥२२४॥

येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं चास्ति ॥ २१३ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं चास्ति ॥ २१४ ॥

पद्य

है अपूर्ण जबतक रत्नत्रय, बंध मोक्ष दोनों होते ।
पर कारण दोनोंके दो हैं, एक नहीं कबहू होते ॥

यथा—

राग बंधका कारण होता, जितने अंश साथ होता ।
दर्शन कारण है [1]अबंधका, वीतरागता मय होता ॥ २१२ ॥
इसी तरह ज्ञानादिक दोनों, जितने अंश शुद्ध[2] होते ।
उतने अंश मोक्ष होता है, बंध राग साथहि करते[3] ॥ २१३ ॥
अंशरूपसे दोनों होते, पूर्ण रूप नहिं होते हैं ।
पूर्णरूप होनेके खातिर, रागक्षय[4] सब करते हैं ॥ २१४ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [येनांशेन सुदृष्टिः] जितने अंश वीतरागता सम्यग्दर्शनके साथ रहती है [तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति] उतने अंश सम्यग्दृष्टिके बंध नहीं होता । [तु येनांशेन रागः] और जितने अंश सम्यग्दर्शनके साथ राग रहता है [तेनांशेन अस्य बंधनमस्ति] उतने अंश सम्यग्दृष्टिके बराबर (अवश्य) बंध होता है क्योंकि रागबंधका कारण माना गया है । इसी तरह [तु येनांशेन ज्ञानं] जितने अंश ज्ञानके साथ वीतरागताका रहता है [तेनांशेन अस्य बंधनं नास्ति] उतने अंश सम्यग्ज्ञानीके बंध नहीं होता । [तु येनांशेन रागस्तेनांशेनास्य बंधनमस्ति] और जितने अंश सम्यग्ज्ञानीके राग रहता है, उतने अंश उसके बंध बराबर होता है । इसी तरह [येनांशेन चरित्रं, तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति] जितने अंश सम्यक्चारित्रके साथ वीतरागताका रहता है उतने अंश चारित्रधारीके बंध नहीं होता । [तु येनांशेन रागस्तेनांशेनस्य बंधनं अस्ति] और जितने अंश चारित्रधारीके राग रहता है, उतने अंश उसके बंध होता है, यह खुलासा है । ऐसा तीनों श्लोकोंका अर्थ समझना चाहिये और भ्रमको निकाल देना चाहिये ॥ २१२।२१३।२१४ ॥

चारित्रके मूल भेद

(१) सम्यक्त्वाचरण (२) संयमाचरण । दूसरे शब्दोंमें (१) निश्चयचारित्र, जो करणानुयोगके अनुसार होता है । (२) संयमाचरण, जो चरणानुयोगके अनुसार होता है ।

---

१. मोक्ष ।
२. वीतरागतामय ।
३. कर्मके छूटने रूप
४. मोहकर्मका अभाव ।

नोट—सम्यक्त्वाचरणका नाम ही, स्वरूपाचरणचारित्र है, जो शुद्ध वीतरागतारूप है, २५ दोषोंसे रहित है। यही बात चारित्रपाहुड़में श्री कुन्दकुन्दाचार्यने कही है। यथा—

जिणणाणदिट्ठि-सुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
बिदियं संयमचरणं जिणणाण सदेसियं तं पि ॥ ५ ॥ चारित्रपाहुड़

अर्थ—जिन सर्वज्ञके ज्ञानमें शुद्ध वीतरागतारूप सम्यक्त्वाचरण अथवा स्वरूपाचरण चारित्र और संयमाचरणचारित्र (सरागचारित्र) दोनों प्रतिबिंबित हुए हैं। तथा स्वरूपाचरण (सम्यक्त्वाचरण) की घातक अनंतानुबंधी कषाय है और संयमाचरणकी घातक (अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यानादि कषायें हैं)। संयमाचरण अर्थात् सरागचारित्र या व्यवहारचारित्रके ही भेद (१) सामायिक (२) छेदोपस्थापन (३) परिहारविशुद्धि (४) सूक्ष्मसाम्पराय (५) यथाख्यात हैं, ऐसा समझमें आता है क्योंकि इनमें चरणानुयोगकी मुख्यता रहती है (बाह्याचरण सुधारा जाता है)। चरणानुयोगका चारित्र बाह्यशरीरादिकी क्रियाओं पर निर्भर (अवलम्बित) रहता है और करणानुयोगका चारित्र भीतर (अंतरंग) भावों पर निर्भर रहता है यह भेद है तथा स्वरूपाचरण-चारित्र शुद्ध वीतरागतारूप है और संयमाचरण शुभरागरूप अशुद्ध है।

चारित्रधारियोंके भेद व मान्यता

(१) मुनि (सुगुरु) अर्थात् सच्चे वीतरागी, विषयकषायके त्यागी, मोक्षमार्गके सम्यक् आराधक, पंचाचारके पालनेवाले इत्यादि मूलगुण सम्पन्न, तत्त्वज्ञानी मुनि या सुगुरु कहलाते हैं।

(२) मुनिवेषी (कुगुरु) अर्थात् मात्र बाह्य वेषको धारण करनेवाले, भावलिंग (सम्यग्दर्शनादि) रहित, विषयकषायपोषक, बरायनाम (नाममात्र) मूलगुणधारक, रागीद्वेषी, निन्दास्तुति व विनय अविनयका ख्याल करनेवाले समदृष्टिरहित-अतत्त्वज्ञानी-वेषी या पाखंडी मुनि कहलाते हैं। उनको सुगुरु मानना अज्ञानता है क्योंकि सच्चेके न होनेसे झूठेको सच्चा मनना हंसके अभावमें कौआको हंस माननेके समान है, कौआ कभी हंस नहीं हो जाता, कौआ ही रहता है, मान्यता से वस्तु नहीं बदल जाती यह नियम है। फल भी सच्चे जैसा नहीं मिलता। तब जैसा जो हो उसको वैसा ही मानना सम्यग्दर्शन है और अन्यथा मानना अर्थात् जैसेको तैसा न मानना मिथ्यादर्शन है जो अपराध है बड़ा पाप है। उसको पुण्य मानना व अपराधको छुटाने वाला मानना मिथ्यात्त्व है। निर्धार करना चाहिये ऐसा काँच हीरा नहीं हो जाता। परीक्षा करके मान्यता करना श्रेष्ठता बतलाई गई है, वह मिथ्यात्त्व नहीं है सम्यक्त्व है ॥ २१२।२१३।२१४ ॥

आचार्य आगे और भी खुलासा करते हैं कि बंधके कारण योग और कषाय हैं, रत्नत्रय नहीं है।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात् ।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥२१५॥

पद्य

योगकषाय बंधके कारण—बंध चतुर्विध होता है।
प्रकृतिप्रदेश थिति अरु अनुभव क्रमशः साथ उपजता है॥
दर्शनज्ञानचरित्र नहीं हैं, योगकषायरूप तीनों।
अतः उन्होंसे बंध न होता—मोक्ष होत निश्चय जानो॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [योगात्प्रदेशबंधः] योगसे अर्थात् आत्माके प्रदेशोंमें कंपनरूप क्रिया होनेसे प्रदेशबन्ध (प्रकृतिबंधके साथ) होता है [तु कषायात् स्थितिबंधो भवति] और कषायसे (विकारीभावोंसे) स्थितिबंध (अनुभागके साथ) होता है। इस प्रकार बंधके दो कारण जुदे-जुदे हैं। परन्तु [दर्शनबोधचरित्रं, न योगरूपं न च कषायरूपं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीनों न योगरूप हैं न कषायरूप हैं तब इनसे बंध कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता, यह तथ्य है, भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये॥ २१५॥

भावार्थ—वस्तुका मूल या सहज स्वभाव कभी बदलता नहीं है किन्तु वह हमेशा कायम रहता है। ऐसी स्थितिमें योग और कषायका स्वभाव बन्ध या श्लेष करनेका है सो हमेशा करेगा और दर्शनज्ञानचारित्रका स्वभाव मोक्ष करनेका है सो वही करेगा, दूसरा विरुद्ध कार्य वह नहीं कर सकता। फलतः रत्नत्रयसे बन्ध नहीं होता यह निश्चित है, न कभी रत्नत्रय योग व कषायरूप होते हैं यह भी निश्चित है। इस शाश्वतिक व्यवस्थामें कोई दखल नहीं दे सकता अर्थात् रद्दोबदल (परिवर्त्तन) नहीं कर सकता यह ध्रुव है। दो द्रव्यें (जीव व पुद्गल) ऐसी हैं जिनका परिणमन विभाव या विकाररूप (अशुद्ध) भी संयोगी अवस्थामें हो जाता है क्योंकि उनमें जन्मसिद्ध (स्वतः-सिद्ध) वैसी शक्ति (वैभाविकी) हैं किन्तु शेष चार द्रव्योंमें वैसी शक्ति नहीं है न वे विभावरूप कभी परिणत होती हैं। परिणमन भी दो तरहका होता है:(१) अर्थरूप (सूक्ष्म) (२) व्यंजन रूप (स्थूल)। तथा विभावरूपी परिणमन भी दो तरहका होता है (१) विभाव व्यंजनरूप (२) स्वभाव व्यंजनरूप। अनेक समय व अनेक प्रदेशोंके समुदायरूप परिणमनको व्यंजन परिणमन (व्यंजनपर्याय) कहा जाता है।

संयोगीपर्यायमें जीव और पुद्गलका बन्ध (परस्पर श्लेष) होता है परन्तु उनका परस्पर निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध ही रहता है, औपादातिकसम्बन्ध नहीं रहता। यह खास भेद समझना चाहिये। औपादानिकसम्बन्ध, जिस द्रव्यमें जो कार्य या पर्याय होती है उसका उसीके साथ रहता है, अन्यके साथ कदापि नहीं रहता यह नियम[1] है।

कर्मबन्ध और नौकर्मबन्ध

आठ प्रकार (ज्ञानावरणादि)के कर्मोंका संयोगरूप बन्ध होना, कर्मबन्ध कहलाता है,

---

१. उक्तं च—

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्तदेव तत्स्यान्न कथं च नान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोषं पश्यन्ति रुक्मं न कथं च नासिं॥३८॥ समयसारकलश

उसका मूलकारण–योग व कषाय ही है। इसी तरह औदारिकशरीर आदिका बन्ध होना नोकर्म-बन्ध कहलाता है सो वह भी योग और कषायसे ही होता है। इसीलिये संयोगोपर्यायमें बन्धके मूलकारण योग व कषाय (निमित्तरूप) माने गये हैं ऐसा निश्चय करना चाहिये। इसके विपरीत पुद्‌गलद्रव्यके परस्पर बन्ध होनेमें मूलकारण पुद्‌गलगत रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं, उनसे ही स्कन्ध बनता है वे उसके अन्तरंग (उपादान) कारण हैं। बाह्य कारण (निमित्त) जलादिक पदार्थ हैं। जीवबंन्ध होनेमें अर्थात् जीवके विकारीभाव (रागादिक) होनेमें निमित्तकारण द्रव्यकर्मका उदय है, क्योंकि द्रव्यकर्मके उदय होते समय ही जीवद्रव्यमें स्वतः स्वभाव रागादि विकारीभाव हुआ करते हैं। इसी तरह जीवद्रव्यमें विकारीभाव होनेके समय ही, कार्माण (पुद्‌गल) द्रव्य जीवके साथ आकर बन्धरूप हो जाती है अतः जीवके विकारीभाव कर्मबन्धके प्रति निमित्तकारण हैं ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध समझना चाहिये। इस प्रकार बंधकी सन्तानपरम्परा अनादिसे चलती आती है और मुक्ति होनेके पहिलेतक चलती रहेगी।

नोट—निश्चयसे भिन्नप्रदेशी दो द्रव्योंके बन्ध होनेमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध ही माना जाता है, उपादान सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। उपादान सम्बन्ध अभिन्न प्रदेशी एक द्रव्यमें ही माना जाता है अर्थात् उस द्रव्यकी कार्यपर्यायके प्रति उसीको उपादान माना जाता है किसीका किसीमें मिलाना व्यवहार है, निश्चय नहीं है।

पुद्‌गलरूप (कर्म) बन्धके विषयमें नियम

एकगुण (जघन्य गुण)वाले पुद्‌गलद्रव्यका और एकगुण अधिकवाले पुद्‌गलद्रव्यका तो कभी बन्ध होता ही नहीं है, वह अबन्ध ही रहता है किन्तु कमसे कम दो गुण अधिक (एक दूसरेसे)वाले पुद्‌गलोंका ही बन्ध होता है ऐसा नियम है। चाहे वे रूक्ष-रूक्ष हों या स्निग्ध-स्निग्ध हों या रूक्षस्निग्ध हों, उनमें कोई रुकावट (निषेध) नहीं है। कहा भी है—

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहियेण, रुक्खस्स रुक्खेण दुराहियेण।
णिद्धस्स लुक्खस्स हवेइ बन्धो, जहण्णवज्जे विषमे समे वा ॥ ६१५ ॥ जीवकांडगोम्मटसार

यहाँ भ्रम नहीं करना, नियम बराबर पाया जाता है ॥ २१५॥

आगे आचार्य निश्चय रत्नत्रयका स्वरूप बतलाते हैं।

वह बन्धका कारण नहीं है

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुतः एतेभ्यो भवति बंधः ॥२१६॥

पद्य

निज आतमकी श्रद्धा करना—सम्यग्दर्श कहाता है।
निज आतमका ज्ञान जु करना—सम्यग्ज्ञान कहाता है॥

निज आतममें लीन जु रहना—सम्यक् चरित कहाता है।
निज स्वभावके कारण इनसे वंध कभी नहिं होता है ॥ २१६ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि निश्चयनयसे [आत्मविनिश्चितिः दर्शनमिति] परद्रव्योंसे भिन्न अपनी आत्माका निश्चय अर्थात् श्रद्धान होना, सम्यग्दर्शन कहलाता है और [आत्मपरिज्ञानं बोध: इष्यते] परद्रव्योंसे भिन्न अपनी आत्माका यथार्थज्ञान होना, सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तथा [आत्मनि स्थितिः चारित्रं] परद्रव्योंसे भिन्न अपनी आत्मामें स्थिरता अर्थात् लीनता होना, सम्यक्‌चारित्र कहलाता है और ये तीनों आत्माके स्वभाव हैं। तव [एतेभ्यः वंधः कुतः भवति] इनसे आत्माका वंधन कैसे हो सकता है यह आश्चर्य है ? अर्थात् इनसे आत्माका वंधन (संसार) कभी नहीं हो सकता, कारण कि स्वभाव या वस्तुका धर्म कभी बंधनमें नहीं डालता उल्टा वह वंधनको काटता या छुड़ाता है ॥ २१६ ॥

भावार्थ—'आत्मविनिश्चिति'का यथार्थ रहस्य (मतलव) है 'आत्माके प्रति आस्तिक्यभाव' अर्थात् जैसा आत्मा है वैसा श्रद्धानका होना अर्थात् नास्तिकभावका नहीं होना अर्थात् विपरीतभावका (अन्यथापना) नहीं होना। जैसे कि आत्माका यथार्थ (असली) रूप 'एकत्वविभक्त' है अथवा वह पर सब द्रव्योंसे भिन्न (तादात्म्यसंवंधरहित) और अपनी गुणपर्यायोंसे अभिन्न (तादात्मरूप) है, ऐसा दृढ़ विश्वासका होना निश्चयसम्यग्दर्शन कहलाता है। इसी तरह आत्माके शुद्ध (निश्चय) स्वरूपका ज्ञान होना, सम्यग्ज्ञान कहलाता है और आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होना अनुभव करना सम्यक्‌चारित्र कहलाता है यह खास बात है, यही निश्चय मोक्षमार्ग है, साक्षात् मोक्षका कारण है। क्योंकि आत्मा 'ज्ञानघनरूप' है उसमें और कुछ नहीं भरा है (अवगुण नहीं है) सिर्फ ज्ञानदर्शनगुण ही कूट-कूटकर भरा हुआ है। जवतक ऐसा सत्य व सही अपना खुदका ज्ञानश्रद्धान न हो और पररूपका ही (संयोगीपर्यायरूप) ज्ञानश्रद्धान हो तवतक आत्मकल्याण नहीं हो सकता। निजघरका पहिले परिचय पूरा होना ही चाहिये ॥२१६॥

शंका व समाधान

आचार्य कहते हैं कि—सम्यग्दृष्टिव्रती (चारित्रधारी) के तीर्थंकर और आहारकप्रकृतिका वंध होता है ऐसा शास्त्रमें उल्लेख है। उससे वादीका कहना है कि—सम्यग्दर्शन भी बंधका कारण है। उसका खंडन इस प्रकार है कि वादीको जो शक्र या धारणा है कि उस वंधका कारण सम्यग्दर्शन और व्रत (चारित्र) है, यह उसे कोरा भ्रम है। असलमें उस बंधका कारण शुभराग अर्थात् करुणाभाव है (दयापरिणाम है) किन्तु सम्यग्दर्शन और व्रत नहीं है, क्योंकि वे दोनों मोक्षके ही कारण है वन्धके कारण नहीं है। यही बात आगे वतलाते हैं—

सम्यक्‌चारित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्मणोः वंधः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥ २१७ ॥

---

१. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स वंधः ॥ २ ॥ त० सू० अ० ८
सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरावालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥ सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥ त०सू० अ० ६

पद्य

सम्यग्दृष्टि चरित्रीके भी, कर्मबंध जो होता है।
तीर्थंकर आहार प्रकृतिका, आगम यह बतलाता है॥
उसका कारण नहिं दर्शन है, चारित भी नहिं होता है।
नय प्रमाणका जानन हारा, भ्रममें कभी न पड़ता है॥
बंध करत है कषाय साथी, जो औगुण कहलाता है।
गुण हैं दर्शनचारित दोनों, उनसे बन्ध न होता है॥ २१७॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [समये यः सम्यक्चारित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणोः बंधः उपदिष्टः] आगममें या जैनशासनमें जो यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्रके द्वारा या साथमें रहते हुए तीर्थंकर और आहारक पुण्यकर्मका बंध होता है [सोऽपि नयविदां दोषाय न भवति] उससे भी नयप्रमाणके ज्ञाता पुरुषोंके मनमें कोई भय (शंका) चिन्ता-शल्य-घबड़ाहट या आकुलता नहीं होती, कारण कि वे नयादिसे समाधान या संतोष कर लेते हैं॥ २१७॥

भावार्थ—जैन शासनमें, स्याद्वादनय अर्थात् निश्चय व्यवहारनयकी अपेक्षा या द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे तमाम शंकायें व भ्रम दूर हो जाते हैं। सबका संतोषजनक समाधान हो जाता है यह विशेषता पाई जाती है। यहाँ पर जो शंका उठाई गई है कि सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र (स्वभाव या गुण या धर्म) से, तीर्थंकर व आहारक नामक पुण्यकर्मका बंध होता है वह सिर्फ भ्रम है या नयविवक्षाको नहीं समझना है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ये दोनों स्वभाव हैं, उनसे बंध नहीं होता किन्तु उनके साथ जो रागादिक विकारीभाव (कषायरूप) होते हैं, उनसे ही वह बंध होता है, वह भी व्यवहारनयसे बंध माना जाता है। कारण कि संयोगी-पर्यायमें साथ-साथ स्वभावभाव (सम्यग्दर्शनादि) विभावभाव (रागादिक) रहते हैं और आत्मा के प्रदेशोंमें ही रहते है परन्तु कार्य अपना-अपना पृथक् करते हैं स्वभावभाव संवर व निर्जरा करते हैं (कर्मबंधनका छूटना रूप मोक्ष करते हैं) और विभावभाव, आस्रव व बंध करते हैं। लेकिन इस असल बातका पता (ज्ञान) न होनेसे, संगादोष जैसा दोष, साथवाले (सम्यग्दर्शनादि) को भी व्यवहारनयसे लगा दिया जाता है, जो असत्य है (अभूतार्थ है), यह समाधान है। तभी तो तत्त्वार्थसूत्रमें संयोगीपर्यायकी अपेक्षासे व्यवहारनयकी मुख्यताकर बन्धके कारणोंमें सरागसंयमादि-चारित्र एवं सम्यग्दर्शनको देवायु (पुण्यकर्म) के बाँधनेवाला बतलाया है किन्तु निश्चयसे वैसा नहीं है, साथमें रहनेसे साथी अपराधी या दोषी नहीं हो जाता यह नियम है। दोषी वही होता है जो दोष (अपराध) करता है, और वही सजा भोगता है, दूसरा नहीं। सबका सारांश निम्न प्रकार है।

जो शास्त्रोंके ज्ञाता प्राणी नयके ज्ञाता होते हैं।
उनको शंका नहिं होती है, दर्शन चारित बंधक हैं॥
तीर्थंकर आहार प्रकृतिका बंध जु होता दृग्व्रतमें[1]।
उसका कारण योगकषायौ, साथ रहत जो उस पदमें॥ २१७॥

---

१. सम्यग्दर्शन व चारित्रके समय या उनके साथमें।

आचार्य इसी उपर्युक्त तथ्यका खुलासा आगेके श्लोक द्वारा भी करते हैं।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥२१८॥

पद्य

योग कषाय बंध करते हैं—तीर्थंकर आहारकका
पर दोनोंके साथ रहेसे—भ्रम होता दृशचारितका ॥
दर्शन ज्ञान उदास रहत हैं, बंधकार्यके करनेमें—।
तीर्थंकर आहारकके भी नहिं समर्थ हैं बांधनमें ॥२१८॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [सम्यक्त्वचरित्रे सति योगकषायौ तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः] सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके साथ रहते हुए (मौजूदगीमें) योग और कषाय ये दोनों ही तीर्थंकर तथा आहारक नामक पुण्यप्रकृतियोंका बन्ध करते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र उनका बन्ध नहीं करते, इसके सबूत (पुष्टि)में कहा जाता है कि [नासति] अर्थात् यदि सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र, योग व कषायके साथ न हों तो कभी अकेले दर्शन-चारित्रसे उनका (तीर्थंकर और आहारकका) बन्ध कदापि नहीं होगा। मिथ्यादृष्टिके कभी नहीं होता व योगकषाय रहते हैं। अतएव यह सिद्ध होता है कि [तत्पुनः अस्मिन् उदासीनम्] वे सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्रबन्धके करनेमें उदासीन रहते हैं अर्थात् बन्ध नहीं करते क्योंकि वे वीतरागतारूप हैं, रागद्वेष रहित उपेक्षामय सदैव रहते हैं, बन्ध करना उनका कार्य नहीं है ॥ २१८ ॥

भावार्थ—यथार्थमें बन्धके करनेवाले योग व कषाय है अन्य कोई (सम्यग्दर्शनादि) नहीं हैं क्योंकि योग व कषाय विभावरूप हैं और सम्यग्दर्शनादि स्वभावरूप हैं। वस्तु या पदार्थकी रक्षा करनेवाला उसका स्वभाव या धर्म ही होता है अर्थात् जबतक स्वभावमें स्थिरता आत्माकी रहती है, तबतक उसमें विभाव नहीं होता या हो पाता, बस यही तो विभावसे आत्माकी रक्षा करना है। और विभावके न होनेसे आत्माके आस्रव और बन्ध भी नहीं होगा, जिससे संसार छूट जायगा यह फल होगा। कहा भी है कि 'वत्थुसहावो धम्मो' वस्तुका स्वभाव ही उसका धर्म है (रक्षक है)। जहाँ स्वभावसे च्युति हुई कि विभाव परिणति हुई और उसके होनेसे बंधरूप सजा मिली। यह खराबी या हीनता सिर्फ जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें ही होती है। अन्य द्रव्योंमें नहीं होती क्योंकि उनमें वैसी शक्ति नहीं है। और वह भी कब होती है जब दोनोंका परस्पर संयोग हो। ऐसी स्थितिमें संयोगको दूर करना कर्त्तव्य है।

सारांश यह हैकि बन्धके निमित्तकर्त्ता योग और कषाय दोनों है, परन्तु उनके साथ यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र हो तो वे दोनों भी तीर्थंकर और आहारक जैसी सर्वोच्च पुण्यप्रकृतियोंका बंध करते हैं, ऐसा उपचारसे कहा जाता है और यदि सम्यग्दर्शनादि तीनों या एक

---

१. रागद्वेषरहित वीतराग या उपेक्षारूप।

साथ न हो तो वे नरकगत्यादि पापप्रकृतियोंका वंध करते हैं। और जब योग व कषाय भी नहीं रहते, तब मोक्ष हो जाता है बन्ध नहीं होता। फलतः योगकषाय (विभाव) और सम्यग्दर्शनादि (स्वभाव) का कार्य भिन्न-भिन्न प्रकार है, एक प्रकारका नहीं ऐसा समझना चाहिये। फलतः मोक्षकी प्राप्ति उपयोगशुद्धि एवं योगशुद्धि दोनोंसे होती है ॥ २१८ ॥

आचार्य आगे और भी शंका-समाधान करते हैं।

अन्य शास्त्रोंका उद्धरण देकर निर्णय करते हैं दो श्लोकों द्वारा—

ननु कथमेवं सिद्ध्यति देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिवंधः ।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥ २१९ ॥

पद्य

सम्यग्दर्शन चारितसे यदि, वंध नहीं होता कोई।
तो फिर देवायु आदिकका पुण्यवंध कैसे होई ॥
सकल लोकमें यह प्रसिद्ध है—रत्नत्रयधारी मुनिके।
पुण्यवंध होता है जब तब, यह असत्य होगा उनके ॥ २१९ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [ननु एवं देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिवंधः कथं सिध्यति] शंकाकार यदि यह शंका (प्रश्न) करे कि—पुण्यप्रकृतियोंका वंध सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय नहीं करते तो फिर देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोंका बंध होना कैसे सिद्ध होगा ? यह बताया जाय। अन्यथा [रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणां सकलजनसुप्रसिद्धो बन्धोविरुद्ध्यते] रत्नत्रयधारी-मुनियोंके देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोंका वंध होता है लोकमें यह प्रसिद्ध है, वह असत्य ठहरेगा (यह विरोध होगा) ? यह पूर्वपक्षका श्लोक है।

(लोकापवादकी शंका करके सिद्धान्तका खंडन नहीं किया जा सकता यह निष्कर्ष है)

आगे उत्तरपक्षका श्लोक लिखा जाता है।

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥ २२० ॥

पद्य

वंधहेतु रत्नत्रय नहिं है, उससे तो मुक्ति होती।
पुण्यवंधका कारण वह है, जो शुभपरिणति संग होती ॥
वंधरूप अपराध करत हैं, योगकषाय उभय दोनों।
इससे उनका त्याग करत हैं, रत्नत्रयधारी, जानों ॥ २२० ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [इह रत्नत्रयं निर्वाणस्यैव हेतुर्भवति अन्यस्य न] इस

इस ग्रन्थमें या मोक्षमार्गके प्रकरणमें, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शनादित्रय) मोक्षका ही कारण (उपाय-मार्ग) होता है, संसारका कारण नहीं होता। [तु यत् पुण्यमास्रवति] और पुण्यका जो आस्रव या वंध होता है [अयमपराधः शुभोपयोगः] उसका कारण शुभोपयोग है अर्थात् उसीका यह अपराध है। शुभोपयोगका होना भी एक मन्दकषायरूप परिणाम है (प्रशस्तराग है) अतएव उससे पुण्यका बंध होना निश्चित है ॥२२०॥

नोट—यदि यहाँ श्लोकमें 'शुभोपयोगस्यापराधः' यह पद होता तो वेहतर था अस्तु।

भावार्थ—उपयोग अर्थात् ज्ञानके व्यक्त परिणमनके अनुसार बन्धादि कार्य होता है अव्यक्त परिणमन, शक्तिरूप होनेसे कार्यकारी नहीं होता। तदनुसार यहाँ पर जब ज्ञानका उपयोग (कार्यपर्याय) रागादिरूप होता है अर्थात् रागादिकी ओर उन्मुख होता है तब बन्ध आदि कार्य हुआ करता है। तथा जब उपयोग विराग या स्वभावरूप होता है तब निर्जरा आदि हुआ करती है। ऐसी स्थितिमें बन्ध एवं मोक्षके कारण साथ-साथ होनेसे अपना-अपना कार्य करते रहते हैं अचरजकी कोई बात नहीं है, खाली समझका फेर है। शुद्धदृष्टि होनेपर सब जैसाका तैसा दिखता है और जैसा दिखता है वैसा ही श्रद्धान भी होता है और वह श्रद्धान इतना दृढ़ (पक्का) होता है कि वह वदलता ही नहीं है चाहे जैसी आपत्ति-विपत्ति क्यों न आ जाय वह निर्भय (परके प्रवेशके भयसे रहित) अटल (निष्कंप) ही रहता है ऐसी विशेषता हो जाती है। यथार्थ-ज्ञान व श्रद्धान हो जानेपर यदि वह वैसा आचरण तुरंत न कर सके तो भी वह पर्यायगत हीनता को समझकर दुःखी होता है अरुचि करता है और उसको निकालनेका प्रयत्न भी यथाशक्ति करता है, परन्तु उसको उपादेय कदापि नहीं समझता—हेय ही सदैव समझता है। अपनेको बिगारीकी तरह अनुभव करता है या पिंजड़ेमें अवरुद्ध शेरको तरह मानता हैं जो उसके हितमें है। विवेक-वुद्धि ही संतोष देने वाली है—वस्तुके परिणमन पर दृष्टि दिलाने वाली है, जो स्वतंत्र है किसीके अधीन नहीं हैं, उसको कोई अन्यथा नहीं कर सकता अतः वह ज्ञानधारामें अवगाहन कर सुखी सदा रहता है ॥ २२० ॥

पूर्वोक्त कथनमें कोई शंका करता है कि एक ही आत्मामें साथ-साथ बंध व मोक्ष तथा बंध व मोक्षके कारण कैसे रह सकते हैं, परस्पर विरुद्धकार्य होनेसे ? इस शंकाका आचार्य समाधान करते हैं।

निश्चय-व्यवहारनयकी अपेक्षासे

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्ध कार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ॥२२१॥

पद्य

एककालमें एक वस्तुमें विरुध धर्म दो रहते हैं।
सहअस्तित्व हेतु है उनका क्यों अचरज कोइ करते हैं ॥
घृतमें जैसे दाहकता अरु पौष्टिकता दोइ होते हैं।
निश्चय अरु व्यवहार वस्तुमें नयसे सब ही वनते हैं ॥ २२१ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [हि अत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि एकस्मिन् समवायात् व्यवहारो भवति] निश्चय (वस्तु स्वभाव)से विचार किया जाय तो एक ही वस्तुमें अत्यन्तविरुद्ध दो कार्य (धर्म) भी समायित (समाहित) (कथंचित् मौजूद) एक साथ रहते हैं अर्थात् पाये जाते हैं तथा लोकमें भी वैसा कथन (व्यवहार) होता है अर्थात् रूढ़ि मानी जाती है [यथा इह घृतं दहति इति व्यवहारः तादृशोऽपि रूढ़िमितः] जैसेकि 'यह घृत जलाता है' ऐसा लोकमें कहा जाता है, वही रूढ़ि (चलन) हो जाती है। फलतः बंध व मोक्षके कारण साथ-साथ एककाल एक आत्मामें उदाहरणके अनुसार सिद्ध होते है ॥ २२१ ॥

भावार्थ—नयविवक्षासे या स्वचतुष्टय परचतुष्टयसे एक ही पदार्थमें एक ही कालमें परस्पर अत्यन्तविरुद्ध दो कार्य या धर्म रह सकते हैं और वैसा कथन भी किया जाता है ऐसी रूढ़ि पड़ जाती है, कोई आश्चर्य नहीं होता, न होना चाहिये। उदाहरणके लिये 'जैसे घी जलाता है और पुष्टि भी करता है' यह दो धर्म उसमें साथ-साथ पाये जाते हैं कोई विरोध या आपत्ति नहीं होती, परन्तु विवक्षाका आधार भिन्न-भिन्न प्रकारका है, उसको समझ लेना चाहिये। एक ही नय या आधारसे अनेकधर्म सिद्ध नहीं होते किन्तु अनेक नयोंसे अनेक धर्म सिद्ध होते हैं जो एक अधिकरण या आधारमें रहते हैं। अर्थात् उन सबका आधार एक रहता है और उनका कार्य पृथक्-पृथक् रहता है, आपसमें कोई किसीको बाधा नहीं पहुँचाता, निराबाध रहते हैं। घी जलाता है, इस कथनमें निश्चयको अर्थात् घीकी यथार्थताको अथवा उसके पुष्टिकारक स्वभाव (धर्म)को गौण करके उसकी अयथार्थता अर्थात् विकारीपर्याय (उष्णता)को जो कि अग्निके संयोगसे होती हैं मुख्य मानकर वैसा कहा जाता है, परन्तु उष्णताके समय वह स्वभाव (पुष्टिकारक) उस घृतमें विद्यमान (मौजूद) रहता ही है, नष्ट नहीं होता, इस प्रकार उष्ण व शीत (पुष्टिकारक) दो धर्म युगपत् एक ही पदार्थ (घृत)में बराबर रहते हैं कोई विरोध नहीं होता अथवा जैसे ठंडा जल (स्वभाव), पर-अग्निके संयोगसे गरम (उष्ण) मुख्यतया विभावरूप होजाता है और उस समय ठंडा स्वभाव गौण होजाता है तथा लोकमें गरम जल है ऐसा कहा भी जाता है, लेकिन जलका स्वभाव ठंडापन नष्ट नहीं होजाता, कुछ दबसा जाता है अर्थात् उष्णपना व्यक्त होजाता है व ठंडापना अव्यक्त होजाता है, दोनों ही (विरुद्धधर्म) साथ-साथ रहते हैं, अन्तमें संयोगजधर्म (उष्णपना) नष्ट होजाता है और स्वाभाविकधर्म (शीतपना) कायम (स्थिर) रह जाता है। इस प्रकार वस्तुकी व्यवस्था है और वह शाश्वतिक है। यहांपर गौण मुख्य या निश्चय व्यवहारकी अपेक्षा है। स्वाश्रित वस्तुका स्वभाव निश्चयरूप (ठंडापन) गौण है और पराश्रित विभाव मुख्य है (उष्णतारूप व्यवहार मुख्य है)।

इसी तरह प्रकृतमें एक आत्मामें ही रत्नत्रय (स्वभावभाव) और योगकषायादिरूप विभावभाव दोनों एककाल रह सकते हैं व रहते हैं, कोई विरोध या आपत्ति नहीं होती। जिसका खुलासा यह है कि संयोगीपर्यायमें आंशिक रत्नत्रयरूप शुद्धता (स्वभाव मोक्षका कारण) और आंशिक कषायादिरूप (विभावरूप बंधका कारण) अशुद्धता, आत्माके प्रदेशोंमें साथ-साथ रह जाती है। आत्मा बड़ा व्यापक व उदारपदार्थ है, संयोगीपर्यायमें दोनोंका आधार है। तथा उसमें

राग और विराग, त्याग और ग्रहण सभी साथ-साथ होते रहते हैं। सारांश यह कि वस्तुका स्वभाव (धर्म) ही परद्रव्यके संयोगसे विभावरूप (अधर्मरूप) परिणत होजाता है पश्चात् वहींपर द्रव्यका संयोग छूट जानेपर अपने मूलद्रव्यके स्वरूपमें आ मिलता है अर्थात् शुद्ध स्वभावरूप परिणत होजाता है और यह षट्कर्म (कारक) जीव और पुद्गल दो द्रव्योंमें ही होता है क्योंकि उन्हींमें ही वैसी उपादानता (योग्यता) है अन्यमें नहीं, ऐसा समझना चाहिये। कोई अचंभे या आश्चर्य करनेको वात नहीं है, अनेक धर्मवाली वस्तुमें सब व्यवस्था होनेकी योग्यता है—अतः उसमें अनेकान्त या अनेकधर्म निरावाध सिद्ध होजाते हैं। निश्चयनय और व्यवहारनय अथवा मुख्य और गौण विवक्षासे अनेकधर्म हर वस्तुमें सिद्ध होते हैं, विवाद करना व्यर्थ है, निश्चय और व्यवहारमें कुशल (ज्ञाता) व्यक्ति ही सम्यग्दृष्टि एवं नियत स्वलक्षणवाली प्रज्ञाका धनी (सम्यग्ज्ञानी) होसकता है अन्य नहीं यह निष्कर्ष है। स्वाश्रितधर्म निश्चयरूप है और पराश्रितधर्म व्यवहाररूप है ऐसा समझना चाहिये ॥ २२१ ॥

आचार्य अन्तमें उपसंहाररूप कथन (निष्कर्ष) करते हैं।

आत्मा या पुरुषकी प्रयोजनसिद्धिका उपाय यही है यह वताते हैं

सम्यक्चरित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परमपदं पुरुषम् ॥२२२॥

पद्य

मोक्षमार्ग तो एकरूप है, दर्शन चारित बोध मयी।
उसके भी दो रूप कहे हैं, निश्चय अरु व्यवहार द्वयी ॥
मोक्ष महल पहुँचानेवाला, मुख्यरूप निश्चय ही है।
गौणरूप व्यवहार मार्ग तो, उपचर शक्ति वताता है ॥२२२॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [सम्यक्चरित्रबोधलक्षणः एषः मोक्षमार्ग इति] निश्चय से सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकतारूप एक ही मोक्षका मार्ग है (दूसरा नहीं है)। परन्तु कथन करनेकी अपेक्षासे अर्थात् वचनों या शब्दोंका सहारा लेनेसे उसके [मुख्योपचाररूपः] मुख्य और उपचार ऐसे दो भेद माने गये हैं तथा [पुरुषं परमपदं प्रापयति] आत्माको वह मोक्षमार्ग, मोक्षमें पहुँचा देता है ऐसा सामान्यतः कहा गया है ॥ २२२ ॥

भावार्थ—रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जाना ही स्वाश्रित अर्थात् निश्चयनयसे मोक्षका मार्ग है और वह उस आत्माको नियमसे मोक्ष पहुँचा देता है। चाहे यह तथ्य किसीसे कहा जाय या न कहा जाय। क्योंकि व्यक्त गुण ही गुणीको उच्च या उन्नत वना देते हैं, उसके लिये कथन करने की घोषणा करनेकी या शब्दोंका सहारा लेनेकी जरूरत नहीं है, कारण कि मोक्ष, पराश्रित (कथनके आधीन) नहीं है। यदि ऐसा होने लगे तो मूक केवलियोंको मोक्ष कदापि प्राप्त न होगा यह दोष आयगा, यतः वे वोलते ही नहीं हैं। फलतः निश्चयनयसे (अध्यात्मकी अपेक्षा)

गुण ही मोक्षको प्राप्त करानेवाले होते हैं, शब्दादि अन्य कोई नहीं। प्रत्युत जब तक शब्द या दिव्यध्वनि होती रहती है, वचननिरोध (योग निरोध) नहीं होता, तबतक मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता है। ऐसी स्थितिमें यथार्थ वस्तुस्वरूपका, शब्दों द्वारा कथन करना (वर्णन करना) सब व्यवहार (पराश्रितपना) कहलाता है, वह व्यवहाररूप या भेदरूप कथन, मोक्षका मार्ग नहीं है (अभूतार्थ है) ऐसा समझना चाहिये। कथन या शब्द या भेद मोक्षका मार्ग या मोक्षमें पहुँचानेवाले नहीं हैं किन्तु गुण अभिन्न ही जीवको मोक्षमें पहुँचानेवाले होते हैं। व्यवहार मोक्षमार्गका निषेध किया जाता है, वह सत्य व सत्ताधारी नहीं है। मोक्षका मार्ग यथार्थमें एक (रत्नत्रयके समुदायरूप ही है किन्तु भेदरूप या पराश्रित या पर्यायाश्रित (संयोगी अवस्थारूप) अथवा व्यवहाररूप नहीं है। यह[1] सारांश है। पेश्तर श्लोक नं० ४ में भी मुख्योपचारपद द्वारा निश्चय और व्यवहार अर्थ लिया गया है, शब्दभेदसे अर्थभेद सर्वत्र नहीं होता।

शंका—मोक्षमार्गको दो भेदरूप बतानेका क्या प्रयोजन है?

इसका उत्तर—प्रमादी व अज्ञानी जीवोंको सुधारनेका लक्ष्य है, कि किसी तरह वे संसारसे पार हो जायें, उनकी रुचि आत्मकल्याणकी ओर हो जाय, अशुभसे छूटें। शुभराग सहित सम्यग्दर्शनादि, व्यवहारमोक्षमार्ग (पर्यायाश्रित) कहलाता है और वीतरागता सहित सम्यग्दर्शनादि, निश्चयमोक्षमार्ग कहलाता है। परन्तु निश्चयमोक्षमार्गका प्राप्त होना आजकल सरल नहीं है, अधिकतर व्यवहारमोक्षमार्गका होना संभव है। अतएव स्वेच्छाचारी प्रमादी जीव यदि अशुभरागादिको छोड़कर, शुभरागादिमें ही लग जाय या उसमें रुचि करने लगें तो भी कुछ लाभ हो जायगा, पुण्यका बन्ध होने लगेगा, पापका बंध होना बन्द हो जायगा। अतः करुणाबुद्धिसे दो भेद किये गये हैं। उद्देश्य या प्रयोजन अच्छा है। लेकिन यह ध्यान रहे कि यह आलम्बन प्रारम्भ दशामें रहने तकको है, आगेके लिए नहीं है।

उक्तं च—

काले कलौ चले चित्ते देहे अन्नादिकीटके।
इदमेव महच्चित्रं जिनलिंगधराः नराः॥

तत्त्वको, स्वरूपको यथार्थ समझकर यदि धारणा (श्रद्धा) बनाई जावे और कार्य किया जाय तो अवश्य लाभ हो लेकिन बिना यथार्थ समझे मनमानी धारणा बनाकर कार्य (प्रवृत्ति) करनेसे कभी अभीष्ट लाभ (इष्टप्राप्ति) नहीं हो सकता, यह ध्रुव है, व्यवहारके ३ भेद होते हैं।

---

१. गुणोंकी प्राप्ति करना 'करनी' कहलाती है। उसीको निश्चय कहते हैं। और प्राप्ति नहीं करना, खाली कहना मात्र 'कथनी' कहलाती है। उसको व्यवहार कहते है। इन दोनोंमें (करने व कहनेमें) करना श्रेष्ठ है—कार्यकारी है किन्तु कहना श्रेष्ठ व कार्यकारी नहीं है। इसीसे सूक्तियोंमें कहा जाता है कि कथनीसे करनीका दरजा ऊँचा है। पं० द्यानतरामजीने भी लिखा है कि—करनी कर कथनी करे, द्यानत सोई साँचा, इत्यादि। निश्चय व्यवहारका आशय व भेद समझना चाहिये। तदनुसार 'प्राप्ति' मोक्षका कारण है, कथनी मोक्षका कारण नहीं है—वह व्यवहाररूप है।

(१) भेदाश्रित (अखण्डमें खण्ड कल्पना करनारूप), (२) पराश्रित (दूसरेकी सहायता लेने रूप) अर्थात् निमित्तोंकी अपेक्षासे करनेरूप, (३) पर्यायाश्रित (संयोगी पर्यायके समान माननेरूप) क्योंकि यथार्थमें वस्तु या आत्मा वैसी नहीं है। खाली कल्पना करना है पूर्वमें कई वार कहा भी गया है ॥२२२॥

आचार्य मुक्त आत्मा (मोक्षगामी जीव) का स्वरूप वताते हैं।

अनुपम स्थायी सच्चिदानन्दरूप है

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव[1] परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥२२३॥

पद्य

आस्मान की तरह हमेशा जो निर्मल ही रहता है।
नहीं घात सकता है कोई निजस्वरूप में रमता है॥
ऐसा शुद्ध आत्मा पाता निर्मल सुखद परमपद[2] को।
और नहीं कोई पा सकता है, पामर[3] रागी उस पद को ॥२४३॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [परमपुरुषः] मुक्तात्मा [नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितः निरुपघातः गगनमिव विशदतमः] नित्य है, निरंजन है, स्वरूपमें लीन है, वाधा आदि उपद्रवोंसे रहित है, आकाशकी तरह अत्यन्त निर्मल है, ऐसा अनेक गुणसम्पन्न होता हुआ [परमपदे स्फुरति] मोक्ष स्थानमें स्फुरायमान होता है अर्थात् सदैव प्रकाशमान रहता है ॥२२३॥

भावार्थ—आत्मा (जीव) का उपर्युक्त स्वरूप स्वाभाविक है जो हमेशा उसमें मौजूद रहता है। द्रव्यदृष्टिसे कभी वह नहीं वदलता ज्योंका त्यों रहता है। 'काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या, यह आगमका कथन है। इसका सम्वन्ध मोक्षसे है। किन्तु वह मोक्ष, शुद्ध अर्थात् अनादिकालीन परसंयोगसे रहित आत्माकी अवस्थाका ही नाम है, वह आत्मासे भिन्न परद्रव्यरूप नहीं है, अतएव वह स्वाश्रित है अर्थात् निश्चयसे आत्माका ही है, परका (आकाशादिका) नहीं है।[4] अतः आत्माके प्रदेशोंके साथ अनादिकालसे संयुक्त पर द्रव्यों (कर्म नोकर्मादि) का वियोग हो जाना अथवा संयोग छूट जाना ही मोक्षका लक्षण समझना चाहिये। वह सच्चिदानन्दस्वरूप मुक्तात्मा (नित्य ज्ञान दर्शन सुखवाला) अनन्तकालतक अपने निजस्वरूप

---

१. आकाश या आस्मान।
२. मोक्ष स्थान।
३. कायर या अभव्य मिथ्यादृष्टि।
४. 'निरवशेपनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनः आत्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्षः' —सर्वार्थसिद्धिटीका।

में लीन रहता है, रमण करता है। इसीलिए मुमुक्षु उसके लिए उत्सुक व लालायित रहते हैं, ऐसा समझना चाहिये, वह सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है और प्राप्तव्य है, उपादेय है।

सारांश—परसंयोगसे छूट जाना अर्थात् निष्परिग्रह हो जाना ही मोक्ष है, जबतक थोड़ा भी परका संयोग रहेगा तबतक मोक्ष नहीं होगा, परिग्रही मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते यह पक्का है। परिग्रह अन्तरंग व वहिरंग दो तरहका होता है। जब वह छूटता है तभी मोक्ष होता है। छूटनेका नाम ही मोक्ष है, धातुका यही अर्थ है ॥२२३॥

आचार्य—मुक्तात्माके स्वरूपको और भी खुलासा बताते हैं।

अन्यमतका खंडन करते हैं

कृतकृत्यः[1] परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा[2]।
परमानन्दनिमग्नो[3] ज्ञानमयो[4] नन्दति सदैव ॥२२४॥

पद्य

जहां नहीं कुछ बाकी रहता, करनेको परमात्माके।
सकल पदारथ जाने जाते, एककाल उस ज्ञानीके ॥
परम अतीन्द्रियसुख मिलता है कभी न अन्त होत जिसका।
ज्ञानानन्द स्वाद लेता है, काल अनन्त मोक्षपदका ॥ २२४ ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [परमात्मा परमपदे कृतकृत्यः] मुक्तात्मा मोक्षमें कृतकृत्य होजाता है अर्थात् निर्विकल्प निर्द्वन्द होजाता है, उसे कुछ करनेको शेष नहीं रहता तथा [सकलविषयविषयात्मा] त्रिलोकवर्त्ती सम्पूर्ण पदार्थोंको युगवत् (एक ही समयमें) सर्वथा जान लेता है (सर्वज्ञ होनेसे) और [परमानंदनिमग्नः] सर्वोत्कृष्ट (निराकुल) अनंत सुखको भोगता है तथा [ज्ञानमयः] सर्वोत्कृष्ट ज्ञानगुण सम्पन्न होता है अर्थात् केवलज्ञानी रहता है और ऐसा होकर [सदैव नंदति] हमेशा अनन्तकालतक परिपूर्ण रहता है (ज्योंका त्यों बना रहता है) ॥ २२४ ॥

भावार्थ—मोक्ष अवस्था आत्माकी सर्वोत्कृष्ट उच्च व अन्तिम अवस्था है याने अनुपम व अद्वितीय पद है। जहांपर अनंतकालतक कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतबल रहता है। नैयायिकों[5] आदिकी तरह आत्माके विशेष गौगुणोंका (ज्ञान

---

१. परिपूर्ण जो सबकर चुका हो।
२. सर्वज्ञ, सबपदार्थोंका ज्ञाता।
३. उत्कृष्ट सुख।
४. केवलज्ञानगुण सहित।
५. बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदः मोक्ष इति नैयायिकः।

सुखादिका) उच्छेद (अभाव) नहीं होता अर्थात् वे सब मौजूद रहते हैं अन्यथा वह जड़ होजायगा यह दोष आता है। इसी तरह वहां कोई परिवर्तन नहीं होता हमेशा एकसा रहता है, परिपूर्ण (कृतकृत्य) अवस्था होजाती है। शेष कुछ भी करनेको नहीं रहता, स्वस्थ अवस्था होजाती है, आकुलता आदिका नाम निशान नहीं रहता इत्यादि प्रकार गुणोंका समुदाय प्रकट होजाता है व औगुण नष्ट होजाते हैं ॥ २२४ ॥

आचार्य—दृष्टान्तपूर्वक अनेकान्त (स्याद्वाद) की सिद्धका उपाय (कुंजी—विधि या तरकीब) वतलाते हैं।

अन्तिम शिक्षा देते हैं

एकेनाकर्षन्ती[1] श्लथयन्ती[2] वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन[3] जयति जैनीनीतिर्[4]मन्थाननेत्र[5]मिव गोपी[6] ॥२२५॥

पद्य

जैननीतिसे निर्णय होता, सम्यक् वस्तुस्वरूपहिका।
मंथानीसे घीऊ निकलता यथा दूध दधि दोनोंका ॥
जैननीति 'स्याद्वाद' कहाती, अनेकान्तमय होती है।
द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दो विध, नाम धराती वह ही है ॥
एकनीति जब कड़ी जु होती, दुसरी ढीली रहती है।
इसी तरहसे वस्तुविषें भी, क्रमसे निर्णय करती है ॥
एक हाथ पीछे करती है, एक बढ़ाती आगे है।
ग्वालिनकी किरियावत् समझो सिद्धि अनेकी[7] होती है ॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [जैनी नीतिः] जैनन्याय (स्याद्वाद या अनेकान्तरूप) ही संसारमें विजयको प्राप्त होता है अर्थात् तमाम विवादों और मतभेदोंको मिटाकर सबमें मैत्री या एकता स्थापितकर विजयदुन्दुभि वजाता है क्योंकि [एकेन अन्तेन वस्तुतत्त्वं आकर्षन्ती] जैननीति (स्याद्वादन्याय) एक नयसे अर्थात् एक अपेक्षासे एकधर्मकी पुष्टि या सिद्धि करती है, उसकी मुख्यता रहती है। तथा [इतरेण अन्तेन श्लथयन्ती] दूसरे नय या धर्मसे दूसरे धर्मको गौण करती

---

१. कड़ी करना या तानना या मुख्य करना।
२. ढीली करना अर्थात् गौण करना।
३. धर्म।
४. स्याद्वादनय।
५. रस्सी, जिससे घुमाया जाता है।
६. ग्वालिन, घुमानेवाली।
७. अनेकान्तकी।

है। अर्थात् कथन करनेके समय एक नय मुख्य रहता है अतः वैसा ही कथन किया जाता है और दूसरा नय गौण रहता है अतः दूसरा धर्म नहीं कहा जाता, परन्तु वह शक्तिरूपसे मौजूद (सापेक्ष) अवश्य रहता है, नष्ट नहीं हो जाता जिसका प्रारूप (आकार प्रकार) ऐसा है कि कथंचित् ऐसा है और कथंचित् वैसा है, किन्तु सर्वथा न ऐसा है न वैसा है इत्यादि। यथा द्रव्यार्थिकनयसे ऐसा है (नित्य है) और पर्यायार्थिक नयसे ऐसा (अनित्य) है, लेकिन सापेक्ष विवक्षा या नयभेदसे ही अनेकधर्म या अनेकान्त वस्तुमें सिद्ध होते हैं। यह विधि (उपाय स्याद्वादनयरूप) और किसी मतमें नहीं पाई जाती, सिर्फ जैनमतमें ही पाई जाती है, जिससे सबका समाधान होजाता है, यही उत्कृष्टताकी निशानी है। यहांपर पुष्टिमें ग्वालिनका दृष्टान्त दिया जाता है कि [गोपी मन्थान-नेत्रमिव जयति] जैसे ग्वालिन स्त्री मथानीमें लगी रस्सीको जब एक हाथसे कड़ी और एक हाथसे ढीली करती है, तभी बार-बार ऐसा करते-करते दूध दहीमेंसे घी निकलता है, बिना ऐसा किये घी नहीं निकल सकता अर्थात् एक हाथकी रस्सीको ढीला करना और एक हाथकी रस्सीको चुस्त या कड़ा करना बस यही घी निकालनेकी रीति है। इसके विपरीत यदि रस्सीको कड़ा व ढीला न किया जाय, न घुमाया जाय, या दोनों हाथोंको खींच दिया जाय या ढीलाकर छोड़ दिया जाय तो घी नहीं निकल सकता व मटकिया फूट सकती है, ग्वालिन जमीनपर गिर पड़ सकती है, दूध दही बगर जा सकता है इत्यादि नुकसान ही होना सम्भव है। ऐसी अन्तिम शिक्षा देकर आचार्य ग्रन्थको समाप्तकर रहे हैं कि हमेशा गौणमुख्य न्यायसे अर्थात् व्यवहार और निश्चयसे या द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयसे समय-समयपर विवक्षा बदल करके अनेकान्त या एक वस्तुमें अनेक धर्मोंकी सिद्धि बराबर होसकती है कोई बाधा या अड़चन नहीं आती, परन्तु सर्वथा या एकान्तपक्ष (निरपेक्षता) छोड़ देना चाहिये जो कि मिथ्यात्वकी निशानी (लिंग) है वस्तु सापेक्ष है।

शब्दोंके द्वारा पदार्थके सभी धर्म एकसाथ नहीं कहे जासकते यह न्याय है एक बारमें एक ही धर्म कहा जाता है। अतएव उतना ही एकधर्म मान बैठना अज्ञानता है या पक्षपात या एकान्त है। ऐसी स्थितिमें जैननीति (स्याद्वादनीति) यह कहती व समझाती है कि 'इतनी ही वस्तु नहीं है, किन्तु यह वस्तुका एक देश है, अभी वस्तुमें और अंश (धर्म) भरे हुए हैं जो क्रमशः अनेक बार कहे जायंगे घबड़ाना नहीं। कथंचित् और स्याद्वाद या अनेकान्तकी कड़ी सबको एकत्रित कर सुमार्गपर लाती है, कुमार्गपर जानेसे बचाती है अतएव उसीकी विजय हमेशा होती है।। २२५।।

आचार्य अन्तमें अपनी लघुता या अकर्तृता बतलाते हैं।

निश्चयनयका कथन करते हैं

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनः अस्माभिः ।।२२६।।

तरह तरहके वर्णोंसे ही पद बनते हैं नानारूप।
नानारूप पदोंसे बनते वाक्य अनेक प्रकार सरूप।।

वाक्योंसे ही शास्त्र बनत हैं, नहीं बनानेवाले हम ।
यह सत्यारथ वात कही है, कर्त्ता हमें न मानो तुम ॥२२६॥

अन्वय अर्थ—आचार्य कहते हैं कि [चित्रैः वर्णैः पदानि कृतानि] तरह-तरहके अक्षरों (वर्णों) ने पद वनाए हैं अर्थात् अक्षर ही पद वनाते हैं। [तु चित्रैः पदैः वाक्यानि कृतानि] और तरह-तरह के पदों द्वारा वाक्य वनते हैं अर्थात् पद वाक्योंको वनाते हैं। तथा [वाक्यैः इदं पवित्रं शास्त्रं कृतं] वाक्योंने यह पवित्र (शुद्ध निर्दोष) शास्त्र वनाया है (पुरुषार्थसिद्धयुपाय)। [पुनः अस्माभिः न कृतं] तव हमारा इसमें कुछ नहीं लगा है अर्थात् हम इस शास्त्रके कर्त्ता नहीं हैं ऐसा समझना, इस प्रकार लघुता व सचाई वतलाई है ॥२२६॥

भावार्थ—मुमुक्षुजन मान वड़ाई नहीं चाहते और हृदयसे सच्ची वात कहते हैं। उपर्युक्त कथन आचार्य महाराजकी शुद्धता व निरपेक्षताका द्योतक उज्ज्वल प्रमाण है। इस पर अवश्य अवश्य ध्यान देना चाहिये, तात्विक दृष्टिसे उनका कहना विलकुल सत्य है। उपादानताकी दृष्टिसे वे कभी परके (शास्त्र) के कर्त्ता नहीं हो सकते, पुद्गल द्रव्य ही है व हो सकती है वे तो सिर्फ निमित्त कारणमात्र हैं, तव उनको उपादान-कर्त्ता अर्थात् मूलकर्त्ता मानना भी असत्य है, अभूतार्थ (व्यवहार) है, सत्य वात तो पुद्गलको कर्त्ता मानना है। अतएव ऐसे स्पष्ट वक्ता-के चरणोंमें मेरा साष्टांग नमस्कार है। उनके तत्त्वनिरूपणको हृदयंगम कर मुझे अमित लाभ हुआ है अतएव मैं महान् कृतज्ञ हूँ, ओम् शान्तिः।

गुरुमंत्रः

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन, स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षट्मास्यमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद् भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिभीतिः किं चोपलब्धिः ॥३४॥

अर्थ—हे आत्मन् (जीव) तू निरर्थक (वेमतलव अप्रयोजनभूत) विकल्पोंमें मत पड़, उनसे तेरा प्रयोजन सिद्ध न होगा (स्वरूपोपलब्धि या आत्मदर्शन न होगा) तू तो साररूप एक काम कर कि 'षट्मास्य' छह कारकरूप विकल्पोंको छोड़कर सिर्फ एकत्व विभक्तरूप अपनेको देख (विचार) उपयोगको स्थिरकर, तव तुझको स्वयं अपने आप ही तेरे ही हृदय सरोवर (चंचल मन या उपयोग) में से एकाएकी 'आत्मदर्शन' होगा और निःसन्देह अवश्य होगा, विश्वास रख, जरा साधना करके देख, वात सही निकलेगी। यदि इतना नहीं कर सकेगा (अपने एकत्व विभक्त स्वरूपको देखनेके लिए मनको स्थिर न कर सकेगा अर्थात् सव तरफसे अथवा कर्त्ताकर्मादि छह कारकोंसे न हटायेगा) तो पुद्गल (जड़ कर्म व शरीरादि परद्रव्य)से भिन्न प्रकाशवाले चित् चमत्काररूप अनुपम विभूति सहित तेरी आत्माकी उपलब्धि तुझे कदापि न होगी, अर्थात् तुझे सम्यग्दर्शन प्राप्त होगा। अतएव तू विकल्पोंके भ्रमको निकालकर 'सर्वं त्यज एकं भज' के मन्त्रको वारंवार स्मरणकर, तभी तेरा कल्याण होगा। सारांशकी वात (शिक्षा) यही है अधिक कहनेकी जरूरत नहीं है। इस कार्यके लिए कालकी सीमा (छह माह) नहीं है, वह अन्तर्मुहूर्तमें हो सकता है।

नोट—इस श्लोकमें 'षणमासमेकं' यह पद कुछ संदिग्ध मालूम पड़ता है, वह कालमर्यादा सूचक नहीं होना चाहिये—इतना लम्बा काल आत्मोपलब्धिके लिए नहीं हो सकता और यह निश्चित कैसे किया गया इत्यादि प्रश्न होता है अतएव 'षटमास्य' पद रखनेसे 'षटम्+आस्य' छह कारक याने छह प्रकारके विकल्पोंको हटाकर—एकको याने शुद्धस्वरूप एकत्व विभक्तको देख (पश्य) यह सुन्दर घटित होता है विचार किया जाय, किम्बहुना।

जिस जीवने अपने जीवनमें और सब प्राप्त किया लेकिन सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं किया, उसने कुछ नहीं प्राप्त किया वह दरिद्री ही बना रहा क्योंकि जीवनमें सबसे उत्तम रत्न चिन्तामणि 'सम्यग्दर्शन' ही है, उसकी प्राप्ति विना जीवन निष्फल है। उसके बिना संसारके दुःख नहीं छूटते। अतएव जैसे बने तैसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अवश्य करना चाहिये, जीवनका यही सार है, अस्तु ॥२२९॥

भादों सुदी १४ सोमवार सन् १९६३ विक्रम संवत् २०२२ में भाषा-टीका पूर्ण हुई। शहर सागर म० प्र०, भाषाकार—मुन्नालाल रांधेलीय।

●

१. ईस्वी सन् १९६३।

आत्म-निवेदन, अपना परिचय (प्रशस्ति)

भाषाकारका वक्तव्य

सागर जिलाकी गोद[1]में, इक ग्राम 'पाटन' नाम है।
तहसील बंडा क्षेत्रसे, पश्चिम दिशामें धाम है॥ १॥

उस ग्रामके प्रख्यात मुखिया, सिंघई नन्हें लाल थे।
उनके—वंशीधर पुत्रसे, जन्मे जु 'मुन्नालाल' थे॥ २॥

माता उन्हींकी 'राधिका' जस नाम तस गुणवती थी।
उनके गरभसे जन्म लीना, जो गृहीमें श्रेष्ठ थीं॥ ३॥

वे पुण्यशाली जीव थे, जिनने चलाया 'रथ[2]' वहाँ।
जिनमन्द्र वृहत् बनायके—प्रतिष्ठा कराई थी महाँ॥ ४॥
अरु जाति उनकी 'गोलापूरव' गोत्र रांघेलीय था।
उसमें जु जन्मा कथानायक, भाई मझला नाम था॥ ५॥

थे तीन भाई सहोदर, अरु बड़े 'राजाराम' थे।
मझले जु मुन्नालाल हैं, संजले जु 'तुलसीराम' थे॥ ६॥

शिक्षा हुई देहातमें, जँह चार कक्षाएँ रहीं।
फिर जिलामें आकर उन्हींने संस्कृत शिक्षा गही॥ ७॥

व्याकरण अरु कोश काव्य, सुधर्म न्याय पढ़ा वहुत।
सिद्धान्तका अभ्यास करने मुरेना पहुँचे तुरत॥ ८॥

इस भाँति शिक्षा प्राप्तकर कुछ वर्ष अध्यापन किया।
फिर स्वयं ही वह छोड़कर व्यापारको अपना लिया॥ ९॥

नितकर्म पूजा पाठ अरु स्वाध्याय करना मुख्य था।
धार्मिक समाजिक कार्यमें भी भाग लेना ध्येय था॥१०॥

लेखन कलामें रुचि थी तव प्रथम रचना की स्वतः।
'भाषा स्वयंभू' स्तोत्रकी जो विद्यमान इतः ततः॥११॥

'मनमोहनीटीका' सुखद छहढालकी कीनी बृहत्।
वह भी प्रकाशित हो चुकी, अब माँग है उसकी बहुत॥१२॥

---

१. अन्तर्गत।

२. गजरज, हाथियोंके द्वारा चलनेवाला—पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराई थी सम्वत् १९४६ में नवीन मन्दिर वनवाकर जो अभी भी सुरक्षित है।

'श्रावकका नित कर्त्तव्य' लिखकर सजग कीना गृहीको।
अब लक्ष्य उनका प्रकट करने—इस अनूपम कृतिको ॥१३॥

'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' की टीका सु भावप्रकाशनी।
कह देंगे प्राय: श्रेष्ठजन, यह अन्धकारविनाशनी ॥१४॥

दोहा

तत्त्व जो इसमें भरा है, ग्रन्थ अनेक समाहिं।
भविजन बुधजन पाठकर भवसागर तर जाहिं ॥

अल्पज्ञानके हेतुसे भूल भई जो होय।
वृद्ध जान करियो क्षमा स्वारथ नाहिं जु कोय ॥

गुरु गणेशके निकटमें विद्या पढ़ी अनेक।
पूर्ण मनोरथ नहिं हुआ शल्य एक पर एक ॥

चौदश भादों मासकी शुक्ला सोम सुजान।
उन्निस सौ त्रेसठ जहाँ सन् ख्रिष्टाब्द[1] प्रमान ॥

सम्वत् सहस दो बीस है, सागर नगर महान्।
अल्पबुद्धि 'मुन्ना' रची, टीका सुखकी खान ॥

टीकाकाल

विक्रम सम्वत् उन्निस सौ, अरु पचासकी साल।
अगहनकारी द्वादशी, उपजो भारत लाल ॥

जन्मकाल

नेमि कमल कुमार दोई हैं, मेरे बच्चे।
इन्द्रानीके उदर-कूँखसे, प्रकटित अच्छे ॥
धनजनसे परिपूर्ण, बातके हैं वे सच्चे।
व्यसन आदिसे दूर, झगड़के हैं वे कच्चे ॥

वर्तमानकाल

---

१. ईस्वी सन्।

श्लोक नं० ४९ का स्पष्टीकरण

श्लोक पंक्ति नं० २ 'हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या' का खुलासा या गूढ़ार्थ यह है कि हिंसा दो प्रकारकी होती है (१) भावहिंसा (२) द्रव्यहिंसा। अपने भावोंमें विकारका होना अर्थात् मारने आदिका संकल्पविकल्प (इरादा) होना 'भावहिंसा' है कारण कि उस विकारीभावसे स्वयं उस जोवके भावप्राणोंका घात या हिंसा होती है—ज्ञानदर्शन सुख आदि नष्ट होते हैं अतएव वह तो अपनी हिंसा होना कहलाता है और वही यथार्थ व सत्य है, जो अपने आप होतो है। फलतः उसीका फल भोगना पड़ता है, सो उसको बचाना या भावहिंसा जिनसे हो उन परिणामों (भावों) का न करना ही निश्चयसे अहिंसाव्रत है यह सारांश है। हिंसाका मूल कारण वही है—परवस्तु या अन्य प्राणीका घात होना औपचारिक या व्यवहारसे हिंसा है ऐसा समझना चाहिये।

किन्तु शिथिलाचार या स्वच्छंदता न फैल जाय, इस भय व आशंकासे दूसरी द्रव्यहिंसाके न करनेका भी उपदेश दिया है कि कोई अन्य जोवोंको भी न मारे न खाये, अन्यथा उसको द्रव्यहिंसाका पाप अवश्य लगेगा। अतएव उससे बचनेके लिये द्रव्यहिंसाके आयतनों (आधारभूत अन्य जीवों) का भी विघात नहीं करना चाहिये अर्थात् उनकी रक्षा करना चाहिये, जिससे परिणाम विशुद्ध-करुणाभावरूप या दयारूप निर्मल (शुभरागरूप) रहते हैं और उनसे पुण्यका बंध होता है—पापबंध नहीं होता, यह लाभ है। अतएव जबतक पूर्ण विकारीभावोंका त्याग न हो सके (पूर्णवीतरागता न आवे) तबतक शुभरागरूप दयाका भाव होना भी अपेक्षाकृत अच्छा है। जब पूर्ण वीतरागता उत्पन्न हो जाती है तब अन्य जोवोंका भी विघात नहीं होता न उसके लिये कोई प्रयास (व्यापार) किया जाता है किम्बहुना। जीव पूर्ण अहिंसक भाव और द्रव्य दोनों प्रकारकी हिंसाओंके छोड़ने पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतएव मुख्य व गौण रूपसे दोनोंका त्याग करना अनिवार्य है ध्यान रहे।

श्लोक नं० १२४ का विशेषार्थ

अनंतानुबंधीकषाय मुख्यतः सम्यग्दर्शनकी घातक नहीं है किन्तु सहचर होनेसे गौणतया या उपचारसे वैसा कह दिया जाता है। यह बात श्री अमृतचन्द्राचार्यने ही स्वयं पंचास्तिकाय गाथा नं० १३८ की अपनी टीकामें स्पष्ट लिखी है यथा—'तत् कादाचित्कविशिष्टकषायक्षयोपशमे सत्यज्ञानिनो भवति' अर्थ—वह अकलुषतारूप परिणाम, विशिष्टकषाय (अनंतानुबंधी) के क्षयोपशम होने पर अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवके भी होता है यह खुलासा लिखा है। यदि कहीं अनंतानुबंधो सम्यक्त्वकी घातक होती तो उसके क्षयोपशम होने पर वह जीव अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) कैसे लिखा जाता या रह सकता था—वह तो अनंतानुबंधीके क्षयोपशम होने पर ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) ही बन जाता। अतएव निःसन्देह अनंतानुबंधीको मुख्यतः स्वरूपाचरणचारित्रकी घातक मानना चाहिये। फलतः जबतक मिथ्यात्वका भी उसके साथ क्षयोपशमादि न हो तबतक सम्यग्दर्शन कतई नहीं हो सकता, यह निष्कर्ष है अस्तु, विचार किया जाय।

●

१. निश्चय और व्यवहारका खुलासा

(स्वरूप व संधि व सम्बन्ध)

(१) निश्चय और (२) व्यवहार ये दोनों सापेक्ष संज्ञाएँ या नाम हैं, अतएव नामभेद तो है ही। इसी तरह लक्षणभेद भी बताया जाता है, उसको ध्यान देकर समझना चाहिये और परस्पर दोनोंकी संगति भी बैठालना चाहिये तभी बुद्धिमानी है। देखिये लक्षण भेद—

(१) 'स्वाश्रितो निश्चयः'	एवं	'पराश्रितो[1] व्यवहारः'	ऐसा कहा है	अथवा
(२) 'भूतार्थो निश्चयः'	एवं	'अभूतार्थो व्यवहारः'	,,	अथवा
(३) 'शुद्धरूपः निश्चयः'	एवं	'अशुद्धरूपः व्यवहारः'	,,	अथवा
(४) 'अभेदरूपः निश्चयः'	एवं	'भेदरूपः व्यवहारः'	,,	अथवा
(५) 'अखंडरूपः निश्चयः'	एवं	'खंडरूपः व्यवहारः'	,,	अथवा
(६) 'एकत्वरूपः निश्चयः'	एवं	'अनेकत्वरूपः व्यवहारः'	,,	अथवा
(७) 'विभक्तरूपः निश्चयः'	एवं	'अविभक्तरूपः व्यवहारः'	,,	अथवा
(८) 'स्वसंवेदनरूपः निश्चयः'	एवं	परसंवेदनरूपः व्यवहारः'	,,	अथवा
(९) 'अनेकात्मको निश्चयः'	एवं	एकान्तात्मको व्यवहारः'	,,	अथवा
(१०) 'साध्यरूपो निश्चयः'	एवं	'साधनरूपो व्यवहारः'	,,	अथवा
(११) 'उपेयरूपो निश्चयः'	एवं	'उपायरूपो व्यवहारः'	,,	अथवा
(१२) 'ज्ञानरूपो निश्चयः'	एवं	'वचनरूपो व्यवहारः'	,,	अथवा
(१३) 'सामान्यरूपो निश्चयः'	एवं	'विशेषरूपो व्यवहारः'	,,	अथवा
(१४) 'निर्विकारो निश्चयः'	एवं	'सविकारो व्यवहारः'	,,	अथवा
(१५) 'निरूपाधिको निश्चयः'	एवं	'सोपाधिको व्यवहारः'	,,	

इत्यादि अनेक प्रकारके लक्षण (निश्चय-व्यवहारके) आचार्योंने बताए हैं। जो कथन करने या समझनेकी शैली है। परन्तु लक्ष्यमें कोई भेद या फरक या विरोध नहीं होता, यह जैनन्याय (स्याद्वाद)की खास विशेषता है। स्याद्वादका विषय सर्वदा अनेकान्तरूप पदार्थ (वस्तु) है, एकान्तरूप वस्तु नहीं है, जिससे विरोध उपस्थित हो। अतएव विरोधको मिटाना स्याद्वादका प्रयोजन है और मित्रता या संधिको स्थापित करना या आह्वान करना उसका लक्ष्य है। बड़े-बड़े अनादिकालके विरोध उससे क्षणभरमें दूर हो जाते हैं। इसीसे निश्चय और व्यवहारका विरोध भी मिटाया गया है,।

नोट—यहाँ लक्ष्य और लक्षणका कथन जुदा-जुदा होनेसे व्यवहार समझना चाहिये, निश्चय नहीं।

---

१. पर्यायाश्रितो व्यवहारः, पराश्रितो व्यवहारः, भेदाश्रितो व्यवहारः ऐसे मुख्य ३ भेद व्यवहारके हैं।

सबकी संगति या एकीकरण (मैत्री)

[स्याद्वाद (अनेकान्त) की अध्यक्षतामें, द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिकनयसे विचार]

(१) द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे सभी द्रव्यें एकसमान (अखंड या अभेदरूप-निर्विकल्प) हैं अर्थात् उन द्रव्योंके गुण व पर्यायोंके प्रदेश[1] जुदे-जुदे न होनेसे एकरूप (पिंडाकार) हैं। तभी तो द्रव्यका लक्षण 'गुण-पर्ययवद् द्रव्यं' कहा गया है। अतएव जब उसमें कोई भेद ही नहीं है तब फिर अन्य विपक्षरूप भेद या आकार (व्यवहार) कैसे हो सकते हैं? कदापि नहीं हो सकते। यदि कोई बिना समझे अज्ञानतासे या एकान्तसे (स्याद्वादको बिना जाने माने अर्थात् वस्तु अनेक धर्मरूप है, ऐसा अनुभव किये बिना) भेद करे या माने तो वह व्यवहारमिथ्यादृष्टि होगा कारण कि उसने वस्तुस्वरूपको समझा ही नहीं है, अन्यथा भेद कभी नहीं करता अर्थात् सर्वथा भेद न करता, न कहता। विचारनेकी बात है कि जब मूलद्रव्य एकमात्र अखंडरूप या अभेदरूप है, दूसरा कोई आकार या विपक्ष उसमें नहीं है तब वैसा खंडरूप उसको मानना सरासर हठ-रूप मिथ्यात्व व मूर्खता है। हाँ यदि किसी कारणवश भेदका मानना अत्यावश्यक हो तो उसको पर्यायमें ही मानना अर्थात् वह भेद पर्यायमें (परिणमनमें) करना, द्रव्यमें नहीं करना तथा पर्यायमें भी सर्वथा भेद नहीं करना, कथंचित् भेद करना याने स्याद्वादनयका आश्रय लेना जो सच्चा निर्णायक व अध्यक्ष है। इसका खुलासा इस तरह है कि—द्रव्यगुणपर्यायके प्रदेश जुदे-जुदे तो हैं नहीं, अतएव तीनों अखंड या अभेदरूप (निश्चयरूप) हैं और नाम लक्षण प्रयोजन आदि जुदे-जुदे हैं अतएव कथंचित् भेदरूप भी हैं।

प्रकृतमें 'स्वाश्रित आदि पन्द्रह निश्चयके लक्षण' सब सपक्षरूप अखंड प्रदेशी हैं। अतएव नाम भेद होनेपर भी (लक्ष्यके साथ अभेद रूप है) अर्थभेद नहीं है। सभी एकसमान एकाकार याने अजहद्वृत्ति हैं, (स्वरूपमें अवस्थित हैं), उनमें नैयायिकादि परमतवालों की तरह सर्वथा भेद नहीं है, जिससे मिथ्यात्व सिद्ध हो। शेष जो 'पराश्रितादि, १५ विपक्षरूप हैं, वे सब अन्याकार याने निश्चयके आकारोंसे भिन्नप्रकार आकारवाले (लक्षणवाले) होनेसे, भेदरूप वनाम व्यवहाररूप हैं। ऐसा निश्चय और व्यवहारको खुलासा रूपसे समझना चाहिये जिससे कोई भ्रम न रहे, गड़बड़ी मिट जाय। इसमें भारी विवाद है। यदि एकबार शुद्धहृदय (पक्षपातरहितचित्त) से इसको स्याद्वादनयके आधारपर समझ लिया जाय तो हमेशाके लिये सच्चे सुखका स्वाद आने लगे, दुःख दूर हो जाय इत्यादि अनेकलाभ होने लगें। संक्षेपमें 'द्रव्य, और पर्यायमें अभेद व भेद अवश्य जान लेना चाहिये।[2] क्योंकि अनादिकालसे सर्वथा भेदरूप सब वस्तुएँ हैं ऐसी एकान्त-धारणा जीवोंको बनी हुई हैं जो गलत या अभूतार्थ है। असलमें उनमें कथंचित् भेद है ऐसी धारणा कर लेना चाहिये तब कल्याण होगा। व्यवहार देय है और निश्चय उपादेय है।

---

१. क्षेत्र या आधार।

२. द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यातिरेकतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ ७१ ॥ आप्तमीमांसा-समन्तभद्राचार्य।
भावार्थ—कहीं लक्ष्य (साध्य) और लक्षण (साधन) अभिन्नप्रदेशी (आत्मभूत) होते हैं। और कहीं लक्ष्य-लक्षण भिन्नप्रदेशी (अनात्मभूत) होते हैं, परन्तु भेद या खंड करनेसे सब व्यवहारके अन्तर्गत आता है। फलतः व्यवहार साधन और निश्चय साध्यरूप है। यही बात गा० नं० १५९ पंचास्तिकायग्रन्थमें बतलाई गई है।

नोट

यदि वास्तविक (सूक्ष्मतासे) निर्धार किया जाय तो ज्ञान (आत्मा) में स्वाश्रित-पराश्रित (निश्चय-व्यवहारके लक्षणरूप) आदि विकल्पोंका भीतर उठना और वचनोंद्वारा (वाहिर) कहना, यह सभी व्यवहार है (अभूतार्थ है) कारण कि वस्तु (पदार्थ-द्रव्य) अनिर्वचनीय (अवक्तव्य) है एवं निर्विकल्प है, वह तो सिर्फ ज्ञातव्य है अर्थात् ज्ञानकेद्वारा जाननेयोग्य है तथा जानी जाती है। तव वचनोंसे कहना उपचार है, पूरी नहीं कही जा सकती यह तात्पर्य है। अतएव सर्वथा ज्ञातव्य तो है किन्तु सर्वथा वक्तव्य नहीं है अथवा क्रमशः वक्तव्य है और एकसाथ पूरी (अक्रमसे) अवक्तव्य है। तव फिर उसमें लक्ष्य-लक्षणका विकल्प (खंड) करना सव व्यवहार है (असत्य अभूतार्थ अशुद्ध है) इत्यादि सत्यनिर्णय है। फलतः द्रव्यें या वस्तुएं सव जाननेकी हैं, कहनेकी नहीं हैं। यदि कही भी जांय तो पर (शब्दों) की सहायता लेनेसे व्यवहारपनाही सिद्ध होता है, यह खुलासा है, द्रव्यका लक्षण निम्न[1] प्रकार है। लक्ष्यलक्षणरूप भेदमें भी अभेद व भेद है यथा लक्ष्य और लक्षण दोनों एक साथ एकत्र रहते हैं, भिन्न २ नहीं रहते अतएव उनके प्रदेश या क्षेत्र या आधार एकही हैं (अभेदरूप है) तथा उनके नाम आदि सब जुदे २ हैं (भिन्न हैं) इसलिये अनेक हैं। फलतः स्याद्वाद या अनेकान्तकी अपेक्षासे कथंचित् अभेदरूप हैं और कथंचित् भेदरूप हैं, ऐसा निर्धार खुलासा सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

यही व्यवहार निश्चयकी संधि (मित्रता) है कि एकत्र साथ २ गौण-मुख्य रूपसे रहते हैं एवं निरावाध अपना-अपना स्वतंत्र कार्य करते हैं (सह अस्तित्वका परिचय देते हैं), वस्तुमें यह विशेषता है अर्थात् समान रूपसे सर्वथा भेदभाव रहित कार्य करनेका अवसर देना वड़ी भारी उदारता या अनुपम गुण वस्तुमें है। इसीलिये उसका 'वस्तु' ऐसा नाम रखा गया है, जिसमें समान्य-विशेष आदि सभी वसते हैं। फलतः व्यवहार भी निश्चयके साथ (भेद भी अभेदके साथ) कथंचित् उपादेय है, उपन्यसनीय है किन्तु सर्वथा उपन्यसनीय (आलम्बनीय) और आचरणीय (कर्त्तव्यरूप) नहीं है, यह तात्पर्य है (गा० ८ समयसार)। निश्चय और व्यवहार ये दोनों विकल्प हैं, जो संयोगी (अशुद्ध) पर्यायमें हुआ करते हैं अतएव पर्यायिके भेद हैं, द्रव्यके नहीं हैं, एवं विनाशीक भी हैं। सर्वदा आश्रयणीय (अनुभवयोग्य) नहीं हैं, आश्रयणीय एक अखंडद्रव्य ही है। विकल्प चाहे अपनेमें ही ज्ञानदर्शनचारित्रादिरूप उठें या अन्यज्ञेयोंके सम्वन्धमें उठें, सभी वर्जनीय व हेय हैं। जवतक आत्मामें एवं उसके ज्ञानश्रद्धानचारित्र आदि गुणोंमें निर्विकल्पता (खंडरहितता) एकाकारता वनाम समाधि, उत्पन्न या प्रकट नहीं होती, वैसी परिणति आत्मा व गुणोंमें नहीं होती, तव तक कल्याण या साध्यकी सिद्धि नहीं होती यह अटल नियम है।

यहां प्रश्न उठता है ?

कि क्या लक्ष्य-लक्षणरूप विकल्पका उठना और उनका कथन करना सर्वथा असत्य या हेय है ? यदि है तो पूर्वपरंपरा क्यों ऐसी चली आ रही है ? इसका समाधान निम्नप्रकार है—सर्वथा असत्य नहीं है, कथंचित् है, अर्थात् जिज्ञासुके प्रश्नके अनुसार उसको समझानेके प्रयोजनसे लक्ष्य व लक्षणका जुदा २ कथन करना

---

१. तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः-सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥ ८ ॥—पंचाध्यायी।

व समझाना सराग अवस्थामें उचित है, व उपादेय है, एवं वीतराग अवस्थामें वैसा भेद या विकल्प करना अनुचित हेय व वर्जनीय (निषिध्य) है अथवा नामादिक तो सत्यभेदरूप हैं किन्तु लक्ष्य व लक्षणके रहनेका आधार एक है याने अभेदरूप है अर्थात् जहां लक्ष्य रहता है वहीं उसका लक्षण भी रहता है अतएव भेद मानना या कहना असत्य है, इत्यादि ठोस समाधान है, इसको ध्यानमें रखना चाहिये। स्याद्वादकी यह रीति व नीति है। यहां तक द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे निश्चय-व्यवहार कहा गया हैं।

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे निश्चय व व्यवहार जब जीवकी पर्याय शुद्धवीतरागतामय होती है तब उसको निश्चयरूप जीव कहते हैं या अशुद्धजीव कहते हैं। और जब जीवकी पर्याय रागादिविकारमय होती है, तब उसको व्यवहाररूप जीव या अशुद्धजीव भी कहते हैं। ऐसा पर्यायकी अपेक्षा निश्चय-व्यवहार भेद कहा है उसे समझना चाहिये।

यहां प्रश्न है

कि जब व्यवहार हेय है (उपादेय नहीं) तब शास्त्रोंमें उसका उल्लेख या निरूपण क्यों किया गया है ? अरे, जिससे कोई प्रयोजन नहीं, उसका नाम भी क्यों लेना, वह सब व्यर्थ है, जिस गांवको जाना नहीं उसको क्यों पूंछना। **उत्तर निम्न प्रकार है**—वह ऐसा कि भ्रमनिवारण करनेके लिये या दोनोंमें भेद बतानेके लिये वैसा किया जाता है, यह एक निश्चय करनेका उपाय है अथवा सही गांवको जाननेकी विधि है। जब सामने अनेक गांव दिख रहे हों, उनमेंसे गन्तव्य गांवका पता लगानेके लिये, अगन्तव्य गांवोंका भी परिचय व नामादि पूंछा जाता है कि यह कौन गांव है ? उससे गन्तव्य गांवका मिलान किया जाता है, तब भ्रम या सन्देह मिट जाता है। लेकिन सच्चे गांवका पता शब्दों द्वारा पूंछनेसे ही तो लगता है। यदि शब्द न बोले जाते कि 'यह गांव कौन है, तो पता कैसे लगता, कौन उस गांवको बताता ? यह एक प्रश्न खड़ा रहता, समाधान नहीं होता तथा गांव स्वयं बोलता नहीं कि मैं वह गन्तव्य गांव हूं। ऐसी (पेंचीदी) परिस्थितिमें शब्दों या वाक्योंके द्वारा ही सच्चे गन्तव्य गांवका पता लग सकता है, अन्य उपायोंसे नहीं। तब उन शब्दों वाक्योंरूप व्यवहार (निमित्तसे) ही सत्यका पता लगता है यह न्याय है। यहां पर शब्दोंमें व्यवहारता इसलिये सिद्ध हुई कि वे गन्तव्य गांवके निश्चयरूप ज्ञान होनेमें सहायक हो गये अतएव सत्यज्ञानके होनेमें, यह कहा जाता है कि इसके वचनोंसे या कहनेसे ही हमको गांवका ज्ञान हुआ है या वचनोंने ही ज्ञान कराया है। फलतः परमार्थ (गन्तव्य गांव) का ज्ञान या पता, शब्दोंने ही कराया है या दिया है।

भावार्थ—असलीका पता देना या उसका जीवोंको ज्ञान कराना इत्यादि सब व्यवहारके ही अधीन ठहरता है अर्थात् व्यवहार ही निश्चयका ज्ञापक या सूचक होता है अतएव वह व्यवहार भी हीन अवस्थोंमें, जबतक प्रत्यक्ष या पूर्णज्ञान (सर्वदर्शी) नहीं होता तबतक वह भी आलम्बनीय (उपादेय) है। सारांश-स्याद्वादन्यायसे कथंचित् उपादेय है और कथंचित् (उच्चावस्थामें) हेय है (उपादेय नहीं है) ऐसा निर्धार करना या समझना चाहिये। पूर्णज्ञान (स्वावलंवीज्ञान) हो जाने पर शब्दादिककी सहायताकी आवश्यकता नहीं रहती इसी तरह गुरु-शिष्य या वक्ता-श्रोताका भी हाल है। शब्दोंद्वारा ही प्रश्न किया जाता है और शब्दोंद्वारा ही उत्तर देकर ज्ञान कराया जाता है। और यह परम्परा प्राचीन व सनातनी है। तथा नकलीके सहारेसे ही असलीका ज्ञान होता है। अर्थात् जब नकली और असली दोनों सामने हों तब

सत्य व सही निश्चय होता है कि यह नकली है और यह असली है पश्चात् यह असली उपादेय है और यह नकली हेय है इत्यादि निर्णय स्वयं हो जाता है। देखो, इसी पूर्वोक्ति अर्थ या प्रयोजनकी पुष्टिके लिये शास्त्र-कारोंने 'हस्तावलम्ब' और म्लेच्छभाषाका प्रयोग, ये शास्त्रीय उदाहरण दिये हैं सो वात एक ही है कोई फरक नहीं है, समझ लेना चाहिए। तात्पर्यार्थ—यह है कि व्यवहार व निश्चयका स्वरूप कथन करना दोनोंमें भेद वतानेके लिये होता है न कि दोनोंका ग्रहण या उपादान करानेके लिये होता है किन्तु जो प्रयोजनभूत होता है ग्रहण उसीका किया जाता है और जो अप्रयोजनभूत है उसका त्याग स्वयं होने लगता है, उसको जीव खुद छोड़ देता है। जैसे विष और अमृत दोनोंका स्वरूप कथन करनेसे दोनोंमें भेद मालूम होता और तव विषका त्याग व अमृतका ग्रहण होना स्वभाविक है।

इसके सिवाय कई एक शास्त्रोंमें[1] ऐसा भी कहा गया है कि 'व्यवहार' तीर्थ है याने मार्गरूप है अथवा तारनेवाला या पारलगानेवाला साधन (उपाय) है। और 'निश्चय' उस व्यवहारका फल है (उपेयवस्तु है)। अर्थात् जिसप्रकार साधनसे या मार्गसे साध्यकी (अभीष्ट स्थान या वस्तुकी) सिद्धि या प्राप्ति होती हैं, ठीक उसीप्रकार व्यवहार (साधन) द्वारा निश्चय (साध्य) की सिद्धि होती है, यह नियम है (अविना-भाव या व्याप्ति हैं)। इस तरह व्यवहार और निश्चयमें, तीर्थ और उसके फल जैसा सम्बन्ध समझना चाहिये, किन्तु व्यवहार व निश्चयका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिये, यह ध्यान रखा जाय। यदि कहीं ऐसा सर्वथा सम्बन्ध न माना जाय अर्थात् विलकुल सम्बन्ध तोड़ दिया जाय (कथंचित् भी सम्बन्ध न माना जाय) तव सव गड़वड़ी हो जायगी, तमाम लोक व्यवस्था नष्ट हो जायगी अर्थात् न कोई लौकिक कार्य करेगा याने कोई साधन न जुटायगा और साधनोंके विना न उसका कोई फल पायगा, यह वड़ी भारी हानि होगी या आपत्ति आयगी, सारा संसार अकर्मण्य हो जायगा और दुःख उठा-यगा। अतएव लौकिककार्य (असि-मषि-कृषि-विद्या-वाणिज्य-शिल्प आदि) सभी साधन (व्यवहार) समझ कर अवश्य करना चाहिये, सर्वथा वन्द नहीं कर देना चाहिये, तभी लोकरीति व नीति चलेगी। साथ ही इसके यही २ सव कार्य हमेशा न करते रहना चाहिये अर्थात् हमेशा इनके करनेमें ही मग्न या दत्तचित्त नहीं हो जाना चाहिये, कभी इनको छोड़कर आत्मध्यान आदिमें भी लगना चाहिये, तभी पूर्ण सुख मिलेगा या शान्ति प्राप्ति होगी। सारांश यह कि योग्यतानुसार समय पर व्यवहार और निश्चय दोनोंका अवलम्वन करना चाहिए एक कभी नहीं, यह शिक्षा दी गई है। कार्य करते रहना, व्यवहार (अशुद्धता) है और उसका त्याग करना, निश्चय है (शुद्धता है)। इसीका नाम-सरागमार्ग व वीतरागमार्ग है ऐसा क्रमशः इसे समझना चाहिये अथवा संसारमार्ग व मोक्षमार्ग समझना चाहिये। व्यवहार और निश्चय न सर्वथा हेय हैं न सर्वथा उपादेय हैं किन्तु कथंचित् हेय व उपादेय हैं। ऐसा जिनवाणी या स्याद्वादवाणी का उपदेश है। सिद्धान्तः निश्चय

---

१. जइ जिणमयं पविज्जइ तामा व्यवहारणिच्चये मुइये।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥१२॥ समयसार क्षेपकगाथा :

अर्थ—यदि कोई जैनमत (सिद्धान्त)को जानना चाहता है तो उसको निश्चय और व्यवहार दोनों नामोंका आलम्वन या सहारा लेना पड़ेगा अर्थात् दोनों ही परस्पर सापेक्ष रहनेसे अभीष्ट सिद्धि होगी (मनोरथ पूर्ण होगा)। एक किसीको छोड़ देने-पर पूरा पदार्थ समझमें नहीं आवेगा. न उसका वर्णन किया जा सकेगा यह आपत्ति होगी। अतएव व्यवहारको तीर्थ याने मार्ग-रूप समझना और निश्चयको तीर्थका फल अर्थात् अभीष्टस्थानकी प्राप्तिरूप समझना चाहिये यह सारांश है (साधनसाध्यरूप हैं)।

और व्यवहारमें परस्पर साध्य-साधनपना है अर्थात् निश्चय साध्य है और व्यवहार साधन है अर्थात् भेददृष्टि (विकल्परूप परिणति)के पश्चात् अभेददृष्टि (निर्विकल्प परिणति) होती है ऐसा क्रम है। तब विकल्प (व्यवहार) साधन सिद्ध होता है और निर्विकल्प (निश्चय) साध्य सिद्ध होता है। उसके पश्चात् अन्तिम साध्य (मोक्ष की सिद्धि (प्राप्ति) होती है। ऐसी स्थितिमें व्यवहार मोक्षका परम्परा (बिचौलिया-रूप) कारण सिद्ध होता, वह भी रूपान्तर हो करके अर्थात् निश्चयकी स्थितिमें आकरके (तदवस्थ रहते हुए नहीं) यह तात्पर्य है। गा० नं० १५९ पंचास्तिकाय ग्रन्थकी टीकामें देखो, साक्षात् व परम्परामें यह स्पष्टभेद है।

२. अभेद रत्नत्रय व भेदरत्नत्रय क्या है ? इसका खुलासा

(१) जिस सम्यग्दृष्टि आत्माके अनुभवमें कोइ खंड या भेदका अनुभव न हो, अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्रका भी भेद या विकल्प न हो, उसकी अभेद रत्नत्रयवाला शुद्ध या निश्चयसम्यग्दृष्टि कहते हैं। पर्यायकी अपेक्षासे उसीको वीतरागसम्यग्दृष्टि भी कहते हैं। वास्तवमें वही मोक्षगामी आत्मा होता है। कारण कि वह निर्विकल्प समाधि-वाला या ज्ञायकाकारमात्र अपनेको अनुभव करनेवाला हो सकता है, दूसरा नहीं।

(२) जिस सम्यग्दृष्टि जीवके अनुभवमें, ज्ञान-दर्शन-चारित्रका भेदरूप (खंडरूप या सविकल्प) अनुभव हो, या रागादिरूप भेदका भी अनुभव हो, उसको सराग या भेदरत्नत्रयधारी सम्यग्दृष्टि कहते हैं। यह मोक्षगामी उस अवस्थामें नहीं हो सकता यह नियम है। इसतरह अभेद रत्नत्रय व भेद रत्नत्रयका स्वरूप समझना चाहिये, अन्य प्रकार समझना गलत है।

प्रश्न :—सम्यग्दृष्टिके ऐसा क्यों होता है ? इसका उत्तर—

आत्मशक्ति (वीर्य)की कमीसे या संयोगीपर्याय होनेकी वजहसे या औपाधिकभावों (क्षायोपश-मिकादिभावों)के योगसे या अस्तित्वसे, अथवा उपयोगकी स्थिरता न होनेसे, व पूर्णवीतरागता प्राप्त न होनेसे, सारांश यह कि हीन अवस्था या अपूर्णदशा होनेसे पूर्वोक्त सभी उपद्रव (भेद वा विकल्प वगैरह) होते हैं जो आश्चर्यकी बात नहीं है। किन्तु वे सब विकल्प पर्यायमें होते हैं द्रव्यमें नहीं होते, द्रव्य और उसके गुण सदैव अछूते (शुद्ध एकाकार-भेद रहित) रहते हैं, यह अटल नियम है तथा सभी गुण भीतर ही भीतर गौणरूपसे कार्य करते रहते हैं, सिर्फ एक कोई गुण मुख्यरूपसे प्रकट काम करता है, जो सबको जाहिर होता है। इसीसे हीनदशामें उपयोगको मिश्ररूप कहा जाता है (गौण-मुख्यरूप) यह तात्पर्य है। जैसे कि ज्ञानके समय श्रद्धान भी रहता है और दोनों अपना २ कार्य करते रहते हैं कोई बाधा नहीं आती। ज्ञानकी मुख्यताके समय श्रद्धान गौण रहता है और श्रद्धानकी मुख्यताके समय ज्ञान गौण रहता है इत्यादि खुलसा समझना चाहिये, जिसमें भ्रम न रहे।

नोट—पूर्णशुद्धसम्यग्दृष्टिके ज्ञानमें विकल्प आदि कुछ नहीं उठते क्योंकि पूर्णशुद्धसम्यग्दृष्टि वह होता है जिसके साथ न संयोगीपर्याय हो, न उसके ज्ञानमें कोई विकल्प उपजे। किन्तु जिसके साथ संयोगी-पर्याय हो और विकल्प भी उपजें, उसको व्यवहार या उपचारसे पूर्ण या शुद्धसम्यग्दृष्टि कहना चाहिये, यह तत्त्वनिर्णय है, भूलना नहीं चाहिये।

३. निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शनकी भूमिका क्या है ?

(विषय-क्षेत्र-आधार क्या है) इसका खुलासा

(१) जो जीव सामान्य (द्रव्यत्व-गुणत्व-पर्यायत्व) के साथ विशेषको (मनुष्यादि संयोगी पर्यायको) यथार्थ (भेदज्ञान सहित या सामान्य विशेष परस्पर सापेक्ष, गौणमुख्यरूप) जानता है, उसको व्यवहारसम्यग्दृष्टि[1] कहते हैं। अतएव उसकी भूमिका या विषय भेदरूप है संयोगी पर्याय सहित द्रव्य है।

(२) जो जीव संयोगीपर्यायके विकल्प रहित एवं ज्ञानके विकल्प रहित शुद्ध-अखंड एक आत्माको यथार्थ जानता है, उसको निश्चय सम्यग्दृष्टि या शुद्ध सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उसकी भूमिका या विषय अभेदरूप है परस्पर सापेक्षता आदि सबमें रखता है अतएव सम्यक्पना है—मिथ्यापना नहीं है अस्तु।

भावार्थ—जहां पर (जिस अनुभव कालमें) अपने व्यक्तित्व (विशेष) आदि किसी भी वस्तुकी तरफ ख्याल या ध्यान न रहे ऐसे विकल्प शून्य (सामान्य) एकमात्र आत्मानुभवमें लीनता होनेका नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है किन्तु उस समय गौणरूपसे वे व्यक्तित्वादि परस्पर सापेक्ष अवश्य सत्तामें मौजूद रहते हैं, उनका अभाव नहीं हो जाता (साथ नहीं छूट जाता) यह तात्पर्य है।

और जहां पर अपने व्यक्तित्वादि (विशेष-भेद) भी प्रकट्रूपसे ध्यान (उपयोग) में रहें एवं ज्ञान-दर्शनादिका भी विकल्प उपयोगमें पाया जाय, उसको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

---

१. जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु यादि तस्सलयं ॥ ८० ॥ प्रवचनसार

अर्थ—जो भव्यजीव, अर्हन्तदेव (विशेष पर्याय) को, द्रव्यत्व गुणत्व पर्यात्व (सामान्य) सहित जानता है अर्थात् सामान्य सहित विशेष रूपसे सापेक्ष जानता है, वह जीव, मानो अपने व्यक्तित्व (विशेष) को भी द्रव्यत्वादि सामान्य सहित सापेक्ष जानता है कारण कि वस्तु (पदार्थ) का स्वरूप ऐसा ही है सापेक्ष है। तब वह व्यवहार सम्यग्दृष्टि हो जाता है—उसका अज्ञान (मोह मिथ्यात्व) नष्ट हो जाता है ऐसा स्पष्ट समझना चाहिये। यही बात आगे कहते हैं—

एको भावः सर्वभावस्वभावः, सर्वे भावाः एकभावस्वभावाः।
एको भावः तत्त्वतः येन बुद्धः, सर्वे भावाः तत्त्वतः तेन बुद्धाः ॥ १ ॥

अर्थ—जिस जीवने एक (जीवादि) पदार्थको अच्छी तरह जान लिया हो, समझलो उसने सब पदार्थोंको जान लिया है कारण कि जो स्वभाव (स्वरूप सामान्य) एक पदार्थका है, वही स्वभाव सब पदार्थोंका है ऐसा नियम है—वस्तुव्यवस्था है।

गाथाका तात्पयार्थ—यह है कि जब कोई चैतन्यनिधानज्ञानी जीव अपने ज्ञानका उपयोग कर अर्हन्त आदि परको और स्वयं अपनेको सामान्यविशेषरूपसे जानता है तब उस समय अज्ञान या मोह (अन्धकार) नष्ट हो जाता है अतएव ज्ञानस्वरूप उपयोगका हो जाना ही सम्यग्दर्शन नहीं तो और क्या है ? यह तात्पर्य है। अज्ञानको दूर करने का एक मात्र उपाय ज्ञानस्वरूप अपनी आत्माका संवेदन ही है, अर्थात् 'स्वसंवेदन है' बनाम स्वानुभव है। विचार किया जाय। ज्ञानसे अज्ञान नष्ट होता है यह न्याय है।

दूसरी तरहसे निश्चय व्यवहार सम्यग्दर्शनके भेद

(१) पर द्रव्योंसे भिन्न एक अखंड अपनी आत्माका ही श्रद्धान-अनुभव होना निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। इसमें एकत्व (सामान्य) की प्रधानता है तथा परद्रव्योंसे भिन्न यहाँ विशेषकी प्रधानता है। इस तरह समुदाय रूपसे (सामान्य विशेष मिलकर) 'एकत्व विभक्तरूप, आत्माका श्रद्धान ज्ञान होना निश्चय सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्ज्ञान सिद्ध होता है।

(२) जीवादि सात मोक्षमार्गोपयोगी तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करना, व्यवहार सम्यग्दर्शन है। प्रश्नः—यहाँपर व्यवहारता क्या है? जबकि यथार्थ श्रद्धान सभीमें मौजूद रहता है, तब फरक (भेद) क्यों है? इसका उत्तर यह है—कि श्रद्धान गुण, ज्ञान गुणकी तरह निर्विकल्प (भेद या खंड रहित) है, तब फिर उसमें सात खंड या भेद या आकाररूप विकल्प करना, यही व्यवहार है बनाम अखंडमें खंड करना है इत्यादि खुलासा है।

४. मोक्षके कारणोंमें भेद

यों तो मोक्षके कारण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीन हैं, यह सामान्य कथन है। किन्तु उसमें जो सम्यग्दर्शन कारण है, उसके दूसरी तरह दो भेद हैं (१) मुख्य कारण रूप (२) नियमित कारणरूप। यथा—(१) तत्त्वार्थ श्रद्धान, देवगुरुधर्मका श्रद्धान, स्वपरका श्रद्धान, आत्माका श्रद्धान—ये चार भेद मुख्य कारणके हैं अर्थात् ये होना ही चाहिये। किन्तु (२) नियमित कारण एक ही है और वह 'विपरीत अभिप्राय (श्रद्धान) से रहित होता है, अर्थात् अगृहीतमिथ्यात्त्वका छूटना है क्योंकि उसके होनेपर सम्यग्दर्शनका होना अनिवार्य है (व्याप्तिरूप है)। परन्तु पूर्वोक्त तत्त्वार्थश्रद्धान आदि चार कारणोंके रहते हुए सम्यग्दर्शनका होना अनिवार्य नहीं है, होय भी और नहीं भी होय ऐसा द्वन्द्वरूप (विकल्परूप भाज्य है) है ऐसा भेद समझ लेना चाहिये। नियम का अर्थ अविनाभावरूप व्याप्ति है किम्बहुना—इसी उक्त नियमको ध्यानमें रखनेसे स्पष्टरूपसे सम्यग्दर्शनके दो रूप या भेद सहज ही समझमें आ जा सकते हैं ध्यान दिया जाय!

सम्यग्दर्शनके दो भेद

(१) निश्चय सम्यग्दर्शन, जिस नियमित कारण (अगृहीत मिथ्यादर्शन या विपरीत श्रद्धानका अभाव होना) से सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होती है या मानी जाती है, याने नियमित (सच्चे) कारणकी बदौलत ही उसके कार्य (श्रद्धान) को भी सच्चा या सम्यक्दर्शन कहते हैं अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहां यह कथन कारणकी अपेक्षासे कार्यका भेद मानना रूप है अर्थात् सम्यग्दर्शनका भेद मानना रूप है। इसी तरह

(२) व्यवहार सम्यग्दर्शन, यह दूसरा भेद है। अर्थात् जिस सम्यग्दर्शनके कारण मुख्य तो हैं किन्तु नियमित न हों किन्तु भाज्य या विकल्प रूप हों (उनसे सम्यग्दर्शन होय न भी होय ऐसे हों) उन कारणोंके कार्यको सम्यग्दर्शन कहना यह संभावनारूप, उपचार ही है (अभूतार्थ है) ऐसा भेद समझना चाहिये। अरे! जिसको वास्तवमें (निश्चयमें) अखंड आत्माके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है उसको देवादिकके श्रद्धानरूप (भेद या खंडरूप) व्यवहार सम्यग्दर्शन तो हो ही जायगा (अभेद या अखंडका भेद या खंड होना संभव है—योग्य है) परन्तु खंड २ रूप व्यवहारसे अखंडरूप या अभेदरूप निश्चय हो ही जाय, यह निश्चित या ध्रुव नहीं है अतएव वह भाज्य रूप है। इस प्रकार कारणकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके दो भेद बतलाये उन्हें समझना चाहिये। दर्शन या सम्यग्दर्शन आत्माका ही गुणरूप अंश है। जो निश्चय (भूतार्थ) है किन्तु गुण-

गुणीका भेद करना व्यवहार है। भूतार्थ (निश्चय) का शब्दोंके द्वारा कथन करना भी व्यवहार कहलाता-है, यह व्यवहारका सामान्य लक्षण है, कारण कि निश्चयका ज्ञापन पराश्रित (शब्दाश्रित) होता है यह पराधीनता आती है।

८. साक्षात् केवली (सर्वज्ञ) के ज्ञानमें और श्रुतकेवली (परोक्षज्ञानी) के ज्ञानमें तारतम्य (हीनाधिकता) होता है।

(१) केवलीका ज्ञान सबसे बड़ा है, जिसमें विश्वका कोई पदार्थ विना जाने रह नहीं सकता, लेकिन उसके द्वारा जाने गये सम्पूर्ण पदार्थ सर्वतः कहे नहीं जा सकते, बहुत थोड़े कहे जाते हैं। जो कहे जाते हैं, उनका ही लेखन व वर्णन द्वादशांगरूप शास्त्रोंमें है, जिसको गणधर तैयार करते हैं। तदनुसार उन शास्त्रोंको परोक्ष जानने वाले जीव श्रुतकेवली माने जाते हैं। ऐसी स्थितिमें उनको केवली जैसा (जितना) ज्ञान न होनेसे तारतम्य (हीनाधिकता) पाया जाता है, बराबरी नहीं है। वैसे तो निश्चयसे संक्षेपमें वह जीव श्रुत-केवली है जो सिर्फ अपने शुद्ध (अखंड) आत्मामात्र को श्रुतज्ञान (स्वसंवेदनज्ञान) द्वारा जान लेता है। इसके सिवाय केवलज्ञान या कोई भी ज्ञान निश्चयसे ज्ञेयोंके आधीन नहीं है किन्तु[1] स्वतंत्र हैं (ज्ञेयोंके न होनेपर भी उनमें सर्वशक्ति है) ज्ञान व श्रद्धान गुणमें यह खास विशेषता है तथा ज्ञान-श्रद्धान दोनों ही अखंड या निर्विकल्प हैं, कभी उनमें खंड या विकल्प नहीं होते।

(२) ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) की दया और अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) की दयामें भेद (फर्क) है। इसका खुलासा पंचास्तिकायकी गाथा नं० १३७ में मौजूद है। सामान्यतः दया सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि दोनों पालते हैं (करते हैं)। परन्तु सम्यग्दृष्टि मुख्यतया अपनी दया अर्थात् अपनी आत्माकी रक्षा (बचाव) करता है और उसके लिये संसार शरीर भोगोंसे अरुचि (विरक्ति) करता है, उन्हें हेय समझकर अपना भाव या उपयोग रागादिकसे हटाकर वीतरागता (शुद्धता) में लगाता है, जिससे आस्रव और बंध नहीं होता, तब अपनी रक्षा वह कर लेता है यह तात्पर्य है। किन्तु जब उसके उपयोगमें रागपरिणति जोरदार होती है और उसका वेग वह नहीं रोक सकता तब अगत्या (मजबूरी में) वह अरुचि पूर्वक रागज्वरको शान्त (शमन) करनेके लिये रोगीकी तरह कड़वी औषधिको भी ग्रहण करता है (उत्साह और रुचिसे नहीं), जिससे थोड़ा आस्रव और बंध भी उसको होता है अर्थात् संवर और आस्रव दोनों होते हैं, परन्तु मुख्य व गौणका भेद रहता है ऐसा समझना चाहिये। तथा उपादेयबुद्धि वीतरागतामें ही रहती है, रागमें हेयबुद्धि रहती है।

(३) अज्ञानी मिथ्यादृष्टिके दयाभाव दूसरे तरहका रहता है, उसको प्रचुर राग रहता है, वैराग्य

---

१. णाणं णेयणिमित्तं केवलणाणं च णत्थि सुदणाणं।
णेयं केवलणाणं णाणाणाणं च णत्थि केवलिणो ॥गा० नं० ४१॥

अर्थ—ज्ञान ज्ञेयके अधीन नहीं है, तब केवलज्ञान भी श्रुतज्ञान या ज्ञेयके अधीन नहीं है। केवलज्ञान स्वयं ज्ञेयरूप है अत एव उसमें ज्ञानपना व अज्ञानपना दो धर्म नहीं हैं। फलतः सर्वज्ञता स्वाधीन ज्ञानसे ही सिद्ध हो जाती है फिर शंका क्यों करना ?

नहीं होता। परमकरुणाभावके पीछे वह अत्यन्त आर्द्रसंक्लेशपरिणामवाला हो जाता है, अपना कर्त्तव्य पूरा करना उसी कार्यको करनेमें मानता है, जिससे मोक्ष नहीं होता, संसारमें ही रहना पड़ता है, यह भाव है। यद्यपि है वह शुभराग तथापि हेय है, उपादेय नहीं है, ऐसा खुलासा समझना चाहिये। फलतः कथंचित् पदके अनुसार दोनों उपाय है। अज्ञानी परदयाको ही दया समझता है स्वदयाको नहीं समझता।[1]

(४) आत्मा या ज्ञानमें मेचकता (अनेकरूपता) व अमेचकताका निर्णय :—

'दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः, एकोपि त्रिस्वभावत्वात् व्यवहारेण मेचकः॥ १७॥ 'परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः, सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः॥ १८॥ समयसारकलश

अर्थः—पर्यायरूप नाम या व्यवहारकी अपेक्षासे एक ही वस्तु अनेकरूप वनाम मेचकरूप मानी जाती है। ऐसा वस्तुमें अनेकरूप या अनेकान्तरूप स्वभाव है। स्वतः सिद्धशक्ति व परिणमन (व्यक्ति) है तव वैसा माननेमें कोई विरोध या आश्चर्य नहीं है, ऐसा निश्चय या समाधान कर लेना चाहिये

६. निमित्त व उपादानमें भेद और उसका खुलासा दोनों स्वतंत्र पदार्थ हैं

(१) एक ही पदार्थमें निमित्तता व उपादानता दोनों धर्म पाये जाते हैं क्योंकि प्रत्येक वस्तु या पदार्थ अनेकान्तरूप है (अनेक धर्मवाला है)। किन्तु एक दूसरी वस्तुके प्रति विचार करनेपर एक वस्तुका स्वभाव, उसका अपना उपादन होता है अर्थात् गुण उपादानरूप माना जाता है तथा परवस्तुके प्रति, वही स्वभाव या गुणरूप उपादान निमित्त माना जाता है, यह निर्धार है। कार्यपर्यायको उत्पन्न करनेवाला नियमरूप उपादान कारण ही होता है, निमित्तकारण नहीं, यह निश्चित है। कारण कि निमित्तसमूह रहते हुए भी उपादानके विना कार्य कभी प्रकट नहीं होता, यह प्रत्यक्ष देखने में आता है। अथवा—

(२) एक ही पदार्थमें रहनेवाला उपादान और निमित्त उसी पदार्थकी कार्यपर्यायको प्रकट करनेवाला होता है, अन्य पदार्थके प्रति असमर्थ और निरर्थक है, यह अकाट्य नियम है। जैसे कि घटकार्यके प्रति उसका उपादान कारण मिट्टी और निमित्त कारण (सहकारी) स्थास कोशकुशूलादि होते हैं तभी वह घट उसमें वनता है। दोनों ही अभिन्नप्रदेशी व सद्भूत व्यवहाररूप हैं। कुंभकार आदि सव भिन्न प्रदेशी व असद्भूत व्यवहाररूप हैं। अतएव उनको निमित्तकारण माननेपर निमित्तोंकी संख्या सीमित न रहेगी एवं वस्तु पराधीन हो जायगी। लोकका न्याय और आगमका न्याय पृथक् २ होता है। सारांश यह कि मूलद्रव्यको उपादान कारण कहते हैं और उसकी पूर्वपर्यायोंको निमित्तकारण कहते हैं। तदनुसार उपादान निश्चयरूप है और निमित्त व्यवहाररूप है, इस तरहकी संगति विठा ली जाती है। उक्तं—'साध्यसाधनभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्'॥ कलश समयसार १५॥ तथा पं० वनारसीदासजी नाटकसमयसारमें लिखते हैं—

उपादान निज गुण जहाँ, वहाँ निमित्त पर होय। उपादान परमाणविधि, विरला वूझे कोय॥ १॥
उपादान वल जंह तहां, नहिं निमित्तको दाव। एकचक्र सों रथ चले रविको यही स्वभाव॥ २॥
सधै वस्तु असहाय जंह तंह निमित्त हैं कौन। ज्यों जहाज परवाहमें तिरे सहज विन पौन॥ ३॥

---

१. दया दया सव कोई कहे दया न जाने कोय।
स्वपरदया जाने विना दया कहाँ से होय॥
पंचास्तिकायकी टीकामें उल्लिखित है।

नोट—सच्ची निमित्त-उपादानता, अभिन्नप्रदेशवाले पदार्थोंमें होती है, भिन्नप्रदेशवालोंमें मानना उपचार है।

सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके निमित्तकारण कौन हैं ? उनका खुलासा—

निश्चयनयसे सम्यग्दर्शनका निमित्तकारण, विपरीत अभिप्रायका निकल जाना है तथा व्यवहारनयसे सम्यग्दर्शनका निमित्तकारण मिथ्यात्व कर्मका उपशम-क्षय-क्षयोपशम है। इसी तरह निश्चयसे मिथ्यादर्शनका निमित्तकारण विपरीत अभिप्रायका अस्तित्त्व है तथा व्यवहारनयसे मिथ्यादर्शनके निमित्तकारण मिथ्यात्वकर्म का सत्त्व व उदय है।

उपादान कारण कौन हैं ? उनका खुलासा—

शुद्धनिश्चयनयसे सम्यग्दर्शनका उपादान कारण, स्वयं आत्मद्रव्य है अखंडचैतन्य ज्ञायकाकार एक तथा अशुद्धनिश्चयनयसे भेदरूप आत्मद्रव्य ही उपादानरूप है तथा अशुद्धनिश्चयनयसे आत्मद्रव्य ही मिथ्यादर्शनका उपादानकारण है परन्तु औपाधिकभाव होनेसे विनश्वर है, संयोगीपर्यायरूप है।

७. अनुजीवी व प्रतिजीवी गुणका खुलासा

जिनगुणोंसे जीवद्रव्यका अस्तित्व एवं व्यावृतत्व सिद्ध हो उनको (१) अनुजीवीगुण कहते हैं (सामान्यत : वे सभी द्रव्योंमें पृथक् पृथक् रहते हैं) जैसे कि जीवद्रव्यमें, जीवनत्व (चेतनत्त्व) को सिद्ध करने ज्ञानदर्शनसुखवल, मुख्य या विशेष गुण हैं, उन्हींसे जीवद्रव्यकी सत्ता और अन्यसे व्यावृत्ति (पृथकता) सिद्ध होती है। शेष (साधारण) गुण जैसे कि अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व आदिसे जीवत्व सिद्ध नहीं होता, अतएव वे सव प्रतिजीवी (जीवत्व या चेतनत्वसे भिन्न या विपरीत) हैं, कारण कि उनसे जीवत्व सिद्ध नहीं होता, ऐसा ही प्रत्येक द्रव्यमें समझना चाहिये। इसीका अर्थ अभावरूपगुण है अर्थात् अनुजीवी गुणोंके अभावरूप (भिन्न) हैं किन्तु सत्ताके अभावरूप अर्थ नहीं है, अन्यथा सिद्धान्तविरोध हो जायगा। ऐसी स्थितिमें जीवद्रव्यका अस्तित्त्व और अन्यद्रव्योंसे भिन्नत्त्व उसके अंगभूत या आत्मभूत गुण ज्ञानदर्शन ही सिद्ध करते हैं, अन्य कोई नहीं, यह निष्कर्ष है।

(२) प्रतिजीवीगुण, जिनगुणोंसे जीवका या द्रव्यमात्रका खास अस्तित्त्व सिद्ध नहीं किन्तु मात्र सहचरता सिद्ध हो, उनको प्रतिजीवी या अभावरूप उसके विपक्षी गुण कहते हैं। जैसे कि अस्तित्व वस्तुत्व अगुरुलघुत्व प्रयत्व आदि सामान्य (साधारण) गुण, क्यों कि वे जीवत्व (चेतनत्व) सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। उक्तं च—

प्रमेययत्त्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मक :।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मक :॥३॥ अकलंकदेवकृत स्वरूवसंवोधन ग्रन्थ,
प्रकाशक जैनसिद्धान्तप्र०(संस्था महावीरजी, राजस्थान)

अर्थ—प्रमेयत्वादिधर्मोंके द्वारा चेतनरूप आत्मामें चेतनता (जीवत्व)की सिद्धि नहीं होती क्योंकि वे सामान्यप्रतिजीवी गुण हैं। वस्तुतः उनसे अचेतनत्व ही सिद्ध होता है। तथा दर्शन ज्ञान आदि अनुजीवी गुणों के द्वारा चेतनता सिद्ध होती है। अतएव सिद्धि व असिद्धि इन दो नयों (न्यायदृष्टि)की अपेक्षासे आत्मा (जीवद्रव्य) दो तरह (चेतन व अचेतन)सिद्ध होता है। इसप्रकार अनुजीवी-प्रतिजीवी गुणोंका खुलासा है, भ्रम नहीं रखना चाहिये।

भावार्थ—असलमें आत्मा अचेतन (जड़रूप) नहीं है किन्तु हेतुओं या सामान्य गुणों या प्रतिजीवी-गुणोंके द्वारा उसमें चेतनता सिद्ध नहीं होती और विशेषगुणों या अनुजीवीगुणों (हेतुओं)के द्वारा चेतनता सिद्ध होती है, यह बतलाया गया है—दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है सिर्फ लक्षण-लक्ष्यको शुद्ध निर्दोष बनानेका प्रयोजन है अस्तु । मेरी समझ में जो आया वह लिखा है, बुद्धिमान् विचार कर मान्यता देवें, किम्बहुना ।

८. सात तत्त्वोंमें विपरीतताका खुलासा (विपरीत श्रद्धान क्या है इत्यादि)

जैसा जीवद्रव्यका यथार्थ (सत्य) स्वरूप है वैसा न जानकर उससे उल्टा या भिन्न प्रकार जानना व मानना (श्रद्धान करना) जीवतत्त्वका मिथ्या ज्ञान श्रद्धान है अर्थात् जीवके विषयमें विपरीतता है । क्योंकि जीवका सच्चा स्वरूप दर्शनज्ञानचारित्र है तथा परसे भिन्न और अपने गुणोंसे अभिन्न है । उसको वैसा न जानकर पुद्गलादि परमें उसे मिलाकर अभिन्न जानना व मानना, विपरीत श्रद्धान व विपरीत ज्ञान है तथा जीवको इन्द्रियादि दश प्राण वाला मानना जो संयोगीपर्याय है, जिसमें जीव और अजीव (पुद्गल) दो द्रव्यें संयोगरूपसे मिली हुई हैं । इसमें विपरीतता या गलती यह है कि वह श्रद्धान व ज्ञान अकेले (शुद्ध) जीवद्रव्यका नहीं है किन्तु दो द्रव्योंके मेलसे बनी संयोगीपर्याय (अशुद्ध)का है । यही अयथार्थ या मिथ्यास्वरूप जीवद्रव्यका है । फलतः उस ज्ञानश्रद्धानसे मोक्ष कभी नहीं हो सकता । मोक्ष कर्मोंके क्षयसे होता है परन्तु उक्त मिथ्याश्रद्धानी जीवके कर्मोंका क्षय या संवर नहीं होता अपितु आस्रव और बंध होता है क्योंकि परमें और अपनेमें भेद न माननेसे परमें रागादिविकारी (अशुद्ध) भाव हमेशा होते रहते हैं; जिससे कर्मोंकी सन्तति निरंतर जारी रहती है कभी नष्ट नहीं होती यह तात्पर्य है । यही विपरीतश्रद्धा संसारका कारण है । सारांश—पृथक् २ दो द्रव्योंको अभेदरूप (अपृथक्)मानना, जो असंभव है, मिथ्या है ।

(२) इसी तरह अजीवद्रव्योंमें (पुद्गलमें)भी विपरीतश्रद्धाका होना संभव है, यथा पुद्गलका सत्य स्वरूप रूपरसगंधस्पर्श है, तथा परसे भिन्न है (जीवादि सबसे पृथक् है और वह सिर्फ अपने-पुद्गलमें ही रहता है । उसको वैसा न मानकर उल्टा मानना मिथ्याश्रद्धा या विपरीतता है । यथा सभी शरीरादि व धनादि मेरे (जीवात्मा)के हैं अर्थात् मेरेमें व उनमें भेद नहीं है, जो मैं हूँ सो वे हैं, और वे हैं, सो मैं हूँ, दोनोंमें (भिन्न २ होनेपर भी) कोई भेद (पृथक्ता) नहीं है । अजीवतत्त्वमें विपरीतता (मिथ्यात्व) समझना चाहिये । इसीका नाम अज्ञानता है । बुद्धिभ्रम है ।

प्रश्न—जीव तो ज्ञानमय या ज्ञानस्वरूप है, वह अज्ञानी कैसे ?

उत्तर—इस प्रकार है कि जबतक जीवका ज्ञान, जो उसकी सत्तामें है, भेदज्ञानरूप न हो अर्थात् भेद-ज्ञानरूप पर्यायको धारण न करे (प्राप्त न हो) तबतक वह अज्ञानी ही रहेगा, चाहे वह कुछ भी जाने या करे, उसकी अज्ञानता दूर न होगी । अतएव ज्ञान रहित न होनेपर भी भेदज्ञानरूप पर्यायके अभावमें अज्ञानी है व माना जाता है (यह आपेक्षिक कथन है) किन्तु सर्वथा ज्ञानशून्य आतमा कभी नहीं रहता, यह सिद्धान्त है, जिसका खुलासा निम्न प्रकार है ।

जैसा आगमशास्त्रोंमें जीव अजीवका स्वरूप लिखा है, उससे भिन्न प्रकार मानना मिथ्यात्व या विपरीतता है, यह निष्कर्ष है (मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ७ पेज २२५ से आगे)

निर्णय—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥८॥—कुछ रूपान्तर बृहद् द्रव्यसंग्रह ।

ज्ञानगुणवाला आत्मा अनादिकालसे अज्ञानपर्याय सहित हो रहा है अर्थात् उसके ज्ञानगुणकी पर्याय अज्ञानरूप वनाम सवको अपना मानने रूप (भेदज्ञानरहित) अशुद्ध हो रही है और वह इस तरह कि— ज्ञानवान् (चैतन्यनिधानजीव) आत्मा शुद्धस्फटिक या दर्पणकी तरह अत्यन्त स्वच्छ एवं निर्मल है, उसमें कोई मल या विकार (रागादि व अज्ञानादि) नहीं है सिर्फ उसमें एक स्वच्छता ही मौजूद है (यह वस्तु स्थिति है) । लेकिन इस सचाई (सत्यता) को न जानकर वह भेदज्ञान रहित अज्ञानी जीव, अपने आत्माके उस स्वच्छ निर्मल स्वभावमें जो तमाम (कुल) पदार्थ, रागादि व अजीवादि, प्रतिविम्बित होते हैं (झलकते हैं) उनको वह अज्ञानी जीव अपने मानकर अपने साथ एकता (अभेद) करता है कि मुझमें और इनमें कोई भेद नहीं है, सब मेरे ही हैं, जो असंभव है, त्रिकालमें वे एक नहीं हो सकते, सबकी सत्ता जुदी २ है । वस यही भ्रम एवं अज्ञान है, यह मूलमें भूल या गलती है । दूसरी गलती उनमें रागद्वेष करना तथा उन्हें इष्ट अनिष्ट मानना है । उसका नतीजा संसारकी वेलका वढ़ना है ।

ऐसी विकट (विषम) परिस्थितिमें जव कभी किसी तरह उसी अज्ञान पर्यायका अभाव होकर ज्ञान पर्याय (भेदज्ञानरूप) प्रकट हो तव जीवको सच्चा भेदज्ञान (सम्यग्ज्ञान) एवं सच्चा श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) प्राप्त हो और फिर वह अपनी भूलको समझे तथा उसको मेटने या हटानेका प्रयत्न (पुरुषार्थ) करे । देखो भेदज्ञान होनेपर वह भलीभांति समझता है कि मेरे आत्मदर्पण या स्फटिकमें जो प्रतिविम्वरूप पदार्थ झलके हैं वे मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूँ । दोनोंका परस्पर प्रतिविम्व-प्रतिविम्वक सम्वन्ध हैं, प्रकाश्य-प्रकाशक एवं ज्ञेय-ज्ञायक सम्वन्ध है किन्तु एकत्व या तादात्म सम्बन्ध नहीं है । तव उनमें एकता या रागद्वेषादि क्यों करना ? सव व्यर्थ हैं, और वैसा करना अपराध है संसारका कारण है । मेरी सत्ता व ज्ञेयोंकी सत्ता सव पृथक् २ हैं । इस तरह समझने पर ही जीव ज्ञानी या भेदज्ञानी सिद्ध होता है और अनादिकी अज्ञानता मिटती है तथा मोक्षमार्गी सम्यग्दृष्टि वह वनता है । परपदार्थोंमें एकताकी श्रद्धा व ज्ञानका होना ही विपरीतता है, मिथ्या वुद्धि है, जो हेय है— (गा० १९।२० समयसार)

नोट—यह निर्णय जीव और अजीव दोनोंकी विपरीततामें लागू होता है ।

इसी तरह आस्रव (३) वंध (४) संवर (५) निर्जरा (६) मोक्ष (७) इन ५ पांच मोक्षमार्गोपयोगी तत्त्वोंमें भी विपरीत श्रद्धा (मान्यता) को समझकर छोड़ देना चाहिये और सम्यक्श्रद्धा कर लेना चाहिये, यह सारांश है । देखो, आस्रवादि दो तरहके (संयोगीपर्यायमें) माने जाते हैं अर्थात् (१) स्वाश्रित (जीवगत) । (२) पराश्रित (पुद्गलगत) । ऐसी स्थिति में केवल पौद्गालिक कर्मोंका आना आस्रव है, उनका वंधना वंध है, उनका न आना संवर है, उनकी थोड़ी निर्जरा होना निर्जरा है तथा उनकी पूरी निर्जरा होना (पृथक् हो जाना) मोक्ष है । ऐसी एकान्त (एकपक्षीय) मान्यता विपरीत है, कारण कि वह सव दोके आश्रयसे होती है—एकके आश्रयसे नहीं होती, यह नियम है । विचार करने पर यह मान्यता और कथन व्यवहारी व उपचाररूप है क्योंकि मात्र पराश्रित है ।

इसी तरह—जीव द्रव्यमें रागादिक विकारी भावोंका होना, आस्रव है । (३) उन्हीं भावोंके साथ ठहरना वंध है । (४) उन भावोंका रुक जाना संवर है । (५) उन भावोंका थोड़ा क्षय हो जाना निर्जरा है । (६) उन भावोंका पूर्ण क्षय हो जाना मोक्ष है । (७) यह मान्यता व कथन अशुद्ध निश्चय नयका है क्योंकि जीवाश्रित या जीवके प्रदेशोंमें यह सव होता है । तथापि इन दोनों प्रकारके आस्रवादिमें परस्पर निमित्तनैमि-

त्तिक सम्बन्ध है तादात्म संबंध नहीं है ऐसा भेदविज्ञान यदि हो जाय तो वह सम्यक् श्रद्धान व सम्यग्ज्ञान कहलायगा, उसमें विपरीत मान्यता न रहेगी। सो ऐसा होना अनादिसे नहीं समझा है तभी जीव भूल कर मिथ्याश्रद्धानी मिथ्यादृष्टि हो गया है।

नोट—इसके सिवाय, जो जीव शुभराग (भक्ति स्तुति, दया, परोपकार दान पूजादि) को मोक्षका कारण मानता है एवं पुण्यबंधको हितकारी मानता है, अर्थात् परसे आत्मकल्याणका होना मानता है वह भी विपरीत श्रद्धावाला मिथ्या दृष्टि है, यतः पदार्थव्यवस्थाके अनुसार अपने द्वारा ही अपना कार्य होता है, पर द्वारा नहीं, यह शाश्वतिक नियम है ऐसा दृढ़ श्रद्धान करना चाहिये।

९. निर्जराके विषयमें भ्रमनिवारण

शास्त्रीय भाषामें निर्जराके दो भेद कहे गये हैं (१) औपक्रमिक या औद्योगिक (२) अनौपक्रमिक या वैस्रसिक अथवा सविपाक या अविपाक। किन्तु देशी भाषामें (१) अकाम निर्जरा (२) सकाम निर्जरा, ये नये शब्द (नाम) मालूम पड़ते हैं और इनका अर्थ भी अस्पष्ट प्रतीत होता है इसलिये तरह २ का किया जाता है, इनकी संगति ऊपरके नामोंसे नहीं बैठती है।

इस प्रसंगमें हमारा विचार निम्न प्रकार है उस पर विचार करना चाहिये ठीक मालूम हो तो मानना भी चाहिये, इसमें पक्षपातका कोई काम नहीं है, तत्त्वनिर्णयमें समदृष्टि होना चाहिये।

[१] अकामका हिन्दी अर्थ, कामकी नहीं, अथवा व्यर्थ निष्प्रयोजन होता है, जिससे मनोरथ पूर्ण न हो, ऐसी निर्जरा (कर्मोंका अभाव) कषायकी मन्दता होने पर होती है अर्थात् जब कभी पराधीनता (कैद आदि) होनेके समय किसीको अपने ऐश आरामकी या भोगोपभोगकी चीजोंकी इच्छा न हो एवं विकल्प न हो किन्तु शान्त चित्त रहे, तब उसकी मन्दकषायके फूलसे उसके कितने ही पापकर्म कमजोर हो जाते हैं और कितनोंका बन्ध नहीं होता (यही निजराका रूप है) तथा कितनेही पुण्यकर्मों (भवनत्रिक देवोंकी आयु आदि) का बंध होता है, यह विशेषता होती है, किन्तु मोक्षकी प्राप्ति (साध्यकी सिद्धि) नहीं होती। अतएव वह व्यर्थ है एवं वह संवर पूर्वक नहीं होती, जिससे संसारकी संतति (परंपरा) बन्द हो। इन सब त्रुटियोंके कारण वह अकामरूप या निरर्थक है, उसकी अकाम संज्ञा सार्थक सिद्ध होती है विचार किया जाय। ऐसी निर्जरा मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि दोनोंके पराधीनतामें होना संभव है व हो सकती है, सिर्फ बंधमें कुछ भेद रहेगा, वह कल्पनावासी देवायुका बंध करेगा अन्य देवायुका नहीं, कारण कि वह शुद्ध श्रद्धालु होता है और मिथ्यादृष्टि अशुद्ध श्रद्धालु होता है।

[२] सकाम निर्जरा, इसका अर्थ, कामकी या मतलबकी निर्जरा है अर्थात् प्रयोजन सहित है। सो ऐसी निर्जरा सम्यग्दृष्टिके ही हो सकती है, कारण कि उसके वह निर्जरा तपद्वारा अर्थात् इच्छाओंके न होने से वीतरागता द्वारा होती है (रागादिककी मंदतासे नहीं उनके अभावसे होती है, अतएव वह संवर पूर्वक होने से संसारकी सन्ततिको मिटाती (छेदती) है, यह वास्तविक भेद है, उससे मोक्ष होता है (साध्यकी सिद्धि होती हैं) अतएव उसका सकाम नाम सार्थक सिद्ध होता है, यद्यपि कामका अर्थ इच्छा भी होता है किन्तु उससे मोक्ष नहीं होता, उसके अभावसे मोक्ष होता है इस प्रकार संगति बैठती हैं। विचार किया जाय, तो इसमें कोई बाधा नहीं आती। वैसे तो बंधका कारण, चाहे कल्पवासी देव हों या भवनत्रिकके देव हों

राग या शुभराग ही है दूसरा कुछ नहीं। साथमें श्रद्धान (सम्यक् व मिथ्या) भी सहायक रहता है यह विलकुल खुलासा है। इस निर्णयकी पुष्टिमें पं० भूधरदासजीका निम्नलिखित पद्य है—

पंचमहाव्रत संचरण, समिति पंच परकार।
प्रवल पंच इन्द्रिय विजय, धार निर्जरा सार ॥१०॥ वारह भावना सम्वन्धी।
सार, असार का अर्थ क्रमशः 'सकाम व अकाम है, यथा

धार निर्जरा सार, सार-संवर पूर्वक जो हो है।
वही निर्जरा सार, कही अविपाक निर्जरा सो है॥
उदय भये फल देय निर्जरै, सो सविपाक कहावै।
तासों जियका काज न सरि है, सो सव व्यर्थ हि जावै ॥१०॥

नोट—यहां पर भी काजका अर्थ, काम-मतलव-फलसहित है वनाम सकाम है तथा व्यर्थ का अर्थ अकाम है या निष्फल है, सो हमारे अर्थकी पुष्टि वरावर होती है सन्देह नहीं करना चाहिये। सार-असारके प्राचीन शव्दोंमें फेरफार करके सकाम-अकाम शव्द नये वनाए गये हैं। उसीका अर्थसंवरपूर्वक निर्जरा सार (सकाम) है और विना संवर हुए निर्जरा असार (अकाम) है यह खुलासा है। फलतः पुराने शव्द सारका अर्थ 'अविपाक, और असारका अर्थ 'सविपाक, भी समझना चाहिये। संगति विठालना जरूरी है। (वृहज्जिनवाणीसंग्रह देखो)

१०. आगमभाषा व अध्यात्मभाषाका खुलासा

आगम और अध्यात्म ये दोनों आत्माके स्वभाव हैं अर्थात् दोनों प्रकारके भाव आत्मामें होते हैं। अतएव उन भावों को कहनेवाले वचन, वोली या भाषाका नाम ही आगम भासा या अध्यात्म भाषा है, दूसरा कोई अर्थ नहीं है अस्तु। (१) आगमस्वभावका अर्थ, विकल्परूप स्वभाव हैं और (२) अध्यात्मस्वभावका अर्थ, निर्विकल्पस्वभाव है। तदनुसार विकल्प या भेदोंको वतानेवाली भाषा या वोली आगमभाषा कहलाती है। और निर्विकल्प या अभेद को वताने वाली वोली या भाषा, अध्यात्म भाषा कहलाती है, यह सारांश है। इसको सर्वत्र घटित कर लेना चाहिये। भेदरूप कथन करना आगमभाषा है, और अभेदरूप कथन करना अध्यात्मभाषा है। दोनोंका यह खुलासा है। विस्तारके साथ जहां पर कारणकार्यभाव, निमित्त उपादानता, निमित्तनैमित्तिकता आदि का कथन किया जाय, वह आगम भाषा है। सूत्ररूप विना भेद के कथन करना अध्यात्मभाषा है।

११. द्रव्यदृष्टिसे जीवका शुद्ध-अशुद्ध स्वभाव

१—एक अखंड ज्ञायकाकार (भेद रहित) जीवका शुद्ध स्वभाव है, यह निश्चयका कथन है। उसी का नाम अध्यात्मभाषा है। तथा

२—उक्त अखंडद्रव्यमें ही, दर्शन-ज्ञान-चारित्रका भेद (खंड) करना जीवका अशुद्ध स्वभाव है, उसका कथन करना आगमभाषा है। इसी तरह पर्यायकी अपेक्षासे भेद करके कथन करना, निमित्तकी अपेक्षासे भेद करके कथन करना, सव आगमभाषा है।

१२. पर्यायदृष्टिसे जीवका शुद्ध-अशुद्ध स्वभाव

१—संयोगी पर्यायमें होने वाले रागादि विकारोंका अभाव हो जाना जीवका शुद्ध स्वभाव या स्वरूप है। तथा

२—रागादिविकारोंका अभाव न होना साथमें रहना जीवका अशुद्ध स्वभाव है या अशुद्ध स्वरूप है।

१३. मूलमें भूल क्या हुई ?

आत्माका और परपदार्थका परमार्थसे त्रैकालिक ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है जो अटल है अतएव वह वदल नहीं सकता, यह सिद्धान्त है। वस, इसीमें जीव अनादि कालसे भूल गया है जो निम्न प्रकार है।

१—जीव (आत्मा) ने ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धके स्थानमें या प्रतिविम्व-प्रतिविम्वकके स्थानमें 'स्वस्वामि-सम्बन्ध, मान लिया है अर्थात् ज्ञेयोंका स्वामी या मालिक अपनेको मान लिया है। सर्वेसर्वा खुद वन गया है जो-मूल भूल है।

२—कर्त्ताकर्म सम्बन्ध स्थापित कर लिया है कि मैं उनका कर्त्ता हर्जा धर्त्ता हूँ इत्यादि भूल की है।

३—फिर ममताभाव, आत्मीयता या अपनत्त्व अथवा ममत्त्व धारण कर लिया है कि ये सब मैं हूँ या मेरे हैं—मुझसे इनका अभेद है, एकत्त्व है इत्यादि भूल की है।

४—उसके वाद, रागद्वेष या इष्टानिष्ट बुद्धि उनमें करने लगा है, जो भूल है।

५—फलस्वरूप कर्मवंधन या सजा मिलने लगी है जो भूल है।

वह भूल कव व कैसे मिटे ?

जव स्वरसानुभवी जीव (आत्मा) को अपने आप भेदज्ञानकी उत्पत्ति होती है—कि मैं और ये पर पदार्थ भिन्न भिन्न हैं, एकरूप या अभिन्नतादात्मरूप नहीं हैं। अर्थात् जो मैं हूँ सो वे नहीं हैं और जो वे हैं सो मैं नहीं हूँ, सव अपनी अपनी सत्ता लिये हुए पृथक् पृथक् हैं इत्यादि भेदरूप प्रतीति होती है, तभी भूल व अज्ञान (परमें अभेदरूपज्ञान या मिथ्याज्ञान) मिट जाता है और सही सही ज्ञान या सम्यग्ज्ञान प्रकट् हो जाता है। वस उसीसे आत्मकल्याणका मार्ग (उपाय) मिल जाता है। उसी समय जीवको, यह मालूम होने लगता है कि अरे ! मेरा और अन्य पदार्थोंका परस्पर सिर्फ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है—मैं ज्ञायक हूँ, परपदार्थ सव ज्ञेय हैं। किन्तु मेरा व उनका 'स्वस्वामी' सम्बन्ध नहीं हैं—मैं उनका स्वामी नहीं हूँ, न वे मेरे सेवक हैं। न मैं उनका कर्त्ता हूँ, न वे मेरे कर्म हैं। अतः उनका और मेरा कर्त्ताकर्म सम्बन्ध भी नहीं है। तव मेरी उनमें ममता भी नहीं है अर्थात् आत्मीयता वनाम वे मेरे हैं ऐसा सम्बन्ध भी नहीं है। न उनमें मेरा रागद्वेष भी है, न मैं इष्टानिष्ट भाव उनमें करता हूँ, जिससे मुझे कर्मोंका वन्ध भी नहीं होता, न सजा भोगना पड़ती है, कारण कि जव मैं कोई अपराध या गलती नहीं करता तव वंध और सजा काहेकी ? मैं तो ज्ञायकाकार अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञाता ही हूँ न मैं उनका कत्ता हूँ, न उनका भोक्ता हूँ। ज्ञान या उपयोग या आत्माकी शुद्ध स्वतंत्र परिणामी हो जानेसे कोई खतरा नहीं रहता और निर्मोह या निर्विकल्प होकर अपने शुद्ध स्वरूपका ही स्वाद लेता व उसीमें लीन होता है या रमता है, कभी परका स्वाद नहीं लेता सिर्फ परको जानता मात्र

है। बस यही मूलमें भूल होने व उसे निकालनेका तरीका है। देखो, परद्रव्यके साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं होता, न तादात्म संबंध होता है, न कर्त्ताकर्म सम्बन्ध होता है, सिर्फ ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध ही सदा काल रहता है यह तात्पर्य है। चैतन्य चमत्कार रूप दर्पण या स्फटिकमें परवा प्रतिविम्व पड़नेपर भी दोनों पृथक् पृथक् रहते एक नहीं हो जाते ऐसा समझना चाहिये।

१४. संक्षेपमें श्लोकगत विशेषताएँ व खुलासा

१—श्लोक नं० १३में कथित, कर्त्ता और भोक्ताके सम्बन्धमें निश्चयरूपसे निर्धार यह है कि भोक्ता कभी अज्ञानी (ज्ञानशून्य जड़) नहीं हो सकता, किन्तु भोक्ता वही हो सकता है, जिसको भोग्यका ज्ञान हो इत्यादि गा० नं० ६८ पंचास्तिकायसंग्रहकी टीका देखो।

२—श्लोक नं० ३१में कथित सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करनेकी विधि या क्रम वतलाया गया है, उसका आशय यह है कि परीक्षा करके तत्त्वोंको जानना चाहिए तभी वह 'अधिगमज' कहलायगा और वही पक्का होगा अर्थात् आम्नाय आदिसे परीक्षा करना अनिवार्य है क्योंकि परीक्षाप्रधानी जीव मुख्य होता है, यह पुष्टिकी गई है।

३—श्लोक नं० ३२में कथित लक्षणभेदसे दर्शनज्ञानमें भेद माना गया है, उसका खुलासा ऐसा है कि लक्षणभेद होनेपर भी लक्ष्य (पदार्थ) भेद नहीं होता ऐसा न्याय है। अर्थात् लक्ष्य व लक्षणके प्रदेश (रहनेका स्थान) पृथक् २ न होनेसे कथंचित् भेद नहीं है तथा नाम आदिका भेद होनेसे कथंचित् भेद भी है, ऐसा समझना चाहिये। यही वात पूज्य समन्तभद्राचार्यने भी कही है—

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यातिरेकतः। प्रयोजनादिभेदाच्च तन्न—नात्वं न सर्वथा ॥७१॥ आप्तमीमांसा

अर्थ—द्रव्य और उसकी पर्याय दोनोंके प्रदेश जुदे २ न होनेसे दोनों एक है—कथंचित्भेद नहीं है किन्तु लक्षणभेद—अर्थात् दोनोंका लक्षण, प्रयोजन आदि जुदा २ होनेसे द्रव्य व पर्याय कथंचित् भिन्न २ हैं। इसीतरह सम्यग्दर्शन व सम्यग्दानका लक्षण जुदा २ होनेसे दोनों कथंचित् जुदे २ भी हैं। ऐसा सर्वत्र भेद व अभेद समझना चाहिये। नोट—नाम, संख्या आदि सव पर्याएँ हैं अतएव वे सव स्थिर नहीं रहतीं वदल जाती हैं, यह ध्यान रखना चाहिये।

४—श्लोक नं० ३९में मुख्यतया वीतरागचारित्र या निश्चयचारित्रका (स्वाश्रितका) कथन किया गया है किन्तु सरागचारित्रको छोड़ नहीं दिया गया है अपितु गौणरूप कर दिया गया है, अतएव यथावसर दोनों अपेक्षणीय हैं (उपादेय हैं) ऐसा अनेकान्त समझना—एकान्त नहीं समझना यह तात्पर्य है। इसीलिये चारित्रधारियों (साधुओं)के तीन भेद किये गये हैं। (समयसारमें) अर्थात् (१) केवल वाह्य परिग्रह त्यागी (शुभाशुभपरिणाम सहित)। (२) अन्तरंग परिग्रह त्यागी (अशुभपरिणाम रहित)। (३) धर्म (शुभरागरूप) परिग्रहत्यागी (वाह्यपरिग्रह धनधान्यादि तथा अन्तरंग परिग्रह (मोह या अशुभ-शुभभाव) त्यागी अथवा, सर्वत्यागी, शुद्धोपयोगी वीतरागी-आत्मध्यानी। ऐसे गुणस्थानोंके अनुसार नम्बरवार, जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट भेदवाले कहेगये हैं उसका तात्पर्य समझना चाहिये।

५—श्लोक नं० ४९में मुख्यता स्वाधीनता (स्वाश्रितपना)की वतलाई गई है, पराधीनता (पराश्रित-पना)की मुख्यता नहीं वतलाई गई, यह तात्पर्य है। पराधीनता निमित्त कारणमें शामिल है, उपादानकारणमें

नहीं है अतएव उपादान मुख्य रहता है और निमित्त गौण रहता है यह अनेकान्तदृष्टि है। यह तात्पर्य है तभी तो

'उपादानका वल जहाँ, नहीं निमित्तको दाव, एकचक्रसों चलत है रविको यही स्वभाव ।। पं० वनारसीदास नाटकसमयसारमें लिखते हैं। उपादान हमेशा वस्तुका गुण या स्वभाव होता है और निमित्त हमेशा पर होता है यह भेद है। अथवा स्वदया (आत्मरक्षा-वीतरागता) और परदया (अन्य जीवका उद्धाररूप शुभराग)का कथन या प्रदर्शन इस श्लोकमें खासकर वतलाया गया, जो अहिंसा व हिंसारूप है।

श्लोक नं० १२४में, सम्यग्दर्शनके चोर (घातक) प्रथम कपाय (अनंतानुवंधी) को वतलाया है, उसका अर्थ, स्वरूपाचरणचारित्रके वे चोर हैं ऐसा समझाना चाहिये, कारण कि उन्हीं आचार्य महाराजने पंचास्तिकायकी गाथा नं० १३७ की टीकामें लिखा हैं कि 'तत् कादाचित्कविशिष्टकषायक्षयोपशमे सत्यज्ञानिनो भवति' अर्थात् वह अकालुष्यरूप शुभपरिणाम, अनंतानुवंधीकषायके क्षपोपशम होनेपर अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि)के भी होता है। यदि अनंतानुवंधीकषाय सम्यक्त्वका घातक होती तो, उसके क्षयोपशम होनेपर उस जीवके क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होता और वह ज्ञानी कहलाता, अज्ञानी न कहलाता, फिर अज्ञानीके अकालुष्य होता है यह क्यों कहा गया यह प्रश्न है ? उसका ध्वन्यर्थ यही है कि अनंतानुवंधी कषाय स्वरूपाचरणचारित्रकी ही घातक है, इसलिये उसके क्षयोपशम होनेपर भी जीव अज्ञानी रह सकता है, ज्ञानी या सम्यक्ती नहीं होता अन्यथा दोष आता है विचार किया जाय। टीका वाक्य स्पष्ट है।

७—श्लोक नं० २११में जो मोक्षके उपायमें व संसार (वंध) उपायमें मतभेद रखते हैं तथा अर्थभेद करते हैं, उनके लिये पंचास्तिकायकी गाथा नं० १५७का ठोस प्रमाण समझकर विवाद मिटा देना चाहिये जो निम्न प्रकार है।

'ततः परचरितप्रवृत्तिर्बन्धमार्गः एव न मोक्षमार्गः इति' अर्थात् रागादिकषायभावरूप परिणति या प्रवृत्ति, वंधका ही मार्ग है—मोक्षका मार्ग नहीं है, यह खुलासा है तव सोधे अर्थको वदलकर अनर्थ करना (मोक्षका मार्ग मानना पक्षपात या कषाय पोषण करना नहीं तो और क्या है ? ठंडे दिलसे विचार किया जाय वैसे आगेके श्लोकमें अंशका भेद करके वंधमार्ग व मोक्षमार्ग वतलाया ही है। जव तक संगति न बैठे तवतक मान्यता गलत होती है, सत्य नहीं होती।

शुद्धाशुद्धपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२	यत्र	येत्र
३	७	जीवद्रव्यका साधारण लक्षण २ है,	जीवद्रव्यका असाधारण लक्षण २ है।
४	२३	सूच्यंगुलके	घनांगुलके ।
४	३२	(जा वहुपरमाणुओंसे वनता है)	(जो वहुपरमाणुओंसे वनता है)
६	१४	नीमिज्ञ	नीतिज्ञ
११	७	ज्ञानरूप	अज्ञातरूप
१९	३	होग।	होना
	८	मिथ्या	मिथ्यात्व
	२२	व्यवहारका	व्यवहारधर्मका
	३३	मैत्रा	मैत्री
२३	११	तदानुकूल	तदनुकूल
२४	६	सत्यता	मान्यता
	१८	परमान्दो	परमानन्दो
२५	२१	और	क्योंकि
२७	२	करहते हैं	कहते हैं
	७	(व्यवहार	(३) व्यवहार
	११	कार्यपर्यायमें द्रव्यका आरोप है ।	द्रव्यमें कार्यपर्यायका आरोप है।
	२४	ऋजुसूसूत्र	ऋजुसूत्र
२९	३	सद्भूत	सद्‌भूत
	१७	लगता है	लगना है
	२३	(२ [	(२)
३०	३	व्यवहारनय	व्यवहरनय
३१	१५	नामनिर्दश	नामनिर्देश
३२	२९	विशेपा	विशेषता
३३	१६	ओर	और
३५	२७	कि वह	किम्वहुना
३६	२४	पिजशुद्धता	निजशुद्धता
	२०	शास्त्रव्यवहाररूप	शास्त्रव्यवहार
३७	२९	मानना	मानता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४	६	भाव्यात्सा	भव्यात्मा
४७	श्लोकमें	सर्वविक्तोत्तीर्ण	सर्वविवर्त्तोत्तीर्ण
४८	७	सर्वविवत्तोत्तीर्ण	सर्वविवर्त्तोत्तीर्ण
५३	२३	अनादि	अन्त
५५	१४	होनेमें	होनेसे
५७	७	जो	सो
५८	५	कहा	किया
६०	टिप्पणी	अन्तमें	भोक्ता वही हो सकता है जिसको भोग्य का ज्ञान हो ॥ ६८ ॥ पंचास्तिकाय
६२	१३	समवेत	समाहित
६३	११	अज्ञानभाव	मोह-अज्ञानभाव
६४	२	करता है	करना है
	३	धरता है	धरना है
६५	१३	और	औरके
७४	२४	रखना	करना
७६	३	लाने	लगाने
७६	२९	निकानकर	निकालकर
७७	१६	जयदती	ज्यादती
७९	१८	व्यवहररी	व्यवहारी
८५	११	होते	होता
८६	९	सम्यक्त	सम्यक्
	२५	और व्यवहारसम्यग्दर्शन	निकाल दो-दुबारा लिखा गया है।
८७	८	अरोप	आरोप
८८	४	अध्याय	प्रथम अध्याय
९१	११	कारना	करना
९२	११	वीतरागसे	वीतरागतासे
	१८	प्राप्त न होने	प्राप्त होने
	२५	नीचे ऊँचे	नीचे ऊँचे समय
९७	१७	भुलाना हो	भुलाना चाहे
९८	१७	दूरभव	दूरभव्य
१०१	१३	फूलमें	फलमें
१०२	५	सर्वज्ञाभपित	सर्वज्ञभाषित
१०३	२४	वन जाय	वन जाय यह

पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०६	६	पर्यायका	पर्यायकी
	१५	सकता	सकती
१०७	१५	अशुद्ध	शुद्ध
	१४	मिटा	मिटाया
१०८	टिप्पणीमें	शान्ते	सान्ते
१०९	१३	नि:क्रांक्षित	नि:कांक्षित
१२०	११	सम्यादष्टि धरता है	सम्यग्दृष्टि जु धरता है
१२१	१३	उपेक्षारूप है	अपेक्षारूप है
	१८	अत्मा	आत्मा
१२२	१७	मार्गी	मार्ग
१२४	१३	जैसे विकल अंग होने पर भी मनुष्य या वंदर ही कहलाता है यह जोड़ लेना	
१२६	२१	इस श्लोकमें परीक्षा करके तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी प्रधानता है यह सारांश है।	
१२७	२१	संयोगी	संयोग
१२८	१	होनेपर	होते समय
	२	उनके	उसके
	२५	रह	निकाल देना
१३०	१७	×	उपयोग लगाना अर्थात् मनकी सहायता लेना है, जो दर्शन रूप है।
१३२	१५	अविरल	अविरत
१३३	६	×	गाथा नं० २९ जीवकांड गोम्मटसार
	२४	मिथ्यादृष्टि	मिथ्यादृष्टि है
१३४	९	छ क्षण	लक्षण
१३८	५	द्वीप	दीप
१४६	२०	हो जाता है	हो जाना है
१४७	४	स्वविकसित	स्वयं विकसित
	१६	क्योंकि	और
१४८	२३	वावहार	व्यवहार
१५१	३	वाह्यमें	अन्तरंगमें
१५३	२७	लिये	× निकाल दो अधिक है
१५५	२९	प्रसादी	प्रमादी
१५६	४	कर्य	कार्य
	१७	व्रती तो	जो व्रती तो
	,,	वह	तभी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६०	टिप्पणी में	कुलिगो।	कुलिगो
		जीवो	जीवो।
१६१	१४	देखनेसे	देखनेमें
	२५	प्यारी हो	प्यारो
१६२	७	वड़ी	वड़ा
१६३	१	विशेष	बरावर
१६६	२२	वनता	वनता है
१६८	१८	फूल	फल
	२६	संयोगो	संयोगी
	३१	टिप्पणीमें कृता	कृते
१७०	२४	व्यवहार	व्यवहर
१७१	२७	स्वभावसे	स्वभावसे अभिन्न
१७२	१	छोड़ देना	छोड़ देना)
	२६	ससझता	समझता
	२८	णिच्छस	णिच्छये
	२९	आत्मा का	आत्मा की
१७३	७	जीवों की	जीवों को
	१३	द्रव्यग	द्रव्यगत
	१५	पराकर	पर का
१७४	१	एकता ता	एकता या
१७५	१५	स्वरूप व्पिरोतता है	(स्वरूप विपरीतता है)
	१५	इनता	इतना
१७६	६	निश्चययावलंवी	निश्चयावलंवी
	५	निश्चय व्यवहार	निश्चय व्यवहर
	२१	जहां जीवके	वहां जीवके,
		पाई जाती है।	पाई जाती है वह धर्म है
१७७	१५	साथ	कारण
	२६	भावचरित्र	भावचारित्र
१७८	१३	किसी जीवका	किसी वड़े जीवका
१७९	१२	विचित्रसा	विचित्रता
	१५	प्राणाघात	प्राणघात
	१७	प्राणाघात	प्राणघात

नोट—इस पेज की टिप्पणी का सम्बन्ध १७८ पेज के उक्तं च से है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८१	१२	समाग्री	सामग्री
	१६	एकाह	एकहि
	१८	किया	क्रिया
१८१	२२	युद्धादि	(युद्धादि
१८५	२३	मैं ज्ञानस्वरूप हूँ	मैं स्वयं ज्ञानवान् आत्मा हूँ
	२४	वड़ा भूल	वड़ी भूल
१८६	३०	ईश्राज्ञा	ईश्वराज्ञा
	१४	गुरुमें हों	गुरूमें भी हों
	१८	करनेवाले	कहनेवाले
	२७	अवर्म	धर्म
१८८	२३	विरोव	विरोध है—
	२६	यथार्थ	यज्ञार्थ
१९१	२३	शार	क्षार
	२८	उस	उसे
१९२	२५	(टिप्पण) मैं ही हूँ	मैं ही आत्मा हूँ
	२७	अपूर्ण	अपूर्व
१९५	१४	चरित्र	चारित्र
१९७	१०	इत्यादि	निकाल दो डवल है
१९९	१२	जावों	जीवों
२००	७	चामर्थं	च मद्यं
२०४	११	एवं	अतः
२०६	८	नहिं	मधु है
२०९	२०	अभक्ष्य	अभक्ष्य जु
	१३	क्यों	नहीं
२१२	१७	जाये	निकाल दो वह अधिक है
२१३	६	जानभूतका)	जनभूतका
२१५	५	धर्माधारी	धर्मधारी
	७	पूर्ण त्यागने वाले	(पूर्णत्यागनेवाले)
२२२	८	वह	ऐसा
	१८	उसके	उनके
	२२	स्थिथि	स्थिति
२२५	१६	अ:राधी	अपराध

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	टिप्पणीमें नं० १ के स्थानमें नं० २, और नं० २ के स्थानमें नं० १ समझना		
२३१	८	हिंस्रः	हिंस्राः
२३४	२१	चिकनाई	चिकनाई के
२३६	१२	वही है	वहा
२३८	३	विश्याय	विश्वास
२३९	२३	मांसा	मांस
	२५	विगोदादि	निगोदादि
२४२	१	प्रस्यासन्न	प्रत्यासन्न
२४३	२०	खुदकी	खुदही
२४४	५	जायगा	जारहा है
२४५	२१	चरणानुयोग के	लोकाचार के
२४८	५	व्यवहार	व्यवहर
	२८	स्वभावभाव में	स्वभाव भावसे
	३०	देवे	देता है
२५८	४	भाणों	प्राणों
२५९	५	पाप	पाप नहीं
	२३	पक्ष	लक्ष्य
२६२	७	चाहये	चाहिये
	८	रचना	रखना
	१६	करता	धरता
	२६ टिप्पणी	शुद्धाभवो	शुद्धभावो
२६३	१४	जा	वेकार है
	३०	जात	जाता
२६६	१७	कपाय	कपाय
२६७	१३	चरित्र मोह	चारित्रमोह
	१४	सन्तुष्टो	सन्तुष्टो)
२६८	११	सब	तब
२६९	४	क्योंकि	वेकार है नहीं चाहिये
२७०	१६	उसका	उसको
	२२	वहां	वह
	२५	नहीं होगा	नहीं होगा,
२७१	२०	हें	है
२७४	१४	मिलाकर	मिलकर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	१५	सवको	सवको है
	२७	हिसाम्	हिंसाम्
२७५	२५	नहि	नहीं
२७६	२१	लगता है ।	लगता है,
२७७	१९	अध्यवसाय	अध्यवसान
	२६	निमित्त हें	निमित्त हैं
२७८	१०	यदि	निकाल देना-व्यर्थ है
२८२	७	सुभश्रद्धा	सत्यश्रद्धा, या स्वमुखश्रद्धा
	१०	प्रथमेव	प्रथममेव
		नियुक्तं	निर्युक्तं
	२५	कर्मकी	कर्मका
		सम्यत्तद्धा	सम्मत्तद्धा
२८३	५	१६२०	१९।२०
	६	चरित्र	चारित्र
	२३	(१)	१
२८४	२०	कलष	कलश
२८५	१६	सासणणामो	सासणणामो, सासण णांमो
	११	स्वमात्र	रंचमात्र
	२९	त्यागनेकी	त्यागनेकी सूचना
२८८	१३	अर्थात्	अथवा साधारण
	१४	उदयमूल	उदयरूप
२९३	१६	जवतक	जवतव
	२४	(अहिंसाधर्म)	के
२९५	१८	प्राकृतिक	अप्राकृतिक
	३०	उजाले	उजयाले
२९६		(निश्चय)	(निश्चयमें)
२९९	१२	किल	[किल
३०१	११	शनैः	शनैः शनैः
३०२	२६	नैष्टिक	नैष्ठिक
३०३	७	औपधिक	औपाधिक
३०५	२१	वधन	वंधन
३०७	१२	उसकी	उसको
३०८	२५	धारण	धारणा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१०	१७	कर तव	करतव
३१७	६	सामायिक	सामायिकमें
	७	व्रतीका	व्रतीको
	२९	[उपवास	[उपवासं
३२३	४	उदरपूर्ति	उदरपूर्तिको
	२८	वनना	वनना हो
३२७	१६	मित्त	चित्त
३२८	२९	नहीं	नहिं
३३४	१६	कारण	कारण-प्रमाण
३३८	११	पुरुषार्थी	पुरुषार्थी होकर
	११	परम	पर
३३९	१७	दोनों	दोनों
३४२	२४	इर्षा	ईर्षा
३४३	३	पूर्णसम	पूर्णतः
	४	स्वभाव	समभाव
३४५	२४	पात्र	अपात्र
३४९	९	समय	सम
३५३	२५	रभना	रखना
३५४	४	इति	अतः
	५	लगान	लगन
३५७	८	लाते हैं	लाता है
	१६	विगड़ना	विगाड़ना
	२६	नित्य	जिथ
३६०	२५	जरासि	जरसि
३६५	१८	चरित्र	चारित्र
३६८	२४	पुरुपार्थ	पुरुपार्थ
३६९	५	या लगने	या लगाने
३७३	२६	होनेमें	होनेसे
३७८	१४	प्रयोजनश	प्रयोजनवश
३८०	२६	कर्य	कार्य
३८१	३	जिनको	उनको
	२०	अतः	यतः
३८२	१	मलकारण	मूलकारण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२५	विस्तार	विस्तर
३९०	१२	प्रायश्चित्त ६ तप	प्रायश्चित्तादि ६ तप
	१५	भाषा	भाषा है
३९२	१६	चरित्र	चारित्र
	१९	वदे	वंदे
	३१	जिज्ञासा	जिनाज्ञा
३९३	२१	अरुचि रूप (विचार से,	(अरुचिरूप विचार से)
४०३	४	शभ	शुभ
	१७	उत्पन्ना	उपजना
४०९	६	रतिः	अरतिः
४१८	२४	रत्नत्र	रत्नत्रय
४२६	१	आचर्य	आचार्य
४२९	१९	इस प्रकार	इसी प्रकार
४३४	६	मिद्धका	सिद्धिका
	१९	अनेकी	अनेकी
४३६	१९	भिन्नधाम्रो	भिन्नधाम्नो
	१९	अनुपलब्धिभीतिः	अनुपलब्धिर्भाति
	२९	प्राप्त होगा	प्राप्त न होगा